Mere Nath! மேரே நாத்! मेरे नाथ! ਮੇਰੇ ਨਾਥ! મેરે નાથ! میرے رب!

वैश्विक मतभेदों का अकाट्य समाधान



शरणानन्दजी

समग्र सन्तवाणी का नया अवतरण

भाग - 1



All the Philosophies of the world on one side and Sharnanandji's Philosophy on one side.

-Dr. Satinder Dhiman
(Ph.D, Ed.D. – U.S.A.)



Spiritual Democracy

क्रांतदर्शी रामसुखदासजी महाराज शरणानन्दजी की अद्वितीय पुस्तकें सिरहाने रखकर सोते थे, निशान लगाकर पढ़ते थे और **जगह-जगह सुरक्षित रखवाते थे** । अर्थात आप भी रखिये और औरों के पास भी रखवाइये ।

Humanity's Own Sharnanandji



शरणानन्दजी की वाणी के प्रति 10 सन्तों के विचार

1. गोविन्ददेव गिरिजी महाराज एवं गुरु सत्यमित्रानन्दजी– (19-07-2023 सायं)

शरणानन्दजी की बातें वेदव्यासजी का जूठन नहीं है। जहाँ से उपनिषद आये वहीं से शरणानन्दजी के वाक्य आते हैं। जीवनभर एक भी ग्रन्थ न पढने वाले ये महात्मा, जिनके एक-एक वाक्य पर ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं।

2.पथमेड़ा महाराजजी गौ-ऋषि दत्तशरणानन्दजी– (9-8-2023, 27-9-2023)

इतना सरल, स्पष्ट, सूत्रात्मक, साफ '**सत्य**' शरणानन्दजी की वाणी से पूर्व किसी से प्रकट नहीं हुआ। कलियुगी जीवों के लिए आवश्यक यह वाणी है। देश और दुनिया की मानव जाति के उत्थान का अपूर्व सन्देश है। यह अनुपम वाणी सभी दर्शनों का सार भी है, सभी दर्शनों से श्रेष्ठ भी है।

3. मलूकपीठाधीश्वर श्रीराजेन्द्रदासजी महाराज – (राजकोट वार्तालाप 07-05-2015)

आज वर्तमान के समय में सन्तों के जो सद्विचार हैं वे ही मनुष्य को वास्तविक शान्ति प्रदान कर सकते हैं और उनमें श्रीशरणानन्दजी महाराज इस युग के विचारक सन्तों में सर्वोत्कृष्ट महापुरुष थे। जो प्रेमी होगा वह ही विचारक होगा। प्रेम के बिना विचार की शक्ति उत्पन्न नहीं होती है और वह प्रेम वही प्रेम है जो ईश्वरीय प्रेम है।

4. Dr. Satinder Dhiman (Ph. D., Ed.D. - U.S.A.)

All the darshans /philosophies of the world on one side, and Sharnanandji's darshan on one side. He is certainly the most **"Unique"** and **"Original"** of all thinkers and saints. If his ideas become truly known, it will certainly create a **"Revolution"** in the world !

5. स्वामीनारायण सन्त ज्ञानजीवनदासजी– (सागर कथा-15.3.2013)

स्वामी शरणानन्दजी का साहित्य पढ़ने जैसा है। जैसे बड़े-बड़े भारतीय ऋषि मुनि हो गये, आर्षद्रष्टा हो गये, वैसे वे आज के आर्षद्रष्टा ऋषि हैं। उनकी बातें '**सातवाँ दर्शन**' जैसी अद्भुत हैं।

6. स्वामी अनुभवानन्दजी सरस्वती– (व्यावहारिक गीता-5 से)

शरणानन्दजी का जीवन पढ़ो आप, उन्होंने कोई पढ़ाई नहीं की थी, वे प्रज्ञाचक्षु थे। उनके एक-एक जो अनुभव हैं, उसको आप '**पाँचवा वेद**' कह सकते हैं, इतने श्रेष्ठ अनुभव हैं।

7. स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती – (मोरारी बापू, मानस सुरधेनु, 20/11/2012)

मिलावट वाला वेदान्त सुनना है तो हमारे पास आओ और शुद्ध, विशुद्ध, दो टूक वेदान्त सुनना है तो स्वामी शरणानन्दजी के पास जाओ।

Videos of all above quotes are available on youtube a/c "Santo Ka Khazana"

For Books & Pravachans refer - www.swamisharnanandji.org

हमारे देश की गलत मनोदशा !

हमारे देश के लोगों में और दूसरे देश के लोगों में एक बड़ा अन्तर है । हमारे देश के लोग इस बात पर ध्यान देते हैं कि बोलने वाला कौन है, उसका मुँह कैसा है, उसकी शिक्षा-दीक्षा क्या है, आदि । विदेशी ऐसा नहीं करते । वे, जो बोला गया, उस पर विचार करते हैं । हमारे देश की आज यह दशा है कि जो मुझसे प्रेम करते हैं, वे मेरे व्याख्यान के बाद उठ जायेंगे । क्योंकि उन्हें इससे मतलब नहीं कि बात क्या है । उन्हें तो सिर्फ इससे मतलब है कि मुँह कौन-सा है ? परन्तु जहाँ आप लोग भाषा पर द्रष्टि रखते हैं, मुँह पर द्रष्टि रखते हैं, तरीके पर द्रष्टि रखते हैं और जो शब्द कहे गये, उनके अर्थ पर द्रष्टि नहीं रखते, वहाँ यही परिणाम होता है कि दिमागी उन्नति तो बहुत हो जाती है, मस्तिष्क में संग्रह तो बहुत हो जाता है ; लेकिन हृदय का पल्ला बहुत नीचे गिर जाता है । क्रियात्मक जीवन बहुत निम्नकोटि का हो जाता है । **- शरणानन्दजी, प्रेरणा पथ पुस्तक से**

शरणानन्दजी की उपर्युक्त पीड़ा का आँख खोल देनेवाला चोटदार विवेचन अर्थात रामसुखदासजी की फटकार सुनने के लिए - Use Link / QR

https://youtu.be/dWz3k55ZbMo?si=ICuBA5DaToNrOxy_

जो चाहते है सो होता नहीं, जो होता है सो भाता नहीं, जो भाता है वो रहता नहीं फिर भी हम चाहते है इसलिए अभागे हैं ! कुछ न चाहो, बाहर-भीतर से चुप हो जाओ । चुप होने से आपकी स्थिति स्वतः परमात्मा में ही होगी । कुछ भी ईच्छा मत करो । जहाँ आप है, वहाँ परमात्मा पूरे-के-पूरे हैं । - शरणानन्दजी व रामसुखदासजी (अंतिम प्रवचन)

मेरे नाथ !

Collected Work of Sharnanandji

Volume 1 to 10 Index

भाग	पुस्तक सूचि	पृष्ठ संख्या	Wt. gms
1	सन्त जीवन दर्पण, सन्तवाणी - 1, 2, 3, 4	776	944
2	सन्तवाणी - 5A, 5B, 6, 7, 8, सन्त हृदयोद्गार	804	982
3	पाथेय - 1, 2, सन्त पत्रावली - 1, 2 , 3	800	976
4	जीवन-दर्शन - 1, 2, चित्त-शुद्धि - 1, 2, संत उद्बोधन	832	1003
5	सन्त-समागम - 1, 2, 3, सन्त सौरभ, साधन तत्व	788	956
6	मानव की माँग, मानव-दर्शन, साधन निधि, सत्संग और साधन, मंगलमय विधान, रजत जयन्ती स्मारिका	784	954
7	मानव सेवा संघ परिचय, साधन त्रिवेणी, प्रश्नोत्तरी - 1, 2, प्रेरणा पथ, प्रार्थना तथा पद, मैं की खोज, पथ प्रदीप	764	937
8	दर्शन और नीति, जीवन पथ, दुःख का प्रभाव, मानवता के मूल सिद्धांत, मूक सत्संग तथा नित्य योग, जीवन विवेचन -1A, 1B	840	1009
9	जीवन विवेचन - 2, 3, 4	764	927
10	जीवन विवेचन - 5, 6A, 6B, 7A, 7B	852	1022
*	क्रान्तिकारी सन्तवाणी (विषयानुसार चुने हुए वचन)	264	810
*	तरुतले से शिक्षाप्रद संस्मरण (लघु पुस्तिका)	64	46
Each Vol. 4 col. cover + B & W App. Pages		8332	Box 360
	Total Weight App. 11 kg		10926

समग्र सन्तवाणी का नया अवतरण

महाराज ! इन कमजोर कंधों पर इतना बड़ा बोझ कैसे उठाया जाएगा ?

देवकीजी ! चिंता मत करो । **यह शरणानन्द का कार्य नहीं, *प्रभु का कार्य है*** । तुम देखना, अच्छे-अच्छे लोग आयेंगे, यह काम तो होगा ही । ..इसके पढ़ने का बड़ा लाभ यह होगा कि सुधिजनों में शरणानन्दजी के साहित्य पढ़ने की रुचि जागृत होगी । गुणोत्तर श्रेणी (Geometrical Progression) में यह साहित्य फैलेगा जिसकी वर्तमान युग में अत्यन्त आवश्यकता है ।

महाराज जी ! अन्य कार्यक्रमों की अपेक्षा उपस्थिति कम क्यों रहती है ?

शरणानन्दजी : भैया ! यह सत्संग तो संसद की तरह से है जिसमें केवल चुने हुए प्रतिनिधि ही पधारते हैं ।

भारत षट्दर्शन (छः दर्शन) के लिए प्रसिद्ध हैं, जिनमें देवी-देवताओं के प्रसंग व स्तुतियाँ हैं । परन्तु **शरणानन्दजी महाराज का दर्शन सातवाँ दर्शन (मानव दर्शन) है, जिसमें मानव की स्तुति की गयी है ।** मानव जीवन की महिमा का वर्णन जितना व जिस प्रकार उनके दर्शन व साहित्य में किया गया है, वह अन्य किसी दर्शन व साहित्य में नहीं है ।

- रामसुखदासजी महाराज

(साभार तरुतले से)

मेरे नाथ !

वैश्विक मतभेदों का अकाट्य समाधान

शरणानन्दजी

भाग – 1

"जब शास्त्र के या परमात्मा के नाम पर आने वाली पीढ़ी भटकेगी तो परमात्मा का नाम लिए बिना और किसी धर्म विशेष का नाम लिए बिना **'मानवता'** की प्रतिष्ठा कर देना शरणानन्दजी की अपनी विशिष्टता है ।"

संत अमर हैं । उनकी वाणी अमर है ।
इस वाणी के आदर में सत्य का आदर है ।
इस वाणी के आदरमें जीवन का आदर है ।
इस वाणी के आदर में संत का आदर है ।
इस वाणीके आदरमें मानवताका आदरहै ।

अमूल्य चीज भगवान की कृपा से बिना मूल्य मुफ्त में मिलती है । यह पैसों से खरीदी नहीं जाती । -रामसुखदासजी, 17.04.2000.

साधकोपयोगी रहस्यमय दो बातें -

"जो साधन सावधानी पूर्वक किया जाता है और किसी विशेष तैयारी के साथ किया जाता है, वो साधन बहुत बढ़िया होता है ; **लेकिन सिद्धि बहुत देरी से होती है ।**"

"जो बात मानने की है, स्वीकार करने की है, उस पर विचार करने से, उसको समझने की चेष्टा करने से, उसका चिंतन करने से ; **वो बात जीवन में 'नहीं' आती ।**"

हे नाथ! मैं जैसा भी हूँ, आपका हूँ।
हे प्रभो! आप जैसे भी हो, मेरे हो ।।

प्रकाशक : करनाल मानव सेवा संघ (श्री प्रेममुर्तिजी)
करनाल-132001 (हरियाणा) Mo: 94164 67999
https://swamisharnanandji.org

संस्करण : सन् 2025 ई. (महाप्रयाण के 50 वर्ष)
मूल्य : ₹ 225 क्रान्तिकारी सन्तवाणी (Deluxe)
₹ 4500 for 10 Volume Set of Hindi Books
Potential 11th Volume of English & 12th Volume of Gujarati

Disclaimer :- छप्पन भोग रूपी इस ग्रन्थ का मीठा-मीठा आप खा लेना और कड़वा-कड़वा (त्रुटियाँ) प्रकाशक के लिए छोड़ देना।

मानव मात्र के जीवन में क्रान्ति लाने वाली विश्व की धरोहर इस अलौकिक वाणी को अपने यहाँ प्रकाशित करने के इच्छुक सभी स्वतंत्र है। हम यथाशक्य सहयोग करेंगे।

प्राप्ति-स्थान : **श्री दुलीचंदजी** करनाल मानव सेवा संघ (हरियाणा)
पुराना जी.टी.रोड, नजदीक बस स्टैंड, करनाल-132001 **Mo: 79888 86115**

श्री प्रेमानन्दजी
मीना सदन, गणेश सोसायटी,
खेड़ब्रह्मा-383255 (गुजरात)
Mo: 93279 06279

धार्मिक साहित्य सदन
बुलियन बिल्डिंग, हल्दियोंका रास्ता, जौहरी बाजार, जयपुर-302003 (राज.)
Ph. 0141 2570602

मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि इतने खर्चे के बाद अगर किसी एक के भी जीवन में सत्य की माँग जाग्रत हो जाय, तो उस पर सारे विश्व की सम्पत्ति निछावर कर देना भी कम है। आपने सत्संग का महत्व नहीं समझा, नहीं समझा ! -शरणानंदजी, प्रेरणा-पथ पुस्तक

सन्त का अनुभव

(पूज्यपाद स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज)

मेरा अपना अब तक का अनुभव है कि जो हम चाहते हैं, वह न हो, इसी में हमारा हित है। हमने तो जब तक अपने मन की मानी है, अपने मन की बात की है, तो सिवाय पतन के, सिवाय अवनति के हमें तो कुछ परिणाम में मिला नहीं।..... मैं आपके सामने अपनी अनुभूति निवेदन कर रहा हूँ, और इससे लाभ उठाना चाहते हैं तो अपनी चाही मत करो। प्रभु की चाही होने दो। प्रभु वही चाहते हैं, जो अपने-आप हो रहा है।

संसार का अनुभव

More and more we study in psychology, we find our-selves hanging in the air. Our findings are base-less. Therefore I want to come to Indian saints (Sharnanandji) to find "something solid, something more dependable" -Dr. Boss-

(देवकीजी, जीवन विवेचन 1/104, Audio 4B)

"गीताके रचयितासे मेरा बड़ा भारी सम्बन्ध है। वे मेरे बड़े मित्र हैं। मैं गीताका बड़ा आदर करता हूँ ; क्योंकि वह मेरे दोस्तकी बातचीत है।"
- शरणानन्दजी, संतवाणी-7/169





"या अल्लाह, या खुदा ! कोई यह न समझना कि शरणानन्द का कोई मज़हब या संप्रदाय है। जो खुदा का है वह शरणानन्द का है।"
– सन्त जीवन दर्पण 97

"मसीहा, खुदा के पुत्र हैं मैं खुदा का दोस्त हूँ, मसीहा मेरा सगा भतीजा है, मैं उसको अच्छी तरह जानता हूँ। मसीहा मुझे बहुत प्यारा लगता है।"
- शरणानन्दजी, संतवाणी-2/12



शरणानन्दजी महाराज की वाणी हिन्दू, मुसलमान, इसाई आदि सभी के लिए समानरूप से कल्याणकारी होने की बात को सिद्ध करने के लिए सृष्टिकर्ता ने उनका महाप्रयाण दिवस 25.12.1974 ऐसा अलौकिक और चमत्कारी निश्चित किया कि उस दिन गीताजयंति, ईद और क्रिसमस एक साथ थी।

॥श्रीहरिः॥

मेरे लिये - परम संत का परम साधन

संतवाणी



मैं कभी किसी को बुरा नहीं समझूँगा।
क्योंकि- कोई भी सर्वथा, सब समय,
सबके लिये बुरा नहीं है।



मैं कभी किसी का बुरा नहीं चाहूँगा।
क्योंकि- किसी का बुरा चाहने से पहले
खुद को बुरा होना पड़ता है।



मैं कभी किसी का बुरा नहीं करूँगा, नहीं बोलूँगा।
क्योंकि- कोई मेरा बुरा करे
ये मैं कभी चाहता ही नहीं।



मैं कभी किसी की बुराई नहीं सुनूँगा।
क्योंकि- बुराई सुनने से खुद का भाव
खराब हो जाता है। 'यथा भाव तथा लाभ'



मैं कभी किसी का दोष नहीं देखूँगा।
क्योंकि- परदोष दर्शन से हानि होती है।
वास्तव में अपने दोष ही दूसरों में दिखते हैं।

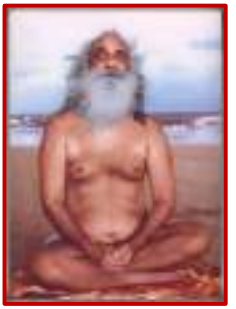
विश्व-शांति, दुःख-निवृत्ति तथा मानव-कल्याण के लिये आवश्यक

मानवता के मूल सिद्धान्त

1. आत्म-निरीक्षण, अर्थात् प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने दोषों को देखना।
2. की हुई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत लेकर सरल विश्वासपूर्वक प्रार्थना करना।
3. विचार का प्रयोग अपने पर और विश्वास का दूसरों पर, अर्थात् न्याय अपने पर और प्रेम तथा क्षमा अन्य पर।
4. जितेन्द्रियता, सेवा, भगवत् चिन्तन और सत्य की खोज द्वारा अपना निर्माण।
5. दूसरों के कर्तव्य को अपना अधिकार, दूसरों की उदारता को अपना गुण और दूसरों की निर्बलता को अपना बल, न मानना।
6. पारिवारिक तथा जातीय सम्बन्ध न होते हुए भी पारिवारिक भावना के अनुरूप ही पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्भाव, अर्थात् कर्म की भिन्नता होने पर भी स्नेह की एकता।
7. निकटवर्ती जन-समाज की यथाशक्ति, क्रियात्मक रूप से सेवा करना।
8. शारीरिक हित की दृष्टि से आहार-विहार में संयम तथा दैनिक कार्यों में स्वावलम्बन।
9. शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती, हृदय अनुरागी तथा अहं को अभिमान-शून्य करके अपने को सुन्दर बनाना।
10. सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक तथा विवेक से सत्य को अधिक महत्व देना।
11. व्यर्थ-चिन्तन त्याग तथा वर्तमान के सदुपयोग द्वारा भविष्य को उज्ज्वल बनाना।

(विस्तृत व्याख्या के लिए 'मानवता के मूल सिद्धांत' पुस्तक देखें।)

वस्तु खिंचती है धरती की ओर,
मनुष्य खींचता है अनन्त की ओर।



श्री शरणानन्दजी महाराज एक अभूतपूर्व दार्शनिक सन्त हुए हैं। अध्यात्म क्षेत्र में वे जितनी गहराई तक पहुँचे थे, उतनी गहराई तक शायद ही कोई दार्शनिक पहुँचा हो ! विश्व में उनके समान महान् विचारक मिलना दुर्लभ है ! अध्यात्म-जगत् में उन्होंने अनेक नये-नये आविष्कार किए। उनके विचार किसी धर्म, मत, सम्प्रदाय, देश आदि में सीमित न होकर मानव मात्र के लिये हितकारक हैं। परन्तु अभी तक उनके क्रान्तिकारी विचारों का व्यापक प्रचार नहीं हुआ है। इतना अवश्य कह सकते हैं कि जिस समय संसार उनकी विचारधारा को जान लेगा, उस समय अध्यात्म-जगत् में एक क्रान्ति आ जायगी। - **राजेन्द्र कुमार धवन**, क्रान्तिकारी सन्तवाणी से

शरणानन्दजी के मुख्य सिद्धांत :- मनुष्यमात्रको परमात्मप्राप्तिका जन्मसिद्ध अधिकार है। मनुष्य जिस वर्ण, आश्रम, धर्म, सम्प्रदाय, वेश-भूषा आदिमें है, वहीं रहते हुए वह प्रत्येक परिस्थिति में परमात्माको प्राप्त कर सकता है। इसके लिये उसे परिस्थिति बदलनेकी आवश्यकता नहीं है। परमात्माकी प्राप्ति सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिकी तरह नहीं है। सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्ति तो कर्म करनेसे होती है, पर परमात्माकी प्राप्ति अपने लिये कुछ न करनेसे होती है। परमात्मप्राप्तिमें भाव तथा विवेक मुख्य है, क्रिया नहीं। परमात्माकी प्राप्ति जड़ता (शरीर इन्द्रियाँ-मन- बुद्धि) के द्वारा नहीं होती, प्रत्युत जड़ताके त्यागसे होती है।

शरणानन्दजी की बातों का सार – अपनी व्यक्तिगत कोई भी वस्तु नहीं है, और एक सत्ता के सिवाय कुछ भी नहीं है।

अनुक्रमणिका / Index

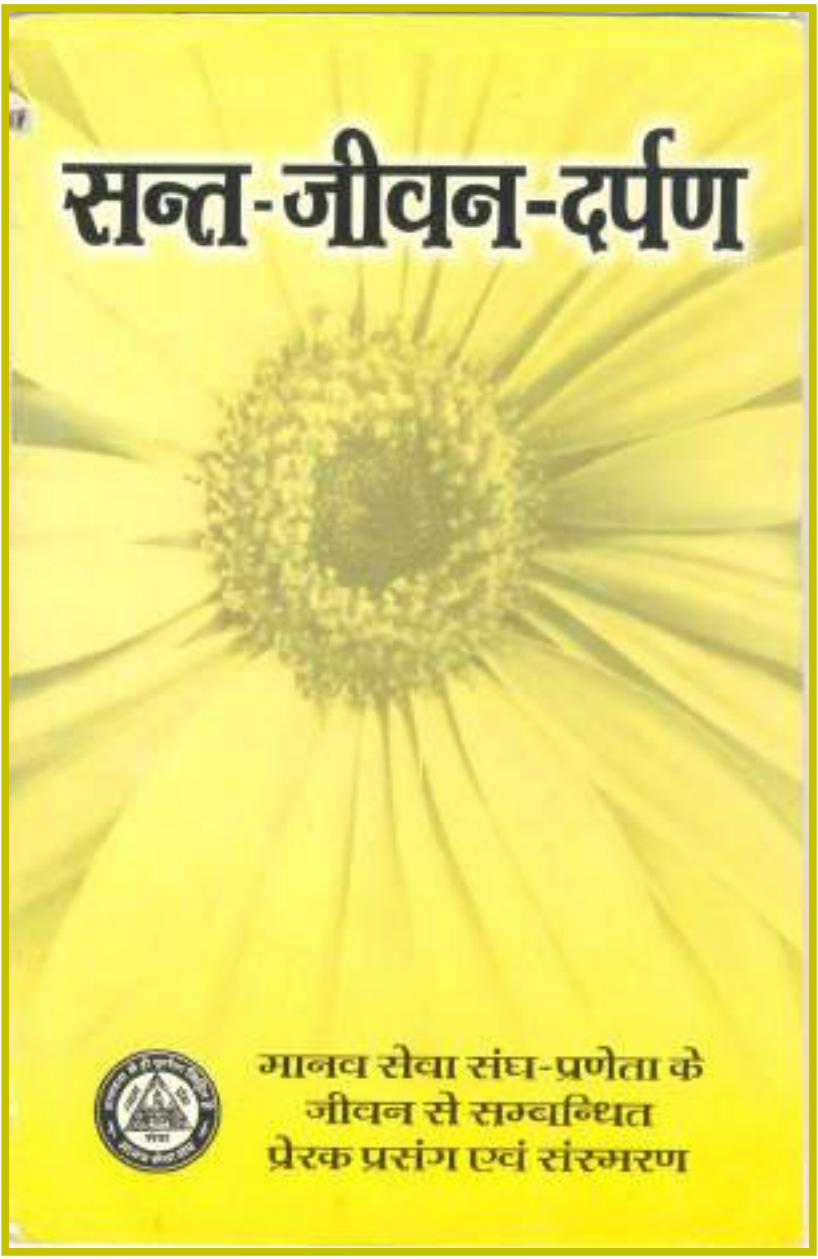
Collected Works Volume 1: Authoritative Writings (Transcriptions)

1. सन्त जीवन दर्पण परिचय व संस्मरण
   (प्रबोधनी 1981, क्रान्तिकारी सन्तवाणी, ग्रन्थ-सूची)
   (2005 प्राक्कथन) Paricheyey & Life Event ..11
2. सन्त वाणी भाग-1 सफलता की कुंजी
   (1979, प्राक्कथन) Sant Vani Part-1 (Safalta ki Kunji) ..107
3. सन्त वाणी भाग-2 कैसेट सं.1 से 6 तक
   (1982, भूमिका) Sant Vani Part – 2 ..233
4. सन्त वाणी भाग-3 कैसेट सं.7 से 12 तक
   (1983, भूमिका) Sant Vani Part – 3 ..389
5. सन्त वाणी भाग-4 (1985) कैसेट सं.13 से 22 तक
   (1985, भूमिका) Sant Vani Part-4 ..505

उपर्युक्त प्रवचन पढ़ते पढ़ते वेबसाइट से उसकी ऑडियो सुनने की विशेष व्यवस्था का लाभ जरूर लीजिएगा, क्योंकि ऐसी व्यवस्था दुर्लभ व अपूर्व हैं । इस लिंक पर **Click** करने तथा **QR Code scan** करने से शरणानन्दजी महाराज के सारे प्रवचन शीर्षक के साथ मिल जायेंगे ।

https://www.swamisharnandji.org/html/Audio/Audio%28Swamijiprav%29.html

उपर्युक्त पुस्तकों के शुरुआती शीर्षक, मूल्य जैसे व्यवहारिक पन्ने volume में नहीं रखें हैं और पुनरावृत्ति के कारण प्रार्थना, पुकार, मूल सिद्धांत जैसे पन्ने आगे या अन्त में shift किये हैं ।


सन्त-जीवन-दर्पण
मानव सेवा संघ-प्रणेता के
जीवन से सम्बन्धित
प्रेरक प्रसंग एवं संस्मरण

प्राक्कथन

परम कृपालु प्रभु की अहैतुकी कृपा से मानव सेवा संघ का नवीन प्रकाशन पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए हार्दिक प्रसन्नता है। आधुनिक युग के महान् तत्ववेत्ता क्रान्तद्रष्टा विचारक सन्त प्रवर ब्रह्मलीन स्वामी शरणानन्द जी महाराज के मार्मिक जीवन प्रसंगों को इस पुस्तक में संजोया गया है। संघ द्वारा प्रकाशित तथा दिव्य ज्योति देवकी माता जी द्वारा संकलित लघु पुस्तिका 'प्रबोधनी' को भी इस पुस्तक में समाविष्ट कर दिया गया है।

मानव सेवा संघ के प्रणेता सन्त का जीवन-वृत्त क्रमबद्ध रूप में उपलब्ध नहीं है। अत: उनके सम्बन्ध में साधकों के संस्मरण ही उनके बहुमुखी व्यक्तित्व के विभिन्न आयामों को प्रकाशित करते हैं। पूज्य महाराज जी की साधारण बातचीत में भी एक अर्थगाम्भीर्य छिपा रहता था, इसका अनुभव इस पुस्तक के अनुशीलन से पाठकों को स्वयमेव होगा। मानव की व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक एवं दार्शनिक समस्याओं के सम्बन्ध में व्यक्त किए गए श्री स्वामी जी के विचार मौलिक तथा विलक्षण होते थे, जो साधकों को नवीन प्रेरणा तथा आलोक प्रदान करने में सक्षम हैं।

प्रस्तुत संकलन के लिए जिन साधकों, विशेषत: भक्तिमती सुश्री अर्पिता जी, पुरलिया निवासी श्री दुर्गा प्रसाद जी राजगढ़िया एवं बटाला निवासी श्री शादी लाल वर्मा, ने स्वामी जी महाराज के संस्मरण प्रेषित कर अपना सहयोग प्रदान किया है, उनके प्रति हार्दिक आभार।

यह पुस्तक साधन-पथ के पथिक भाई-बहनों के जीवन-पथ को आलोकित करे इसी सद्भावना के साथ—

होली-उत्सव
2005

विनीत
अद्वैत चैतन्य

'प्रबोधनी' पुस्तक में अंकित

दिव्य ज्योति देवकी जी के —

उद्‌गार

दुःख के घने बादल जिस व्यक्तित्व को तिमिराच्छन्न कर लेते हैं वह उदय-अस्त से रहित अनन्त प्रकाश-रश्मियों को स्वयं में अवतरित करने के लिए उद्यत हो जाता है। मानव-जीवन की संरचना का यह भी एक साँचा है जिसमें कोई-कोई अपने को ढाल कर मानवता की महती विलक्षणता को संसार में साकार करता है। कहाँ घोर अन्धकार ! कहाँ अनन्त प्रकाश !! इस उद्‌भव की दृष्टि से मानव-जीवन में दुःख के घने बादलों का घिर आना अनन्त प्रकाश के अवतरण का ही सूत्रपात है। उस प्रकाश से जो जीवन अभिन्न होता है वह स्वयं सदा-सदा के लिए कृतकृत्य तो होता ही है, मानव जीवन के लिए 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की अमिट लीक भी कालपट्ट पर खींच देता है, जिस पर चल कर युगों-युगों तक मानव-समाज दुःख से परित्राण पाता है एवं अनन्त आनन्द से अभिन्न होता है।

निवेदिका
देवकी

अनुक्रम

1.	प्रार्थना		 3
2.	प्राक्कथन	—श्री अद्वैत चैतन्य	 5
3.	उद्‌गार	—पू० देवकी जी	 6
4.	स्वामी शरणानन्द : एक विहंगावलोकन	—पू० देवकी जी	 9
5.	स्वामी शरणानन्द जी महाराज	—श्री स्वामी अखण्डानन्द जी	 21
6.	पुण्य स्मृति	—श्री सुदर्शन 'चक्र'	 25
7.	परदुःख कातरता की साक्षात् मूर्ति	—श्री नारायण रेड्डी	 28
8.	वह तो आते आधेनाम	—श्री ठाकुर जगत सिंह	 30
9.	जीवन के मार्मिक प्रसंग	—संकलित	 31
10.	विविध प्रसंग	—संकलित	 46
11.	महाप्रयाण के पूर्व स्वामी जी के उद्‌गार	—संकलित	 97

स्वामी शरणानन्द : एक विहंगावलोकन

ब्रह्मलीन स्वामी शरणानन्द जी महाराज एक महान् क्रान्तदर्शी, तत्त्ववेत्ता, भगवद्भक्त एवं मानवता के संरक्षक सन्त थे। उनका प्रादुर्भाव उत्तर भारतवर्ष में 20 वीं सदी के प्रारम्भ में हुआ। उनके जीवन के उन्मेष के सम्बन्ध में समय-समय पर प्रसंगवश उन्हीं के श्री मुख से जो कुछ सुना गया, उससे हम लोगों ने जाना कि बचपन में ही लगभग 10 वर्ष की अवस्था में उनकी आँखें चली गयीं। उनके अन्धेपन के दुःख से सारा परिवार अथाह दुःख में डूब गया, परन्तु उस दुःख के प्रभाव से इनमें एक प्रश्न पैदा हो गया—'क्या ऐसा भी कोई सुख होता है, जिसमें दुःख शामिल न हो?' उत्तर मिला कि ऐसा सुख साधु-सन्त को होता है, जिसमें दुःख सम्मिलित नहीं रहता। इस उत्तर से उन्हें जीवन की राह मिल गई। उन्होंने निश्चय कर लिया कि मैं साधु हो जाऊँगा। इनके मन में यह चिन्तन चलने लगा कि साधु कैसे बनूँ! सत्गुरु रूप सन्त मिले। बातचीत हुई। सन्त ने परामर्श दिया कि ईश्वर के शरणागत हो जाओ। इनके बाल्यकाल के कोमल हृदय पर सन्त की वाणी का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। ईश्वर की शरणागति स्वीकार करते ही इनके मन में ईश्वर से मिलने की तीव्र उत्कण्ठा जाग्रत हो गई। उस उत्कण्ठा ने शरीर और संसार के सब बन्धनों को ढीला कर दिया। 19 वर्ष की उम्र में इन्होंने विधिवत् संन्यास ले लिया। इनका नवीन नामकरण हुआ 'स्वामी शरणानन्द।' उसी समय से सब सामान और साथियों का सहारा छोड़ कर ये संन्यास धर्म के कठोर व्रतों का दृढ़ता से पालन करते हुए भगवान के सहारे रहने लगे।

श्री महाराज जी की बाल्यकालीन घटनाओं से स्पष्ट विदित होता है कि भगवान के शरणागत होने का भाव इनमें इतना सजीव था कि—सर्व समर्थ प्रभु सदैव अपने साथ हैं—इस सत्य के अभिव्यक्त होने में देर नहीं

लगी। एक बार मथुरा से आगरा जाते समय ये अकेले ही पैदल यमुना के किनारे-किनारे जा रहे थे। एक स्थान पर ढाह गिरी। ये पानी में जा पड़े। नदी चढ़ी हुई थी। हाथ की लाठी छूट गई। तैरना कुछ आता था, पर बिना देखे पता नहीं चला कि किधर की ओर तैरें। शरण्य की याद आई और उनके भरोसे इन्होंने जल में डूबते हुए शरीर को ढीला छोड़ दिया। तत्काल ऐसा महसूस हुआ जैसे किसी ने इनको जल में से निकाल कर खुश्की पर डाल दिया। उठने के लिए जब इन्होंने धरती पर हाथ टेका तो एक नयी लाठी हाथ में आ गई। प्रभु की शरणागत-वत्सलता को पाकर इनका हृदय भर आया। उनकी महिमा से अभिभूत, उनके प्यार में मस्त होकर ये उठे और चल दिए।

इनके जीवन की ऐसी अनेक घटनाएँ हैं, जिनसे ईश्वर के प्रति अविचल आस्था एवं अनन्य शरणागति का परिचय मिलता है। जब कभी ये वृन्दावन में होते तो प्रति-दिन श्री बाँके बिहारी जी के दर्शन करने जाते थे। एक दिन एक मित्र ने पूछ लिया, कि "महाराज जी! आपको दिखाई तो देता नहीं है—दर्शन कर नहीं सकते, फिर आप मन्दिर में क्यों जाते हैं?" श्री महाराज जी ने उत्तर दिया—"भले आदमी! सोचो तो सही—मेरी आँखें नहीं हैं, तो क्या ठाकुर जी की आँखें नहीं हैं? मैं नहीं देख सकता, परन्तु वे तो देखते हैं। मुझे देख कर उन्हें प्रसन्नता होती है, इसलिए मैं मन्दिर में जाता हूँ।" कितना सजीव ईश्वर-विश्वास है।

श्री स्वामी जी महाराज एक बार ट्रेन में बैठे थे। ईसाई मत के एक पादरी साहब भी वहाँ आकर बैठ गए। थोड़ी देर बाद उन्होंने श्री महाराज जी से पूछा कि आप मसीहा को जानते हैं? इन्होंने सहज भाव से उत्तर दिया, "जी हाँ, जानता हूँ।" पादरी साहब ने फिर प्रश्न किया कि "मसीहा के सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं?" इस प्रश्न को सुन कर बड़ी प्रसन्नता

एवं कॉनफिडैन्स के साथ श्री महाराज जी ने कहा—"भाई, मसीहा खुदा के पुत्र हैं, मैं खुदा का दोस्त हूँ, मसीहा मेरा सगा भतीजा है। मैं उसको अच्छी तरह से जानता हूँ। मसीहा मुझे बहुत प्यारा लगता है।" एक गेरुए वस्त्रधारी हिन्दू संन्यासी मसीहा को अपना सगा सम्बन्धी मानता है और आत्मीयता के नाते प्यार करता है—ऐसे सम्बन्ध की कल्पना भी पादरी साहब नहीं कर सकते होंगे। वे श्री महाराज जी का उत्तर सुन कर स्तम्भित रह गए। उन्होंने हिन्दू मत के इस व्यापक ईश्वरीय सम्बन्ध की बात, जिसमें सभी मजहब के ईश्वर-विश्वासी समा जायें, कभी सुनी नहीं होगी। आप सोचिए कि श्री महाराज जी की बात कितनी सत्यतापूर्ण है। वस्तुतः ईश्वरवाद में मजहब-भेद हो ही नहीं सकता। ईश्वरवाद तो मानव जीवन का एक ऐसा व्यापक सत्य है कि मन्दिर, मस्जिद और चर्च के भेद इसे विभाजित नहीं कर सकते। ईश्वरवादी होकर मजहबी संघर्ष करने वाला घोर अनीश्वरवादी है। क्योंकि सही ईश्वरवाद का अर्थ है—प्रभु से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करना। वैष्णव मत के अनुसार यही उपासना है। इसी आधार पर श्री महाराज जी ने भक्तिमती मीरा जी, महात्मा ईसा मसीह और पैगम्बर मुहम्मद को परम वैष्णव कह कर स्वीकार किया है। क्योंकि मीरा जी ने ईश्वर को अपना पति माना, महात्मा ईसा ने ईश्वर को अपना पिता माना और पैगम्बर मुहम्मद ने ईश्वर को अपना दोस्त माना और तीनों ही प्रभु के परम भक्त हुए। प्रभु-भक्ति के लिए ईश्वर को अपना मानना और उनको रस देने के लिए उनका प्रेमी होना अनिवार्य है। कोई मन्दिर में जाकर पूजा करेगा, कि मस्जिद में जाकर नमाज पढ़ेगा, कि चर्च में जाकर प्रार्थना करेगा—यह प्रश्न ही नहीं उठता। यदि कोई प्रभु को अपना मान कर उनके प्रति प्रेम-भाव रखेगा और उन्हीं के नाते प्राणीमात्र के प्रति सद्भाव रखेगा तो उसे सब जगह परमात्मा मिलेगा, अन्यथा कहीं नहीं मिलेगा। यह ध्रुव सत्य है। श्री महाराज जी ने इस सत्य को स्वीकार

करने का परामर्श सभी ईश्वरवादी साधकों को दिया है। उनका यह विचार उनके प्रवचनों में व्यक्त है, जिसका अनुसरण मजहबी एकता को सुरक्षित रखने में समर्थ है।

श्री स्वामी जी महाराज को संन्यास देने वाले गुरु ने एक बार विदा होते समय कह दिया कि बेटा, जब तुम आजाद हो जाओगे, तो सारी प्रकृति तुम्हारी सेवा के लिए लालायित रहेगी, चराचर जगत् तुम्हारी आवश्यकता-पूर्ति के लिए लालायित रहेगा। वृक्ष तुम्हें फल-फूल देंगे और खूँखार शेर तुम्हें गोद में लेकर तुम्हारी रक्षा करेंगे। इतना कह कर सद्गुरुदेव ने स्वरचित एक दोहा सुना दिया—

"जीते जी मर जाय, अमर हो जावे।
दिल देवे, सो दिलबर को पावे॥"

'जीते जी मर जाय' अर्थात् अंकिचन, अचाह एवं अप्रयत्न हो जाना और 'दिलबर को दिल देवे' अर्थात् प्रभु को अपना मान कर उन्हें रस देने के लिए अपने को समर्पित करना।

श्री स्वामी जी महाराज ने गुरुवाणी को सर्वांश में धारण किया और उसे अपने जीवन में शत-प्रतिशत फलित होते देखा। अकिंचन, अचाह एवं अप्रयत्न होकर उन्होंने परम स्वाधीन, दिव्य-चिन्मय जीवन पा लिया तथा प्रभु के प्रेमी होकर प्रेम के अनन्त रस से भरपूर हो गये।

घोर पराधीनता की पीड़ा से मुक्त होकर अमरत्व के आनन्द में मग्न हो गए। इस सम्बन्ध में श्री महाराज जी ने अपना एक अनुभव सुनाया था। एक बार उनका शरीर अस्वस्थ हो गया था। उत्तराखण्ड की यात्रा करके वापस आए थे। हिल डायरिया से शरीर बहुत ही दुर्बल हो गया था। साथ-साथ ज्वर भी रहने लगा। बीमारी की दशा में करीब 40 दिन बीत गए थे। चिकित्सकों के मतानुसार, नाड़ी की गति शरीर के नाश का

संकेत दे रही थी। मित्रों, प्रेमियों एवं चिकित्सकों ने चिन्ता प्रकट की। श्री स्वामी जी महाराज के शरीर को नियमानुसार कुशा और मृगछाला बिछा कर जमीन पर उतार दिया गया। चारों ओर प्रियजन खड़े थे। प्रेमी डाक्टर ने कहा कि 'बाबा जी चले।' इन्होंने सुना और प्रिय जनों के उमड़ते हुए हृदय के स्पन्दन को अनुभव किया। वीतराग सन्त को बड़ा भारी कौतूहल हुआ कि प्रियजन इतने दुःखी क्यों हैं? उन्होंने सोचा कि अब मैं देखता हूँ कि मृत्यु कैसी होती है? जब वे देखने लगे तो उन्हें बड़ा आनन्द आया। शरीर के छूट जाने में इतना हल्कापन और इतना आनन्द था कि जिसकी कोई सीमा ही नहीं थी। इस अनुभव से वे इस निश्चय पर पहुँचे कि मृत्यु में कोई दुःख नहीं है। चूँकि आदमी शरीर को बनाए रखना चाहता है, इस कारण मरने में दुःखी और भयभीत होता है अन्यथा आनन्द ही आनन्द है। उनका आनन्द मृतकवत शरीर पर भी फैल गया था। वे उस शरीर को जमीन पर पड़ा हुआ देख रहे थे और सुन रहे थे कि मित्रगण कह रहे हैं कि देखो 'बाबा जी कितने प्रसन्न हैं।'

बुद्धि की प्रखरता, हृदय की कोमलता एवं जीवन के प्रति जागरूकता के गुण इनमें जन्मजात थे। अवसर पाकर इन गुणों का पूर्ण विकास हुआ।

एक बार वे अपने गुरुदेव के पास बैठे थे। इनके मन में शास्त्रों एवं उपनिषदों के अध्ययन का संकल्प उठा। आँखें तो थी नहीं, मन ही मन सोच कर रह गए। तत्काल ही इनके गुरुदेव बोल उठे—अरे भाई, ठहरी हुई बुद्धि में श्रुति का ज्ञान स्वतः अभिव्यक्त होता है। उसकी पाठशाला है 'एकान्त' और पाठ है 'मौन'। ज्ञानार्जन का यह रहस्य सुन कर ये बहुत प्रसन्न हो गए। इन्होंने एकान्त में मौन रह कर बुद्धि को सम कर लिया। बुद्धि की समता में वह ज्ञान उदित हो गया जो ग्रन्थों के अध्ययन से कभी

सम्भव ही नहीं है। उस ज्ञान के प्रकाश में इन्हें सृष्टि के आदि-अन्त के सभी रहस्यों का पता चल गया। सृष्टि के विधायक की मंगलकारिता एवं मानव जीवन के मंगलमय विधान का अर्थ स्पष्ट हो गया। इन्होंने जानने योग्य सब कुछ जान लिया, क्योंकि जिस ज्ञान से सब कुछ जाना जाता है, वह ज्ञान इनमें अभिव्यक्त हो गया था।

अन्तर्चक्षुओं के खुलते ही इनमें इतनी सामर्थ्य आ गई कि बाह्य जगत को भी देखने में समर्थ हो गए थे। वे भीतर-बाहर सब कुछ देख सकते थे। वे बिल्कुल निर्द्वन्द्व एवं निर्भीक होकर रहते थे। बाहरी-आँखों के बिगड़ जाने का दुःख सदा-सदा के लिए मिट गया।

इनका इतना विकास अल्प समय में ही हो गया। जिन मित्रों ने प्रारम्भ से इनको देखा है, वे कहते हैं कि देखते ही देखते उनके भीतर सत्य से अभिन्न होने की व्याकुलता जो थी, वह परम शान्ति में बदल गई। उनका मुखमण्डल प्रकाशमान हो गया। वे अपने अविनाशी अस्तित्व में आप स्थित रहने लगे। उनके हृदय में ईश्वरीय प्रेम लहराने लगा, जिसके स्पर्श मात्र से निकटवर्ती मित्रगण पुलकायमान होने लगे। योग के द्वारा सिद्ध होने वाली सब सिद्धियाँ सहज ही उनमें आ गईं, पर वे उन सब सिद्धियों को गोपनीय रखते थे। उनका जीवन योग-बोध एवं प्रेम का सजीव प्रतीक था। यही कारण है कि इनकी उपस्थिति से वातावरण में प्रेम की लहरियाँ उठती रहती थीं।

उनके जीवन से यह सत्य प्रत्यक्ष होता था कि ज्ञान और प्रेम का तत्त्व जब किसी सन्त में अभिव्यक्त हो जाता है तो वह विभु हो जाता है। श्री महाराज जी के निकट सम्पर्क में आने वाले अनेक साधक भाई-बहन एक अज्ञात मिठास के आभास से आकर्षित हो कर चुपचाप मंत्र-मुग्ध की भाँति उनके पास बैठे रहते थे।

प्रेम-पथ की साधना की चर्चा जब होने लगती थी और श्री महाराज जी, प्रेमी तथा प्रेमास्पद के अनन्त विहार की मधुर वार्ता सुनाने लग जाते थे तो सुनने वाले ईश्वर-विश्वासी साधक अपने को भूल जाते थे। अनेक श्रोताओं ने समय-समय पर अपना अनुभव हमें बताया कि श्री महाराज की वाणी में उनका रसमय जीवन ही प्रवाहमान होकर श्रोताओं के हृदय को स्पर्श करता था, जिससे श्रोता अपने आपको प्रेम-भाव में उत्तरोत्तर ऊँचे उठते हुए पाते थे। उन्हें अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती थी।

इनकी प्रश्नोत्तर की शैली बेजोड़ थी। वाक्पटुता एवं उन्मुक्त हास्य, भ्रम-निवारण के लिए कड़ी-से कड़ी आलोचना के साथ ही मातृवत् स्नेह का व्यवहार जिज्ञासुजनों के विशेष आकर्षण का स्रोत था। अन्तर्बोध से अनुप्राणित, इनकी अकाट्य युक्तियों में बहुत ही स्पष्टता, दृढ़ता एवं निस्सन्देहता थी। इनके प्रवचनों एवं साहित्य में कहीं भी आपको ग्रन्थों के प्रमाणों का उल्लेख नहीं मिलेगा। वे जानते थे कि स्वत: सिद्ध सत्य को प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। वे कभी सोचकर नहीं बोलते थे। कई बार उन्होंने प्रसंगवश ऐसा कहा कि, "भाई जैसे तुम सुनते हो वैसे मैं भी सुनता हूँ। मैं भी तो श्रोता हूँ।"

उनकी अहं-शून्य वाणी में ज्ञान और प्रेम की अजस्र धारा सहज ही प्रवाहित होती रहती थी, जिसे सुनकर बड़े-बड़े शास्त्रज्ञ भी कहते थे और आज भी कह रहे हैं कि वर्षों तक ग्रन्थों के अध्ययन से दर्शन के जो गूढ़ रहस्य समक्ष में नहीं आये थे, वे सब इन बेपढ़े सन्त की वाणी से स्पष्ट हो गए।

करुणा से द्रवित, सर्वात्मभाव से भावित सन्त-हृदय में गहन एकान्तिक चिन्तन के फलस्वरूप मानव-जीवन सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर स्वरूप 'मानवता के मूल सिद्धान्त' प्रकाश में आए। उनको श्री महाराज जी

ने मानव-समाज के लिए एक नवीन क्रान्तिकारी विचारधारा के रूप में संजोया। उसी विचारधारा तथा साधन प्रणाली का प्रतीक है—मानव-सेवा-संघ। इस संस्था की स्थापना सन्त शिरोमणि पूज्यपाद स्वामी शरणानन्द जी महाराज ने इस हेतु से की कि इसके माध्यम से युगों-युगों तक मानव-समाज कि विचारात्मक, भावात्मक एवं क्रियात्मक सेवाएँ होती रहें। 1952 ई० में इसकी स्थापना हुई तथा सन् 1953 ई० में इसका रजिस्ट्रेशन हो गया। वृन्दावन में इसका प्रधान कार्यालय है। इस संस्था को स्थापित करने की आवश्यकता इसलिए पड़ गई कि मानव मात्र के परित्राण के लिए जिस सर्वमान्य विचार-प्रणाली का सृजन श्री महाराज जी की अन्तर्व्यथा से हुआ था—उसको उन्होंने अपने व्यक्तिगत नाम से प्रकाशित करना पसन्द नहीं किया। जिसे अहं को अभिमान-शून्य रखना अभीष्ट होता है, वे आत्म-ख्याति से बच कर रहते हैं।

इसमें दूसरी एक और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि श्री महाराज जी के विचारानुसार देश, काल, मत, मजहब, सम्प्रदाय एवं वर्ग से निरपेक्ष जो जीवन का सत्य है, उसे व्यक्ति के माध्यम से प्रकट करना उसका मूल्य घटाना है और सबसे बड़ी बात यह है कि जिन्होंने परम प्रेमास्पद की सत्ता से भिन्न अपना अस्तित्व ही नहीं रखा, वे अपने नाम से कोई बात कैसे कह सकते थे। इन्हीं कतिपय उल्लेखनीय कारणों से 'मानव-सेवा-संघ' की स्थापना हुई।

तब से अब तक देश के विभिन्न भागों में मानव-सेवा-संघ के माध्यम से जन-जन के भीतर सोई हुई मानवता को जगाने की सेवा की जा रही है। श्री स्वामी जी महाराज इस बात के लिए बड़े ही आतुर रहते थे कि प्रत्येक भाई-बहन अपने कल्याण में स्वाधीन और समर्थ हो जाए।

उनका प्रादुर्भाव एक विलक्षण विभूति के रूप में हुआ, ऐसा उनके सम-सामयिक सभी महान् सन्त एवं महापुरुष मानते हैं। प्रचण्ड ज्ञान, अकाट्य युक्ति, सरल विश्वास एवं अनन्य भक्ति—ये सभी पक्ष उनमें अपनी पराकाष्ठा पर थे। ऐसा अद्‌भुत काम्बिनेशन कहीं देखने में नहीं आता, जैसा परम पूज्य स्वामी जी महाराज में विद्यमान था। फिर भी उपर्युक्त दिव्यताओं को अपनी विशेषता मानने की भूल उन्होंने कभी नहीं की—

मेरा कुछ नहीं है।
मुझे कुछ नहीं चाहिए।
मैं कुछ नहीं हूँ।
सर्व समर्थ प्रभु मेरे अपने हैं—

यह चिरन्तन सत्य उनका जीवन था और यही उनके कथन का केन्द्र भी है। श्री महाराज जी की बड़ी भारी विशेषता यह रही है कि वे साधकों को किसी बाहरी विधि-विधान एवं अभ्यासजन्य साधनों पर अटकने नहीं देते थे, विभिन्न दार्शनिक मतभेदों में उलझने नहीं देते थे, किसी दर्शन या साधन-प्रणाली का आग्रह या विरोध नहीं करते थे। उन्होंने कभी अपना मत दूसरों पर आरोपित नहीं किया। स्वयं कट्टर ईश्वर-वादी होते हुए भी कभी ईश्वरवाद का प्रचार नहीं किया।

वे एक तत्त्वदर्शी सन्त थे। इसी कारण उन्होंने भक्ति-पथ, ज्ञान-पथ या योग-पथ में किसी को सबसे अच्छा या किसी को उससे कम अच्छा नहीं बताया, किसी को सहज या किसी को अपेक्षाकृत कठिन नहीं बताया। उन्होंने इस बात को घोषित किया है कि "दर्शन अनेक और जीवन एक है।" उन्होंने साधक मात्र को यह अभय वचन दिया है कि तुम आरम्भ में अपनी रुचि, योग्यता, सामर्थ्य, विश्वास और विचार के अनुसार

किसी एक साधन-पथ को पसन्द कर लो, पूर्णता में तुम्हें पूर्ण जीवन मिलेगा। कर्त्तव्यनिष्ठ को भी, योगी को भी, विचारक को भी एवं प्रभु विश्वासी को भी दिव्य, चिन्मय, रसरूप जीवन मिलता है, यह निर्विवाद सत्य है। जीवन की पूर्णता में योग, बोध और प्रेम से अभिन्नता सभी साधकों की हो जाती है। श्री महाराज जी का यह क्रान्तिकारी विचार उनके प्रवचनों में स्पष्ट व्यक्त होता था।

व्यक्ति के कल्याण एवं सुन्दर समाज के निर्माण सम्बन्धी कोई ऐसी समस्या नहीं है कि जिसका समाधान श्री महाराज जी की वाणी के अनुसरण से न हो जाए। श्री महाराज जी के अनुसार मानव-जीवन का सर्वोत्तम चित्र यह है कि—

शरीर विश्व के काम आ जाय,
अहं अभिमान-शून्य हो जाय
और, हृदय परम प्रेम से परिपूर्ण हो जाय।

इस आदर्श को उन्होंने अपने जीवन से दर्शाया और अपने महाप्रयाण से भी यही पाठ पढ़ाया। जब उन्हें यह विदित हो गया कि उनका शरीर अब समाज की सेवा के योग्य नहीं रह गया, तब उस शरीर को त्यागने का समय, तिथि एवं विधि भीतर ही भीतर निश्चित कर ली और कहने लगे—

(1) मैं त्रिकाल में भी शरीर नहीं हूँ।

(2) शरीर के नाश से मुझे दुःख नहीं होगा। मैं बहुत आनन्द में रहूँगा।

(3) बीच की यह उपाधि हट जाएगी तो भक्त और भगवान के अनन्त मिलन का अनन्त आनन्द रहेगा। इसलिए इस शरीर के छूटने पर शोक-सभाएँ नहीं होंगी; सत्संग समारोह होंगे।

(4) शरीर की बैकुण्ठी नहीं सजेगी, प्रोसेशन नहीं निकलेगा। मैं क्रान्तिकारी संन्यासी हूँ। तुम लोग विधि-विधान में मत पड़ना। कुटी में से पार्थिव शरीर निकालकर, आँगन में रखकर भस्म कर देना। शरीर की भस्मी मिट्टी में मिल जाएगी, खाद बन जाएगी, घास उगेगी, पशुओं का चारा बनेगा।

(5) समाधि-स्थल पर कोई चिह्न नहीं बनेगा, फूल नहीं चढ़ेगा।

(6) साधना का नाश नहीं होता है। अतः सेवा, त्याग, प्रेम का व्रत विभु होकर जन-समाज में फैलेगा।

(7) इस शरीर की सेवा में जिसकी रुचि है, वह मानव-सेवा-संघ की सेवा करे। संघ मेरा शरीर है और वह स्थाई रहेगा।

(8) जो लोग मुझे प्यार करते हैं वे भगवान को प्यार करें, क्योंकि भगवत्-प्रेम मेरा जीवन है।

(9) जो उपदेश भगवद्-विश्वास की जगह पर अपने व्यक्तित्व का विश्वास दिलाते हैं और भगवत्-सम्बन्ध के बदले अपने व्यक्तित्व से सम्बन्ध जोड़ने देते हैं, वे घोर अनर्थ करते हैं।

(10) सिवाय परमात्मा के और कुछ नहीं है, कुछ नहीं है, कुछ नहीं है।

(11) व्यक्त जगत् की विविधता के भीतर अव्यक्त नित्य प्रेम तत्त्व के एकत्वदर्शी सन्त ने कहा—

(क) कोई गैर नहीं है—यह धर्म का मंत्र है।

(ख) कोई और नहीं है—यह प्रेम का मंत्र है।

प्रिय साधको, इस सत्य को मानो। सर्व समर्थ प्रभु तुम्हारे अपने हैं, उनके होकर रहो, उन्हीं का काम करो और यह सद्गुरु का आशीर्वचन है कि उन्हीं में तुम्हारा नित्य वास होगा।

ऐसी अमृतमयी वाणी को सुनाकर, योगस्थित होकर, नाशवान् शरीर को स्वेच्छा से त्याग कर उस ब्रह्मनिष्ठ सन्त ने जीने की और मरकर अमर होने की कला हमें सिखायी।

उन सन्त शिरोमणि के चरणों में हमारा शत्-शत् नमन।

जब तक पूज्यपाद श्री स्वामी जी महाराज सशरीर इस संसार में विराजमान थे, तब उन्होंने अपना जीवनदायी संदेश ग्राम-ग्राम, प्रान्त-प्रान्त अविराम भ्रमण करते हुए साधु-सन्त, साधक, समाजसेवी, साहित्यकार आदि सभी वर्गों को सुनाया और अब उनके ब्रह्मलीन हो जाने पर मानव-सेवा-संघ के माध्यम से यह काम हो रहा है।

सन्त अमर हैं। उनकी वाणी अमर है। हम सब भाई-बहन अमरत्व से अभिन्न हो जायें, इसी सद्भावना के साथ,

निवेदिका : देवकी

सन्त-वाणी

- *अपने दुःख का कारण अपने से भिन्न किसी और को नहीं समझना चाहिए।*
- *अपनी निर्बलता को अपनी दृष्टि से देखने का प्रयत्न करना चाहिए।*
- *संसार से सच्ची निराशा परम बल है।*
- *अपने को सब ओर से हटाकर अपने में ही अपने प्रेम-पात्र को अनुभव करना अनन्य भक्ति है।*

स्वामी श्री शरणानन्द जी महाराज

—ब्रह्मलीन श्री स्वामी अखण्डानन्द जी सरस्वती

श्री उड़िया बाबा जी महाराज के आश्रम (वृन्दावन) में बड़े फाटक के ऊपर, छत पर, सत्संग हो रहा था। बाबा चौकी पर बैठे थे, शेष सब नीचे। एक युवा सन्त, जो नेत्रहीन थे, बाबा के साथ प्रश्नोत्तर कर रहे थे। इस सम्बन्ध में दोनों एक प्रकार का ही प्रतिपादन कर रहे थे कि वेदान्त-विचार में भक्ति-भावना का मिश्रण नहीं करना चाहिए। बाबा 'विचार' एवं 'भाव' शब्द का प्रयोग करते थे और वे नेत्रहीन सन्त 'विवेक' और 'विश्वास' शब्द का। मैं उस समय तक संन्यासी नहीं हुआ था। दोनों के बीच में कुछ बोलता नहीं था। मैं मन ही मन श्री मधुसूदन सरस्वती के 'श्री भक्ति रसायन' के उस प्रसंग से तुलना कर रहा था जिसमें द्रुत-चित्त के लिए भक्ति रस एवं अद्रुत चित्त के लिए वेदान्त-विचार का अधिकार बतलाया गया है।

उन दोनों महात्माओं के विचार में शास्त्रोक्त भाव की अभिव्यक्ति के लिए एक नयी भाषा-भाव एवं विचार, विवेक एवं विश्वास का नाम मिला, और वह मेरे लिए बहुत प्रभावी सिद्ध हुआ। स्वतन्त्र चिन्तन को एक दिशा मिली। वे नेत्रहीन सन्त स्वामी श्री शरणानन्द जी महाराज थे। बाद में उनके साथ हमारा सम्पर्क वर्षों तक बना रहा।

दूसरी बार एक प्रश्न था कि "क्या ईश्वर की मान्यता के बिना भी सदाचारी एवं जागरूक चिन्तनशील पुरुष यथार्थ रूप में परमात्मा का साक्षात्कार कर सकता है?" उस समय मुझे यह मीमांसा बहुत अटपटी, लोक-व्यवहार के लिए अनुपयुक्त तथा लोक-मानस में नास्तिकता के प्रति महत्त्व-बुद्धि का आधान करने वाली लगी। परन्तु वेदान्त के आभास, प्रतिबिम्ब अथवा औपाधिक ईश्वर की अनिर्वचनीयता निश्चय करने के

लिए चिन्तन का एक नया, प्रशस्त पथ भी अस्पष्ट रूप से झलकने लगा। दृष्टि-सृष्टिवाद अथवा एक जीवनवाद के महत्वपूर्ण चिन्तन के लिए जैसे कोई नवीन मार्ग मिल गया हो। हाँ, तो इस विषय में भी बाबा एवं स्वामी शरणानन्द जी का मत एक-सा ही था। बाबा औपनिषद् रीति से और स्वामी जी अपने स्वतन्त्र चिन्तन की रीति से एक ही निष्कर्ष पर पहुँच रहे थे। यह सत्संग भी बड़ा प्रभावी रहा।

एक बार स्वामी शरणानन्द जी महाराज सेठ श्री जय दयाल जी के सत्संग में स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश) आये। उनकी भाषा विलक्षण थी। उसको ग्रहण करने के लिए पहले-पहल कई दिन तक सुनना पड़ता था। स्वामी श्री रामसुखदास जी के साथ उनका विचार-विमर्श होता था। वे जब नये-नये शब्दों का प्रयोग करते तो पहले कुछ अद्‌भुत सा लगता, बाद में विचार करने पर प्राचीन शास्त्रों के साथ उसकी संगति लग जाया करती थी। वे 'अचाह' तथा 'अप्रयत्न' शब्द का प्रयोग किया करते थे। सीधी-सी बात है—'अचाह' माने निष्कामता और 'अप्रयत्न' माने नैष्कर्म्य। 'अचाह' अन्तः करण की शुद्धि है और 'अप्रयत्न' स्वरूप की सहज स्थिति। व्यवहार में यदि अपनी योग्यता का सदुपयोग दूसरों की सेवा के लिए नहीं किया जाएगा तो वह केवल अपनी सुख-सुविधा एवं भोग का साधन हो जाएगा।

श्री रामसुखदास जी ने मुझे बताया कि स्वामी शरणानन्द जी का चिन्तन बहुत ही गम्भीर एवं सूक्ष्म है। प्रत्येक बात को वे स्वयं चिन्तन के द्वारा अपनी भाषा में अभिव्यक्ति देते हैं। विचार करके देखने पर वह कहीं भी शास्त्र के विरुद्ध नहीं मिलती। 'अचाह' से हृदय शुद्ध होता है और 'अप्रयत्न' से सहज स्थिति होती है। बात सोलहों आने यथार्थ है। यहाँ सेवा ही धर्म है। इसी प्रकार धर्म, निष्कामता एवं सहज स्थिति की संगति लग गई।

स्वामी जी किसी जाति-पाँति, सम्प्रदाय, वर्ण-आश्रम आदि का नाम नहीं लेते थे। वे मानव के लिए मानवता का प्रतिपादन करते थे। मानव में जो आनुषंगिक विकार आ गए हैं, उनके निवारण के लिए प्रयास करना चाहिए एवं सहज मानवता का विकास तथा प्रकाश होना चाहिए। इसके लिए संकीर्ण विचारों एवं भावनाओं का परित्याग तथा उदात्त एवं उदार विचारों का उल्लास होना चाहिए। इसी अभिप्राय से श्री शरणानन्द जी महाराज ने 'मानव-सेवा-संघ' नाम की संस्था की स्थापना की।

उनका पूर्वाश्रम का नाम, ग्राम या जाति का मुझे पता नहीं है। वे इनकी चर्चा भी नहीं करते थे। हाँ, इतना अवश्य ही ज्ञात है कि वे 20 वीं शताब्दी के आरम्भ में जन्मे थे और दस वर्ष की आयु होते-होते वे नेत्रहीन हो गये थे। पहले उन्हें अपनी नेत्रहीनता की ग्लानि अवश्य हुई परन्तु बाद में महात्माओं के सत्संग से वह जाती रही। उनका मन भगवान के भजन में लगने लगा। पढ़ाई-लिखाई न होने पर भी परमात्मा के चिन्तन की दिशा में उनकी प्रज्ञा स्वत: अग्रसर होने लगी।

हमने स्वयं देखा और अपने कानों से सुना कि कोई कैसा भी प्रश्न करे, वे तत्काल उस प्रश्न का निरसन कर देते थे। उनकी सूझ-बूझ इतनी प्रखर थी के वे प्रश्न के शब्द सुनते ही समझ जाते थे कि प्रश्नकर्त्ता किस नासमझी या भूल के कारण यह प्रश्न कर रहा है। तत्क्षण वे उस पर चोट करते और प्रश्न ही कट जाया करता था। किसी का तर्क-वितर्क उनके समक्ष टिक नहीं पाता था। इसके साथ ही साथ उनका हृदय इतना भावपूर्ण एवं कोमल था कि भगवच्चर्चा करते-करते वे भावमग्न हो जाते और नेत्रों से अश्रुधारा का प्रवाह एवं कण्ठ गद्‌गद हो जाया करता था। उनकी वाणी का स्वर ही बदल जाता था।

क्रोध एवं क्षोभ की व्यर्थता पर चर्चा के समय उन्होंने सुनाया था कि वे कहीं अकेले यात्रा कर रहे थे। हाथ में डंडा था। पीछे से कोई बैलगाड़ी आयी, चक्का लगा, वे गिर पड़े। मन में गाड़ीवान के प्रति क्रोध भी आया, क्षोभ भी हुआ कि मैं नहीं देखता हूँ तो क्या हुआ, यह तो देखता है। गाँव के किसी व्यक्ति ने गाड़ीवान को भला-बुरा भी कहा, डाँटा-डपटा भी, परन्तु जब स्वामी जी आगे बढ़े तो किसी पेड़ से टकरा गये और गिर पड़े। कहते थे कि उस समय मन में आया कि अब करो क्रोध। इस दुर्घटना का तो कोई विशेष कर्त्ता ही नहीं है। जो सबका कर्त्ता है वही इसका कर्त्ता है। वस्तुतः जो अपने को कर्त्ता मानता है वही दूसरे को कर्त्ता मानता है। यह सब तो प्रभु की लीला है—चाहे जो हो जाय, जो किया जाय, जो कहा जाय— सब प्रभु की ओर से ही आता है। क्रोध-विरोध का कोई कारण नहीं है।

स्वामी जी ने सुनाया था—वे अपने कुछ भक्तों के साथ एक बार उत्तराखण्ड की यात्रा कर रहे थे। उन दिनों यात्रा पैदल ही होती थी। मार्ग में स्वामी जी का स्वास्थ्य बिगड़ गया। दो चार दिन तक तो भक्तगण उनकी सेवा में रहे। फिर धीरे-धीरे एक-एक करके अपनी यात्रा पूरी करने के लिए चले गए। वे बेचारे पहाड़ी मार्ग पर कब तक उनका साथ देते। स्वामी जी अकेले रह गये। थोड़े दिनों में उनका स्वास्थ्य ठीक हो गया। अपना डण्डा और कमण्डलु लेकर उन्होंने अकेले ही यात्रा की। एक नेत्रहीन व्यक्ति का एकाकी हिमालय की यात्रा करना कैसा होगा। न खड्ड में गिरे, न पहाड़ से टकराये और न ही पहाड़ में ठोकर लगी। क्या आश्चर्य है। उनके हृदय में ईश्वर के प्रति कितनी आस्था थी और ईश्वर अपने विश्वासी भक्त की कैसे रक्षा करता है एवं सहायता देता है— यह इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

पुण्य-स्मृति

—श्री सुदर्शन जी 'चक्र'

सर्वप्रथम हरिद्वार में मुझे श्री महाराजजी के दर्शन हुए थे। उससे पूर्व एक-दो पत्र मैंने लिखे थे और उनका उत्तर मुझे प्राप्त हुआ था। यह बात सन् 1938 या 1939 की है। उन दिनों मैं मेरठ से निकलने वाले मासिक-पत्र 'संकीर्तन' का सम्पादन कर रहा था। उसके विशेषांक के सामग्री-चयन के कार्य से हरिद्वार गया था। प्रलंब शरीर, धूप में तपने से किंचित् श्यामवर्ण। मैंने चरणों पर सिर रखकर परिचय देते हुए कहा 'सुदर्शन प्रणाम कर रहा है।'

'दादा', इस सम्बोधन के साथ मुझे दोनों हाथों से पकड़ हृदय से लगा लिया, लाठी नीचे गिर गई, जिसे पीछे मैंने ही उठाकर उनके हाथ में दिया। बहुत विचित्र लगा, क्योंकि आयु की दृष्टि से भी मैं उनके बच्चे के बराबर था। उनके सम्बोधन की कोई संगति मन में बैठती न थी।

उस समय तक अपने 'श्यामसुन्दर' को मैं मित्र तो मानता था, किन्तु मेरे मन में यह स्पष्ट नहीं था कि कन्हाई मुझ से बड़ा है या छोटा। यह बात तो बहुत पीछे, जब मैं नागपुर में था तब बनी। संसार में मेरे सम्बन्धियों में मेरा केवल छोटा भाई बचा था। अचानक पत्र आया। उसका शरीर नहीं रहा। जिसका संसार में कोई एक ही सम्बन्धी रहा हो और उसकी मृत्यु का समाचार आ जाय, तो मन की क्या दशा होती है, यह कोई भुक्त-भोगी ही जान सकता है। किन्तु हुआ यह कि कठिनाई से दो क्षण उस शोक का वेग रहा। सहसा, हृदय में श्रीकृष्ण ने प्रकट होकर कहा, 'दादा', मैं तेरा छोटा भाई हूँ।' शोक गया, बहुत कुछ मिला। उस दिन उस

समय यह भी याद आया कि प्रथम मिलन के समय श्री महाराज ने इसी 'दादा' से सम्बोधन किया था और तब मुझे इस सम्बोधन की सार्थकता समझ में आई। यह घटना सन् 1945 की है।

मैं गंगोत्री पहुँचा था। मेरे साथ देवी सत्यमूर्ति और उनके कोई सम्बन्धी साधु थे। श्रीकृष्णाश्रमजी महाराज के दर्शन करने गया। वे जाड़ों में भी गंगोत्री में दिगम्बर, बिना धूनी के रहा करते थे। उनकी ख्याति सुन चुका था। महामना पं० मदनमोहन मालवीय उनको हिन्दू विश्वविद्यालय का शिलान्यास कराने के लिए वाराणसी लाये थे। मैंने उन्हें प्रणाम किया, देवी सत्यमूर्ति का परिचय दिया कि ये श्री स्वामी शरणानन्दजी महाराज की सगी छोटी बहिन हैं, इन्हें ढाई वर्ष का छोड़कर स्वामी जी ने गृह त्याग किया था। श्री कृष्णाश्रमजी महाराज मौन रहा करते थे। उन्होंने भूमि पर लिखा, 'स्वामीजी महाराज मेरे मित्र हैं।' मैंने पूछा, 'आप बहुत वर्षों से गंगोत्री में रहते हैं, श्री महाराज जी से आपकी मित्रता कैसे हुई?' उन्होंने लिखकर बतलाया, 'उन्होंने अकेले पाँच बार यमुनोत्री, गंगोत्री, केदारनाथ, बद्रीनाथ की यात्रा की है। गंगोत्री आने पर मेरे पास ही ठहरते थे।'

आज भी सोचकर आश्चर्य होता है कि उस समय सड़कें नहीं थीं, बसें नहीं थीं, ऋषिकेश से ही पैदल जाना पड़ता था, मार्ग ऐसा था कि आँख वालों को भी गिर जाने का डर था, पहाड़ में आज भी चाहे जब मार्ग टूट जाया करता है, उस समय एक अकेला आदमी जो बिना आँख का है पाँच-पाँच बार इन तीर्थों की यात्रा कैसे कर सका? और इस यात्रा में भी कोई कम्बल या चद्दर साथ में नहीं रखी थी। श्री कृष्णाश्रमजी महाराज बराबर गंगोत्री में रहते थे, इसलिए उन्हें शीत सहने का अभ्यास हो गया था। किन्तु नीचे मैदानी क्षेत्र में रहने वाला कोई अचानक केवल कौपीन

लगाये यमुनोत्री, गंगोत्री, केदारनाथ, बद्रीनाथ में पहुँच जाएगा, इसकी आशा आज भी नहीं की जा सकती है। यह तो उनका अपना तपोबल अथवा भगवत्कृपा ही संभव बना सकती थी।

वृन्दावन में सत्संग चल रहा था। मैं चुपचाप जाकर बैठ गया। किसी सज्जन ने अपने किसी स्वजन का नाम लेकर कहा कि उसके प्रति उनकी बहुत आसक्ति है, यह आसक्ति कैसे टूटे? 'उसकी खूब अधिक सेवा करो', श्री महाराज ने यह संक्षिप्त उत्तर उसे दे दिया। वे प्रायः ऐसा ही सूत्र बोलते थे और व्याख्या करना उनके स्वभाव में नहीं था।

लेकिन उनका वह सूत्र मुझे कभी विस्मृत नहीं हुआ।

सन्त-वाणी

- *स्वधर्म पालन करने में आई हुई कठिनाइयों को प्रसन्नतापूर्वक सहन करना परम तप है।*
- *बड़ी-से-बड़ी कठिनाई आने पर भी हार स्वीकार मत करो।*
- *सत्य की खोज के लिए सर्वस्व समर्पण कर दो।*
- *हृदय में मोह की अग्नि मत जलने दो।*
- *मृतक प्राणी का चिन्तन मत करो।*
- *वर्तमान परिस्थिति को संभालने का प्रयत्न करो, क्योंकि वर्तमान को सँभालने से बिगड़ा हुआ भूत तथा आने वाला भविष्य, दोनों अपने-आप सँभल जाते हैं।*

परदुःख-कातरता की साक्षात् मूर्ति

—श्री नारायण रेड्डी

पूज्यपाद श्री स्वामी जी महाराज बहुत ही दयालु एवं प्रेमी सन्त थे। उनका अधिकांश समय भ्रमण में ही बीतता था। वे जहाँ कहीं भी जाते स्वयं अपना तो नहीं, परन्तु साथियों का बहुत अधिक ध्यान रखते थे। मुझे अच्छी तरह याद है कि एक बार जब वे दिल्ली पधारे तो स्टेशन से उन्हें अपने यहाँ ले जाने के लिए सेठ श्री जयदयाल जी डालमिया एक बड़ी कीमती मोटर लेकर स्टेशन पर पहुँचे। स्वामी जी महाराज पहले अपने साथियों को सेठजी की कोठी पर भेजते गये और वे स्वयं कार के लौटने की प्रतीक्षा में बड़ी देर तक वहीं ठहरे रहे। मैंने स्वामी जी से निवेदन किया, 'महाराज ! आप कब तक यहाँ ठहरे रहेंगे। आप पहले सेठ जी के स्थान पर चलिए, हम लोग थोड़ी देर में आ जायेंगे।' उत्तर मिला—'अगर मैं पहले चला जाऊँ तो सेठजी भी मेरे साथ चले जायेंगे और आप लोगों की व्यवस्था ठीक तरह नहीं हो पायेगी।'

स्वामी जी के साथ हर यात्रा में दस-पद्रह सत्संग-प्रेमी सज्जन रहते थे, जिन्हें लोग शंकरजी की बरात कहते थे। परन्तु इस बरात के स्वागत-सत्कार और आतिथ्य का ध्यान जितना स्वामी जी को रहता था, सामान्यतया किसी भी घराती को अपने यहाँ आई हुई बरात का शायद ही इतना ध्यान रहता हो। इस सुख-सुविधा की व्यवस्था को किसी दूसरे पर न छोड़कर स्वयं अपने निरीक्षण में करवाते थे।

श्री महाराज जी परदुःखकातरता तथा सेवापरायणता की भी साक्षात् मूर्ति थे और मैं स्वयं अपने जीवन की घटनाओं के आधार पर कह सकता

हूँ कि इन विशेषताओं को चरितार्थ करते हुए वे अपने प्राणों तक की परवाह नहीं करते थे। एक बार वृन्दावन में बिजली का शॉक लगने पर जब मैं अचेत होकर मरणासन्न हो गया तब उन्हीं की कृपा, करुणा एवं स्नेह के परिणामस्वरूप मेरी प्राणरक्षा हो सकी और जब बच गया तब श्री महाराजजी ने मुझे कहा,—"देखो, तुम्हारा यह नया जन्म हुआ है, अब तुम अपने शेष जीवन को भगवान के समर्पण कर दो।"

सन्त-वाणी

- *अपने को शरीर कभी मत समझो।*
- *सर्वेन्द्रियों का ब्रह्मचर्य पालन कर, शरीर को शुद्ध कर लो।*
- *गुणों का भोग मत करो, क्योंकि भोग करने से विकास रुक जाता है।*
- *अपनी अच्छाई तथा दूसरों की बुराई भूल जाओ।*
- *दूसरों के दोष मत देखो, क्योंकि दूसरों के दोष देखने से दोषों से अकारण ही सम्बन्ध हो जाता है।*

वह तो आते आधे नाम

—श्री ठाकुर जगत सिंह झालामण्ड

मेरे पूज्य पिता श्री स्व० ठाकुर विजय सिंह जी झालामण्ड साधु-सन्तों के प्रेमी एवं श्रद्धालु थे। इन पर कृपा भाव रखने वाले सन्तों ने अभ्यासजन्य साधन नाम-जप आदि शुरु कराया। 'अजपा जप', जो नाम-जप के दीर्घकालीन अभ्यास से होता है, वह होने लग गया था। सन् 1949 में स्वर्गाश्रम में परमपूज्य गुरुदेव स्वामी शरणानन्द जी से भेंट हुई। पूज्य स्वामी जी की बातचीत एवं प्रश्नोत्तर की शैली ने पिता जी को बहुत प्रभावित किया।

ठाकुर साहब अपने नियम के बड़े पक्के थे। नित्य नियम से 200 माला पूरी करने के पश्चात् ही कोई काम करना आरम्भ करते थे। एक बार पू० स्वामी जी जोधपुर पधारे। यह बात सन् 1953-54 की होगी। पिता जी अपने साधन में निमग्न थे। पू० स्वामी जी सीधे उनके कमरे में चले गए एवं बड़े ही सहज भाव से बोले, "क्या हो रहा है?" चरण-स्पर्श करके पिता जी ने कहा, "बाबा, बस थोड़ी सी माला और रह गई है।" श्री स्वामी जी महाराज ने आत्मीयता से किन्तु विनोदपूर्ण स्वर में कहा, "क्या उधार ले रखा है, जो गिन-गिन कर चुका रहे हो? अरे भाई, वो तो आधे नाम पर ही आ जाता है। तुम प्रेम एवं अपनत्व से एक बार नाम ले लो तुम्हारा काम बन जाएगा।"

सन्त-वाणी

✪ *अकिंचन, अचाह तथा अप्रयत्नपूर्वक साधक साध्य से अभिन्न होता है।*

जीवन के मार्मिक प्रसंग

(1)

बालक (श्री महाराजजी) जब तीन वर्ष का था, तो एक दिन किसी रमते योगी ने उसके द्वार पर अलख जगायी, और बालक जब माता के हाथ से आटे की कटोरी छीन कर 'हूँ दूँगों भिच्छा'—कहता हुआ योगी की ओर दौड़ा, तो योगी बालक की बड़ी-बड़ी आँखों से आकर्षित होकर उसके ललाट को एकटक निहारने लगा। भिक्षा लेना भूलकर बालक को उस तरह घूरते देख माँ के मन में संदेह तथा भय-मिश्रित भाव उत्पन्न हुआ और आगे बढ़कर उसने बालक को अपनी बाँहों के घेरे में लेते हुए योगी की दृष्टि से हटा लिया तथा हाथ से आटे की कटोरी लेकर योगी की झोली में भिक्षा डाल दी। 'तेरे लल्ला को हाथ देखना चाहूँ हूँ, मैया! जु कहै तो देख लऊँ।' योगी ने माता से आज्ञा माँगी और सकुचाती हुई माता ने बच्चे की दाहिनी हथेली फैलाते हुए योगी के आगे कर दी। माता गौर वर्ण की थी और बच्चा साँवले रंग का। तभी योगी के मुँह से निकला, 'तौ जि बात है! जसोदा ने कारो जायो है!' बात चाहे जिस उद्देश्य से कही गयी हो, माता ने उसे व्यंग्यात्मक भाव में ही लिया। इधर योगी बच्चे की मुलायम और गुलगुली हथेली को अपने अँगूठे से इधर-उधर खींचता हुआ देख-देखकर मुस्करा रहा था और उधर माता बालक का भविष्य जान लेने को उतावली हो रही थी। माता को बात अच्छी तो नहीं लगी, फिर झुककर उसने योगी को दण्डवत् प्रणाम किया और विनयपूर्वक बोली—

"कोऊ अच्छौ वरदान देते जइयो महाराज, मेरे छोरा को।"

तो योगी यह कहता हुआ लम्बे डग भरने लगा कि—

"तेरो लाला कै तो बड़ो राजा होगो, नहीं तो सिद्ध जोगी तो होगो ही, या मैं तो कोऊ संदेह नाय। विधि के विधान कूँ को टार सक्यो है, मैया? रामऊँ को वन जानो पड़यो हतो, मेरी-तेरी तो बात ही कहा है।" लम्बे डग भरता हुआ योगी गाता जा रहा था—

"मुनि वशिष्ठ से पंडित ज्ञानी सोधि कै लगन धरी।
सीता हरण मरण दशरथ को वन में विपति परी।"

(2)

बचपन की बात है। प्रीति के लिए ही जैसे बना हुआ हृदय, मैत्री-भाव छलकता रहता। तेज हवा चलती, बगीचों में पके आम टपकते। मुहल्ले के बच्चों के साथ यह अनुरागी-हृदय बालक भी आम खाने के लिए दौड़ जाता। आम उठाया, एक बार चूसा, रस अगर मीठा लगा तो झटपट दोस्त की याद आ गयी—"अरे, यह तो बढ़िया आम उसको खिलाऊँगा।" देखा आपने! आम खाने का सुख प्यारे मित्र को आम खिलाने के रस में बदल गया! कैसी अद्‌भुत रचना है! कैसा प्रेमी हृदय है! मनोविज्ञानवेत्ता कहते हैं कि बाल्यकाल में व्यक्ति आत्म-केन्द्रित होता है, अपना ही सुख पसंद करता है। आगे चलकर सामाजिकता के प्रभाव से सुख बाँटना सीखता है। यह लक्षण उस बालक पर लागू नहीं होता, जो भोग और मोक्ष—सब कुछ उस अनन्त पर न्यौछावर करके उसको आनन्दित करने वाला, उसका नित्य सखा होने जा रहा है। परमात्मा का अभिन्न मित्र होकर उसने डंके की चोट प्रेम-पथ के साधकों को सुनाया कि परमात्मा को रस देने के लिए उसको प्यार करो।

(3)

'शरीर विश्व के काम आ जाये', इस सत्य को सिद्धान्त रूप में प्रस्तुत व प्रतिपादित किया गया बहुत पीछे, परन्तु बीज रूप में यह सर्वहितकारी भाव उनमें विद्यमान था जन्म से ही, बचपन से ही इसके लक्षण प्रकट होने लगे थे उनमें। उन्हीं के श्रीमुख से हमने सुना है, "मुझे दूसरों के काम आने का बचपन से ही बड़ा शौक रहा है। जब चिट्ठीरसा गाँव में आता तो मैं उसके पीछे-पीछे डोलता था, क्योंकि गाँव में अधिक लोग निरक्षर भट्टाचार्य थे। मैं ही थोड़ा-सा पढ़ा-लिखा था। जब लोग कहते कि लल्ला, जरा पढ़कर सुना देना, तो बड़ा मजा आता लल्ला को।" कैसी लगन है! कोई मदद की आवश्यकता अनुभव करेगा, इसलिए स्वयं पहले ही वहाँ उपस्थित हो जाने में, ऐसा मजा लेने में, कितना सयानापन है। दूसरों के काम आने वाली लगन जो सीमित सामर्थ्य के बालक में अंकुरित हुई थी वह त्रिगुणातीत ब्रह्मनिष्ठ संत हो जाने के बाद अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची और निकटवर्तियों ने शरीर-नाश के अंतिम क्षणों में सर्वात्म-भाव से भावित उस महामानव को अपने परम सुहृद् से सबका कल्याण करने के लिए कहते हुए सुना।

(4)

'योगः कर्मसु कौशलम्', यह लक्षण भी बाल्यकाल में ही प्रकट होने लगा था। श्री महाराजजी ने स्वयं ही सुनाया था कि—"मुझे पढ़ने जाने का बड़ा शौक था। पिता के घर से कुछ दूर दूसरे गाँव में पढ़ने जाता था और लालटेन की रोशनी में चलने का भी बहुत शौक था। अतः स्कूल से आते समय खेल कूद में, जान-बूझकर थोड़ी देर कर देता और लालटेन जलाकर हाथ में लेकर थोड़ा अँधेरा होने पर घर आता। एक दिन घर

पहुँचने पर पता चला कि लालटेन की ढिबरी रास्ते में कहीं गिर गई है। इससे मुझे बड़ी तकलीफ हुई। दूसरे दिन रविवार था। स्कूल नहीं जाना था। इस कारण उस दिन भी बड़ी बेचैनी रही। मेरे द्वारा ऐसी भूल क्यों हुई? भूल की तकलीफ मिटाने के लिए लालटेन की ढिबरी को खोजना था। सारा दिन, सारी रात बेचैन रहने के बाद सोमवार के दिन जब घर से स्कूल के लिए चला तो अपने दरवाजे से ही पूरे रास्ते भर आँखें गड़ा-गड़ा कर लालटेन की ढिबरी को खोजता हुआ गया। छोटी-सी चीज थी, दो दिन बीत गये थे। रास्ते में पड़ी हुई चीज किसी ने उठा ली होगी। मिलने की आशा तो बहुत कम थी, परन्तु गलती हो जाने की तकलीफ और ढिबरी को खोजने का चाव बहुत प्रबल था। चलते-चलते स्कूल पहुँचने से पहले ढिबरी मिल गयी और मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई।" आप सोचिये, लालटेन की ढिबरी जैसी मामूली चीज का खो जाना कोई खास बात नहीं थी। अच्छे सम्पन्न परिवार का इकलौता लड़का, एक लालटेन बिना ढिबरी की हो गयी तो माता-पिता बालक के लिए दो-चार नयी लालटेनें खरीद सकते थे, परन्तु बालक को अपनी कार्यकुशलता में कमी का बड़ा भारी दुःख था। संत हो जाने पर उसी जीवन में से यह सत्य उद्‌भासित हुआ कि यदि एक गिलास जल सही ढंग से पिलाना नहीं आता है तो ध्यान करना नहीं आयेगा। छोटे-से-छोटा काम करने में भी जो असावधानी करता है वह करने के राग से मुक्त नहीं हो सकता। राग-रहित हुए बिना योगवित् होना संभव नहीं है। उनके प्रेमी मित्र इस बात को खूब अच्छी तरह जानते हैं कि आँखों से देखकर उतनी अच्छी तरह वस्तुओं को हम नहीं सँभाल सकते जितनी अच्छी तरह श्री महाराजजी बिना देखे सँभालते थे।

(5)

अद्‌भुत प्रतिभा-सम्पन्न बालक की आँखें बड़ी गजब की थीं। एक बार स्कूल इन्सपैक्टर आया! वर्ग-कक्ष में बच्चों से बातें करने लगा। परन्तु रह-रहकर उसकी दृष्टि इस बालक पर अटक जाती थी। आखिर उसके मुँह से निकल ही गया—'इस बच्चे की आँखें गजब ढाती हैं।' उन गजब ढाने वाली आँखों ने बालक का साथ बचपन में ही छोड़ दिया। बालक अत्यन्त दुःखी हो गया। पढ़-लिखकर वकील होने की उसकी कल्पना बिखर गई। अरमानों को गहरी ठेस लगी। सारा परिवार दुःखी हो गया। "अपने दुःख से मैं दुःखी होता था और मुझे रोता हुआ देखकर माता-पिता और बहनें सब रोने लगतीं। उनको रोते हुए सुनकर मैं और अधिक दुःखी होता—मैं यहाँ तक सोचने लग जाता—हाय! मेरा जन्म लेना कितने लोगों के लिये दुःखदायी हो गया है। मेरा जन्म न होता तो दुःख का यह चक्र न चलता।"

(6)

दृष्टि-हीन हो जाने की अपनी दशा पर स्वयं बालक को इतना दुःख हुआ था कि माता-पिता घबरा उठे। बच्चा बाँस की छड़ी टेकता और टटोल-टटोल कर चलता। सुबह से ही निकल जाता और आबादी से बाहर जाकर अपना समय गुजार देता—जैसे, अब वह घर का सदस्य ही नहीं रह गया था। इसी तरह जाड़ों के एक दिन जब वह घर लौटा तो उसके बदन का गर्म कुरता गायब था। फिर एक दिन बदन पर लिपटी हुई लोई भी नदारत थी। बहुत पूछने पर उसने केवल इतना बताया कि किसी रमैया को सर्दी में ठिठुरते सुनकर उसने लोई उसे दे दी थी, क्योंकि 'उसकी जरूरत मुझ से अधिक थी।'

(7)

दस-ग्यारह साल के बालक में यह प्रश्न पैदा हो गया था कि "ऐसा भी क्या कोई सुख होता है जिसमें दुःख न शामिल हो?" एक दिन पिताजी किसी से बातें कर रहे थे। बातचीत के सिलसिले में उन्होंने कहा कि "ऐसा सुख साधुओं को होता है जिसमें दुःख नहीं रहता।" होनहार, मेधावी सजग बालक को जीवन की राह मिल गई। उसने निश्चय कर लिया, "आँखों के चले जाने से पढ़ना-लिखना संभव नहीं, और सब दरवाजे तो मेरे लिए बंद हो गये, मैं और कुछ नहीं कर सकता, परन्तु साधु तो हो सकता हूँ।" उसी बालक ने साधु होकर दुःख-रहित जीवन का आनन्द स्वयं पाया। घोर पराधीनता से उच्चतम जीवन की यात्रा आरम्भ करने वाला परम स्वाधीन हो गया। सर्वात्म-भाव से भावित हृदय उमड़ पड़ा और आज आप उनके सिद्धान्तों एवं साधन-प्रणालियों में प्रत्यक्ष उनके जीवन की इस व्यग्रता को अनुभव कर सकते हैं कि उन्होंने असमर्थ से असमर्थ को भी स्वाधीनतापूर्वक स्वाधीनता के साम्राज्य में पहुँचाने का मार्ग किस प्रकार प्रशस्त किया।

(8)

दिल में धुन लगी है कि साधु कैसे हो जाऊँ। आँखों की ज्योति नष्ट हो जाने से चेहरा कैसा दिखता होगा, इस दुःख के मारे घर से बाहर निकला नहीं जाता था। साधु होने की बात सुनना भी माता-पिता सहन नहीं कर सकते थे। साधुओं से मिलने-जुलने के लिये कैसे जाऊँ? कहाँ जाऊँ? कौन ले जाय? बड़ी भारी बेबसी थी। फिर भी, दूसरों की दया का पात्र होकर जीने की बात सोचना भी बालक सह नहीं सकता था। मिलने-जुलने वाले, सगे-सम्बन्धी, जिस किसी से बातचीत होती, केवल सत्संग की ही चर्चा होती, क्योंकि जीवन में एक ही धुन रह गई थी—साधु

कैसे बनूं? एक दिन एक संत आये। दरवाजे पर, चौकी पर उनका आसन लगा। पास ही जमीन पर दुःखी बालक चौकी पकड़कर बैठा था। हित-चिंतकों ने संत को दुःखी बालक का दुःख सुना दिया। संत ने कहा—

"भैया!" राम-राम कहा करो।" बालक ने कहा—"मेरा राम-नाम में विश्वास नहीं है।" संत ने कहा, "कोई बात नहीं। ईश्वर को तो मानते हो?" बालक ने कहा, "हाँ! ईश्वर को मानता हूँ।" इस पर संत ने कहा कि "अच्छी बात है, ईश्वर के शरणागत हो जाओ।" संत ने कहा, बालक ने सुना। संत की वाणी जादू का काम कर गई। संत होने के बाद अनेक अवसरों पर श्री मुख से ऐसा कहते सुना गया है—"प्रभु के शरणागत होने की बात जीवन में ऐसी लग गई कि जब से सुना, प्रत्येक क्षण शरण्य से मिलने की धुन तीव होती चली गई। रह-रहकर हृदय में हुलास उठती रहती—शरण्य से कैसे मिलूँ?" सत्य की स्वीकृति से साधना की अभिव्यक्ति होती है—जीवन का यह सत्य बालक में प्रत्यक्ष हुआ। जप, ध्यान, स्मरण कुछ करना नहीं पड़ा; स्वतः होने लगा।

(9)

बालक का हृदय प्रेमी तो था ही। अन्धे हो जाने से प्रिय कुटुम्बी-जनों का स्नेह इस बालक के प्रति अधिकाधिक उमड़ने लगता। एक दिन की बात है कि चचेरे भाई, उनकी पत्नी इस बालक के साथ एक ही बिस्तर पर लेटे-लेटे प्यार की बातें कर रहे थे। भाभीजी को देवर के साधु होने की बात याद आ गई। उन्होंने प्रेमभरे गद्‌गद् कण्ठ से कहा कि "आप साधु हो जायेंगे, तो इस प्यार को कौन निभाएगा?" बालक ने सुना। ज्ञान का प्रकाश, असाधारण बुद्धि में बिजली की तरह कौंध गया। उसने उत्तर दिया—"हम लोग यहाँ लेटे-लेटे प्रेमभरी बातें कर रहे हैं, बड़ा

अच्छा लग रहा है। यह अच्छा लगना कब तक रहेगा?" अभी थोड़ी देर में हमें नींद सतायेगी और हम सब अलग-अलग होकर सो जायेंगे, फिर यह अच्छी लगने वाली परिस्थिति कहाँ रहेगी?" भाई-भाभी से उत्तर देते नहीं बना। बालक के जीवन में यह सत्य प्रकट हो गया कि अच्छी लगने वाली परिस्थिति रहती नहीं है। उसका आश्रय लेना असत्य है।

(10)

संत की वाणी ने मंत्र का कार्य तो कर ही दिया था। जीवनी में साधुता का विकास आरम्भ हो गया था, परन्तु संन्यास लेना बाकी था। राह दिखाने वाले संत आवश्यकतानुसार समय-समय पर आते रहते थे। संन्यासी होने की उत्सुकता को सुनकर उन्होंने आदेश दिया, "माता-पिता के जीवन-काल में तुम उन्हें मत छोड़ो। धीरज रखो, जो तुम्हें छोड़ता जाय, उसे तुम छोड़ते जाओ।" गुरु के आदेश में अविचल निष्ठा थी। कुछ ही दिनों के भीतर मोह का घेरा डालने वाले कुटुम्बी-जन एक-एक कर दिवंगत होते गए, संन्यास लेने के लिए उत्सुक किशोर सबसे नाता तोड़ता गया। अब एक विकट परिस्थिति सामने आई। परपीड़ा से द्रवित किशोर में एक चिन्तन आरम्भ हुआ—"अम्मा नहीं रहेंगी तो पिताजी दुःखी रहेंगे। पिताजी नहीं रहेंगे तो अम्मा रोयेंगी। मैं अंधा बालक कुछ कर नहीं सकता। अम्मा का दुःख मुझसे कैसे देखा जायेगा? कितना अच्छा होता कि ये दोनों एक साथ चले जाते।" और वही हुआ। माता-पिता दोनों का देहान्त 2-3 घंटों के आगे-पीछे हो गया! कैसे हो गया, किसने किया—कौन कहे!

(11)

अब तक 18-19 वर्ष की उम्र हो गई थी। बड़ी उत्सुकता से गुरु-आगमन की प्रतीक्षा हो रही थी। नाते-रिश्ते, अड़ौसी-पड़ौसी, वृद्ध एवं

समवयस्क लोगों की ओर से तरह-तरह के सुझाव आने लगे—सम्पत्ति काफी है, बैंक में जमा कर दो और फिर दरवाजे पर बैठकर चैन से राम-भजन करो। प्रस्ताव सुनकर युवक तिलमिला उठता। बिचारे मोह में पड़े-सने लोग समझ नहीं पाते थे कि जिसने सर्व-सामर्थ्यवान की शरण ली है वह भला संग्रहीत सम्पत्ति के सहारे कैसे बैठ सकता है। उन्हें बड़ा आश्चर्य होता, जब वे युवक के मुँह से ध्रुव-निश्चय की दृढ़ता के साथ यह सुनते— "तुम लोग मुझे सम्पत्ति के अधीन रखना चाहते हो, मैं ऐसा नहीं करूँगा।" भीतर से संन्यास तो सिद्ध हो ही गया था, अब बाहर से संस्कार पूरे करने के दिन आ गये। अन्य संतों-भक्तों की मंडली लेकर सद्गुरुदेव एक दिन पधारे और आदेश दिया, "अब समय आ गया है—घर के दरवाजे सब खोल दो—गाँव के लोग जो चाहें सब उठा ले जायें—तुम मेरे साथ चलो।" ऐसा ही हुआ। शरण्य से मिलने की लगन ने, संन्यासी होने की तीव्र अभिलाषा ने, लोभ-मोह का अन्त पहले ही कर दिया था। एक क्षण की देर नहीं लगी। गुरु ने जैसा कहा, शिष्य ने वैसा ही किया। निकटवर्ती जनों में स्नेह का भाव उमड़-उमड़ कर आँखों से बहने लगा। युवक ने प्रेम-पूर्वक सबका समाधान किया और गुरु के पीछे चल दिया। उस समय से अन्त तक संन्यास-धर्म का बड़ी दृढ़ता के साथ स्वामीजी ने पालन किया। अन्धे होने के कारण कभी भी संन्यास-धर्म के पालन में कोई कमी नहीं आने दी। संन्यास देने वाले गुरु ने चलते समय कह दिया, 'बेटा! जब तुम आजाद हो जाओगे, तो सारी प्रकृति तुम्हारी सेवा के लिए लालायित रहेगी।' चराचर जगत तुम्हारी आवश्यकता-पूर्ति के लिए तत्पर रहेगा। वृक्ष तुम्हें फल-फूल देंगे और खूँखार शेर तुम्हें गोद में लेकर तुम्हारी रक्षा करेंगे।

"जीते जी मर जाय, अमर हो जावे,
दिल देवे सो दिलबर को पावे"

स्वामीजी ने गुरुवाणी को सर्वांश में धारण किया और उसे जीवन में शत-प्रतिशत फलित होते देखा।

(12)

गुरु के पास बैठे-बैठे एक दिन तेजोमय युवक संन्यासी के मन में उपनिषद् पढ़ने का संकल्प उठा। सद्गुरुदेव ने बिना पूछे ही उत्तर दिया—'ठहरी हुई बुद्धि में सब वेद-शास्त्र, उपनिषदों का ज्ञान स्वतः प्रकट होता है। पाठशाला है एकान्त और पाठ है मौन।' प्रश्न का उत्तर मिल गया। संत ने जो कहा, स्वामी जी ने उसे किया और वे प्रज्ञाचक्षु हो गये। 'मैं', 'यह' और 'वह' का प्रत्यक्ष बोध हो गया। फिर तो यह परिणाम हुआ कि उस बेपढ़े-लिखे की बात सुनकर बड़े-बड़े विद्वद्वरेण्य भी चकित होने लगे।

(13)

रात्रि का समय है। गाँव के बाहर खेत की मेंड़ पर विरही साधु रात्रि-जागरण कर रहा है। रात्रि के निविड़ अंधकार में आस-पास से दूर-दूर से खेत रखने वालों की आवाज सुनाई देती है। विरही साधु मे प्रिय-मिलन की लौ और तेज होती है—'ये खेत रखाने वाले मुट्ठी भर अन्न के लिए सारी रात जगते हैं। मैं शरण्य से मिलना चाहता हूँ और सोऊँ?" विरह की लहर तीव्र हो जाती है। सवेरा होने का आभास पाकर ही विरही संन्यासी नित्य-कर्म के लिए उठ बैठता है।

(14)

एक परिचित गृहस्थ के यहाँ आज बड़ी भीड़-भाड़ है नव-विवाहिता ननद ससुराल से पीहर आई है। भाभियाँ दिल्लगी में पूछ रही हैं—"बीबी जी कैसा लग रहा है?" नवोढ़ा दिल की कसक के साथ कह रही है—"भाभी जी! दिन में अँधेरा-अँधेरा दिख रहा है।" पास ह

में बैठे, प्रभु-प्रेम के प्यासे, स्वामी जी भीतर-भीतर तड़प उठे —"प्रेम करना तो ये जानती हैं। प्रिय के बिना इनको दिन में भी अँधेरा दिख रहा है, और एक मैं हूँ कि अपने को शरणागत कहता हूँ और शरण्य से मिले बिना चैन से रहता हूँ।" प्रिय-मिलन की उत्कण्ठा तीव्रतर होती जा रही है।

(15)

उत्कण्ठा बढ़ती गई। सम्पूर्ण अहं को उत्कण्ठा बनाकर वह शरणागत शरण्य से मिलने के लिए व्याकुल हो उठा। गर्मी के दिन हैं। दो-मंजिले मकान पर छत के ऊपर टिन के शेड के नीचे निर्विघ्न बैठे हैं। प्यास लगी है। पास में जल भी रखा है, परन्तु प्रिय से अभिन्न होने की उत्कण्ठा इतनी तीव्र है कि जल पिया नहीं जाता। 'नहीं, सत्य मिले पहले, जल पीऊँ, पीछे। यदि जल पीते ही पीते प्राण-पखेरू उड़ गये तो।' फिर क्या था। माँग की जागृति में ही माँग की पूर्ति निहित है, यह सत्य जीवन में प्रत्यक्ष हो गया।

(16)

गुरु के शरीर के शांत होने का समय आया। स्वामीजी महाराज ने गुरु से कहा—"आपका शरीर कुछ काल और रह जाता तो मेरी साधना के लिए अच्छा रहता।" यह सुनकर श्री सद्गुरुदेव ने उत्तर दिया कि "ऐसा क्यों सोचते हो? मेरे अनेकों शरीर हैं, तुम्हें जब आवश्यकता होगी मैं मिल जाऊँगा।" सद्गुरु के सद्शिष्य ने गुरु-वाणी को गाँठ बाँध लिया, उसके बाद अनेकों बार का अनुभव उन्होंने निज श्रीमुख से हमें सुनाया है कि साधन की दृष्टि से जब-जब स्वामीजी के दिल में कोई प्रश्न उठता, तत्काल कोई न कोई संत मिल जाते और समाधान कर जाते। श्री महाराजजी को यह पक्का अनुभव हो गया कि उनके सद्गुरु के अनेकों शरीर हैं और किसी-न-किसी रूप में वे मार्ग-दर्शन कर देते हैं। इतना

निश्चय होते ही श्री स्वामी जी महाराज निश्चिन्त हो गये। एक समय एक समस्या को लेकर गंगाजी के तट पर अकेले बैठे थे। गुरुदेव की याद आई। श्री स्वामीजी ने तुरंत सोच लिया कि जब अनेकों शरीर गुरुदेव के हैं तो यह एक शरीर भी तो उन्हीं का है। किसी भी शरीर के माध्यम से जब वे मार्ग दिखा सकते हैं, तो यह शरीर भी तो उनका ही अपना है। इसके माध्यम से भी वे मेरी मदद कर सकते हैं। इतनी बात ध्यान में आने भर की देर थी कि समस्या हल होने में देर नहीं लगी। फिर तो गुरु-तत्त्व को अपने ही में विद्यमान जानकर बाह्य गुरु की आवश्यकता को ही उन्होंने समाप्त कर दिया। शरीर के लिये संसार का आश्रय तो वे पहले ही छोड़ चुके थे, अब गुरु-तत्त्व को स्वयं में ही विद्यमान जानकर इस दिशा में भी वे सर्वथा स्वाधीन हो गये। भीतर-बाहर परमानन्द छा गया।

(17)

देश में स्वातंत्र्य-आन्दोलन चल रहा था। महात्मा गाँधी के निर्देशन पर सारे देश में विदेशी सरकार के साथ असहयोग एवं विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की धूम मची थी। सरकार के द्वारा दमन का चक्र चल रहा था और गुलामी की घुटन में से नित नये आजादी के दीवाने प्रकट हो होकर जन्मसिद्ध स्वराज्य पाने के लिये हँसते-हँसते फाँसी की तख्ती चूम रहे थे। श्री स्वामीजी महाराज जैसा सर्वांश-परिपूर्ण व्यक्तित्व वाला निर्भीक, दिलदार, उत्साही भला देश की सेवा की लहर से अछूता कैसे रह जाता? वे कूद पड़े स्वतंत्र्य-आन्दोलन की लहर में। भाषणों के द्वारा स्वाधीनता के प्रति जन-जागरण की सेवा, विदेशी कपड़ों की दुकान पर 'पिकेटिंग' करना, जेल जाना—सब कुछ किया। बाल-मुड़ाये हुए चिकने-चिकने सिर पर पुलिस की लाठी खाने में बड़ा मजा आयेगा—इस उत्साह से भरकर पिकेटिंग में व्यस्त नेत्रहीन युवक-संन्यासी को देखकर बेजान लोगों में भी

जान आ जाती थी। एक दिन स्वामीजी महाराज के गुरुदेव के मित्र एक संत महापुरुष ने इनको बड़े जोर-शोर से स्वराज्य के आन्दोलन में लगा हुआ देखकर इनके पास आकर बड़े प्यार से पूछा—'बेटा, क्या तुमने इसलिए घर छोड़ा था?' स्वामीजी महाराज ने बड़ी दृढ़ता के साथ स्पष्ट उत्तर दिया—'बिल्कुल नहीं। देश की सेवा के राग को मैं विचार से नहीं मिटा सका इसलिए इस कार्य में लग गया हूँ।'

पुनः उक्त संत महापुरुष ने पूछा—'तुम्हारा हाल क्या है?' स्वामीजी ने उत्तर दिया—'मैं सर्व-काल में अपनी अखण्ड शान्ति में विराजमान हूँ, मैं करता-कराता कुछ नहीं हूँ।' यह उत्तर सुनकर वे संत बहुत प्रसन्न हुए। बड़े प्यार से स्वामी जी महाराज की पीठ थपथपाई और यह कहकर चले गये कि 'खूब सेवा करो।'

(18)

"एक बार मथुरा से आगरा जाते समय मैं (श्री स्वामीजी महाराज) यमुना के किनारे-किनारे जा रहा था। एक स्थान पर ढाह गिरी और हम पानी में जा पड़े। नदी चढ़ी हुई थी। हाथ की लाठी भी छूट गयी थी। दिखाई देता नहीं था कि किधर को तैरें। भगवान के भरोसे शरीर को ढीला छोड़ दिया। लगा, जैसे किसी ने हाथ पकड़कर खुश्की पर डाल दिया। उठने को हाथ धरती पर टेका तो (पहली वाली नहीं) एक दूसरी लाठी हाथ में आ गई थी।"

गीता में कथित भगवत्वाणी श्री महाराजजी के लिए प्रत्यक्ष हो गई—"जो लोग अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, मेरे चरणों के नित्य आश्रित हैं, उन जीवों के योग-क्षेम का मैं वहन करता हूँ।" गीता में जो कहा था श्री महाराजजी के साथ वह करके दिखा दिया। शरण्य और शरणागत की जगत्पावनी मधुमयी लीला धन्य है।

(19)

साधुशाही रहती थी। गाँव के किनारे शाम के समय किसी स्थान पर ठहरना था। विवेक-विरोधी वातावरण देख श्री स्वामीजी महाराज वहाँ से रात्रि में ही चल दिये। सारी रात चलते रहे। शरीर बहुत थक गया था। नौका से पार होते समय मल्लाह ने भजन गाया, जिसका आशय यह था कि 'श्याम का दास हो गया बेदाम का।' भजन सुनकर स्वामीजी के हृदय में प्रीति का भाव उमड़ पड़ा। उसी मस्ती में नदी के पार उतर-कर अकेले ही चल पड़े। नदी का कछार काँटीला था, जमीन दलदल थी, किसी से रास्ता पूछने का उनका नियम नहीं था। स्वयं रास्ता बताने वाला कोई राही वहाँ नहीं था। बिना देखे, बिना जाने, थका-माँदा शरीर और विरह से उमड़ता हुआ हृदय; श्री स्वामी जी महाराज जिधर ही कदम रखें, पैर काँटों और दलदल में फँस जाय—शरणागत की रक्षा में उपस्थित होने का अवसर शरण्य को मिला। एक व्यक्ति आया और कहने लगा कि 'बाबा! अमुक गाँव को जा रहे हो क्या? मुझे भी वहीं जाना है। चलो मेरे साथ और देखो भाई, मैं बहुत थका हुआ हूँ, धीरे-धीरे चलूँगा।' ऐसा कहकर वे श्री स्वामीजी महाराज को काँटा-कुशा से बचाकर ठीक रास्ते से निकालकर लिवा गये। जब गाँव नजदीक आ गया और पक्की सड़क आ गयी तो यह कह करके गायब हो गये कि मुझे यहाँ से दूसरी तरफ जाना है। श्री स्वामीजी महाराज को उनका आत्मीय व्यवहार एवं कुसमय में उनका सहारा प्रेम-भाव को अति तीव्र करने वाला मालूम हुआ। विरह आँखों से छलकने लगा। हृदय में प्रतिध्वनि होने लगी—हे मेरे प्यारे, कितना ध्यान रखते हो! बिना बुलाये आ गये! जिधर मुझे जाना था उधर के ही राही बने! और प्यारे, जैसी मेरी थकी हुई दशा थी जिसमें मैं खुद ही जल्दी-जल्दी नहीं चल सकता था, वैसी ही थकी हुई दशा अपनी बनाकर धीरे-धीरे मुझे चलाकर गाँव तक पहुँचा दिया! तुम्हारी महिमा अपरम्पार है।

(20)

प्रेम-रस में डूबे, फिर भी बाह्य दृष्टि से बड़े ही सजग, निर्भीकता-पूर्वक रास्ते चलते हुए बाबा से किसी ग्रामीण ब्रजवासी ने बड़े प्यार से पूछा—बाबा! लाला-लाली के प्रति आपका क्या भाव है? स्वामीजी ने उत्तर दिया—भैया, मैं तो प्रिया-प्रियतम का फुटबॉल हूँ। वे चाहे जिधर ठुकरा दें उधर चला जाता हूँ। इसमें बड़ा रस है। दोनों की दृष्टि मुझ पर लगी रहती है। प्रियतम प्रिया की ओर फेंकते है; दोनों के चरण-स्पर्श के आनन्द में आनन्दित रहता हूँ। मेरा अपने में अपना कुछ नहीं है। अनुपम खिलाड़ी के हाथ का खिलौना हूँ। वे दोनों मुझे बहुत प्यार करते हैं।

(21)

किसी महापुरुष की जीवनी इसलिए लिखी जाती है कि पाठकगण उससे प्रेरणा प्राप्त कर अपने जीवन को उन्नत बनाने में उसका उपयोग कर सकें। इस दृष्टि से श्री स्वामीजी महाराज की जीवनी लिखने का संकल्प परिचित मित्रों के मन में बार-बार उठता रहा है। परन्तु श्री स्वामीजी महाराज ने इस बात को कभी भी पसन्द नहीं किया कि उनकी जीवन-गाथा लिखी जाय। एक आदर्श शरणागत संत के रूप में उन्होंने परमात्मा की ही महिमा को धारण करना एवं प्रकाशित करना पसन्द किया। उन्होंने ज्ञान और प्रेम को ही दिव्य-चिन्मय तत्त्व के रूप में प्रकट करना पसन्द किया। अपने सीमित अहम् के लेश-मात्र का भी उल्लेख उन्हें प्रिय नहीं था। उनकी अमर वाणी है—

(1) मेरा कुछ नहीं है,

(2) मुझे कुछ नहीं चाहिए,

(3) मैं कुछ नहीं हूँ।

विविध प्रसंग

(1) अहंशून्य व्यक्तित्व

सर्व सेवा संघ ने श्री महाराज जी के जीवन-दर्शन और व्यक्तित्व के सम्बन्ध में एक पुस्तक प्रकाशित करने का निश्चय करके उसकी जिम्मेदारी सौंपी प्रसिद्ध साहित्यकार श्री जवाहरलाल जी जैन को। श्री जैन इस सन्दर्भ में जानकारी प्राप्त करने के लिए श्री महाराज जी से मिलने वृन्दावन आए। पहली ही भेंट में श्री महाराज जी ने बहुत मीठे शब्दों में अपनी जीवनी के सम्बन्ध में तथा अपनी जीवनी लिखी जाने के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से इन्कार कर दिया। श्री जवाहर लाल के दोनों हाथ अपने हाथों में लेकर बहुत भावपूर्ण शब्दों में कहा—"जैन जी ! आप मेरी जीवनी लिखने का विचार बिल्कुल छोड़ दीजिए। जो कुछ आपको लिखना है, मानव सेवा संघ की विचार धारा के सम्बन्ध में लिखिए। मानव सेवा संघ ही मेरा स्वरूप है।" यह सुन कर श्री जवाहर लाल जैन दंग रह गये। उनकी आँखों में आँसू छलक आए।

कुछ समय पश्चात् एक पत्रकार महोदय के इसी प्रकार के प्रश्नों का उत्तर अहंशून्य सन्त ने कुछ दूसरे ढंग से इस प्रकार दिया—

प्रश्न—श्री महाराज जी, हम आपका परिचय जानना चाहते हैं?

उत्तर—शरीर सदैव मृत्यु में रहता है और मैं सदैव अमरत्व में रहता हूँ, यह मेरा परिचय है।

प्रश्न—श्री महाराज जी, हम आपकी जीवनी लिखना चाहते हैं?

उत्तर—मेरी जीवनी है "दुःख का प्रभाव।" लिख लो।

प्रश्न—स्वामी जी महाराज ! यहाँ का प्रोग्राम पूरा करके आप कहाँ जाएँगे?

उत्तर—गेंद को क्या पता है कि खिलाड़ी उसे किधर लुढ़काएगा।

(2) स्वामी जी : एक विलक्षण संन्यासी

श्री गिरिवर शरण अग्रवाल पू० स्वामी जी महाराज के समान आयु के थे तथा उनसे संन्यास के प्रारम्भिक दिनों से मित्रवत सम्पर्क में रहे थे। उन्होंने अपने संस्मरण में लिखा है कि स्वामी जी के गुरु महाराज उनके कस्बा जलेसर, जिला एटा (उ० प्र०) स्थित बगीचे में रहते थे तथा स्वामी जी उनसे मिलने वहाँ आते थे। जब वे अपने गुरु जी से साधु होने की इच्छा प्रकट करते तो वे कह देते हैं कि अभी समय नहीं आया है।

एक दिन स्वामी जी महाराज व्याकुल होकर घर से निकल पड़े, स्टेशन आए और जलेसर रोड का टिकट लेकर गाड़ी पर चढ़ने ही वाले थे कि प्रभु कृपा से उनके गुरु महाराज उसी गाड़ी से उतरे। गुरु महाराज ने इनके कन्धे पर हाथ रखा और कहा कि चलो अब समय आ गया है। तत्पश्चात् उन्हें विधिवत् संन्यास देकर गुरु महाराज, स्वामी जी को अग्रवाल जी के ही बगीचे में उस फूस की छत वाली कोठरी में, जिसमें वे स्वयं रहते थे, छोड़कर चले गए। उसके पश्चात् अग्रवाल जी ने गुरु महाराज को फिर नहीं देखा। गुरु जी की उर्दू की शायरी की एक छोटी पुस्तक स्वामी जी महाराज ने सार्वजनिक आर्थिक सहयोग से छपवाई थी और जिन्होंने चार आने का भी सहयोग दिया उनका नाम भी सूची में दिया।

प्रारम्भिक काल से ही संयम, स्वावलम्बन तथा भगवत्-प्राप्ति की व्याकुलता आप में चरमसीमा की थी। अकेले रहना, लाठी के सहारे टटोल-टटोल कर चलना, कुँए से जल भी अधिकतर स्वयं ही निकालना, किसी कार्य के लिए बाग के नौकर या किसी अन्य से याचना न करना उनका सहज स्वभाव था। अभिमान शून्य, सरल और हँसमुख होने के कारण वे बहुत कम समय में ही लोकप्रिय हो गए। स्वरूप-स्थिति,

आत्म-साक्षात्कार अथवा भगवत्-प्राप्ति उन्हें बहुत शीघ्र हो गई लेकिन प्रवचन देना तब तक शुरु नहीं किया जब तक ज्ञान का पूर्ण रूपेण विकास नहीं हो गया।

अपने कष्ट का कारण किसी अन्य को न मानना उनका सहज स्वभाव था। एक बार अग्रवाल जी के मुहल्ले में एक भैंसा गाड़ी का लोहे का पहिया स्वामी जी के पैर पर से उतर गया, जिससे उनका पैर लहूलुहान हो गया। किन्तु उन्होंने उफ तक नहीं की। केवल पैर पकड़ कर बैठ गए। बाजार के लोग गाड़ीवान को मारने दौड़े किन्तु पू० स्वामी जी महाराज ने यह कह कर उसे जन-आक्रोश से बचा लिया कि 'इसमें कुसूर उसका नहीं है, कुसूर तो मेरा है कि मुझे दिखाई नहीं देता।'

(3) निर्भीक राष्ट्र-प्रेमी

सन् 1930 में नमक कानून के विरोध में, गाँधी जी ने सत्याग्रह-आन्दोलन किया। आन्दोलन के संचालन के लिए डिक्टेटर बनाए जाते, जिन्हें ब्रिटिश सरकार गिरफ्तार कर लेती थी। दूसरे या तीसरे डिक्टेटर के जेल जाने के बाद कोई तैयार नहीं होता था। यह देख कर स्वामी जी महाराज स्वतन्त्रता-संग्राम में कूद पड़े और स्थानीय आन्दोलन की बागडोर सँभाल ली। इससे जनता में नया उत्साह आ गया। स्वामी जी भी शीघ्र ही गिरफ्तार कर लिया गए। जेल में जबरदस्ती उनके गेरुए वस्त्र उतार कर जेल के कपड़े पहना दिए गए। स्वामी जी ने उन कपड़ों को शीघ्र ही उतार फेंका। जेलर ने उन्हें शारीरिक कष्ट देकर डराना चाहा। उन्हें जमीन पर घसीटा गया जिससे उनकी पीठ छिल गई। पाँच छः अन्य संन्यासी माफी माँग कर जेल से छुटकारा पा गए किन्तु स्वामी जी अपने सिद्धान्त पर निर्भीकता पूर्वक डटे रहे और उन्होंने अनशन आरम्भ कर दिया। लोगों को चिन्ता हुई और उन्होंने यू० पी० सरकार तथा अखिल

भारतीय संन्यासी मण्डल को तार दिया। अन्ततः बड़े अधिकारियों ने हस्तक्षेप किया तथा स्वामी जी को अपने गेरुए वस्त्र ही पहनने को कहा, तब उन्होंने 20-21 दिनों के बाद अनशन समाप्त किया। एक-डेढ़ महीने बाद उन्हें जेल से छोड़ दिया गया तथा कस्बे के लोगों ने उनका धूम-धाम से स्वागत किया। स्वामी जी को तो अपने देश-सेवा के राग की निवृत्ति करनी थी, उन्हें सम्मान से क्या मतलब। शीघ्र ही उन्होंने वह स्थान छोड़ दिया।

(4) सन्त तीर्थों को पवित्र करते हैं

एक बड़े नगर में एक बार पूज्यपाद स्वामी शरणानन्द जी महाराज का सत्संग चल रहा था। श्री महाराज जी जब प्रवचन कर चुके तो मंच पर उपस्थित उस समय के एक प्रसिद्ध सन्त स्वामी पथिक जी महाराज ने स्वामी जी से पूछा कि, "महाराज, आप जो कुछ कहते हैं वही सत्य है क्या?"

महाराज जी ने तत्काल कहा—"सत्य क्या है और कैसा है, यह तो सत्य जाने किन्तु मैंने उसे जैसा समझा और अनुभव किया— वैसा ही उसका निरूपण कर रहा हूँ। यह सत्य है। इसमें रंच मात्र भी सन्देह नहीं है।"

सत्संग-कार्यक्रम पूरा होने पर अगले दिन श्री महाराज जी को वहाँ से प्रस्थान करना था। श्री पथिक जी महाराज ने स्वामी जी से पूछा—"महाराज, अब यहाँ से आप कहाँ जाएँगे?"

महाराज जी ने कहा—"यहाँ से हम प्रयागराज जाएँगे।"

पू० पथिक जी ने प्रश्न किया—"महाराज, लोग तीर्थों में क्यों जाते हैं?"

महाराज जी ने उत्तर दिया—"पवित्र होने के लिए।"

पू० पथिक जी ने फिर पूछा—"तो फिर सन्त लोग किस लिए जाते हैं?"

श्री महाराज जी ने कहा—'तीर्थों को पवित्र करने के लिए।'

(5) 'प्राकृतिक न्याय'

उत्तर प्रदेश के फतेहपुर जनपद में जिला जज के निवास पर श्री महाराज जी ठहरे हुए थे। एक दिन जज साहब ने कहा कि चलिये महाराज आपको जेल दिखा लायें। श्री महाराज जी ने कहा कि भैया! यह सब क्या है? सब फँसे पड़े हैं। खैर, चलो कैदियों से बातचीत करेंगे। जेल में सभी प्रकार की सजायाफ्ता कैदी थे। बातचीत के दौरान एक फाँसी की सजा घोषित कैदी श्री महाराज जी के पास आया और कहा कि महाराज आप कहते हैं अपने किये का ही भुगतान प्रत्येक भाई करता है सो वह हत्या जिसमें मुझे फाँसी की सजा इन जज साहब ने दी है, मैंने नहीं की। श्री महाराज जी ने जज साहब से पूछा तो उन्होंने कहा कि सभी तथ्य इसके खिलाफ है अतः फाँसी की सजा देनी पड़ी। तब एकान्त में ले जाकर श्री महाराज जी ने उस कैदी से पूछा कि भैया! सच-सच बताओ कि क्या तुमने कभी कोई खून नहीं किया। कैदी ने कहा कि महाराज! सो तो मैंने तीन हत्यायें की हैं। श्री महाराज जी ने कहा भैया! जो तुमने किया उसी का फल तुम्हारे सामने आया है। प्रकृति का विधान न्यायकारी है। जब तक पुण्य का खाता चला तुम बचते रहे। तुम भूल पर भूल करते रहे तो कैसे बचोगे। पाप का खाता खुलते ही तुम्हें यह सजा मिल रही है।

(6) दिखाई देने से प्यार नहीं होता—अपना मानने से होता है।

वर्ष 1972 माह अप्रैल में भरतपुर में सत्संग हो रहा था। श्री महाराज जी प्रभु प्रेम की बात कर रहे थे। सभा में बैठे एक सज्जन ने श्री महाराज जी से पूछा कि महाराज! आप कहते हैं कि परमात्मा को प्रेम

करो, तो वे दिखाई तो देते नहीं, प्रेम कैसे करें? श्री महाराज जी ने कहा कि भैया! दिखाई देने से प्रेम नहीं होता। दिखाई तो देती है तुम्हें अपनी लुगाई भी और दिखाई देता हूँ तुम्हें मैं भी, बताओं किसे प्रेम करते हो। उन सज्जन ने कहा कि महाराज जी आपको भी हम प्रेम तो करते हैं। तत्काल श्री महाराज जी बोले हाँ भैया! मुझे भी करते हो और उसे (पत्नी) ही करते हो। (हास्य) यार उसे अपना मानते हो। अपना अपने को प्यारा लगता ही है। भगवान को अपना मान लो तो अपने आप उनमें प्रेम हो जायेगा।

(7) पसन्दगी में भगवान

वर्ष 1974 हरिद्वार कुम्भ में श्री महाराज जी दैनिक प्रार्थना सभा बटाला कैम्प में प्रवचन कर रहे थे। श्री महाराज जी कह रहे थे कि प्रभु प्राप्ति में किसी योग्यता, वस्तु, अवस्था, परिस्थिति की विवशता नहीं है। परमात्मा कहते ही उसे है जो सभी को प्राप्त होता है। उनकी प्राप्ति में बाह्य तैयारी की आवश्यकता नहीं हैं। एक सज्जन ने यह सुनते ही प्रश्न किया कि महाराज न तो मैं पढ़ा लिखा हूँ, न कोई योग्यता है, न गायन-वादन-नृत्य जानता हूँ कि भगवान को रिझा सकूँ फिर भगवान मुझे कैसे मिलें? श्री महाराज जी ने कहा कि देखो भैया मुझे देखो। यदि भगवान ने कोई ऐसी शर्त लगाई होती कि मैं केवल विद्वानों को ही मिलूँगा तो मेरा तो उनकी लिस्ट में से नाम ही कट जाता क्योंकि मैं केवल तीसरा दर्जा पास हूँ, यदि भगवान धनवानों को ही मिलते तो भी मैं गिनती में नहीं आता क्योंकि मैं भिक्षुक हूँ। भगवान केवल बलवानों को ही मिलते तो भी मैं उस श्रेणी में नहीं आता क्योंकि अन्धा हूँ। किसी गुण विशेष पर रीझते तो भी मेरा नाम कट जाता। क्योंकि मुझमें कोई गुण नहीं है। पर क्या बताऊँ भैया! उन्होंने अपने मिलने का इतना सहज उपाय

बताया है कि मैं उसे मिलता हूँ जो मुझे पसन्द कर लेता है। वृन्दावन आश्रम में न तो मैंने कोई मन्दिर बनाया है, न साधु-भण्डारा ही नित्य प्रति होता है। पर क्या बताऊँ भैया! फिर भी वह मेरे संग लगा ही रहता है।

(8) विलक्षण प्रतिभा के धनी

पटना में इंडियन साइंस कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हो रहा था। विशाल पंडाल लगा था जिसमें विज्ञान के बड़े-बड़े प्रोफेसर तथा छात्र जुटे थे। उसमें स्वामी शरणानन्द जी महाराज को भी बुलाया गया। मंच पर जब उन नेत्रहीन सन्त को आमंत्रित करके कहा गया कि वे भी सम्मेलन को सम्बोधित करेंगे तो वहाँ उपस्थित लोग हँसे कि भला ये विज्ञान पर क्या बोलेंगे। किसी ने परमाणु सिद्धान्त पर प्रश्न कर दिया। वहाँ उपस्थित विद्वत् मण्डली के आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब श्री महाराज जी ने एक वैज्ञानिक की भाँति आधा घण्टा परमाणु सिद्धान्त पर प्रवचन दे दिया। मंच से उतर कर आप चल दिये। उनके एक शिष्य ने जो स्वयं आश्चर्यचकित था पूछा कि महाराज, आपने तो केवल चौथे-पाँचवें क्लास तक ही पढ़ाई की थी, फिर आपने विज्ञान के उच्चतम प्रश्न पर कैसे बोल दिया? तो महाराज ने कहा कि जिसने साइंस (विज्ञान) को बनाया उसने मुझे बता दिया।

(9)

सन् 1967 ई० के दिसम्बर महीने में जोधपुर में अखिल भारतीय दार्शनिक सम्मेलन (इंडियन फिलोसोफिकल कांग्रेस) का वार्षिक अधिवेशन हुआ। इसमें देश भर के दर्शनशास्त्र के मूर्धन्य विद्वान, विश्वविद्यालयों के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष भाग ले रहे थे एवं अपने भाषण दे रहे थे। सम्मेलन में भारत सरकार के तत्कालीन पेट्रोलियम मंत्री एवं दर्शन शास्त्र के विद्वान प्रो० हुमायूँ कबीर भी भाग लेने आये थे। एक दिन

सम्मेलन के जनरल सेक्रेटरी ने पू० स्वामी शरणानन्द जी महाराज को मंच पर लाकर उनका परिचय दिया तथा कहा कि अब आप लोग इनके विचार सुनिये। इस पर कई कोट-पैंट-टाई वाले विद्वान उठकर बाहर जाने लगे, किन्तु जैसे ही पू० महाराज जी ने अपना सम्बोधन प्रारम्भ किया, उनके सुस्पष्ट विचारों और अकाट्य तर्कों से प्रभावित होकर शीघ्र ही हॉल में लौटकर अपनी-अपनी कुर्सियों पर बैठ गए। करीब 45 मिनट तक शांत होकर सभी विद्वान जीवन-दर्शन और मानव-दर्शन पर पू० स्वामी जी महाराज के विचारों को सुनते रहे। प्रो० बसावड़ा जी एवं जसवन्त कॉलेज, जोधपुर के विभागाध्यक्ष प्रो० साहनी आदि वहाँ थे। श्री महाराज जी ने अपने भाषण से इस भ्रम को दूर किया कि जो जाना जाता है वह ज्ञान है तथा वह अभ्यास से बढ़ता है। उन्होंने स्पष्ट प्रतिपादित किया कि जिससे जाना जाता है उसे ज्ञान कहते हैं। ज्ञान मानव को ईश्वरीय देन के रूप में मिला है; वह घटता या बढ़ता नहीं है।

(10) आजादी के दीवाने

सन् 1930 में राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी जी द्वारा संचालित स्वतन्त्रता संग्राम का "नमक सत्याग्रह" आन्दोलन चल रहा था। श्री स्वामी जी महाराज अपनी टोली के आगे-आगे स्वयं झण्डा लेकर बड़े ही मधुर व ऊँचे स्वर से गाते चलते थे—

"भारत न रह सकेगा, हरगिज गुलामखाना।
आजाद होगा होगा, आता है वो जमाना॥"

इसी आन्दोलन में आप जेल भी गये और छः मास का कारावास भी हुआ। वहाँ जेल में उन्होंने गाँधी नमक माँगा। पर नहीं मिला। कौन देता? खद्दर के कपड़े माँगे, नहीं मिले तो सर्दी के दिनों में भी छः माह तक

वस्त्र विहीन दिगम्बर वेष में रहे। देश की आजादी के लिए अपने आपको समर्पित कर दिया। शरीर को विश्वरूपी वाटिका की खाद बना दिया।

(11) अगर बोओगे नहीं तो काटोगे क्या?

बात जनवरी 1946 की है। श्री महाराज जी परिकर-समाज सहित श्री जगन्नाथ पुरी की यात्रा पर जाने के लिए स्टेशन के प्लेटफार्म पर प्रतीक्षा कर रहे थे। श्री स्वामी जी महाराज का विनोदी स्वभाव और उन्मुक्त हास्य से वातावरण बड़ा ही उल्लासपूर्ण और आकर्षक हो उठा था। प्लेटफार्म के अन्य यात्रीगण तथा कुछ रेलवे कर्मचारी भी आनन्द ले रहे थे। एक एँग्लो इंडियन अधिकारी से नहीं रहा गया। आगे बढ़कर उसने कहा "महाराज मेरा खर्च आमदनी से ज्यादा है, बहुत परेशान रहता हूँ। इससे छुटकारा पाने का कोई उपाय बताइए।"

स्वामी जी ने कहा, "जो पाते हो उसका कुछ भाग दान कर दिया करो।" उस व्यक्ति ने कहा, "महाराज! यह आप क्या कहते हैं? मेरी तो आमदनी वैसे ही कम है, उस पर भी खैरात करूँ?" श्री महाराज जी—"क्यों? अगर महीने में दस दिन भूखे रहते हो तो बारह दिन सही। अगर धन के अभाव को मिटाना है तो देना ही पड़ेगा। अगर बोओगे नहीं तो काटोगे क्या?"

(12) समय का महत्त्व

श्री महाराज जी समय के बड़े पाबन्द थे। जीवन में उन्नति के लिए इसे परम आवश्यक समझते थे। एक स्थान पर सत्संग के लिए जो समय घोषित किया गया था उससे आधा घण्टा बाद चलने का प्रस्ताव संयोजक महोदय ने स्वामी जी से किया, ताकि श्रोतागणों की संख्या कुछ बढ़ जाए।

स्वामी जी ने कहा कि "एक व्यक्ति भी आप लोगों पर विश्वास करके निश्चित समय पर आ गया तो उसे निराश होना पड़ेगा। इसलिए निर्धारित समय पर ही कार्यक्रम आरम्भ कर देना चाहिए।"

इसी प्रकार एक स्थान पर सत्संग के लिए श्री महाराज जी कार द्वारा जा रहे थे। श्री महाराज जी ने ले जाने वाले सज्जन से पूछा—समय क्या हुआ है? उन्होंने कहा—आठ बजने में पाँच मिनट शेष हैं। सत्संग ठीक आठ बजे प्रारम्भ होना था एवं सत्संग स्थल एक फर्लांग की दूरी पर था। स्वामी जी महाराज ने कहा—भाई गाड़ी रोको। कार रोक दी गई। स्वामी जी कार से उतर वही टहलने लगे। साथ वाले सज्जन आश्चर्य से श्री स्वामी जी को देखने लगे। महाराज जी ने कहा—अगर सत्संग-स्थल पर समय से पूर्व ही हम लोग पहुँच जायेंगे तो आयोजकों में हड़बड़ी फैल जायेगी। इसलिए ठीक समय पर पहुँचना चाहिए।

(13) प्रेम विह्वलता

श्री महाराज जी का हृदय सदैव करुण रस से ओत-प्रोत रहता था। इटावा जनपद की बात है। श्री महाराज जी का शरीर बहुत अस्वस्थ चल रहा था। मीठी वस्तुएँ एकदम बन्द थीं। महाराज जी दोपहर के समय आराम कर रहे थे। साथ सेवा में जो साधक भाई थे बड़ी ही दृढ़ता के साथ बाहर बैठे रहे कि कोई व्यवधान न आ जाय। संत के आगमन का समाचार सुनकर किसी गाँव से पैदल चलकर एक वृद्धा माँ भरी दोपहरी में दर्शनार्थ पहुँची। साधक ने चुपचाप बरामदे में बैठने का संकेत किया। अभी एक मिनट ही बीता होगा कि श्री महाराज जी ने साधक को आवाज लगाई—यदि कोई बाहर मिलने आया है तो अन्दर भेज दो। साधक ने कहा—"एक वृद्धा माँ दर्शनार्थ अभी आई है और बरामदे में आराम से बैठी है। आप कुछ आराम और कर लेवें।" श्री महाराज जी बोले—"अरे

भैया ! तुम मेरा कर्त्तव्य बताते हो। हमने आराम कर लिया है, अब नींद नहीं आयेगी। उसे आ जाने दो।" माँ से अन्दर जाने के लिए कहा तो वे एकदम हर्षित हो गई। प्रीति और श्रद्धा के अश्रुकणों को छिपाते हुए और अंचल से ताजी राब (गन्ने से चीनी तैयार करते समय प्राप्त होने वाला एक द्रव पदार्थ) का एक बड़ा सा कुल्हड़ छिपाते हुए अत्यन्त भाव-विह्वल होकर तुरन्त अन्दर आई। बार-बार श्री महाराज जी के चरणों में सिर झुकाते हुए प्रीति गदगद कंठ से बोली—"मैं बहुत बूढ़ी हो गई हूँ, न जाने कब मर जाऊँगी, पर आज आपके दर्शन पाकर मैं धन्य हो गई हूँ। महाराज ! मैं एक गरीबनी हूँ। आपके लिए घर में बनी ताजी राब लाई हूँ।" यह कहते हुए राब से भरे कुल्हड़ को श्री महाराज जी के हाथों में थमा दिया। श्री महाराज जी के नेत्रों से करुणाश्रु छलक उठे और उन्होंने एक साथ ही लगभग आधा किलो राब बड़े ही प्रेम से पी डाली। डॉक्टरों की सलाह, शारीरिक अस्वस्थता और मीठी वस्तु के निषेध की मर्यादाये सभी तिरोहित हो गई—प्रेम के वशीभूत होकर।

(14) जो अपनी बात नहीं मानता, वह गुरु, ग्रन्थ की क्या मानेगा?

श्री महाराज जी एक बार प्रवचन करते-करते श्रोता समाज से पूछने लगे— "अनादिकाल से कितने ऋषि-मुनि, महापुरुष आये, कितने सद्ग्रन्थ लिखे गये, प्रचार-प्रसार भी खूब हो रहा है फिर भी उनका जितना प्रभाव होना चाहिए था, नहीं हुआ। बताओ भाई ! इसका क्या कारण है? श्रोताओं में से किसी ने कुछ कहा, किसी ने कुछ। जिसने जैसा समझा उत्तर दिया। पर सच्ची बात प्रकट नहीं हुई। श्रोताओं ने आग्रह किया कि महाराज जी। आप ही बतायें। श्री महाराज जी ने कहा—"मुझे तो ऐसा लगता है कि मानव ने अपनी बात नहीं मानी, यानी अपने जीवन के सत्य को स्वीकार नहीं किया, यही इसका कारण है। जो अपनी बात नहीं मानता वह अपने गुरु, ग्रन्थ और धर्म की बात को मान ही कैसे सकता है?"

(15) परमात्मा की प्रियता ही सच्चा भजन

एक बार स्वामी श्री शरणानन्द जी महाराज गीता भवन के संस्थापक सेठ जयदयाल जी गोयन्दका के सत्संग में स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश) आये। गोयन्दका जी ने पू० स्वामी जी महाराज से कहा कि हमारा आपका मत चौदह आने मिलता है। केवल दो आने का फर्क यह है कि आप नाम-जप और ध्यान की बात नहीं करते। श्री महाराज जी ने तुरन्त कहा कि मैं इनका विरोध करता हूँ क्या? बोले, "नहीं"। फिर श्री महाराज जी ने गोयन्दका जी से पूछा, अच्छा, यह बताओ, कोई पतिव्रता स्त्री अपने पति का नाम लेती है क्या? सेठ जी बोले, "नहीं"। फिर पूछा, "लेकिन वह अपने पति को कभी भूलती है क्या?" श्री महाराज जी ने आगे उनसे कहा कि मेरे तो कान पक गए यह सुन-सुन कर कि "मुझे तो 25 वर्ष हो गए नाम लेते हुए, लेकिन परमात्मा में मन टिकता नहीं है।" इसलिए मेरा यह कहना है कि अभ्यास का नाम भजन नहीं हैं, प्रियता ही सच्चा भजन है।

(16) अपना मान कर मन कभी परमात्मा में नहीं लगता

स्वामी श्री हरिनाथ जी महाराज जो पू० स्वामी शरणानन्द जी महाराज के साथ महीनों रहते थे तथा जिनका गीता भवन, ऋषिकेश से भी सम्पर्क था, उन्होंने एक प्रसंग सुनाया था, जो इस प्रकार है—

एक दिन ऋषिकेश में प्रातः काल के सत्संग के पश्चात् गीता भवन, स्वर्गाश्रम के ट्रस्टी महोदय स्वामी शरणानन्द जी महाराज के पास आये और उन्होंने पू० स्वामी जी से एकान्त में बात करने की इच्छा प्रकट की। इस पर पू० स्वामी जी ने साथ बैठे लोगों से बाहर जाने को कहा। श्री हरिनाथ जी महाराज थोड़ी ही दूरी पर एक तख्त पर लेटे हुए थे, वे वहीं लेटे रहे, तथा उन्होंने उस बातचीत को सुना। ट्रस्टी महोदय ने कहा, 'महाराज पिछले पन्द्रह वर्षों से मेरा यह नियम है कि मैं प्रतिदिन एक लाख

नाम का जप करता हूँ, उसके पश्चात् ही अन्न-जल ग्रहण करता हूँ। लेकिन अभी तक मेरा मन भगवान में नहीं लग पाया।' श्री स्वामी जी महाराज ने तुरन्त कहा— आपका मन भगवान में नहीं लग सकता। ट्रस्टी महोदय आश्चर्यचकित होकर उनकी ओर देखने लगे। उन्होंने पूछा, महाराज, मेरी बात से नाराज हो गये क्या? पू० महाराज जी ने कहा—नहीं, मैं नाराज नहीं हूँ, मेरी बात समझो। मैं यह कहता हूँ कि जब सब कुछ परमात्मा का है तो मन तुम्हारा कैसे हो गया? यदि परमात्मा को तुम अपना मान लो, उनसे सम्बन्ध जोड़ लो तो तुम्हारा मन स्वतः परमात्मा में लग जायेगा। अपना मानकर हम मन को कभी स्थिर नहीं कर सकते और न परमात्मा में लगा सकते हैं, मन को अपना मान कर।'

(17) विनोद में भी ज्ञान का पुट

सन् 60 के दशक की बात है। पू० स्वामी जी महाराज प्रातः काल की ट्रेन से छपरा पधार रहे थे। स्टेशन पर उनका स्वागत करने कई लोग गए, जिनमें कुछ वकील भी थे। संयोग से ट्रेन कुछ घण्टे लेट हो गई। सन्ध्या समय टाउन हॉल में सत्संग हुआ। सत्संग के बाद कुछ लोगों ने कहा कि स्वामी जी! हम लोग स्टेशन गए थे, किन्तु ट्रेन लेट हो गई अतः हम लौट गए। पू० महाराज जी ने चुटकी लेते हुए कहा कि हाँ भैया, अपनी लुगाई आने वाली होती तब तो दुबारा स्टेशन जाते। कहने वाले अपना-सा मुँह लेकर रह गए।

(18) मेरा तो पचास प्रतिशत चला गया

पूज्य स्वामी जी सत्संग कार्यक्रम के सिलसिले में एक सम्पन्न प्रेमी के यहाँ ठहरे हुए थे। एक दिन प्रातः 4 से 5 बजे के सत्संग के समय महाराज जी को घर में कुछ बातचीत सुनाई पड़ी। उन्होंने पूछा तो ज्ञात हुआ कि घर में रात्रि के समय चोरी हो गई थी। चोर काफी सामान ले गए

थे। स्वामी जी उन दिनों केवल दो लँगोटी रखते थे, एक पहने हुए थे, दूसरी आँगन में सूखने को डाली हुई थी। चोर अन्य सामान के साथ स्वामी जी की लँगोटी भी लेते गए थे। महाराज जी ने पूछा कि क्या बहुत सामान चोरी हो गया है? घर के मालिक ने कहा कि हाँ महाराज, चोर सामान तो बहुत ले गए हैं। सब लोग उदास थे। महाराज जी ने पूछा कि अच्छा बताओ चोरी गया सामान तुम्हारी सम्पत्ति का कितने प्रतिशत था? उत्तर मिला कि महाराज जी, प्रतिशत के हिसाब से तो कम ही गया है। महाराज जी ने हँसते हुए कहा कि तब चिन्ता की क्या बात है। मुझे देखो मैं तो पचास प्रतिशत लुट गया (दो लँगोटियों में से एक लँगोटी चोर ले गए)। यह सुनते ही सब लोग हँस पड़े और उनकी उदासी तिरोहित हो गई।

× × × ×

राँची में एक गाँधीवादी सज्जन ने श्री महाराज जी से कहा, "महाराज जी, मन को मारने का क्या उपाय है?" श्री महाराज जी ने कहा, "राम-राम, गाँधी जी के शिष्य होकर, मारने की बात करते हो? गाँधी जी ने तो असहयोग का मार्ग अपनाया था। आप मन से असहयोग कर दो, मन समाप्त हो जाएगा।"

(19) लोकनायक जयप्रकाश नारायण के प्रति आत्मीयता

सन् 1973 ई० में पटना सचिवालय के समीप स्थित बँगले (10 मैंगल्स रोड) में स्वामी जी महाराज का प्रवचन चल रहा था। एक दिन अपराह्न 3 बजे लोकनायक जय प्रकाश बाबू ने अपना सिर श्री महाराज जी के चरणों में रखकर प्रणाम किया। श्री महाराज जी ने उन्हें उठाकर हृदय से लगा लिया। उसके पश्चात् उन्होंने श्रद्धेय जय प्रकाश जी से उनकी धर्म पत्नी प्रभावती देवी के स्वास्थ्य का समाचार पूँछा जो हाल में ही

बम्बई से कैंसर का आपरेशन कराकर आई थी। बातचीत के क्रम में पू० महाराज जी ने जय प्रकाश बाबू से कहा कि उनसे मेरी ओर से कहिएगा कि शरीर से असंग हो जायें, मुक्त हुए बिना शरीर न छूटे। जय प्रकाश बाबू ने कहा कि ये बातें वे आपके मुँह से सुनती तो ज्यादा अच्छा रहता। स्वामी जी ने कहा, "सभी मुँह एक है।" इसके पश्चात् उनसे देशों की समस्याओं पर भी चर्चा हुई। जय प्रकाश जी ने कहा, 'आप बिहार को अधिक समय दें।' श्री महाराज जी ने कहा कि "मैंने प्रान्तीयता का कभी ख्याल नहीं रखा। वैसे मैं पटना तथा अन्य स्थानों पर आता ही रहता हूँ।"

(20) स्वीकृति का जीवन पर प्रभाव

एक साधक भाई को पू० स्वामी जी महाराज जब भी पत्र लिखाते तो उन्हें 'साधन निष्ठ' सम्बोधन से सम्बोधित करते। उन्होंने एक बार पूछा, महाराज मैं तो साधननिष्ठ नहीं हूँ। फिर भी आप मुझे पत्र में 'साधननिष्ठ' सम्बोधित करते हैं। पू० स्वामी जी ने उत्तर दिया, "मैं चाहता हूँ कि तुम साधननिष्ठ हो जाओ, इस लिए ऐसा लिखता हूँ। देखो स्वीकृति का जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ता है।"

(21) भक्ति का सच्चा स्वरूप

किसी साधक ने श्री स्वामी जी महाराज से प्रश्न किया कि भक्ति का यथार्थ स्वरूप क्या है? तो स्वामी जी ने उत्तर दिया—

मेरा कुछ नहीं है यही भक्ति है,
मुझे कुछ नहीं चाहिए यही भक्ति है,
मैं कुछ नहीं हूँ, यही भक्ति है;
इस भक्ति की प्राप्ति में सभी स्वाधीन हैं।

(22) गुरु तो तत्त्व है

एक बार गुरु-पूर्णिमा का दिवस था। पूज्य महाराज जी राजकोट (गुजरात) में एक प्रेमी भक्त के यहाँ ठहरे हुए थे। उन्होंने श्री महाराज जी का गुरु रूप में पूजन करने की अनुमति माँगी। श्री महाराज जी ने कहा, 'सेवकों के गुरु हैं श्री हनुमन्त लाल जी, विचारकों के गुरु हैं भगवान शंकर और प्रेमियों की गुरु हैं श्री राधा रानी। अब तुम्हारी अपने सम्बन्ध में जैसी मान्यता हो उस हिसाब से पूजन करो। देखो भाई, गुरु किसी शरीर का नाम नहीं है। गुरु तो तत्त्व है। शरीर में गुरु-बुद्धि और गुरु में शरीर-बुद्धि भूल है।'

(23) पर-दोष-दर्शन से सर्वथा मुक्त

एक बार एक साधक भाई पू० स्वामी जी महाराज के पास आकर कहने लगे। महाराज जी, श्री रजनीश अपने नाम के आगे भगवान लिखते हैं—क्या यह उचित है। स्वामी जी ने कहा—"जब वे आपको "भगवान" कह कर सम्बोधित करते हैं तब आपको आपत्ति क्यों नहीं होती? श्री रजनीश श्रोताओं को प्रवचन से पूर्व "आप सब के हृदय में विराजमान परमात्मा को नमस्कार है"—कह कर सम्बोधित करते थे।

(24) जो चाहता है, सो होता नहीं

परमपूज्य दिव्य ज्योति देवकी माता जी ने काफी परिश्रम करके उच्च अंकों के साथ एम० ए० की डिग्री प्राप्त की किन्तु उन्हें लगा कि जीवन का अभाव तो मिटा नहीं। वे सोचने लगी कि भगवान का दरवाजा देखा हुआ कोई सन्त मिल जाता तो उनसे पूछती। संयोग से छपरा के टाउन हॉल में पू० स्वामी शरणानन्द जी महाराज का प्रवचन चल रहा था। देवकी माता जी उनसे मिलीं और कहा, "महाराज जो चाहती हूँ, सो होता नहीं, जो होता है, सो भाता नहीं और जो भाता है, सो रहता नहीं; बताइये मैं

क्या करूँ ?" श्री स्वामी जी महाराज ने कहा कि 'लाली, जब तुम जानती हो कि जो चाहती हो, वह होता नहीं तो फिर चाह छोड़ क्यों नहीं देती ?' देवकी जी ने दोबारा प्रश्न किया कि इतने बड़े संसार में अपना कहने वाला तो कोई दिखाई नहीं देता। तब श्री महाराज जी ने कहा कि, "कोई एक है तो सही, वे मेरे मित्र हैं, कहो तो, सगाई की चर्चा करूँ लेकिन एक शर्त है लाली, कि जो कुछ झोली में भर कर लाई हो (गुणों और सच्चरित्रता का अभिमान आदि) उससे झोली खाली करने पड़ेगी क्योंकि वह पट्ठा अपने साथ किसी और को पसन्द नहीं करता।"

(25) सच्ची सेवा

किसी साधक ने स्वामी जी महाराज से प्रश्न किया कि सेवा का स्वरूप क्या है ? श्री महाराज जी ने सेवा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा, देखो, सुख के बन्धन में आबद्ध प्राणी एक मात्र सेवा के द्वारा ही छुटकारा पा सकता है। सेवा उसी साधन से की जा सकती है जिस साधन से सेवक अपनी सेवा करता है। शरीर तथा वस्तुओं के द्वारा तो केवल संसार के ऋण से छुटकारा पाता है। सच्ची सेवा वही है जिससे प्राणी का कल्याण हो। प्राणी का कल्याण तो भक्त तथा सन्त होने पर ही होता है। भक्त वही है जो प्रेमपात्र से विभक्त न हो अर्थात जिसका सद्भावपूर्वक प्रेमपात्र से सम्बन्ध हो जाता है। सन्त वही हो सकता है जो दोष के त्याग तथा निर्दोषता को अपनाने में समर्थ हो। भक्त तथा सन्त होने पर ही प्राणी सच्चा सेवक हो सकता है।

(26) जीने की कला

एक बार श्री महाराज जी अपने प्रवचन में 'जीने की कला' बता रहे थे कि, यदि हम शरीर को संसार की मर्जी पर छोड़ दें और अपने को प्रभु के हवाले कर दें तो जीवन की सभी समस्याएँ आसानी से हल हो सकती

हैं। इस पर एक सत्संगी बोल उठे, "महाराज ! हमारे परिवार वालों के मन में हमें खिलाने की नहीं आती। यदि आपके कथनानुसार, हमने अपने शरीर को यदि परिवार की मर्जी पर छोड़ दिया तो हमें भूखा ही मरना पड़ेगा। इस पर श्री महाराज जी तपाक से बोले, "यदि भूखे मर जाओगे तो खाते-खाते अमर नहीं हो जाओगे। भोजन आज तक किसी को अमर नहीं बना सका। फिर मरने से क्यों डरते हो ?"

(27) ईश्वर धर्म और समाज किसी के ऋणी नहीं रहते

अपने समय के प्रसिद्ध सन्त श्री सनातन देव महाराज ने एक बार अपने पूर्व आश्रम की घटना बताई—श्री स्वामी शरणानन्द जी महाराज भगवान आश्रम ऋषिकेश में ठहरे हुए थे। मेरे मन में संन्यास का संकल्प मुझे आन्दोलित कर रहा था। मन काम-काज और लौकिक सम्बन्धों की पराधीनता से मुक्त होना चाहता था, परन्तु शरीर अस्वस्थ रहने के कारण भगवद्-इच्छा पर जीवन-निर्वाह को छोड़ने का साहस नहीं होता था। श्री महाराज जी के सम्मुख मैंने अपनी मनः स्थिति प्रकट की। श्री महाराज जी बोले, "ईश्वर, धर्म और समाज किसी के ऋणी नहीं रहते। जो इनके लिए त्याग करते हैं उनका वे अवश्य निर्वाह करते हैं।" महाराज जी के इन्हीं वाक्यों ने मुझे संन्यासी बना दिया। बाद में पू० स्वामी जी महाराज ने एक बड़ा ही प्रेरक पत्र मुझे लिखा।

पत्र के शब्द थे—

"आत्म-सम्मान **परम धन** है। राग-रहित हो जाना **परम निर्दोषता** है। आत्म-समर्पण **परम बल** है। सर्व अवस्थाओं से अतीत हो जाना **परम त्याग है।** प्रतिकूलता का भय तथा अनुकूलता की आशा न करना ही **परम तप** है। अपने में ही परम प्रेमास्पद की स्थापना कर सब प्रकार से अभय और अचिन्त हो जाना ही **परम-भक्ति** है। अपने लिए अपने से भिन्न की

खोज न करना ही **परम प्रयत्न** है। जिन साधनों से संयोग की दासता तथा वियोग का भय निवृत्त हो, वे ही **आध्यात्मिक साधन** हैं। शरीर विश्व के काम आ जाए, हृदय प्रीति से छका रहे और अपने में अपना बोध हो यही **पूर्ण जीवन** है।"

(28) सन्देह का समाधान

एक बार ऋषिकेश में गीता-भवन के पास वट-वृक्ष के नीचे सत्संग चल रहा था। एक सन्त ने कागज पर गीता का एक श्लोक लिख कर महाराज से उसकी व्याख्या चाही। श्री महाराज जी ने कहा कि, भैया, देखो अर्जुन को सन्देह हुआ और भगवान ने उसका समाधान कर दिया तो वह 'गीता' बन गई। आपका भी जो सन्देह और कठिनाई है वह हमारे सामने रखिए वह भी गीता बन जाएगी। हम लोग ग्रन्थ को अपना सन्देह मिटाने के लिए नहीं पढ़ते वरन् उसे खुराक बना कर मस्तिष्क के संग्रह के लिए पढ़ते हैं। महाराजश्री ने जब श्लोक की क्रम, अध्याय और संख्या सहित व्याख्या की तो सारा सन्त समाज आनन्द-विभोर हो उठा। तभी एक सन्त ने पूछ लिया, "महाराज, आपकी ऊँचाई कहाँ तक है?" स्वामी जी ने कहा, "भैया, ऊँचाई नहीं बता सकता, मेरी निचाई जान लो कि सृष्टि की छाती पर पाँव रख कर खड़ा हूँ, मरूँगा नहीं।"

(29) सिर कट गया संसार डूब गया

एक बार श्री महाराज जी किसी सन्त से मिलने गए। वे सन्त लोगों से कम ही मिलते थे। सच्चे सन्तों को बहिर्मुखता पसन्द नहीं होती। कोई जाता तो वे सन्त दूर से ही फटकार देते। श्री महाराज जी भी जब मिलने गए तो दूर से ही कह दिया, "मेरे पास कुछ नहीं रखा, यहाँ से चले जाओ।" स्वामी जी ने कहा, "न आपके कहने से आया हूँ और न आपके कहने से जाऊँगा।" वे सन्त शान्त हो गए। बोले— "बताओ, किस लिए

आए हो।" स्वामी जी ने कहा, "आपके जीवन का अनुभव जानने के लिए आया हूँ।" सन्त फिर बोले, "मेरा सिर कट गया, संसार मिट गया, जाओ, जाओ, इससे अधिक मैं कुछ नहीं जानता।" श्री महाराज जी ने हम लोगों को कहा, "जब संसार से कुछ चाह नहीं रही, अपने लिए कुछ करना नहीं रहा तो सिर कट गया, अहं का नाश हो गया, मृत्यु घटित हो गई, नित्य जीवन से अभिन्नता हो गई।"

(30) अप्रयत्न दशा

एक बार किसी जिज्ञासु ने श्री महाराज जी से पूछा, "महाराज! जब आपका कोई संकल्प नहीं है, कोई प्रयत्न नहीं है तो आप हमारे प्रश्नों का उत्तर कैसे दे देते हैं?" श्री स्वामी जी ने कहा, "जैसे गेंद को दीवार पर फेंक देने पर वह स्वतः उछलती है वैसे ही प्रश्नों का उत्तर पूछने पर स्वतः आ ही जाता है। उसमें मुझे कोई संकल्प या प्रयत्न नहीं करना पड़ता।"

(31) अभय दान

हैदराबाद में एक विश्वास-पथ की साधिका ने श्री महाराज जी से कहा, "महाराज जी, जन-समाज में सत्चर्चा के लिए लोग मुझे बुलाते है तो जाती हूँ किन्तु कभी-कभी भीतर से भय-सा लगने लगता है कि सुख-सुविधा-सम्मान में पड़ कर कहीं मैं भटक न जाऊँ"। सुन कर श्री स्वामी जी कुछ देर चुप रहे और फिर गम्भीर होकर कहा, "बिटिया, जहाँ रहो, प्यारे प्रभु की होकर रहो। अपने में विश्वास की नहीं, प्रभु में विश्वास की बात सामने रखना और एक रहस्य की बात तुम्हें बताता हूँ भूल कर भी संसार का दिया हुआ सम्मान स्वीकार मत करना, उसका मजा मत लेना, तब भटकने और अटकने का कोई भय नहीं रहेगा।"

(32) बच्चे देख कर सीखते हैं

कुरुक्षेत्र में सर्वोदय के वार्षिक अधिवेशन में एक बहन श्री स्वामी जी महाराज से कहने लगी, "स्वामी जी! मैं अपने बच्चे को बार-बार

समझाती हूँ पर वह मेरी बात नहीं मानता और तब उस पर मुझे बहुत क्रोध आता है। दूसरों के बच्चे चाहे कितना भी तंग करें, उन पर मुझे क्रोध नहीं आता।" श्री महाराज जी ने कहा, "बेटी, अपने बच्चे पर ममतावश क्रोध करती हो और दूसरों के बच्चों को क्रोधी कहे जाने के भय से क्षमा कर देती हो। बच्चे को समझाओ मत और न ही उसे भय दिखाओ, बल्कि उसका ध्यान किसी रुचिकर वस्तु की ओर लगा दो। अपने जीवन से बच्चे को अच्छाई दिखाओ। बच्चे देखकर सीखते हैं, समझाने से नहीं।"

(33) लड़के स्वयं सुधर जाएँगे

एक बार दिल्ली के सत्संग में एक अध्यापक महोदय श्री महाराज जी से कहने लगे, "हमारे स्कूल के बच्चे अनुशासनहीन होते जा रहे हैं और हमारा कहना नहीं मानते।" इस पर महाराज जी ने कहा—आप विद्यार्थियों के साथ अपने बच्चों जैसा व्यवहार नहीं करते और उनकी दुर्दशा से आपको पीड़ा नहीं होती। गुरुजनों के बिगड़ने से चेला-चेली बिगड़ते हैं। बुराई ऊपर से नीचे की ओर चलती है। अपना सुधार करने की आवश्यकता है, लड़के स्वयं सुधर जाएँगे।

(34) वह ईमानदार नास्तिक है

एक बार ऋषिकेश के सत्संग में हैदराबाद के एक सज्जन स्वामी जी महाराज से अपनी शंकाओं का समाधान करा रहे थे। वे कह रहे थे, "महाराज जी मैं तो भगवान को मानता हूँ, पर मेरा लड़का भगवान को बिल्कुल नहीं मानता। उसे मैं कैसे समझाऊँ?" स्वामी जी ने कहा, "वह ईमानदार नास्तिक है, पर तुम बेईमान आस्तिक हो। यदि तुम भगवान को मानते हो तो लड़का तुम्हारा कैसे हो गया? वह तो भगवान का होना चाहिए। भगवान की वस्तु को अपना मानना क्या ईमानदारी है? लड़के

से ममता हटाकर उसे प्रभु को सौंप दो। वह स्वतः कट्टर ईश्वरवादी आस्तिक हो जाएगा।

(35) गंगाजल से अभिषेक

श्री स्वामी जी महाराज के एक प्रेमी भक्त ने एक बार उनके जीवन की एक बड़ी ही रोमांचकारक घटना सुनाई। घटना इस प्रकार है—

पूज्य श्री महाराज जी एक बार गंगोत्री की यात्रा पर थे। साथ में कुछ साधक भी थे। श्री महाराज जी उत्तरकाशी में बाबा काली कमली वालों की धर्मशाला में ठहरे हुए थे। श्री महाराज जी ने साथ के लोगों को मनेरी चट्टी पर रुकने के लिए कहा और स्वयं एक साधक को साथ लेकर पैदल ही चल पड़े। साथ वाले व्यक्ति से श्री महाराज जी ने कहा—"यहाँ से लगभग तीन किलोमीटर की दूरी पर असी घाट है—जैसा काशी में है। चल कर हम लोग वहीं स्नान करेंगे।" तीन किलोमीटर चलने के पश्चात् श्री महाराज जी ने कहा, 'गंगा जी यहाँ से खेतों के पार लगभग एक फर्लांग की दूरी पर होंगी।' हम लोग बड़ी कठिनाई से उबड़-खाबड़ खेतों को पार करके वहाँ पहुँचे किन्तु वहाँ स्नान करने योग्य कोई घाट न था।

एकदम निर्जन सुनसान जगह; पथरीले किनारे; पत्थरों से टकराती शोर मचाती गंगा का तेज प्रवाह। जल में पाँव रखने की हिम्मत नहीं होती थी। मैंने श्री महाराज जी का डण्डा पकड़ कर डुबकी लगाई और श्री महाराज जी से प्रार्थना की कि आप कृपया दो-चार कदम से आगे न जाएँ। मैंने देखा कि स्वामी जी निर्भय हो कर बीच धारा में आगे बढ़ते ही जा रहे हैं। कुछ दूर जाने पर उनके हाथ का डण्डा भी छूट गया। घबराहट में मेरी चीख निकल गई—अब क्या होगा। मैं पूरी शक्ति से चिल्लाया, स्वामी जी बह गए! स्वामी जी बह गए। मेरे हाथ-पाँव ठण्डे पड़ गए। इतने में ही मैंने क्या देखा कि डगमगाते पैरों से धारा के बीच उभरी हुई

एक चट्टान को पकड़ लिया है। अगले ही क्षण वे उछल कर उस पर बैठ गए। मैं इस उधेड़बुन में था कि महाराज जी तक कोई मदद कैसे पहुँचाई जाए तब तक महाराज जी की आवाज सुनाई दी—बस डर गया, डर गया, कह कर वे हँस रहे थे। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ मानो गंगा जी चट्टानों से टकराती हुई अपने जल से भगवान शिव का अभिषेक कर रही हों। देर होते देख अनन्त परमात्मा के उस नित्य सखा ने उस भयावह प्रवाह में शेर की तरह उछल कर एक छलाँग लगाई और दोनों हाथों से जल को चीरते हुए किनारे पर आ पहुँचे।

(36) विलक्षण स्नान

ऐसी ही एक घटना श्री महाराज जी की परिकर एक साधिका बहन ने इस प्रकार सुनाई—

स्थान था चम्बल-तट, ऊदी अवारी की गुफा। जहाँ पैर में चोट लग जाने के कारण कुछ समय तक श्री महाराज जी ने निवास किया था। श्री महाराज जी स्नान के लिए चम्बल तट स्थित श्मशान घाट पर गए जो गुफा के ठीक नीचे ही था। वहाँ जल काफी गहरा था। श्री महाराज जी ने अपना डण्डा पकड़ा कर मुझे जल में उतारा किन्तु मेरे पैर जमीन पर नहीं लग रहे थे। अतः मैंने उच्च स्वर से कहा---महाराज जी, मैं तो डूबी। श्री महाराज जी कहने लगे, "मेरे होते हुए तुम कैसे डूब सकती हो? चलो डुबकी लगाओ। देखो, तैंतीस डुबकियाँ लगानी हैं तभी पूर्ण स्नान होगा। मैंने काँपते हुए साहस बटोर कर डुबकियाँ लगाईं। श्री महाराज जी कहते जा रहे थे—"लगाओ नौ डुबकी। पंच तत्त्व, तीन गुण और एक ब्रह्म। फिर लगाओ नौ डुबकियाँ। शरीर विश्व के काम आ जाए। अहं अभिमान-शून्य हो जाए, हृदय परम प्रेम से परिपूर्ण हो जाए। लगाओ पाँच गोते, जिनके प्रति तुम्हारे हृदय में दुर्भाव आया हो उनसे क्षमा माँग कर।

तुम्हारे प्रति जिनके हृदय में दुर्भाव आया हो उन्हें तुम क्षमा कर दो। अन्त में पाँच गोते उनके लिए लगाओ जो इस पवित्र नदी में स्नान की अभिलाषा अपने हृदय में सँजोए मन मसोस कर रह गए हों, किसी कारण से न आ सके हों, उन्हें इस स्नान का फल मिले।" इसके पश्चात् श्री महाराज जी स्वयं स्नान करने लगे।

(37) प्रेम की जागृति में ही जीवन की पूर्णता

आज के युग के महान् विचारक श्री जे० कृष्णमूर्ति जी के साथ पूज्य स्वामी शरणानन्द जी की एक भेंट का प्रसंग इस प्रकार है—

दिल्ली में श्री कृष्णमूर्ति जी जहाँ ठहरे थे वहाँ श्री स्वामी जी महाराज पहुँचे। श्री कृष्ण-मूर्ति जी ने अत्यन्त आदर और स्नेह के साथ स्वामी जी का स्वागत किया तथा अपनी विशेष कुर्सी पर ही स्वामी जी को बैठाया स्वयं एक साधारण सी कुर्सी पर बैठ गए। दुभाषिए के माध्यम से बात-चीत आरम्भ हुई। श्री स्वामी जी महाराज ने कहा, "आप प्रत्येक बात का निषेध करते जाते हैं तो क्या आप अभाव को स्वीकार करते हैं?" श्री कृष्णमूर्ति जी ने तुरन्त कहा, "नहीं, नहीं लाइफ है लाइफ है।" इस पर श्री महाराज जी ने कहा, "जिसे आप लाइफ (जीवन) कहते हैं उसे यदि मैं परमात्मा कहूँ तो आपको कोई आपत्ति है?" सुन कर श्री कृष्ण-मूर्ति जी मौन हो गए उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। बाद में इस भेंट की चर्चा करते हुए श्री स्वामी जी महाराज ने बताया कि कृष्णमूर्ति जी ने जो अन्तिम पुस्तक लिखी है उसमें कहा है कि, प्रेम की जागृति में ही मानव-जीवन की पूर्णता है। तो भाई, प्रेम तो तभी होगा जब कोई प्रेमास्पद हो। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से उन्होंने परमात्मा की सत्ता को ही स्वीकार किया है।

(38) जीवन के परिवर्तन से क्रान्ति

एक बार एक साधक ने श्री महाराज जी से सामाजिक क्रान्ति के विषय में चर्चा की कि, महाराज, समाज में क्रान्ति कैसे आए?

श्री महाराज जी ने कहा कि, भैया देखो, बलपूर्वक जो परिवर्तन आता है वह स्थायी नहीं होता और उसकी प्रतिक्रिया भी होती है, किन्तु विचारपूर्वक जो परिवर्तन आता है वह स्थायी होता है और उसकी विपरीत प्रतिक्रिया भी नहीं होती। गुण-दोष व्यक्तिगत होते हैं। किसी वर्ग विशेष को सदा के लिए हृदय-हीन और बेईमान मान लेना न्याय संगत नहीं है। जीवन के परिवर्तन से क्रान्ति आती है, परिस्थिति-परिवर्तन से नहीं। जीवन में परिवर्तन जाने हुए असत् के त्याग से होता है, बल से नहीं; और असत् के त्याग की प्रेरणा व्यापक हो सकती है व्यक्तिगत सत्संग के प्रभाव से।

(39) दिवंगत व्यक्ति की सच्ची सेवा

एक बहन ने श्री महाराज जी को बहुत दुःखी हो कर कहा कि, "कुछ ही समय पहले मेरे पति का अचानक देहावसान हो गया है। ऐसा क्यों हुआ? अब मैं क्या करूँ?" श्री महाराज जी ने जीवन का रहस्य उन्हें बताया कि हिन्दू धर्म के अनुसार स्थूल शरीर के न रहने पर भी सूक्ष्म तथा कारण शरीर उस समय तक रहता है जब तक कि प्राणी देहाभिमान का अन्त कर समस्त वासनाओं से पूर्णतया मुक्त न हो जाए। ऐसी दशा में मृतक प्राणी के प्रति जो कर्तव्य है, उस पर ध्यान देना चाहिए।

स्वधर्मनिष्ठ पत्नी अपने पति की आत्मशान्ति के लिए बहुत कुछ कर सकती है। वैधव्य धर्म, सती धर्म से भी अधिक महत्वपूर्ण है। सती तो अपने शरीर को भौतिक अग्नि में दग्ध करती है और फिर पति-लोक को प्राप्त करती है। किन्तु विधवा अपने सूक्ष्म तथा कारण शरीर दोनों को ज्ञान अग्नि में दग्ध करके जीवन में ही मृत्यु का अनुभव कर लेती है जिससे स्वयं जीवन-मुक्त होती है और पति की आत्मा को भी मुक्त करती है।

देखो माँ ! पत्नी पति की अर्द्धांगिनी है। अत: पत्नी की साधना से पति का कल्याण हो सकता है। इस समय आपका हृदय घोर दु:खी है। परन्तु हमें दु:ख से भी कुछ सीखना है। दु:ख को व्यर्थ जाने देना, उससे भयभीत हो जाना भूल है। दु:ख हमें त्याग का पाठ पढ़ाने आया है। अत: जब-जब पतिदेव के वियोग की वेदना उत्पन्न हो तब-तब उनकी आत्मा की शान्ति के लिए सर्वसमर्थ प्रभु से प्रार्थना करो। मृतक प्राणी का चिन्तन करने से उसे विशेष कष्ट होता है। कारण कि सूक्ष्म शरीर कुछ काल उसी वायुमण्डल में विचरता है जहाँ-जहाँ उसका सम्बन्ध होता है। जब-जब वह अपने प्रियजनों को दु:खी देखता है तब उसे बहुत अधिक दु:ख होता है। अत: आपका धर्म है कि आप उन्हें दु:खी न करें। उनके कल्याणार्थ साधन अवश्य करें, पर मोह-जनित चिन्तन न करें।

(40) संसार सेवा के लिए है भोग के लिए नहीं

एक साधक श्री महाराज जी के पास आए। जीवन की हताशा-निराशा से पीड़ित थे। बार-बार संसार की शिकायत कर रहे थे। श्री महाराज जी ने कहा, "लाला, जिस दिन यह बात समझ लोगे कि संसार तुम्हारे लिए नहीं है, वरन तुम्हीं संसार के लिए हो उसी दिन जीवन का चित्र बदल जाएगा। आज तक व्यक्ति यही भूल करता रहा है कि वह संसार को अपने भोग की वस्तु मानता आया है। और उसी कारण वह अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए संसार से सदा कुछ न कुछ चाहता ही रहता है। जिस दिन उसे इस सत्य का पता चलता है कि उसे जो कुछ मिला है वह अपने लिए नहीं है, दूसरों के लिए है। उसी दिन से उसके जीवन में क्रान्ति का सूत्रपात हो जाता है।"

(41) न चल पाने की वेदना में ही चलने की सामर्थ्य निहित है।

एक बार पूज्य स्वामी जी महाराज दिल्ली में थे। राष्ट्रपति-भवन से बाबू राजेन्द्र प्रसाद जी का बुलावा आया। श्री महाराज जी राष्ट्रपति-भवन

पहुँचे। वहाँ राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त भी उपस्थित थे। एक-दो अन्य सज्जन भी थे। प्रश्नोत्तर की सत्संग-गोष्ठी का आयोजन किया गया था।

श्री मैथिलीशरण गुप्त ने विनम्रतापूर्वक पूज्य स्वामी जी से अनुरोध किया, "महाराज पथ-प्रदर्शन कीजिए।" श्री स्वामी जी महाराज ने तत्काल कहा, "चलने की रुचि में पथ का दर्शन होता है।" इस पर बाबू राजेन्द्र प्रसाद जी ने कहा, "चलने की रुचि भी है और पथ भी दिखाई देता है, लेकिन चला नहीं जाता।"

इस पर श्री स्वामी जी उत्तर दिया, "न चलने की वेदना में चलने की सामर्थ्य निहित है।" सुनकर राजेन्द्र बाबू तथा अन्य सज्जन प्रभावित हुए बिना न रह सके।

(42) गुलामों को ऐसी हँसी नहीं आती

परमपूज्य स्वामी जी महाराज एक बार जयपुर में थे। सत्संग का एक विशाल आयोजन किया गया था। उसमें राजस्थान के तत्कालीन मुख्यमन्त्री श्री मोहन लाल सुखाड़िया को भी आमंत्रित किया गया था। प्रवचन पूरा होने के पश्चात श्री सुखाड़िया जी, महाराज जी के समीप आकर बैठ गए। उनके साथ कुछ व्यक्ति और भी थे। किसी व्यक्ति ने महाराज जी से कोई बात पूछी जिसके उत्तर में स्वामी जी महाराज ने उन्मुक्त रूप से अट्टहास किया। सुखाड़िया जी विस्मय विमुग्ध होकर स्वामी जी के उत्फुल्ल मुखमण्डल को एकटक देखते ही रह गए। उन्होंने पूँछ ही लिया, महाराज, मैं इस राज्य का मुख्यमंत्री हूँ। राज्यसत्ता एवं पैतृक सम्पत्ति के कारण सब कुछ होने पर भी मैं आज तक ऐसी हँसी नहीं हँस सका। श्री महाराज जी ने बिना किसी लाग-लपेट के कहा, "यार, गुलामों को ऐसी हँसी नहीं आती।" सुखाड़िया जी से फिर कुछ कहते न बना।

(43) तुम्हारी आँखें किसके काम आएँगी

एक बार श्री स्वामी जी महाराज ट्रेन से लखनऊ से बलरामपुर जा रहे थे। उन दिनों श्री महाराज जी अकेले ही यात्रा करते थे। महाराज जी के डिब्बे में ही एक इस्लाम धर्मावलम्बी जिला-जज भी बैठे हुए थे। बातचीत के क्रम में जब उन सज्जन ने स्वामी जी महाराज के गन्तव्य के सम्बन्ध में ज्ञात हुआ तो उन्होंने प्रश्न किया, "स्वामी जी, आपको दिखाई तो देता नहीं—गोंडा स्टेशन पर आप गाड़ी कैसे बदल पाएँगे।" महाराज जी ने तुरन्त कहा, भैया तुम्हारी आँखें किस काम आएँगी? इस बात को सुनकर जज साहब बहुत प्रभावित हुए और गोंडा स्टेशन पर स्वयं उतर कर स्वामी महाराज को बलरामपुर जाने वाली गाड़ी में सवार कराया।

(44) अर्थ का अभाव उतना बुरा नहीं जितना अर्थ का प्रभाव

श्री स्वामी जी महाराज एक बार सत्संग के क्रम में बटाला पहुँचे। "मैं नहीं मेरा नहीं" गीत के रचयिता श्री महावीर जी वीर स्वामी जी के स्वागतार्थ आए। महाराज जी ने उनकी कुशल-क्षेम पूछी। वीर जी की टेलरिंग की दुकान थी। उन दिनों उनका व्यवसाय कुछ मंदा चल रहा था। वे कहने लगे, "महाराज जी, वैसे तो सब ठीक है किन्तु अर्थ का कुछ अभाव चल रहा है।" स्वामी जी महाराज ने तुरन्त कहा—"अर्थ का अभाव उतना बुरा नहीं है, अर्थ के प्रभाव से बचना।"

(45) किसी साधक के प्रश्न और उत्तर

प्रश्न—महाराज, मेरी नैया पार लगा दीजिए।

उत्तर—भैया, जिसकी नैया है, उसके भरोसे छोड़ दो। नैया भी पार हो जाएगी और तुम्हें भी पार ले जाएगी। और दोस्त, पकड़ोगे तो नाव भी डूबेगी और तुम्हें भी ले डूबेगी।

प्रश्न—महाराज, भगवान का नाम कितनी बार लेने से मनुष्य का उद्धार हो सकता है?

उत्तर—पूर्ण विश्वास हो तो, एक बार।

प्रश्न—जीवन में एक बार?

उत्तर—हाँ, जीवन में एक बार।

प्रश्न—यदि पूर्ण विश्वास न हो तो?

उत्तर—तब निरन्तर।

प्रश्न—सोते समय भी?

उत्तर—अरे जागते में तो लो, सोने के समय की जिम्मेदारी मेरे पर छोड़ दो। (यह कर उठा कर हँस दिए)

प्रश्न—परमात्मा कैसे मिलें?

उत्तर—देह-गेह से नाता तोड़ दो, परमात्मा मिल जाएँगे?

(46) राघवेन्द्र सरकार ने होली खेली

एक बार सत्संग-गोष्ठी में उपस्थित कुछ सत्संगी सज्जनों ने स्वामी जी पर दबाव दिया कि वह घटना बताइये, जब एक माता जी के साथ भगवान ने होली खेली थी। पहले तो स्वामी जी महाराज जी ने आना-कानी की, फिर अधिक आग्रह करने पर कहने लगे—

सत्संग-कार्यक्रम था। उस समय एक माता जी आईं और बोलीं—स्वामी जी मुझे भगवान का दर्शन कराइये। स्वामी जी ने कहा—मैं कैसे करा सकता हूँ? वह तो उनकी इच्छा पर है। वे चाहे तो दर्शन दें, चाहे न दें। माता जी ने कहा—नहीं, आपको दर्शन कराना पड़ेगा। बहुत देर तक वे जिद करती रहीं फिर बोलीं—मुझे यह बताइये कि मैं क्या करूँ, जिससे मुझे दर्शन हों? स्वामी जी ने कहा कुछ मत

करो। वे बोली—मैं तो कुछ करती ही नहीं हूँ। तब स्वामी जी ने कहा—कुछ भी नहीं करतीं? बोली—केवल राम-राम करती हूँ। स्वामी जी ने कहा—वह भी मत करो। इतना सुन कर वे चली गई।

दूसरे दिन लोगों ने बताया कि वे तो जब से यहाँ से गई है तब से केवल रो ही रही हैं। उन्हें राम-नाम का आश्रय था—वह भी छूट गया था। इसलिए बस उस परमात्मा के विरह में रोए जा रही थी। तीसरे दिन वे रोती हुई आई और कहने लगीं—"स्वामी जी, मुझे तो कुछ भी अच्छा नहीं लगता। मुझे जल्दी भगवान के दर्शन कराइये।" स्वामी जी ने कहा—"भगवान के साथ होली खेलोगी?" इस पर वे बोलीं—हाँ महाराज, खेलूँगी। दूसरे दिन होली थी। स्वामी जी ने कहा—जाओ तैयारी कर लो। कल भगवान आएँगे तो उनके साथ होली खेलना। वे चली गई। दूसरे दिन एक थाली में गुलाल लेकर, सामने तीन आसन बिछा कर, होली खेलने के लिए तैयार होकर बैठ गई और प्रतीक्षा करने लगीं। भगवान राघवेन्द्र सरकार आए और तीनों रूपों में आए—मिथिलेश नंदिनी सीता जू और लखन लाल जी भी साथ थे। तीनों आसनों पर विराजमान हो गए और तीनों ने उनकी थाली में गुलाल लेकर उन्हें लगाया। माता जी तो भाव विह्वल होकर ठगी-सी रह गई। भगवान बोले—"तुम हमें गुलाल नहीं लगाओगी?" तब उन्हें चेत हुआ और उन्होंने भी तीनों को अपने हाथ से गुलाल लगाया। इसके बाद भगवान अन्तर्धान हो गये। तब माता जी दौड़ी-दौड़ी आईं और स्वामी जी से कहने लगीं, "महाराज जी! मैं तो लुट गई। भगवान आए और चले गए। इससे तो मैं पहले ही अच्छी थी। भीतर दर्द था। स्वामी जी, वे चले क्यों गए।" स्वामी जी ने कहा, "अरे माता जी, मैंने तो पहले ही कहा था। दर्शन की जिद मत करो; उनके प्रेम को बढ़ाती रहो।"

(47) दुःख-सुख साधन-सामग्री

एक बार एक साधक के मन में विचार आया कि मनुष्य के जीवन में दुःख क्यों आता है। उसी दिन स्वामी जी ने उनके बिना ही प्रश्न किए कहा, "दुःख-सुख किसी कर्म का परिणाम नहीं है। मानव के हित के लिए जब दुःखद परिस्थिति आवश्यक होती है, तब दुःख आता है एवं जब सुखद परिस्थिति आवश्यक होती है, तब सुख आता है। दुःख-सुख तो साधन-सामग्री है।" यह सुन कर साधक की शंका का समाधान हो गया।

(48) संसार का स्वरूप

पुरलिया (प० बंगाल) में सत्संग-कार्यक्रम हो रहा था। किसी साधक ने प्रश्न किया—"महाराज जी, संसार का स्वरूप क्या है? स्वामी जी ने उत्तर दिया— "जिसके पीछे दौड़ते रहो और हाथ न आवे, वह है संसार।" साधक ने पुनः प्रश्न किया, "इच्छाओं का स्वरूप क्या है?" महाराज जी ने कहा—"जो कभी पूरी न हो।"

(49) परमात्मा अभी है, अपने में है और अपना है

किसी साधक ने पूज्य देवकी जी से प्रश्न किया कि प्रभु का अनन्य चिन्तन कैसे हो? उस समय स्वामी जी के साथ ही पूजनीय देवकी माता जी भी पुरलिया पधारी थीं। माता जी ने समझाया किन्तु उन साधक के ठीक समझ में नहीं आया। उसी समय पूज्य स्वामी जी महाराज भीतर कमरे से बाहर आए और अपने आप ही बोले—"अनन्य अर्थात् दूसरा कोई है ही नहीं।" सुन कर साधक को सन्तोष हुआ। स्वामी जी महाराज ने सत्संग में आगे कहा—"देखो भाई, परमात्मा उसे नहीं कहते जो कभी हो और कभी न हो। परमात्मा सदैव है, पहले भी थे, अभी भी हैं और आगे भी रहेंगे। अतएव अभी हैं। परमात्मा उसे भी नहीं कहते जो सर्वत्र न हो। जो कहीं हो और कहीं न हो वह परमात्मा नहीं हो सकता। अतएव

परमात्मा सर्वत्र होने से मेरे में भी है। परमात्मा उसे भी नहीं कहते जो किसी का हो और किसी का न हो। अतः परमात्मा सभी का होने से मेरा भी है। अर्थात् मेरा परमात्मा मेरे में अभी है। तो भाई, अभी होने से भविष्य की प्रतीक्षा गई और अपने में होने से बाहर की तलाश गई कि कहाँ जाने से मिलेंगे, हिमालय की कन्दराओं में मिलेंगे या जंगलों-पहाड़ों में मिलेंगे और अपने होने से प्यारे लगेंगे।"

यह सुन कर उन साधक को बड़ी शान्ति मिली एवं उनका हृदय आनन्द से भर गया। सारी चिन्ताएँ मिट गईं। जिस परमात्मा को पाने के लिए निरन्तर चिन्तित रहते थे, वह तो हमारे में ही है।

(50) साधना में प्रगति का महामंत्र

पुरलिया के सत्संग में एक सज्जन ने कहा, "स्वामी जी महाराज तो आसमान की बात करते हैं। कहते हैं— निर्मम और निष्काम हो जाओ।" तब स्वामी जी बोले "अरे भाई, मैं तो बिल्कुल जमीन की बात करता हूँ। ममता और कामना का त्याग किए बिना साधना के मार्ग में बढ़ा ही नहीं जा सकता। इसलिए इस महामंत्र को अपनाना बहुत जरूरी है कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, सर्वसमर्थ प्रभु अपने है और सब कुछ उन्हीं का है।"

(51) कोई भी व्यक्ति सर्वांश में बुरा नहीं होता

किसी साधक ने प्रश्न किया कि, "स्वामी जी महाराज, आपने बताया कि किसी का बुरा मत करो—बहुत अच्छी बात है। किसी का बुरा नहीं करना चाहिए। और आपने कहा—किसी का बुरा नहीं चाहना चाहिए, यह और भी अच्छी बात है, किन्तु आपने कहा—किसी को बुरा नहीं समझना चाहिए। यह कैसे ?

स्वामी जी बोले,"हाँ, यहीं साधक अटक जाते हैं। अच्छा भाई, यह बताओ कि कोई कितना भी बुरा क्यों न हो, क्या सर्वांश में बुरा हो सकता है? तब किसी को बुरा समझना उसके साथ अन्याय है।"

(52) खाते खाते क्या नहीं मरोगे?

किसी साधक ने प्रश्न किया, "भगवान का काम कितनी देर करें?"

उत्तर—चौबीस घण्टे।

प्रश्न—चौबीस घण्टे?

उत्तर—हाँ, चौबीस घण्टे। तेईस घण्टे, उनसठ मिनट, उनसठ सैकेण्ड भगवान का काम किया और एक सैकेण्ड अपना काम किया तो कुछ नहीं हुआ। चौबीस घण्टे ही भगवान का काम करना है।

प्रश्न—चौबीस घण्टे भगवान का काम करें तो खाएँ क्या?

उत्तर—मत खाओ, भूखे मर जाओ। अपना काम करते-करते, खाते-खाते नहीं मरोगे क्या? फिर यदि भगवान का काम करते-करते भूखे मर जाओगे तो अधिक घाटा तो नहीं लगेगा।

स्वामी जी ने फिर कहा—मैं आपको कोई लोभ तो नहीं देना चाहता किन्तु सत्य कहता हूँ कि जबसे मैंने भगवान की शरण ग्रहण की है तब से किसी दिन भूखा रहना नहीं पड़ा। ऐसा कभी नहीं हुआ कि शरीर को भोजन की आवश्यकता है और भोजन न मिला हो।

(53) भगवान कैसे दिखाई दें?

किसी साधक ने स्वामी जी महाराज से प्रश्न किया—"महाराज, भगवान के साकार रूप का दर्शन करना चाहता हूँ।" स्वामी जी ने तत्काल कहा, और सब कुछ देखना छोड़ दो, भगवान दीख जाएँगे। साधक ने कहा—"यह तो बहुत कठिन है।" स्वामी जी ने स्पष्ट किया, "सब कुछ

देखना छोड़ने का अर्थ आँखें बन्द कर लेना नहीं है। इसका अर्थ है देखने में रुचि न लेना। संसार से पूर्ण असंगता।"

(54) परमात्मा पाप-पुण्य का प्रेरक नहीं

किसी बालिका ने स्वामी जी महाराज से प्रश्न किया, "जब सारे कार्य भगवान की सत्ता से ही होते हैं तो फिर मनुष्य को पाप-पुण्य क्यों होता है?"

स्वामी जी ने पूछा, "अच्छा बेटी, क्या तुम अँधेरे में गीता पढ़ सकती हो?"

बालिका ने कहा—नहीं।

स्वामी जी ने फिर कहा—और प्रकाश में?

बालिका ने कहा—"पढ़ सकती हूँ।"

स्वामी जी—"और क्या तुम अँधेरे में ताश खेल सकती हो?"

बालिका—नहीं।

स्वामीजी—और प्रकाश में?

बालिका—खेल सकती हूँ।

स्वामी जी—तो फिर गीता पढ़ने और ताश खेलने में सत्ता तो प्रकाश की हुई किन्तु पढ़ने और खेलने की क्रिया तो तुम्हारे द्वारा ही हुई न?

बालिका ने कहा—महाराज जी अब मैं समझ गई।

(55) नाम की महिमा

किसी साधक भाई ने प्रश्न किया कि नाम-जप के बारे में आपके क्या विचार हैं, तो स्वामी जी ने कहा कि नाम-जप का तो मैं विरोध नहीं करता किन्तु साथ-साथ नाम की महिमा भी स्वीकार करने के लिए कहता

हूँ। साधक भाई ने पूछा नाम की महिमा कैसे स्वीकार करें, तो स्वामी जी महाराज ने बताया कि मेरे प्यारे का नाम है इसलिए प्यारा लगना चाहिए। मैंने तो यह समझा है कि नाम में प्रेम हो और नाम महिमा में विश्वास हो।

इसके बाद स्वामी जी ने बताया कि एक स्थान पर साधुओं का सम्मेलन था। वहाँ सब साधु ही साधु थे। मुझसे पूछा कि, महाराज, नाम के विषय में आपके क्या विचार हैं? स्वामी जी ने कहा कि धोखे से भी कान में पड़ जाए तो उद्धार हो जाए। साधुओं ने स्वामी जी से फिर पूछा, महाराज कितनी बार भगवान का नाम लेने से मनुष्य का उद्धार हो सकता है—तो स्वामी जी जोर से हँसे और बोले, "आप नाम की महिमा पूछ रहे हैं या संख्या की?"

(56) जीवन का सम्पूर्ण सत्य

एक दिन दोपहर के समय पूज्य स्वामी जी महाराज विश्राम कर रहे थे। महाराज जी अपने सामने बैठे साधक से कहने लगे, "जो व्यक्ति संसार में किसी भी वस्तु को अपनी मानता है, वह सबसे बड़ा बेईमान और जो व्यक्ति भगवान को अपना नहीं मानता वह महामूर्ख।" कितने थोड़े-से शब्दों में स्वामी जी महाराज ने जीवन का पूरा सत्य प्रकट कर दिया।

(57) जागरूक नागरिक

एक बार श्री महाराज जी कुछ साथियों के साथ दिल्ली से इटावा जाना था। समय के अभाव के कारण टिकट खरीदना सम्भव नहीं हो सका। गाड़ी में ही टिकट बनवा लेने के इरादे से सब लोग गाड़ी पर चढ़ गए। गाड़ी में भी टिकट बनवाने का अवसर नहीं मिल पाया। इटावा स्टेशन पर उतर कर स्वामी जी ने एक साथी से कहा कि इटावा से दिल्ली की चार टिकटें खरीद कर ले आओ। टिकटें आ जाने पर स्वामी जी ने कहा—इन टिकटों को फाड़ कर पानी में फेंक दो। वाह रे! देश के विधान

का आदर करने वाले संन्यासी। आपसे रेल-विभाग की हानि सहन नहीं हुई।

(58) बल, निर्बलों के लिए

शुरू-शुरू में श्री महाराज जी जेब में कभी कोई पैसा नहीं रखते थे। जरूरत पड़ने पर भिक्षा से पैसा माँग कर काम चला लेते थे। एक बार नाव के द्वारा नदी पार करना पड़ गया। किनारे पर कुछ नौजवान आपस में बातचीत कर रहे थे। उनकी आवाज सुनकर स्वामी जी उनके पास जाकर कहने लगे, बेटा, मुझे दो आने चाहिएँ, नाव का भाड़ा देकर पार जाना है। वे नवयुवक कहने लगे, "जाओ बाबा, माफ करो।" स्वामी जी ने हाथ बढ़ा कर एक लड़के का हाथ पकड़ लिया और कहने लगे, "ऐसे माफ नहीं करूँगा। पहले मुझे यह बताओ कि मैं लेने के काबिल नहीं हूँ या तुम देने में समर्थ नहीं हो। अन्धा हूँ भैया, कमा नहीं सकता। क्या आँख वालों का यह धर्म नहीं है कि किसी अन्धे के काम आएँ।" उन लड़कों ने लज्जित होकर सन्त के पाँव पकड़ लिए और सहायता कर दी।

(59) प्राकृतिक न्याय

एक बार श्री महाराज जी किसी द्वार पर भिक्षा माँगने गए। भिक्षा के लिए जब आवाज लगाई तब उनका डील-डौल देखकर गृह-स्वामी कहने लगा—"इतने हट्टे-कट्टे होकर भिक्षा क्यों माँगते हो?" वह नहीं जानता था कि भिक्षुक सन्यासी प्रज्ञाचक्षु हैं। महाराज जी ने तुरन्त उत्तर दिया—"भैया, मैं तो इसलिए माँग रहा हूँ क्योंकि पिछले जन्म में दिया नहीं था।" प्राकृतिक न्याय की यह बात सुनकर वह व्यक्ति अवाक् रह गया और झट स्वामी जी को भिक्षा देने के लिए आतुर हो गया। सन्त की बात हृदय में कौंध गई कि यदि मैंने इस जन्म में नहीं दिया तो अगले जन्म में मुझे भी माँगना पड़ेगा।

(60) सुख में दुःख का दर्शन

एक बार एक निःसन्तान दम्पती वृन्दावन-आश्रम में श्री महाराज जी के दर्शनार्थ पधारे। पत्नी ने दुखी हृदय से कहा, "40 वर्ष से अधिक अवस्था हो गई है। भगवान ने हमें सन्तान का सुख नहीं दिया।" श्री महाराज जी करुणित होकर कहने लगे, "बिटिया, यह कहा करो हे प्रभु, तेरी इच्छा पूर्ण हो। वैसे भी बेटी, कितना अनुभूत सत्य है कि बेटे के जन्म के समय कितनी भयंकर प्रसव-पीड़ा सहनी पड़ती है, बेटे के पालन-पोषण में कितना कष्ट उठाना पड़ता है। बीमार होने पर कितनी चिन्ता होती है। विवाह होने पर माँ-बाप को भूल ही जाता है। कितना रुलाता है बेटा। तुम यहाँ आश्रम में आकर रहो। यहाँ सभी तुम्हें माँ कह कर पुकारेंगे पर रुलाएँगे नहीं।"

(61) मन एकाग्र कैसे हो?

गीता-भवन (ऋषिकेश) के प्रांगण में श्री महाराज जी का प्रवचन प्रारम्भ होने वाला था। एक सन्त आकर महाराज जी के तख्त के पास नीचे बैठ गए। मह राज जी ने उन्हें पकड़ कर अपने पास बैठा लिया। सन्त जी बोले कि उनका एक प्रश्न है। महाराज जी ने कहा कि, आपका क्या प्रश्न होगा। आप हमसे अकेले में बात कर लेना। सन्त जी ने कहा—नहीं महाराज मैं तो सब के सामने ही पूछना चाहता हूँ। तब महाराज जी ने कहा—तो पूछो फिर। सन्त ने पूछा—महाराज, मन बड़ा चंचल है। इसको एकाग्र करने की टैक्नीक बताएँ। श्री महाराज जी कहने लगे— "मन किसी टैक्नीक से एकाग्र नहीं होता। सम्बन्ध एक से रखो और उसके नाते सेवा अनेक की करो। मन तो वहाँ जाता है जहाँ आपने अपना सम्बन्ध जोड़ रखा है। मन को एकाग्र करने का प्रयास मत करो, अपना सम्बन्ध बदल डालो।"

(62) सास-बहू का झगड़ा

गीता-भवन (ऋषिकेश) के प्रांगण में प्रश्न-उत्तर-काल में एक नवयुवक ने महाराज जी के सामने अपनी समस्या रखी। वह नवयुवक कहने लगा—"महाराज जी, मेरे घर में मेरी पत्नी और मेरी माँ की आपस में नहीं बनती। वे दोनों एक-दूसरे से झगड़ती रहती हैं। मैं बहुत दुःखी हूँ, क्या करूँ?" श्री महाराज जी ने परामर्श दिया—"अपनी माँ से कहो कि माँ, मेरी पत्नी तुम्हारी तो कुछ नहीं लगती। आप इसलिए उसे प्यार करो कि वह तुम्हारे बेटे की बहू है; और पत्नी से कहो कि मेरी माँ तुम्हारी तो कुछ नहीं लगती। तुम इसलिए उसे आदर दो क्योंकि वह तुम्हारे पति की माँ है। उन्हें समझाओ मत। तुम्हारा दुःख जरूर मिट जाएगा। उन दोनों का दुःख मिटे चाहे न मिटे।"

(63) मजदूरी नहीं, अफसरी करो

स्वामी जी महाराज के एक प्रेमी एक दिन उनसे कहने लगे—"महाराज जी, मैं प्रतिदिन मन्दिर में जाकर भगवान की सेवा-पूजा करता हूँ फिर भी मुझे भगवान का प्रेम प्राप्त नहीं हुआ।" श्री महाराज जी ने उत्तर दिया कि, "भाई, तुम मजदूरी क्यों करते हो? अफसर बनो। मजदूर को सारा दिन मेहनत करने पर केवल 20 रुपये मिलते हैं, जबकि अफसर 400 रु० रोज प्राप्त करता है। आप भगवान से सम्बन्ध जोड़ लो। बिना किसी प्रयत्न के भगवान का प्रेम स्वतः प्राप्त हो जाएगा।"

(64) आश्रम भिक्षावृत्ति से चलना चाहिए

एक बार मानव सेवा संघ आश्रम वृन्दावन के कुछ ट्रस्टी, मीटिंग के पश्चात् श्री महाराज जी की कुटिया में आकर कहने लगे, "महाराज जी, आश्रम में धन का अभाव चल रहा है। हमने मीटिंग में पास किया है कि सड़क के किनारे आश्रम की भूमि पर कुछ दुकानें बनवा कर किराये पर

चढ़ा दी जाएँ जिससे आश्रम का धनाभाव समाप्त हो जाए।" ऐसा सुनकर श्री महाराज जी को इतनी पीड़ा हुई कि एक दम शेर की तरह दहाड़ पड़े—"जज साहब। हमारा आश्रम यदि समाज की भिक्षा से नहीं चल सकता तो तुम्हारी अक्ल से भी नहीं चलेगा। धन का अभाव देकर तो हमारे प्रभु हमें त्याग का पाठ पढ़ाना चाहते हैं। खबरदार। यदि आश्रम में एक पैसे की भी आमदनी पैदा करने की कोशिश की।"

(65) साधुओं का घरों से क्या सम्बन्ध?

एक बार श्री महाराज जी दैनिक प्रार्थना सभा बटाला (पंजाब) में पधारे हुए थे। एक साधु से उनकी बातचीत चल रही थी। बातों-बातों में वे साधु, महाराज जी से कहने लगे—"महाराज जी मैं कई वर्षों से बटाला में सत्संग के लिए आ रहा हूँ। बटाला में मेरे पचास घर हो गए हैं जहाँ मुझे आदर, सम्मान एवं भोजन मिलता है।" महाराज जी झट बोल पड़े—"अरे। घर तो भंगियों के होते हैं। साधुओं का घरों से क्या सम्बन्ध?" वह साधु अपना-सा मुँह लेकर रह गया। महाराज जी ने विरक्तों को उनके धर्म की याद दिलाई।

(66) गुरु की बात मानो

श्री महाराज जी बटाला (पंजाब) में पधारे हुए थे। साधकों से बातचीत चल रही थी। एक डॉक्टर साहब कहने लगे—"महाराज जी, जब आप यहाँ आते हैं, आपका सत्संग सुन कर ऐसा लगता है जैसे सब साफ हो गया परन्तु आपके जाने के बाद वे ही विकार फिर से हमें घेर लेते हैं। ऐसा क्यों होता है?" श्री महाराज जी ने उत्तर देते हुए कहा, "बाहरी बात तो यह है कि आपको अपनी दुर्दशा की पीड़ा नहीं होती। हल्की-हल्की होती है और कभी-कभी होती है। और भीतरी बात यह है कि आप हमसे सम्बन्ध नहीं जोड़ते। गुरु नहीं बनाते तो चेला ही बना लो। बाप नहीं

बनाते तो बेटा ही बना लो। कोई न कोई सम्बन्ध तो जोड़ो, फिर देखो क्या होता है? जब तक गुरु जिन्दा है, उसकी छाती पर चढ़ोगे, उसकी जान लोगे। और जब गुरु मर जाएगा, तो उसकी मढ़ी बनाओगे। बात न अब मानोगे और न ही बाद में।"

(67) साधना से कल्याण

बटाला के एक टेलर मास्टर श्री महाराज जी को अपने घर ले गए। श्री महाराज जी को बैठक में बिठाकर अपना फीता लेकर आ गए। कहने लगे— "महाराज जी, मैं आपके दो चोले सी कर देना चाहता हूँ।" श्री महाराज जी उनकी भावना को भाँप गए। कहने लगे—"बेटा नए चोले तो बेशक बना दे परन्तु अपना पुराना चोला तुम्हें नहीं दूँगा। यह तो वस्त्र है। यदि तू मेरी चमड़ी भी उतार कर पहन ले तो कुछ नहीं होने वाला। जब तक स्वयं साधना नहीं करेगा, कल्याण नहीं होगा।" इस प्रकार महाराज जी साधकों की भ्रान्त धारणाओं को भस्मीभूत करते रहते थे।

(68) कौन जाने कब क्या हो जाए

बटाला में श्री महाराज जी को एक दुखद समाचार मिला कि उनके किसी प्रेमी साधक के बेटे का देहान्त जालन्धर में स्कूटर और बस की टक्कर के कारण हो गया है। दुःखी परिवार को सान्त्वना देने के लिए महाराज जी रात-भर फोन मिलाने का प्रयास करते रहे। बड़ी मुश्किल से भोर में फोन मिल पाया। प्रातःकालीन सत्संग में महाराज जी ने उस दुःखद घटना की चर्चा करते हुए कहा—"देखो, भाई, उस बाप को अपने इकलौते नौजवान बेटे की याद आ रही होगी या नहीं। इस याद में अभाव सताएगा या नहीं। यदि उस बाप ने 50 वर्ष की अवस्था में वानप्रस्थ ले लिया होता तो वह इस भयंकर वेदना से बच सकता था। तब उसे लड़के की नहीं, प्रभु की याद आती। इस नश्वर संसार में निर्मम होकर रहना चाहिए। कौन जानता है कब क्या हो जाए।"

(69) प्राप्ति केवल परमात्मा की

बटाला के सत्संग में एक भाई ने साधना-पथ पर चलने में भय की आशंका को प्रकट करते हुए कहा, "महाराज जी साधना-पथ पर चलने में मुझे भय लग रहा है कि कहीं जो मिला हुआ है वह भी न छिन जाए और आगे कुछ मिले नहीं।" श्री महाराज जी ने उत्तर दिया, कि "भैया, मिले हुए से तुझे मिला क्या? जितना मिला, उससे सन्तोष हुआ क्या? यह जो मिला हुआ-सा लगता है वह एक दिन छूट जाएगा कि नहीं? प्राप्ति तो केवल परमात्मा की होती है। जगत तो मिल कर बिछुड़ ही जाता है।"

(70) शरीर है संसार की वस्तु

डेरा बाबा नानक (पंजाब) से एक अध्यापक श्री महाराज जी का प्रवचन सुनने के लिए बटाला पधारे। उन्होंने प्रश्न किया, "महाराज जी सत्य के मार्ग पर चलने में मुझे भय लगता है कि कहीं हमारे शरीर की हानि न हो जाए।" महाराज जी ने उत्तर देते हुए कहा, "तुम्हारे पास जगत की एक वस्तु है शरीर के रूप में। उसको तुमने गलती से अपना मान रखा है। इस बेईमानी के कारण ही तुम्हें लग रहा है। जगत् यदि इस शरीर को मिटाता है तो हानि जगत की होगी कि तुम्हारी?" इस पर उन्होंने दूसरा प्रश्न किया, "महाराज जी, सत्य के मार्ग पर चलने में अनेक कठिनाइयाँ आती हैं।" स्वामी जी ने उत्तर दिया, "अरे भाई, सती साध्वी के जीवन में ही कठिनाइयाँ आएँगी, वेश्या के जीवन में क्या कठिनाई है।"

(71) अहं ब्रह्मास्मि का अर्थ

बटाला के एक कॉलेज के प्रोफेसर ने किसी से नाम-दीक्षा ले रखी थी। उसने प्रश्न किया, "महाराज जी, अहं ब्रह्मास्मि का क्या अर्थ है?" श्री स्वामी जी ने कहा, "अहं जो है वह ब्रह्म का बाप तो हो सकता है, पर

ब्रह्म नहीं हो सकता। हाँ, ब्रह्म भले ही अहं हो।" साधक ने दूसरा प्रश्न किया, "महाराज जी भगवान को प्राप्त करने के लिए गुरु तो बनाना ही पड़ेगा न।" महाराज जी ने उत्तर दिया, "इतना हट्टा-कट्टा गुरु खड़ा तो है तेरे सामने।" अपनी महानता को गुप्त रखने वाले सद्गुरु की इससे अधिक करुणा भला और क्या होगी?

(72) होली का वास्तविक अर्थ

होली के वार्षिक सत्संग समारोह के अवसर पर श्री महाराज जी अपनी कुटिया में तख्त पर लेटे हुए थे। उनके आस-पास बैठे हुए साधक श्री महाराज जी का वार्तालाप सुन रहे थे। श्री महाराज जी के मुख से ये शब्द निकले—"जानते हो, होली का अर्थ क्या है। राग-द्वेष को अग्नि में जला दो। देहाभिमान को मिट्टी में मिला दो और प्रेम में रंग जाओ। यही होली-पर्व का सच्चा अर्थ है। जीवन के लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए ही सारा क्रिया-कलाप होना चाहिए।"

(73) प्रभु की कृपालुता

एक दिन कुछ साधक भाई स्वामी जी के साथ सायंकाल को श्री बाँके बिहारी जी के दर्शनार्थ मन्दिर में गए। होली-उत्सव के कारण मन्दिर के गोसाँई पिचकारियाँ भर-भर कर दर्शनार्थियों पर रंग डाल रहे थे। महाराज जी के मुख पर पिचकारी की धार पड़ते देख एक साधक ने अपने दोनों हाथ मुख के सामने कर दिए। महाराज जी कड़क कर बोले, "यह कौन बुद्धिमान है, जो हमें भगवान से होली खेलने से रोक रहा है।" यह सुन कर उस सज्जन ने तुरन्त अपने हाथ हटा लिए। दर्शन कर लेने पर जब वापस लौटने लगे तो किसी ने रिक्शा ले आने के लिए कहा क्योंकि डॉक्टर ने स्वामी जी को अधिक चलने के लिए मना किया हुआ था। इधर-उधर रिक्शा ढूँढने का प्रयास किया किन्तु कहीं कोई खाली रिक्शा

नहीं मिला। साधक ने वापस लौट कर रिक्शा न मिलने की बात कही तब महाराज जी कहने लगे, "चलो आज पैदल ही चलेंगे। भगवान ने यदि साधन नहीं दिया तो शक्ति अवश्य दे देंगे।" ऐसा था अपने नित्य सखा के प्रति स्वामी जी का अटल विश्वास।

(74) भगवान इच्छा-रहित करते हैं

एक बार किसी ने श्री महाराज जी से प्रश्न किया—

"महाराज जी, क्या भगवान भक्त की इच्छा पूरी कर देते हैं? महाराज जी ने कहा, "कैसी बात करते हो, इच्छा तो उन्होंने अपने बाप की भी पूरी नहीं की फिर तुम्हारी कैसे कर देंगे? राजा दशरथ ने जो चाहा, वह नहीं हुआ। जो यशोदा जी ने चाहा वह नहीं हुआ। ब्रह्म की नित्य सहचरी सीता जी ने जो चाहा वह भी नहीं हुआ। भगवान इच्छा पूरी नहीं करते वे तो भक्त को इच्छा-रहित करते हैं।"

(75) शान्ति न जाने पाये

एक बार श्री महाराज जी के पास एक महिला आई। महाराज जी के चरण पकड़ कर वह जोर-जोर से रोने लगी। महिला ने रोते हुए कहा, "महाराज जी! मेरे पति मुझे छोड़कर चले गए।" करुणित होकर श्री महाराज जी ने कहा, "सुख चला गया है पर शान्ति न जाने पाये। साधना करो बेटी। तेरे मरे हुए पति का कल्याण होगा और तुम बार-बार पत्नी बनने के दुःख से छूट जाओगी।"

(76) सेवक को निःसंकल्प होना चाहिए

तीन-चार दिन की छुट्टी लेकर एक साधक महाराज जी से भेंट करने रानी-कोठी (ऋषिकेश) पहुँचे। प्रणाम करने पर महाराज जी ने पूछा, "कितने दिनों के लिए आए हो।" उन्होंने उत्तर दिया, "महाराज जी, तीन-चार दिनों के लिए आया हूँ।" स्वामी जी ने कहा, "यदि सेवा के लिए

अधिक दिन रुक जाते तो अच्छा रहता।" दोपहर को श्री महाराज जी की आज्ञा लिए बिना वे साधक लक्ष्मण-झूला चले गए। शाम को जब वे लौटे तो महाराज जी की सेवा में रत एक साधिका बहन ने कहा, "कहाँ चले गए थे, स्वामी महाराज आपके बारे में पूछ रहे थे।" वे साधक स्वामी जी के तख्त के पास ही सो गए। प्रात: 2 बजे उन साधक को आवाज देकर जगाया और पूँछने लगे, "कल बिना बताए कहाँ चले गए थे?" जब साधक ने कहा कि मन्दिर देखने लक्ष्मण झूला चले गए थे तब स्वामी जी कहने लगे—"देखो, बेटा! सेवक को अपना कोई संकल्प नहीं रखना चाहिए।" जब उन साधक ने अपनी साधन सम्बन्धी कठिनाई का जिक्र किया तो स्वामी जी कहने लगे—"बेटा, घबराने की जरुरत नहीं। धीरे-धीरे सब होगा। साधक की अपनी बनावट के अनुसार स्वयं को कुछ न कुछ मान अवश्य लेना चाहिए। चाहे अपने को भक्त मान लो, चाहे सेवक मान लो, चाहे जिज्ञासु मान लो। मान्यता के अनुरूप साधना फलित होने लगेगी।"

(77) अच्छी बात सब जानते हैं

एक बार एक भाई श्री महाराज जी से कहने लगे, "महाराज जी, हमें भी कोई अच्छी बात बताओ।" श्री महाराज जी ने कहा, "भैया, क्या तुम स्वयं अच्छी बातों को नहीं जानते, जो मानव को करनी चाहिए।" वह भाई कहने लगा, "हाँ महाराज, जानते तो हैं।" तब महाराज जी बोल उठे, "जब तुम अपनी ही जानी हुई बातों को नहीं मानते तब क्या गारण्टी है कि तुम हमारी बताई हुई बातों को मान लोगे।" महाराज जी यह ज्ञान करा दिया कि बिना पोथी पढ़े प्रत्येक भाई को बुराई का ज्ञान है। और सब व्यक्ति अच्छी बात जानते हैं।

(78) पहाड़ का गड्ढा भी जमीन से ऊँचा होता है

रानी कोठी (ऋषिकेश) की छत पर एक बार एक साधक छत पर महाराज जी को टहलने में सहायता कर रहे थे। उन साधक ने प्रश्न किया—"महाराज जी, श्री राम कृष्ण परमहंस इतने बड़े महापुरुष होने पर भी हुक्का क्यों पीते थे?" महाराज जी ने उत्तर देते हुए कहा, "यद्यपि यह कोई अच्छी बात नहीं थी। फिर भी महापुरुषों के दोष नहीं देखने चाहिएँ। देखो, पहाड़ का गड्ढा भी जमीन से ऊँचा होता है।" महाराज जी के इस सटीक उत्तर को सुन कर वे प्रश्नकर्त्ता साधक अवाक् रह गए।

(79) बदले की भावना से अपना अहित

एक साधक भाई ने श्री महाराज जी से अपनी प्रथम भेंट का वृतान्त इस प्रकार सुनाया—

एक बार श्री महाराज जी हमारे शहर में आए हुए थे। मैं उन्हें जानता नहीं था। उन दिनों अपने ससुराल वालों से मेरी बहुत कहा सुनी हो गई थी। उन्होंने मेरी बहुत ही बेइज्जती कर डाली थी। मैं क्रोध से पागल होकर चाकू लेकर बाजार में घूमता रहता कि कहीं मुझे मेरे साले मिल जाएँ तो मैं उन्हें मार डालूँ। रात भर नींद नहीं आती थी। सुबह मेरा मित्र मुझे अपने घर ले गया जहाँ स्वामी जी महाराज ठहरे हुए थे। मैंने अपरिचित होने के कारण बिना किसी श्रद्धा के उन्हें प्रणाम किया। उन्होंने मुझे पकड़ कर अपने पास बिठा लिया और कहने लगे, "जिन्होंने माफ कर दिया उन्हें फाँसी के तख्ते पर भी चैन मिला। जो बदला लेने की सोचता है वह अपने ही जख्मों को हरा रखता है।" मैं इस बात से बहुत प्रभावित हुआ कि मेरे बिना बताए उन्होंने मेरी मनोदशा को कैसे जान लिया?

(80) भगवान का खिलौना

एक बार अलीगढ़ यूनिवर्सिटी के फिलासफी के विद्यार्थियों ने श्री महाराज जी को अपना संशय निवारण करने की दृष्टि से बुलाया। वे कहने

लगे, "महाराज जी, हमें लगता है कि अल्लाह का हाथ साफ नहीं रहा। उससे अच्छे इन्सानों की जगह खराब इन्सान ज्यादा बन रहे हैं।" श्री महाराज जी ने तुरन्त उत्तर दिया, —"अरे अल्लाह का हाथ कैसा भी क्यों न हो पर उसने इतना बढ़िया खिलौना अवश्य बना दिया, जो वह अपने बनाने वाले के भी दोष देख सके।"

(81) बुद्धि से सत्य की खोज नहीं हो सकती

एक बार कुछ विद्यार्थी मानव सेवा संघ के वृन्दावन आश्रम में आए, कहने लगे, "महाराज जी, हम फिलासफी के रिसर्च स्कॉलर हैं। हम आपके दर्शन के विषय में बातचीत करने आए हैं।" श्री महाराज जी हँस कर बोले, "एक बाकायदा बदमाशी होती है, यह बेकायदा बदमाशी है। प्यार करते हो लुगाई से और रिसर्च ईश्वर की करने आए हो। फँसे हुए हो धन के प्रलोभन में और चाहते हो शरणानन्द के दर्शन को समझना। आप जैसे बुद्धिमानों ने गीता की अनेक टीकाएँ कर डालीं जो परस्पर मेल नहीं खातीं। दर्शन की बातों को जीवन में धारण करें। तुम्हारी खोज भी हो जाएगी और तुम्हें जीवन-धन भी मिल जाएँगे। बुद्धि से सत्य की क्या खोज करोगे?"

(82) मानव पर प्रभु की कृपालुता

एक बार एक फलों की दुकान वाले ने श्री महाराज जी को खाने के लिए केले दिए। श्री महाराज जी जैसे ही केला खाने लगे आँखों से आँसू टपकने लगे। फलवाला घबड़ा कर पूछने लगा—"महाराज जी, क्या आपको मैंने खराब केला दे दिया?" महाराज जी कहने लगे—"नहीं बेटा, यह बात नहीं है। केला खाते हुए मेरी दृष्टि प्रभु पर चली गई कि हे प्यारे। तूने अपने प्यारे मानव को छिलके में मीठा हलवा बंद करके दिया है। हे प्रभु! आप कितना प्यार करते हैं अपने प्रिय मानव से।"

(83) देने वाले में उदारता और लेने वाले में त्याग

एक बार दो प्रेमी श्री महाराज जी के पास अपने बेटे और बेटी की शादी तय कराने के उद्देश्य से आए। श्री महाराज जी बेटे को एक ओर ले जा कर पूछने लगे कि, "तू दहेज में क्या लेना चाहता है?" बेटा कहने लगा—"महाराज जी, जब आपका आशीर्वाद मिल रहा है तो इससे बढ़ कर मुझे और क्या चाहिए।" महाराज जी कहने लगे, "तू लड़की वालों से एक पैसा भी मत लेना।" उधर लड़की के बाप को एक ओर ले जा कर कहा कि "तू लड़की को अधिक से अधिक दहेज देना। शादी में ज्यादा पैसा बर्बाद न करके धन लड़की के नाम बैंक में जमा करा देना।" एक को महाराज जी ने त्याग का उपदेश दिया और दूसरे को उदारता का।

(84) बच्चों को सही मानव बनाओ

दिल्ली के एक जज साहब और उनकी पत्नी अपनी छोटी बच्ची को महाराज जी की गोद में डालकर बोले, "महाराज जी, इसे आशीर्वाद दीजिए। हम इसे डॉक्टर बनाना चाहते हैं।" महाराज जी कहने लगे—"बेटा, तुम्हारा संकल्प यह होना चाहिए कि हम इसे मानव बनाना चाहते हैं, फिर चाहे भले ही यह कुछ भी बन जाए।"

(85) मन, वाणी और कर्म से बुराई-रहित होना

एक करनाल के सत्संग में एक महिला ने श्री महाराज जी से प्रश्न किया, "महाराज जी, मेरे पति मुझे सत्संग में नहीं जाने देते। मेरा कल्याण कैसे हो सकता है?" श्री महाराज जी ने कहा—"बेटी, जब पति अच्छे मूड में हों तो अपनी इच्छा प्रकट कर दिया करो, फिर भी यदि वे न मानें तो तुम मन, वाणी, कर्म से बुराई-रहित हो जाओ। घर में रहते हुए ही सिद्ध हो जाओगी।"

(86) सन्त कभी नहीं सोते

दशहरे के अवसर पर दिल्ली में सत्संग चल रहा था। महाराज जी स्टेज पर लेटे हुए थे और बहन देवकी जी प्रवचन कर रहीं थी। किसी भाई के प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर उन्हें नहीं सूझ रहा था। महाराज जी एकदम उठ कर बैठ गए और प्रश्नकर्त्ता से बोले, "आगे आओ बेटा, हम तुम्हारे प्रश्न का उत्तर देते हैं। देवकी जी अभी साधिका हैं।" प्रश्नकर्त्ता ने कहा, "महाराज जी आप तो खर्राटे भर कर सो रहे थे। आपको कैसे पता चला कि क्या चर्चा हो रही है।" महाराज जी ने कहा, "अरे हम कहाँ सोते हैं। (शरीर पर हाथ मार मार कर कहने लगे कि) यह कमबख्त सो रहा था।"

(87) आँखें तो पहले भी तुम्हारी नहीं थीं

मानव सेवा संघ के प्रथम प्रधान अवकाश प्राप्त मुख्य न्यायाधीश श्री बी० पी० सिन्हा स्वामी जी के पास वृन्दावन आश्रम में बैठे हुए थे। सिन्हा साहब कहने लगे, "महाराज जी, मैं 72 वर्ष का हो गया हूँ। अब मेरी आँखें जा रही हैं।" महाराज जी ने तुरन्त कहा, "भैया आँखें तो पहले भी तुम्हारी नहीं थीं। पता अब चला, जब वे जा रही हैं।"

(88) भगवान कृष्ण में आस्था

एक बार एक आर्यसमाजी भाई श्री महाराज जी से पूछने लगे, "महाराज जी आप कृष्ण को भगवान मानते हैं क्या?" श्री महाराज ने तुरन्त कहा, "भैया यदि आप उसे मानव भी मानें तो मैं उस पर ब्रह्म को न्यौछावर कर दूँ।"

(89) अपने धर्म का पालन और दूसरों के धर्म का आदर

एक बार श्री महाराज जी से एक भाई ने कहा, "महाराज अन्य सम्प्रदाय वाले सनातन धर्म के विरुद्ध बात करते हैं। महाराज जी ने उत्तर

दिया, "हम पर तो किसी के बाप का भी असर नहीं हो सकता। तुम कैसे सनातन धर्मी हो। तुम्हारी आस्था में कैसे खलल पड़ गया? वह तुम्हारे धर्म की निन्दा करते हैं और तुम हमसे उनके धर्म की निन्दा कराना चाहते हो। तुम्हें इससे क्या मिलेगा? अपने धर्म का पालन करो और दूसरों के धर्म का आदर करो।"

(90) मेरे अनेक मुख हैं

एक बार दिल्ली के सत्संग कार्यक्रम में महाराज जी विराजमान थे। एक भक्त श्री महाराज जी के लिए अपनी गाय के दूध के पेड़े बना कर लाए। महाराज जी ने जरा सा पेड़ा मुख में रख लिया और शेष सभी पेड़े सत्संग भवन में बैठे हुए साधकों में बाँट दिए। पेड़े लाने वाले साधक यह देख कर कुछ उदास होकर महाराज जी से कहने लगे, "उन्होंने बड़े भाव से ये पेड़े महाराज जी के लिए बनाए थे।" महाराज जी झट बोल पड़े—"भैया, एक ही मुख से बार-बार खाने की बजाय मैंने ये पेड़े अनेक मुखों से एक ही बार में खा लिए।"

(91) जीवन-मुक्ति का अभिप्राय

एक बार एक भाई ने प्रश्न किया—"महाराज जी, जीवनमुक्ति किसी कहते हैं। स्वामी जी महाराज ने उत्तर दिया, "इच्छाओं के रहते हुए प्राण चले जाएँ तो मृत्यु हो गई और प्राण रहते हुए इच्छाएँ चली जाएँ तो मुक्ति हो गई। आप कुछ पैसे लेकर बाजार जाते हैं। यदि पैसे समाप्त हो गए और जरूरत बनी रही तो पैसे लेने के लिए फिर घर जाओगे। यदि पैसों के रहते हुए जरूरत समाप्त हो गई तो बात बन गई।"

(92) वैज्ञानिक उन्नति क्या है : $\frac{3}{4}$ को $\frac{75}{100}$ करना।

किसी साधक ने स्वामी जी महाराज से कहा, "महाराज जी! विज्ञान, अनेक आविष्कारों के द्वारा सुख-भोग के साधनों में वृद्धि करता जा रहा

है। इस विषय में अध्यात्म का क्या दृष्टिकोण है?" महाराज जी ने उत्तर देते हुए कहा, "बेटा, प्रकृति से जितना सुख लोगे उतना दुःख भी भोगना पड़ेगा। वैज्ञानिक उन्नति क्या है— $\frac{3}{4}$ को $\frac{75}{100}$ करना। पहले हम सरसों के तेल के दिये की रोशनी में पढ़ते थे तो नजर कितनी तेज थी। आज ट्यूब लाइट की चकाचौंध ने नजर कितनी कमजोर कर दी। आँखों पर चश्में लग गए। जब घोड़े पर सवारी करते थे तो गिरने पर चोट कम लगती थी और आज जब कार का एक्सीडैण्ट होता है तब? और जब हवाई जहाज का एक्सीडैण्ट होता है तब?"

(93) गुरु मानने का अधिकार सभी को है

एक साधक ने श्री महाराज जी से प्रार्थना की, "क्या आप मुझे अपना शिष्य बनाएँगे?" श्री महाराज जी ने कहा—"तुम्हें मुझे अपना गुरु मानना है कि मुझे तुम्हें शिष्य बनाना है। गुरु मानने का अधिकार सभी को है और शिष्य बनाने का किसी को अधिकार नहीं। गुरु मान लोगे तो शिष्य हो जाओगे। शिष्य हो जाओगे तो गुरु हो जाओगे। गुरु बन जाओगे तो हमारे मित्र हो जाओगे।"

(94) परिस्थिति को नहीं, अपने को बदलो

एक बार किसी साधक ने श्री महाराज जी के सामने अपनी व्यक्तिगत समस्या रखी, "महाराज जी मेरी पत्नी को यह भय है कि कहीं मैं घर छोड़ कर न चला जाऊँ।" श्री महाराज जी ने कहा, "हमारी बिटिया को जाकर कह देना कि यदि तुम्हारा पति घर छोड़ता है, तो वह सच्चा मानव सेवा संघी नहीं है। बेटा! घर नहीं छोड़ना है, ममता और अपना अधिकार छोड़ना है। परिस्थिति को नहीं, अपने को बदलो।"

(95) ममता अवश्य छूट सकती है

एक बार बटाला में श्री महाराज जी से एक माता जी ने प्रश्न किया, "महाराज जी, मोह-ममता तो यशोदा मैया की भी नहीं छूटी थी। हम साधारण स्त्रियों की कैसे छूट सकती है?" श्री महाराज जी ने कहा, "माता जी। आपको कैसे पता कि यशोदा मैया की मोह ममता नहीं छूटी थी। उनकी न भी छूटी हो, परन्तु तुम्हारी अवश्य छूट सकती है।"

सन्त-वाणी

- *विषय-चिन्तन मिटाने के लिए भगवच्चिन्तन का स्वभाव बनाओ।*
- *निर्वासना के बिना सत्य का अनुभव नहीं होता। अतः निर्वासना प्राप्त करने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा दो।*
- *उस सुख का त्याग कर दो, जो किसी को दुःख हो।*
- *सुख और दुःख बीज और वृक्ष के समान है, क्योंकि सुख-रूप बीज से दुःखरूप वृक्ष हरा-भरा होता है।*
- *सेवक के जीवन में सुख, सुविधा, सम्मान के भोग का कोई स्थान ही नहीं है।*
- *सुख, सुविधा, सम्मान की रुचि विनाश का मूल है।*
- *सेवा, त्याग, प्रेम की माँग जीवन की वास्तविक माँग है।*
- *सेवा की पूर्णता में ही त्याग तथा प्रेम की अभिव्यक्ति है।*

महाप्रयाण के पूर्व स्वामी जी के उद्‌गार

- जो दूसरों के हित के लिए जीता है, वह महान् है। जो अपने लिये जीता है वह अभागा है। दूसरों के हित के लिए जिओ। सुख-भोग के लिये जीना पाप है। दूसरों के लिए जीना महान पुण्य है।
- सेवा सभी की करना, किन्तु आशा किसी से मत करना।
- सेवा का मूल्य प्रभु देता है, संसार नहीं दे सकता।
- जो प्रभु का होकर रहेगा मैं उसका ऋणी हूँ।
- किसी को भी जो वस्तु मिलती है, वह भाग्य से अथवा प्रभु-कृपा से मिलती है। वस्तु के लिए परस्पर झगड़ना नहीं चाहिये।
- कोई बात पूरी नहीं होती, तो समझो कि वह जरूरी नहीं है।
- प्रभु-विश्वासी होकर रहो यही मेरी सेवा है, बुराई-रहित होकर रहो यही विश्व-सेवा है, अचाह होकर रहो यही अपनी सेवा है।
- या अल्लाह, या खुदा ! कोई यह न समझना कि शरणानन्द का कोई मजहब या सम्प्रदाय है। जो खुदा का है वह शरणानन्द का है। मानव सेवा संघ, मानव मात्र का है, इसलिए कहता हूँ कि संघ की सेवा करो।
- किसी एकदेशीय साधना का समर्थक में नहीं हूँ।
- मानव सेवा संघ कोई दल नहीं है, मानव मात्र का सत्य है। उसको अपनाने से योग, बोध, प्रेम की प्राप्ति अनिवार्य है।
- सत्संग से जीवन मिलता है। सत्संग, स्वधर्म है, शरीर-धर्म नहीं है। सत्संग-योजना को सजीव बनाकर मानव-जाति को जगा दो, अर्थात् सोई हुई मानवता जाग्रत हो।

- बुराई करो मत, भलाई का फल मत चाहो। प्रभु को अपना करके अपने में स्वीकार करो।
- मन, वचन, कर्म से जो बुराई-रहित हो जाता है, और जो भलाई का फल नहीं चाहता, वह स्वाधीन हो जाता है। जो स्वाधीन हो जाता है, उससे जगत् और प्रभु प्रसन्न होते हैं। प्रभु सबको स्वाधीनता प्रदान करें।
- दवा कर्त्तव्य के लिए देते रहो। दवा कर्त्तव्य के लिए है, जीवन के लिए नहीं, अपने लिए तो प्रभु ही हैं।
- शरणागत अमर होता है, उसकी मौत नहीं होती। जो कर्त्तव्य रूप में कर सकते हो, करो। जो नहीं कर सकते हो, उसकी परवाह मत करो।
- अपने में अपना जीवन है, अपने में अपना प्रभु है। इसी के लिए जीवन है, चिन्तित होने के लिए नहीं।
- मैं अमर हूँ, यार। मेरा यह शरीर न रहे, पर मेरे अनेक शरीर हैं, उनमें मिलता रहूँगा। गुरु मरता नहीं है। गुरु शरीर थोड़े ही है, वह अमर तत्त्व है।
- शरीर के नाश होने पर भी, मेरी सद्भावना साधकों के साथ रहेगी— अटूट रूप से रहेगी।
- मैं सबके साथ हमेशा रहूँगा। जितने भी शरणागत हैं, उन सबसे मैं अभिन्न हूँ; जितने भी ममता-रहित हैं, उन सबके साथ हूँ। यह मत समझना कि मैं नहीं हूँ, मैं सर्वत्र सबके साथ मौजूद हूँ।
- आप लोगों के लिए सहने की शक्ति माँगता हूँ, आप लोगों के लिए निर्भयता माँगता हूँ। आप लोगों के लिए प्रभु-विश्वास माँगता हूँ। मुझसे बड़ा भिखारी और कौन होगा।

- गुरु से, प्रभु से कभी वियोग नहीं होता। जिससे वियोग होता है वह गुरु नहीं है।
- शोक-भय मत करना, विदाई का आदर करना।
- विचारशील के अनेक शरीर हैं, एक शरीर नहीं।
- साधु के पास दुःखी होने के लिए, मोह के लिए नहीं आया जाता; मुक्त होने के लिए तथा आनन्द के लिए आया जाता है। जो अनिवार्य है उसके लिए रोना क्या?
- प्रभु का होकर रहना अनिवार्य है, मुक्त होना अनिवार्य है। अमर होने के लिए मरा जाता है। प्रभु का एक विधान है कि अशरीरी जीवन से सेवा होती है, शरीर-बद्ध जीवन से नहीं।
- मैं मानव होने के नाते प्रभु का अपना हूँ आप भी मानव होने से प्रभु के हैं। जड़ से चेतन तक, पापी से मुक्त तक, बालक से बूढ़े तक—सबको प्रेम चाहिये।
- कोई और नहीं है, कोई गैर नहीं है। सत्ता रूप में कोई और नहीं है। व्यवहार में कोई गैर नहीं है। कोई गैर नहीं है, कोई और नहीं है। दुःख देने वाला भी गैर नहीं है।
- किसी भी काल में प्रभु के सिवाय सत्ता किसी और की है ही नहीं—यही सत्य है।
- भगवान् उसी को मिलते हैं, जो उन्हें अपना मानता है। उन्हें अपना मानना ही भजन है।
- प्रभु अपने हैं, यही भजन है, मेरा कुछ नहीं है, यही ज्ञान है और मुझे कुछ नहीं चाहिये, यही तप है।
- अपने में अपने प्रियतम हैं। उनके नाते सभी के साथ सद्‌भावना रखनी चाहिये। जो इसे मानेगा, उसका बेड़ा पार।

- भगवान् पतितपावन भी हैं, भक्तवत्सल भी हैं। अतः निराश नहीं होना चाहिए। किसी साधक को निराश होने की आवश्यकता नहीं है। साधक, प्रभु का हो जाने पर सनाथ हो जाता है।
- जिसने प्रभु की महिमा को स्वीकार किया, उसका कल्याण है, वह सौभाग्यवान है। दुनियाँ में अभागा वही है जो वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति की महिमा को मानता है। जो वस्तु की अपेक्षा प्रभु की ही महिमा स्वीकार करता है, वह भाग्यशाली है।
- सब प्रभु का है, सब प्रभु का है और केवल प्रभु ही हैं। सेवा करो तो इसे ध्यान में रखो। इस भाव से सेवा किसी की भी करोगे, तो वह प्रभु की ही सेवा होगी। प्रभु-विश्वासी के लिए सेवा महान बल है। सेवा में लगने से बल स्वतः आ जाता है। यह महामन्त्र है।
- जय प्रभु, जय प्रभु, जय प्रभु। तुमने सब कुछ दिया, सब कुछ दिया, बिना माँगे दिया। हम सभी उदार हो जायँ तुम्हारी उदारता पाकर, हम सभी स्वाधीन हो जायँ, तुम्हारी स्वाधीनता पाकर, हम सभी प्रेमी हो जायँ तुम्हारे प्रेम को अपनाकर।
- सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से अपने शरणागत साधकों को साधननिष्ठ बनावें। प्रभु साधकों को अपनी आत्मीयता से जाग्रत प्रियता प्रदान करें। इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार, सभी को प्रणाम।

❑

सन्तवाणी

भाग—१

(सफलता की कुञ्जी)

प्रकाशक :

मानव सेवा संघ

वृन्दावन—२८११२१

प्राक्कथन

जिस मानव-हितकारी विचारधारा को व्यापक बनाकर युग-युगों तक पथभ्रान्त समाज को मानवता की राह दिखाने के लिए मानव सेवा संघ की स्थापना हुई, उसी विचारधारा को जन-जन तक पहुँचाने के लिए 'जीवन दर्शन' पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इस पत्रिका के प्रकाशन में संघ के प्रणेता ने मानवमात्र को यह विश्वास दिलाना पसन्द किया कि वह अपनी आँखों देख तथा अपने पैरों चलकर सफलता पा सकता है, अर्थात् वह स्वाधीनतापूर्वक स्वाधीन जीवन में प्रवेश कर सकता है। इसी आधार पर उनका यह मन्तव्य था कि साधक सिद्धान्त रूप में प्रतिपादित जीवन के सत्य को स्वीकार करें और उस स्वीकृति से उनके जीवन के विकासक्रम में जो अनुभव आएँ, उन्हें वे लिखें। साधकों के जीवन के अनुभूत सत्य से सम्पुष्ट निबन्धों से ही 'जीवन दर्शन' पत्रिका के कलेवर को समृद्ध किया जाय। उदाहरणस्वरूप श्रीमहाराज जी ने पत्रिका के लिए साहित्य का सृजन किया, जिसका संकलन प्रस्तुत 'सन्तवाणी भाग-१' (सफलता की कुंजी) पाठकों के सामने है।

मानव-जीवन की सफलता का अर्थ है-सर्व दुःखों की निवृत्ति, चिरशान्ति की अभिव्यक्ति, जीवन-मुक्ति एवं भगवत्-भक्ति की प्राप्ति। मनुष्य के वास्तविक जीवन का स्वरूप भी यही है। जीवन की जो वास्तविकता है, उसमें दुःख, अशान्ति, पराधीनता और नीरसता नहीं है। दुःख-रहित शान्ति, स्वाधीनता और सरसता-ये अविनाशी तत्त्व हैं, जो बीज रूप से मानव के अहम् रूपी अणु में विद्यमान ही हैं। अपनी भूल से उत्पन्न हुई विकारयुक्त दशा को आदमी स्वीकार कर लेता है और अनेक प्रकार के दुःख पाता रहता है।

उसकी माँग में है -दुःख-रहित शान्ति, स्वाधीनता और प्रेम; परन्तु दशा में है-अशान्ति, पराधीनता और अभाव। भूल-जनित दशा का अन्त और मौलिक माँग की पूर्ति प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने ही द्वारा अपने वर्तमान में कर सकता है। इस बात का विश्वास दिलाने के लिए प्रस्तुत प्रकाशन के रचयिता आकुल-व्याकुल रहा करते थे। उन्होंने स्वयं ही घोर दुःखमय परिस्थिति से अपने को निकालकर अत्यन्त आनन्दमय-रसमय अस्तित्व से अभिन्नता प्राप्त कर ली थी। उनका कथन और उनका जीवन एक था। मानव जीवन का सबसे ऊँचा चित्र उन्होंने बताया है-

(क) शरीर विश्व के काम आ जाय

(ख) अहम् अभिमान-शून्य हो जाय,

(ग) हृदय प्रेम से परिपूर्ण हो जाय,

विकास की इस चरम सीमा तक पहुँच कर, अभिमान-शून्य होकर जनहितकारी वाक्य जो उनके द्वारा गठित हुए हैं, वे वाक्य दिव्य वाणी हैं। प्रस्तुत संकलन में उन्हें ज्यों-का-त्यों रखा गया है। 'सन्तवाणी भाग-१' (सफलता की कुंजी) के निबन्ध मानव-जीवन के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालते हुए सन्त-हृदय के सर्वहितकारी सद्भाव से पोषित हैं, जो अज्ञात रूप से पाठकों के साधनयुक्त जीवन को आगे बढ़ाने में सहायक हो सकते हैं।

साधक, साधन के पथ में कहाँ अटक सकता है, कहाँ हार सकता है, कहाँ निराश हो सकता है, कहाँ संशयी हो सकता है, इनके जितने भी सम्भावित स्तर हो सकते हैं और साधक के जीवन के जितने भी पहलुओं में बाधाएँ उठ सकती हैं, उन सभी स्तरों वर एवं उन सभी पहलुओं में साधक को निःसंशय बनाकर उसकी साधना में नवजीवन का संचार करके उसे सफलता दिलाने का भगीरथ प्रयास प्रस्तुत 'सन्तवाणी भाग-१' (सफलता की कुंजी) है। जिस समय ये निबन्ध लिखाये जा रहे थे और अब

जब इनके प्रस्तुतीकरण का प्रयास चल रहा है-मैं बार-बार श्रीमहाराज जी के मातृवत् वात्सल्य स्नेह से उमड़ते हुए हृदय को याद करती हूँ। उसमें कितनी लगन, कितनी तत्परता थी भव-सागर में डूबते-उतराते को किनारे लगाने की ! सोच-सोच कर आज हृदय उमड़ता है। किन शब्दों में उन महामानव की अभ्यर्थना करूँ ! व्यक्ति के कल्याण और सुन्दर समाज के निर्माण के लिए उन्होंने बहुत कुछ कहा और बहुत कुछ लिखाया। उनकी दिव्य-वाणी मानवीय संस्कृति के अनमोल रत्न हैं। पाठक स्वयं ही इन निबन्धों को पढ़कर उनके अर्थ की गहनता को अनुभव करें।

प्रस्तुत संकलन के प्रत्येक निबन्ध में साधक-मात्र के जीवन की असफलता के कारणों एवं सफलता के उपायों पर प्रकाश डाला गया है। प्रत्येक निबन्ध ऐसा है, जैसे, दर्पण में जीवन की विविध गुत्थियों और उनके सुलझाने की युक्तियों को देख लो और पूर्णता तक पहुँच जाओ। किसी भी मत, सम्प्रदाय, वर्ग, रुचि, योग्यता एवं स्तर का साधक क्यों न हो, उसके व्यावहारिक, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक एवं आस्तिक पहलुओं की कोई मौलिक समस्या ऐसी नहीं हो सकती कि जिसके समाधान का उपाय इन निबन्धों में न मिले। मानव का वास्तविक जीवन है-चिरविश्राम, पूर्ण स्वाधीनता एवं परम प्रेम, अर्थात् अगाध अनन्त सरसता। इसी जीवन की माँग मानव की मौलिक माँग है, और इसी माँग की पूर्ति उसके जीवन की सफलता, अर्थात् पूर्णता है। साधक से क्या-क्या भूलें होती हैं, जिनके कारण वह विश्राम, स्वाधीनता एवं परम-प्रेम से वंचित रह जाता है, साधन में क्या-क्या असावधानी आ जाती हैं जिनसे कि साधन-तत्त्व की अभिव्यक्ति नहीं होती और साध्य से अभिन्नता नहीं होती-इन तथ्यों का ऐसा सजीव चित्रण किया गया है कि प्रत्येक साधक को स्वयं की दशा में ही वे सब बातें प्रत्यक्ष दिखाई देती हैं, अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रह जाती। इन्हीं तथ्यों के साथ जीवन के सत्य पर आधारित प्रत्येक समस्या का

ऐसा सर्व-मान्य समाधान सुझाया गया है कि जिसका अनुसरण करने में साधक-मात्र समर्थ एवं स्वाधीन है।

पाठकों के लिए निबन्ध का पाठ सहज बनाने की दृष्टि से प्रत्येक निबन्ध में निहित समस्या एवं उसके समाधान के उपायों का सारांश उसके प्रारम्भ में देने की चेष्टा की गई है। ऐसा करते समय यह अनुभव हुआ कि मानव-जीवन के गूढ़-से-गूढ़ तथ्यों को ऐसे लघु-सूत्रों में प्रकट किया जाय कि मूल विषय-वस्तु ही साधक-मात्र के सम्पूर्ण जीवन का निचोड़ हो। प्रस्तुतीकरण का लाघव बेजोड़ है। दृश्यमान जगत की स्थूलता की जानकारी से लेकर अव्यक्त, अनन्त, चिन्मय रसरूप जीवन की अलौकिक अनुभूतियों तक का जो शृंखलाबद्ध, युक्तियुक्त, सहज एवं सत्य प्रकटीकरण इतने अल्प शब्दों एवं वाक्यों में किया गया है, वह तो श्रीमहाराज जी की ऋतम्भरा प्रज्ञा की ही देन है। उसे पढ़कर मैं स्वयं मंत्रमुग्ध हो जाती हूँ। वह मस्तिष्क की उपज तो हो ही नहीं सकती। मेरी समझ स्तम्भित रह जाती है। उसका सारांश कैसे निकले ! उसको समझने-समझाने में उसका वृहदाकार विस्तार ही हो सकता है।

फिर भी कम समय एवं अल्प सामर्थ्य से साधक-समाज की सहूलियत के लिए जो कुछ बन पड़ा है, सो करने का लघु प्रयास है। यह आपकी सेवा में प्रस्तुत है। सहृदय साधकवृन्द मेरी त्रुटियों के लिये मुझे क्षमा करते हुए प्रस्तुत ज्ञान-गंगा में अवगाहन करें। मेरा विश्वास है कि ज्यों-ज्यों वे गहरे पैठेंगे, रसास्वादन को प्रकट करने में अपनी वाणी को मेरी ही तरह पंगु पायेंगे। यही इस प्रकार की रचना की सफलता भी है। वह ज्ञान ही क्या, जो ज्ञानी की संज्ञा शेष रहने दे और वह रस ही क्या, जो रसिक को मूक न कर दे !

विनीता-

दिनांक : १-११-१९७८ देवकी

सन्त-वाणी भाग-१

१

साधक के लिए यह समस्या बन जाती है कि प्रवृत्ति में प्रवृत्त हुए बिना उससे रहा नहीं जाता और प्रवृत्ति पराश्रय के बिना सम्भव नहीं है। इस कठिनाई को दूर करने का एक बहुत ही व्यावहारिक तथा जीवन के सत्य पर आधारित उपाय यह सुझाया गया कि यदि साधक सुखभोग की दृष्टि को छोड़ कर पर-पीड़ा से पीड़ित हृदय से दुःखी का दुःख बँटने के लिए प्रवृत्ति में प्रवृत्त होता है और पराश्रय स्वीकार करता है, तो उसमें स्वाश्रित, अथवा हरि-आश्रित होने की सामर्थ्य आ जाती है। यह स्पष्ट कहा गया है कि सामग्री से जीवन नहीं मिलता; सामग्री के सदुपयोग से जीवन मिलता है। दृश्य-मात्र 'पर' है। पराश्रय से पराधीनता नहीं मिटती, परन्तु पर-सेवा से स्वाधीन होने की सामर्थ्य आती है। प्राप्त बल, योग्यता, सामर्थ्य आदि 'स्व' नहीं है, 'पर' है। इनका सदुपयोग पर-सेवा के लिये है। अपने लिये जो है, वह अपने में ही मौजूद है। उसकी अभिव्यक्ति विश्राम में होती है। अतः विश्राम के सम्पादन के लिए कर्त्तापन के अभिमान तथा फलासक्ति से रहित बल का सदुपयोग करना अनिवार्य है। इस दृष्टि से बल का दुरुपयोग न करना ही सफलता की कुंजी है।

मानव-मात्र का यह अपना सत्य है कि जिसे वह शरीरादि उपकरणों के द्वारा विषय कर रहा है, उस पर उसका स्वतन्त्र अधिकार नहीं है, केवल प्रवृत्ति मात्र का भी भास हो रहा है। प्रत्येक प्रवृत्ति के परिणाम में अपने को कुछ मिला नहीं, अपितु प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का व्यय ही हुआ। क्या कोई भी प्रवृत्ति पराश्रय के बिना सम्भव है ? कदापि नहीं। हाँ, पराश्रय को लेकर पर-पीड़ा में हाथ बटाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त प्रवृत्तियों का कोई सदुपयोग नहीं है। जब समस्त विश्व मिलकर भी किसी एक व्यक्ति के सर्व दुःखों की निवृत्ति में समर्थ नहीं हैं, तो फिर क्या व्यक्ति परिवार, समाज, देश तथा संसार के प्राणियों के दुःखों की निवृत्ति कर सकता है ? यदि नहीं कर सकता है, तो पर-पीड़ा में हाथ बटाने का अर्थ क्या होगा ? इस सम्बन्ध में केवल यही कहा जा सकता है कि मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के सद्व्यय में ही पर-सेवा का महत्त्व है।

प्राप्त शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि समस्त वस्तुओं के द्वारा अपने को अविनाशी, स्वाधीन तथा चिन्मय जीवन की उपलब्धि नहीं हो सकती। इस तथ्य को स्वीकार करने पर अपने लिए समस्त विश्व में कुछ नहीं रह जाता। इस वास्तविकता में आस्था हो जाने पर मानव समस्त दृश्य से विमुख होकर अपने में संतुष्ट होने के लिए विवश होता है। अपने में अपने परम प्रेमास्पद मौजूद हैं, इस रहस्य को कोई विरले ही जान पाते हैं। दृश्य का आश्रय लेकर अपने अस्तित्व को स्वीकार करना अपने ही द्वारा अपने को अनेक प्रकार की पराधीनताओं में बाँध लेने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। 'पर' से एकता होती नहीं, 'पर' की दासता ही पीड़ित करती रहती है। उसे सहन करते रहना और अपने को पराश्रय में सन्तुष्ट करने का प्रयास करना, क्या अपना ही उत्पन्न किया हुआ प्रमाद नहीं है ? अपना प्रमाद मिटाने का दायित्व अपने ही पर है। यद्यपि अनन्त के मंगलमय विधान से प्रमाद मिटाने की सामर्थ्य मानव-मात्र में विद्यमान है, परन्तु विद्यमान सामर्थ्य का सदुपयोग

न करने के कारण मानव प्रमाद से उत्पन्न हुई पराधीनताओं को मिटाने के लिए 'पर' के चिन्तन में आबद्ध होता है। भला कहीं 'पर' से पराधीनता मिट सकती है ? कदापि नहीं।

'पर', अर्थात् जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं है, उसके उपयोग मात्र में स्वाधीनता है। उसका उपयोग किसी के विनाश में करना, क्या युक्ति-युक्त हैं ? बल का सदुपयोग निर्बलों के विकास में ही करना अनिवार्य है। बल के द्वारा किसी को क्षति पहुँचाना अनेक को अपने प्रकार की निर्बलताओं में आबद्ध करना है और कुछ नहीं यह जानते हुए भी कि निर्बलता किसी को भी अभीष्ट नहीं है, बल का दुरुपयोग कर अपने को निर्बल बनाना, क्या अपने ही द्वारा अपना अहित करना नहीं है? यदि अपना हित अभीष्ट है, तो बल का उपयोग निर्बलों की सेवा में ही हो सकता है; जिसके होने से परिवार, समाज, देश और विश्व में अशांति का अन्त और शान्ति की उपलब्धि स्वतः सिद्ध है। इस वास्तविकता में अविचल आस्था हो जाने पर मानव में उदारता आती है और फिर उसकी माँग समस्त विश्व को रहती है। उदारतारहित जीवन जगत् के लिए अनुपयोगी सिद्ध होता है, उसमें ही जगत् की दासता उत्पन्न होती है, जिसके होने से मानव अनेक प्रकार के अभावों में आबद्ध हो जाता है। यदि सब प्रकार के अभावों का अभाव करना है, तो उदारता को अपनाना अनिवार्य है। उदारता की अभिव्यक्ति तभी होती है, जब मानव मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का दुरुपयोग न करे। जिस किसी को जो कुछ मिला है, वह किसी परम उदार की ही देन है। तो क्या मिले हुए का दुरुपयोग न करने का दायित्व मानव पर नहीं है अवश्यहै। बल का दुरुपयोग न करने पर ही बल का सदुपयोग करने की सामर्थ्य स्वतः आती है। बल का सदुपयोग करने पर विश्व-शान्ति, अर्थात् सुन्दर समाज का निर्माण स्वतः हो जाता है। इस दृष्टि से प्रत्येक मानव विश्व-शान्ति के यज्ञ में सहयोगी होकर स्वाधीन हो सकता है।

स्वाधीनता में अविनाशी जीवन निहित है। इस कारण मानव-

मात्र का स्वाधीन होना अत्यन्त आवश्यक है। स्वाधीन होने में मानव पराधीन नहीं है। स्वाधीनता का अधिकारी अपने ही प्रमाद से पराधीन होता है। इस कारण प्रमाद का अन्त करना अनिवार्य है।

पराधीनता का अन्त करने के लिए मानव को प्राप्त बल के अभिमान से रहित होना अत्यन्त आवश्यक है। बल, अर्थात् कर्म-सामग्री जिसकी देन है, वह अद्वितीय है, एक ही है और वही सभी का अपना है। मिले हुए बल को अपना मानना और दाता को अपना न मानना, इसी भूल से बल के अभिमान का जन्म होता है। बल का अभिमानी बल का दुरुपयोग कर बैठता है। बल के दुरुपयोग से सबल, निर्बल हो जाता है। निर्बल हो जाने पर ही अप्राप्त बल का चिन्तन होता है। यद्यपि निर्बलता का अन्त बल के दुरुपयोग न करने से अपने-आप हो जाता है। निर्बलता बल का अभाव नहीं है, अपितु बल की न्यूनता है। अल्प-से-अल्प बल का भी सदुपयोग करना अनिवार्य है। बल के सदुपयोग से बल की वृद्धि होती है, इस वैधानिक तथ्य में आस्था करने से ही निर्बलताओं का अन्त हो सकता है। इस दृष्टि से निर्बलताओं का अन्त करने की स्वाधीनता मानवमात्र में मौजूद है। समस्त सामर्थ्य का जो स्रोत है, वह अविनाशी होने से सदैव, सर्वत्र तथा सभी में है। उसमें आस्था, श्रद्धा तथा विश्वास करना निर्बलताओं से पीड़ित मानव के लिए कल्पतरु के समान है। जो बल निर्बलों की सेवा के लिए मिला है, उस बल को अपने लिए मानना अपने को निर्बल बनाना है। बल अपने लिए नहीं है, इस वास्तविकता को स्वीकार करना बल के सदुपयोग में हेतु है। अपने लिए जो है, वह अपने ही में मौजूद है। जो अपने में मौजूद है, उसकी उपलब्धि के लिए एकमात्र चिर-विश्राम ही वास्तविक अचूक उपाय है। विश्राम के सम्पादन के लिए निरभिमानता तथा फलासक्तिरहित बल का सदुपयोग करना अनिवार्य है। इस दृष्टि से बल का दुरुपयोग न करना ही सफलता की कुंजी है।

२

(अ) प्राकृतिक विधान के अनुसार जिस किसी को जो बल, योग्यता, परिस्थिति मिली है, वह अपनी नहीं है, अपने लिये नहीं है। वह साधन-सामग्री है एवं पर-सेवा के लिये मिली है। इस वास्तविकता की विस्मृति असफलता का कारण है। जिस किसी को जो कुछ मिला है, वह सफलता के लिये पर्याप्त है। इस दृष्टि से प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग ही विकास का मूल है। प्राप्त परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। उसका आदर न करना प्राकृतिक न्याय का अनादर करना है। न्याय को स्वीकार करने में निर्दोषता रहती है। निर्दोषता में विचार का उदय, प्रीति की जागृति, शक्ति का सम्पादन स्वतः होता है। इसलिए प्राकृतिक न्याय का आदर करना मानव-मात्र के लिये अनिवार्य है।

(ब) दृश्य का अस्तित्व नहीं है। अतः मानव को उससे असंग रहना है। असंगता, 'नहीं' की निवृत्ति और 'है' की प्राप्ति में हेतु है। कर्त्तव्य एवं अप्रयत्न एक ही जीवन के दो पहलू हैं। कर्त्तव्यपालन से व्यर्थ चिन्तन की निवृत्ति और अप्रयत्न से अखण्ड स्मृति की जागृति होती है। मानव बुद्धि-दृष्टि के द्वारा स्थूल दृश्य से असंगता प्राप्त कर लेता है। किन्तु सूक्ष्म तथा कारण दृश्य से असंगता तभी होती है, जब बुद्धि सम हो जाय। विषयों की द्रष्टा इन्द्रियाँ हैं, इन्द्रियों का द्रष्टा मन है, मन की द्रष्टा बुद्धि है और बुद्धि का द्रष्टा मानव है। परन्तु मानव स्वयं अपने ज्ञाता का दृश्य है। वह ज्ञाता किसी का दृश्य नहीं है। उसी से दृश्य सत्ता पाता है। यदि समस्त दृश्य में उसी की स्थापना कर दी जाय, तो साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक सब के ज्ञाता से अभिन्न होकर कृत-कृत्य हो जाता है। अतः दृश्य से असंग होना सफलता की कुंजी है।

प्राकृतिक विधान के अनुसार मानव-मात्र को किसी-न-किसी अंश में बल, योग्यता तथा वस्तु प्राप्त है। इन तीनों के संयोग से ही कार्य का सम्पादन होता है। यद्यपि इन तीनों में जातीय एकता है, परन्तु फिर भी इनकी अलग-अलग प्रतीति होती है। कर्म-सामग्री मानव को मिली है, अर्थात् किसी की देन है। जिसकी देन है, उसे हम भले ही न मानें तथा न जानें, पर जिस पर अपना स्वतन्त्र अधिकार नहीं होता, उसे अपना नहीं कह सकते। इस दृष्टि से जिस किसी मानव को जो कुछ मिला है, वह किसी का दिया हुआ है। जो अपना नहीं है वह अपने लिए नहीं है। जो अपने लिए नहीं है, उसके द्वारा शरीर, परिवार, समाज एवं संसार की सेवा की जा सकती है। जब मानव इस वास्तविकता को भूल जाता है, तब प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता आदि का दुरुपयोग करने लगता है और फिर सफलता से वंचित हो जाता है। असफलता का कारण एकमात्र वास्तविकता की विस्मृति है। अपने लिए किसी भी वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य की अपेक्षा नहीं है। इस तथ्य को अपना लेने पर वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के दुरुपयोग की मनोवृत्ति का नाश हो जाता है और फिर सदुपयोग करने की अभिरुचि स्वतः जाग्रत होती है। वस्तु आदि का सदुपयोग करने पर साधक वस्तु आदि के तादात्म्य तथा उनकी दासता से मुक्त हो जाता है, जिसके होते ही जो सभी वस्तुओं से अतीत है, अथवा जिससे सभी वस्तुएँ सत्ता पाती हैं एवं प्रकाशित होती हैं, उसकी खोज अथवा उसमें आस्था उदित होती है।

जो साधक विचार-पथ का है, वह वस्तुओं से अतीत के जीवन की खोज करता है। वस्तुओं का आश्रय न रहने पर एक बार तो साधक व्याकुल हो जाता है, अधीर होने लगता है। इतना ही नहीं, उसे जीवन में ही मृत्यु का भास होता है। किन्तु किसी की अहैतुकी कृपा से उसी दशा में वास्तविकता की खोज करने की सामर्थ्य स्वतः अभिव्यक्त होती है और मानव स्वाधीनतापूर्वक उस जीवन में प्रवेश पा जाता है, जिसमें किसी प्रकार का भय शेष

नहीं रहता। इस दृष्टि से सफलता मानव का जन्म-जात अधिकार है। पर इस वास्तविकता में आस्था कोई सजग साधक ही कर पाता है। माँग की पूर्ति होती है, यह ध्रुव सत्य है। वर्तमान वस्तुस्थिति का यथेष्ट बोध होने पर माँग की जागृति होती है। इस कारण मानव को आगे-पीछे के व्यर्थ-चिन्तन का त्यागकर, वर्तमान दशा का पूरा-पूरा अनुभव करना अत्यन्त आवश्यक है। जो मानव अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति से अपरिचित रहता है, वही प्राप्त परिस्थिति की दासता तथा अप्राप्त परिस्थितियों के चिन्तन में आबद्ध रहता है। प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक परिस्थिति साधन-सामग्री है, जीवन नहीं। साधन-सामग्री के सदुपयोग की स्वाधीनता मानव को प्राप्त है। किन्तु जब मानव साधन को ही साध्य मान लेता है, तब उसके प्रभाव से प्रभावित होकर दीनता तथा अभिमान में बँध जाता है।

जिस किसी को जो कुछ मिला है, वह सफलता के लिए पर्याप्त है। अप्राप्त का चिन्तन प्राप्त के सदुपयोग करने पर स्वतः नष्ट हो जाता है और फिर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक सभी वस्तुओं, अवस्थाओं एवं परिस्थितियों से अतीत के जीवन में प्रवेश पा जाता है, जिसको पाकर कुछ भी पाना शेष नहीं रहता। इस दृष्टि से प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग ही विकास का मूल है। प्राप्त परिस्थिति का आदरपूर्वक स्वागत न करना प्राकृतिक न्याय का अनादर करना है। न्याय का अनादर करने पर मानव अनेक दोषों को उत्पन्न कर लेता है और न्याय को स्वीकार करने से निर्दोषता सुरक्षित होती है। निर्दोषता के सुरक्षित होने पर ही विचार का उदय, प्रीति की जागृति और शक्ति का सम्पादन होता है। इस दृष्टि से प्राकृतिक न्याय का आदर करना मानव-मात्र के लिए अनिवार्य है।

जो हो रहा है, वह मानव-कृत नहीं है अपितु प्राकृतिक है। उससे भयभीत होना, उसका समर्थन अथवा विरोध करना अपने को उसमें आबद्ध करना है। उसमें आबद्ध होने से उसका प्रभाव

मानव में अंकित हो जाता है, जिसके होने से जो नित्य प्राप्त है, उसकी विस्मृति हो जाती है। जो हो रहा है, उसमें निरन्तर परिवर्तन होने से उसकी स्थिति सिद्ध नहीं होती। जिसकी स्थिति नहीं है, उसके अस्तित्व को स्वीकार कर अपने को वास्तविकता से विमुख करना भारी भूल है। अतः जो हो रहा है, उसको निज-ज्ञान के प्रकाश में बुद्धि-दृष्टि से देखना चाहिए। दृष्टि में सत्ता प्रकाश की होती है और प्रकाश के आश्रय से ही दृश्य की प्रतीति होती है। अतः दृष्टि और दृश्य की प्रकाश से भिन्न स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इस कारण साधक को दृश्य के प्रतीतिकाल में ही अपने को दृश्य के प्रभाव से रहित कर लेना है। यह तभी संभव होगा दृश्य की वास्तविकता का अनुभव कर साधक उससे असंग हो जाय।

असंगता 'नहीं' की निवृत्ति और 'है' की प्राप्ति में हेतु है; अर्थात् अविनाशी जीवन से अविनाशी योग असंगता से साध्य है। दृश्य स्थूल हो अथवा सूक्ष्म, व्यक्त हो अथवा अव्यक्त, उससे विमुख होना अत्यन्त आवश्यक है। जब साधक दृश्य से विमुख हो जाता है, तब अपने ही में अपने प्रेमास्पद को पाकर अमरत्व तथा अनन्त रस से भरपूर हो जाता है, जो मानव-मात्र का चरम लक्ष्य है। दृश्य से असंग होने के लिए किसी श्रम -साध्य उपाय की अपेक्षा नहीं है, अपितु अप्रयत्न ही वास्तविक प्रयत्न है।

विद्यमान राग की निवृत्ति के लिए आवश्यक तथा शुद्ध संकल्पों की पूर्त्ति के द्वारा निःसंकल्पता स्वतः आती है। यही कर्त्तव्य-विज्ञान का मूल-मंत्र है। कर्त्तव्य-विज्ञान अप्रयत्न को पोषित करता है और अप्रयत्न से कर्त्तव्यपरायणता स्वतः आ जाती है। कर्त्तव्यपरायणता से सुन्दर समाज का निर्माण स्वतः हो जाता है। किन्तु अपनी माँग की पूर्त्ति तो एकमात्र दृश्य से असंग होने से ही होती है। इस कारण कर्त्तव्य और अप्रयत्न एक ही जीवन के दो पहलू हैं। कर्त्तव्य-पालन से व्यर्थ-चिन्तन की निवृत्ति और अप्रयत्न

से अखण्ड-स्मृति की जागृति होती है।

चिन्तन और स्मृति में एक बड़ा भेद यह है कि चिन्तन साधक का दृश्य है, किन्तु स्मृति साधक का जीवन है। चिन्तन की प्रतीति होती है और स्मृति अपने में ही होती है। जो अपने में है, वह अपने से भिन्न नहीं है, अर्थात् साधक स्मृति से ही अपने प्रेमास्पद को पा जाता है। इस दृष्टि से स्मृति की जागृति अनिवार्य है जो एकमात्र अप्रयत्न से ही साध्य है। अप्रयत्न असंगता से और असंगता दृश्य के वास्तविक ज्ञान से ही सिद्ध होती है। दृश्य का वास्तविक ज्ञान निज-ज्ञान के प्रभाव से ही होता है। निज-ज्ञान अनुत्पन्न हुआ अविनाशी तत्त्व है। जो जानने में आता है, वह ज्ञान नहीं है, जिससे जाना जाता है, वह ज्ञान है। ज्ञान मानव को नित्य प्राप्त है। इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव को स्वीकार करने से मानव निज-ज्ञान का अनादर कर बैठता है और फिर दृश्य की दासता में आबद्ध होकर पराधीनता, जड़ता एवं अभाव से पीड़ित होने लगता है। इस कारण साधक को बुद्धि-दृष्टि के प्रभाव द्वारा अपने को इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव से मुक्त करना है। दृष्टि के रहते हुए ही जब दृष्टि का प्रभाव नहीं रहता, तब साधक को जाग्रत-सुषुप्ति प्राप्त होती है। इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव मिटते ही बुद्धि-दृष्टि सम हो जाती है, जिसके होते ही कर्त्तव्य-पालन के लिये सामर्थ्य और जिज्ञासा-पूर्त्ति के लिये विचार का उदय एवं अनन्त-रस की अभिव्यक्ति के लिए प्रेम का प्रादुर्भाव मंगलमय विधान से अपने-आप होता है।

स्थूल दृश्य से असंगता मानव बुद्धि-दृष्टि से भी प्राप्त कर लेता है। किन्तु सूक्ष्म तथा कारण दृश्य से असंगता तभी होती है, जब बुद्धि-दृष्टि सम हो जाय और निर्विकल्प स्थिति में रमण न हो। बुद्धि-दृष्टि का प्रभाव अपना लेने पर इन्द्रिय-दृष्टि के रहते हुए भी मानव इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव से रहित हो जाता है। इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव मिटते ही बुद्धि-दृष्टि अपने कारण में विलीन हो जाती है, जिसके होते ही मन में निर्विकल्पता, इन्द्रियों

में विषय-विमुखता और बुद्धि में समता आ जाती है, जो विकास का मूल है। विषय-विमुख होते ही इन्द्रियाँ मन में तथा मन बुद्धि में विलीन हो जाता है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध है कि दृश्य द्रष्टा में विलीन हो जाता है और द्रष्टा परम-द्रष्टा से अभिन्न हो जाता है। यह सभी को विदित है कि प्रत्येक इन्द्रिय अपने विषय की द्रष्टा है और सभी इन्द्रियों का द्रष्टा मन है और मन की द्रष्टा बुद्धि है। बुद्धि का द्रष्टा मानव स्वयं है। और मानव स्वयं अपने ज्ञाता का दृश्य है। सर्व का ज्ञाता किसी का दृश्य नहीं है। जो किसी का दृश्य नहीं है, उसी से दृश्य सत्ता पाता है। यदि समस्त दृश्य में उसी की स्थापना कर दी जाय, तो साधक बड़ी ही सुगमता पूर्वक सर्व के ज्ञाता से अभिन्न होकर कृत-कृत्य हो जाता है अथवा यों कहो कि सर्व के ज्ञाता से दूरी, भेद और भिन्नता मिट जाती है। इस दृष्टि से साधक योग, बोध तथा प्रेम को पाकर कृत-कृत्य हो जाता है। अहम् को मानव मानना युक्ति-युक्त है। कारण, कि जिसमें कोई माँग है और जिस पर कोई दायित्व है, वही मानव है। मानव को अविनाशी, स्वाधीन, रसरूप तथा चिन्मय जीवन चाहिये, जिसकी प्राप्ति के लिये उसे दृश्य से असंग होना है। इस कारण दृश्य से असंग होना सफलता की कुंजी है।

३

अहं अविनाशी से मिलकर अविनाशी तो हो जाता है, किन्तु विनाशी से सम्बन्ध रखने पर भी विनाशी नहीं होता। इस दृष्टि से निष्काम होकर विनाशी से सदा के लिये सम्बन्ध तोड़ देना सफलता की कुंजी है।

जब अपने में ममता नहीं रहती, तब निष्कामता अपने-आप आ जाती है, जिसके आते ही शान्ति की अभिव्यक्ति होती है। शान्ति सामर्थ्य की जननी है, अर्थात् शान्ति का सम्पादन होने पर विचार का उदय होता है। विचार का उदय और अविचार की निवृत्ति युगपत् है। अविचार की निवृत्ति होते ही साधक को तत्त्व-साक्षात्कार होता है, अर्थात् अमरत्व से अभिन्नता हो जाती है और फिर किसी प्रकार का अभाव शेष नहीं रहता। अभाव का अभाव होने पर उदारता, समता एवं प्रियता का प्रादुर्भाव होता है। उदारता के द्वारा जगत से एकता, समता से निज-स्वरूप का बोध एवं प्रियता से अनन्त रस की अभिव्यक्ति होती है, जो मानव-मात्र को अभीष्ट है। अभिन्नता में जीवन है, इस कारण भिन्नता का अन्त अनिवार्य है। भिन्नता भूल से उत्पन्न होती है। भूल का नाश भूल के ज्ञान से ही होता है। भूल का अनुभव मानव को निज-ज्ञान से ही सम्भव है, अन्य किसी प्रकार से नहीं। ज्ञान सर्व का प्रकाशक है। उसका प्रभाव भिन्नता का नाशक है। ज्ञान के प्रभाव को स्वीकार करना सत्संग है। सत्संग से ही मानव का सर्वतोमुखी विकास होता है। सत्संग स्वधर्म होने से मानव-मात्र को सर्वदा सुलभ है। सत्संग में ही मानव के पुरुषार्थ की परावधि है। सत्संग के बिना मानव मानवता से रहित हो जाता है। मानवता-शून्य जीवन सभी के लिए अनुपयोगी सिद्ध होता है।

अनुपयोगी जीवन की माँग किसी को नहीं होती। सभी को उपयोगी जीवन चाहिए। एकमात्र निज-ज्ञान के प्रकाश में अपनी वस्तुस्थिति का यथेष्ट परिचय, वास्तविक आवश्यकता की जागृति एवं अपने दायित्व का ज्ञान होने पर ही जीवन उपयोगी होता है। यह सभी को मान्य है कि कामना-पूर्त्ति-अपूर्त्ति की द्वन्द्वात्मक स्थिति में मानव सुख की दासता तथा दुःख के भय में आबद्ध होता है। दासता तथा भय मानव की वास्तविक माँग नहीं है। उसे तो स्वाधीनता तथा निर्भयता अभीष्ट है। इस कारण द्वन्द्वात्मक स्थिति का अन्त करना अनिवार्य है। यद्यपि कामना-पूर्त्ति-अपूर्त्ति दोंनों ही अवस्थाओं में मानव पराधीनता अनुभव करता है, परन्तु कामना-पूर्त्ति की पराधीनता उसे भाती है और कामना-अपूर्त्ति की पराधीनता अरुचिकर लगती है। किन्तु स्वाधीनता का पुजारी तो किसी प्रकार की पराधीनता सहन नहीं कर सकता। जब पराधीनता असह्य हो जाती है, तब अपने-आप कामना-पूर्त्ति की सुखरूपता कामना-अपूर्त्ति के दुःख के समान ही प्रतीत होती है। अर्थात् साधक को सुख में भी पराधीनता-जनित दुःख का ही दर्शन होता है। सुख में दुःख का दर्शन होने पर सुख-दुःख से अतीत परमानन्द की माँग जाग्रत होती है। माँग की जागृति होने पर काम की निवृत्ति अपने-आप हो जाती है, अर्थात् समस्त कामनाओं को खाकर ही माँग सजीव तथा सबल होती है। इतना ही नहीं जिसमें माँग की जागृति होती है, वह अपने को माँग से भिन्न नहीं पाता, अर्थात् मानव का अस्तित्व माँग से भिन्न नहीं रहता। बस, उसी काल में माँग स्वतः पूरी हो जाती है। माँग की पूर्त्ति होने पर केवल अविनाशी, चिन्मय, नित्य जीवन से भिन्न कुछ भी नहीं रहता। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व होता है, उसी की माँग होती है, जिसकी माँग होती है, वह सर्वदा है। अर्थात् माँग उसकी नहीं होती, जो सदैव तथा सर्वत्र नहीं है। जो सदैव नहीं है, वह वास्तव में 'नहीं' है। 'नहीं' की कामना होती है और 'है' की माँग होती है।

जब मानव 'हैं' की आवश्यकता का अनुभव करता है, तब 'नहीं' की कामना अपने-आप मिट जाती है; जिसके मिटते ही अपने-आप माँग की पूर्त्ति हो जाती है। माँग की पूर्त्ति में मानव पराधीन तथा असमर्थ नहीं है, अपितु सर्वदा स्वाधीन है। जिसकी उपलब्धि में स्वाधीनता है, उससे निराश होना भारी भूल है, अर्थात् असत् का संग है, जिसका मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। इस दृष्टि से वर्तमान में ही सत्संग करना है। अविनाशी जीवन को स्वीकार करना और सतत् परिवर्तनशील से विमुख होना वर्तमान का प्रश्न है। इसे भविष्य पर छोड़ना अपने ही द्वारा अपना अहित करना है। परिवर्तनशील परिस्थितियों की कामना अविनाशी जीवन को स्वीकार न करने से ही पोषित होती है। अविनाशी जीवन को स्वीकार करते ही साधक में निष्काम होने की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है। निष्कामता आते ही परिस्थितियों का सदुपयोग सहज तथा स्वाभाविक हो जाता है और फिर साधक का सम्बन्ध एकमात्र अविनाशी जीवन से ही रह जाता है। अविनाशी जीवन से सम्बन्ध होते ही साधक को अविनाशी योग प्राप्त हो जाता है। अहं अविनाशीसे मिलकर अविनाशी तो हो जाता है, किन्तु विनाशी से सम्बन्ध रखने पर विनाशी नहीं होता। इसी कारण उसमें अविनाशी की माँग रहती है। निष्कामता विनाशी से सम्बन्ध तोड़ देती है और फिर स्वतः अविनाशी जीवन की माँग पूरी हो जाती है। इस दृष्टि से निष्काम होकर विनाशी से सर्वांश में सदा के लिए सम्बन्ध तोड़ना ही सफलता की कुंजी है।

४

श्रम-साध्य उपाय से व्यर्थ-चिन्तन का नाश नहीं होता। चिन्तन और उसका आश्रय (मन) अपने से भिन्न प्रतीत होते हैं। परन्तु व्यर्थ-चिन्तन का कारण अपने में है। यदि ऐसा न होता, तो उसका प्रभाव अपने पर कुछ न होता और न उसको मिटाने का ही प्रश्न उत्पन्न होता। व्यर्थ-चिन्तन का नाश करने के लिए साधक को करने तथा भोगने की रुचि से रहित होकर, अपनी वास्तविक माँग की जागृति करना अनिवार्य है। यदि साधक होने वाले चिन्तन का समर्थन तथा विरोध न करे, तो उसके प्रभाव से मुक्त हो सकता है। अतः होने वाले चिन्तन से भयभीत न होकर उसका सदुपयोग करना सफलता की कुंजी है।

यह मानव-मात्र का अनुभव है कि जब तक मानव किसी कार्य में व्यस्त रहता है, तब तक आगे-पीछे का चिन्तन नहीं होता, किन्तु कार्य से अवकाश पाते ही प्राकृतिक विधान से, न चाहते हुए भी चिन्तन होने लगता है, जिसे सर्व-साधारण मन की चंचलता मानते हैं और उसके दमन के लिए बलपूर्वक किसी-न-किसी प्रकार का अभीष्ट चिन्तन करने लगते हैं, किन्तु कुछ भी किया जाय, उसका अन्त होता ही है। अतः करने वाले चिन्तन का अन्त होते ही पूर्ववत् व्यर्थ-चिन्तन होने लगता है। इससे यह स्पष्ट ही हो जाता है कि श्रम-साध्य उपाय से व्यर्थ-चिन्तन का नाश नहीं होता और न मन की निन्दा करने से ही यह समस्या हल होती है। अब विचार यह करना है कि जो चिन्तन बिना किये होता है, उसका सदुपयोग क्या हो सकता है ! उसके सदुपयोग के लिए हमें देखना है कि चिन्तन-रूपी दृश्य का जो ज्ञाता है, उसकी वास्तविक माँग क्या है, अपने-आप होने वाले चिन्तन से वह भयभीत क्यों होता है, अथवा उसका समर्थन क्यों करता है,

उसका अस्तित्व क्यों स्वीकार करता है, तथा जिसका चिन्तन हो रहा है, क्या वह वर्तमान में उपस्थित है ? विचार करने से यह विदित होता है कि मौजूद का चिन्तन नहीं होता, उसका सदुपयोग होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि व्यर्थ-चिन्तन उसका होता है, जो 'नहीं' है। 'नहीं' से भयभीत हो जाना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

चिन्तन जिसमें दिखाई देता है, यदि उससे साधक का सम्बन्ध न होता, तो चिन्तन का प्रभाव उस पर न होता। जिसका प्रभाव नहीं होता, उससे सम्बन्ध नहीं रहता। बिना सम्बन्ध के तादात्म्य नहीं होता और तादात्म्य के बिना उसके मिटाने तथा बनाये रखने की बात ही उत्पन्न नहीं होती। अतः होने वाले चिन्तन का अपने पर जो प्रभाव हो रहा है; उससे यह स्पष्ट है कि उसका कारण अपने में है। यद्यपि चिन्तन और उसका आश्रय अपने से भिन्न प्रतीत होता है, तथापि उसके होने से साधक अपनी क्षति अनुभव करता है। तभी उस चिन्तन को मिटाना चाहता है। चिन्तन और उसका आश्रय अपने से भिन्न प्रतीत होता है, पर उसका कारण अपने में है। यदि ऐसा न होता, तो उसका प्रभाव अपने पर कुछ न होता और न उसके मिटाने का ही प्रश्न उत्पन्न होता। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि होने वाले चिन्तन का कारण उसमें ही मौजूद है, जो उसे मिटाना चाहता है।

अब विचार यह करना है कि जिन विषयों का चिन्तन हो रहा है, क्या उन विषयों के हम कभी भोक्ता तथा कर्त्ता नहीं थे ? प्राकृतिक नियम के अनुसार जो जिस विषय का कर्त्ता तथा भोक्ता नहीं होता, उसका चिन्तन उसे प्रतीत नहीं होता। इससे प्रमाणित होता है कि होने वाले चिन्तन का मानव, कर्त्ता तथा भोक्ता रहा है। अब यदि व्यर्थ-चिन्तन का अन्त करना अभीष्ट है, तो साधक को 'करने' तथा 'भोगने' की रुचि से अपने को रहित करना होगा। उसके लिए अपनी वास्तविक माँग की जागृति अनिवार्य है।

होने वाले चिन्तन से साधक को यह मान लेना चाहिए कि

जो वह कर चुका है, उसी का चिन्तन है। चिन्तन स्वयं कर्म नहीं है, अपितु भूतकाल में जो वह कर चुका है तथा भविष्य में जो करने की सोच रहा है, वही चिन्तन के रूप में प्रतीत हो रहा है। यदि उस चिन्तन का समर्थन तथा उसका विरोध न किया जाय, तो साधक अपने-आप उस चिन्तन के प्रभाव से मुक्त हो जाता है। व्यर्थ-चिन्तन के प्रभाव से मुक्त होते ही साधक में स्वतः वास्तविक आवश्यकता की जागृति होती है, जिसके होने पर चिन्तन-रूप दृश्य से सम्बन्ध नहीं रहता, अथवा यों कहो कि व्यर्थ-चिन्तन का नाश हो जाता है और साधक में अपने साध्य की अखण्ड-स्मृति उदित होती है। स्मृति जिसमें जाग्रत होती है, उसको अपने से अभिन्न कर लेती है और जिसके प्रति होती है, उससे दूरी, भेद तथा भिन्नता नहीं रहने देती। इस दृष्टि से स्मृति से ही साधक को अपने साध्य की उपलब्धि होती है।

स्मृति और चिन्तन में बड़ा भेद यह है कि व्यर्थ-चिन्तन उसका होता है, जो वर्तमान में नहीं है, और स्मृति उसकी होती है जो मौजूद है। अब यदि कोई यह कहे कि जो मौजूद है, उसकी स्मृति क्यों होगी, स्मृति तो उसकी अनुपस्थिति सिद्ध करती है। इस सम्बन्ध में विचार करने से यह ज्ञात होता है कि साधक का साध्य उपस्थित है, पर पराश्रय के कारण दूरी, भेद तथा भिन्नता प्रतीत होती है। जब स्मृति पराश्रय का अन्त कर देती है, तब जो उपस्थित है उससे योग, उसका बोध, उसमें प्रेम स्वतः हो जाता है, अर्थात् स्मृति योग-बोध-प्रेम की अभिव्यक्ति में हेतु है। अभिव्यक्ति सदैव अविनाशी की होती है और आसक्ति विनाशी की होती है। आसक्ति से व्यर्थ-चिन्तन उत्पन्न होता है। व्यर्थ-चिन्तन का समर्थन तथा विरोध न करने पर व्यर्थ-चिन्तन निर्जीव हो जाता है और स्मृति जाग्रत हो जाती है। स्मृति जाग्रत होते ही व्यर्थ-चिन्तन समूल नष्ट हो जाता है। व्यर्थ-चिन्तन से भयभीत हो जाना, उसके अस्तित्व को स्वीकार करना भारी भूल है। होने वाले चिन्तन को निज-ज्ञान के प्रकाश में बुद्धि-दृष्टि से

देखना है। उससे भयभीत नहीं होना है और न उसका समर्थन ही करना है। व्यर्थ-चिन्तन से भयभीत होने पर उसका अस्तित्व प्रतीत होने लगता है और समर्थन करने से व्यर्थ-चिन्तन कर्म का रूप धारण कर लेता है। चिन्तन-मात्र कर्म नहीं है। उसके समर्थन से मानव कर्म में प्रवृत्त होता है और उसका परिणाम भोगता है। अतः व्यर्थ-चिन्तन का समर्थन तथा विरोध न करना उसके मिटाने का अचूक उपाय है।

अपने-आप होने वाली क्रियाओं को वर्तमान कर्म मान लेना भारी भूल है। जो अपने-आप होता है, यदि उसका सदुपयोग किया जाय, तो उससे मानव का विकास होता है। इस दृष्टि से अपने आप होने वाले चिन्तन का सदुपयोग करना है। यदि चिन्तन न होता, तो मानव न तो अपनी वस्तुस्थिति को जान पाता और न यह जान पाता कि भूतकाल में वह क्या कर चुका है और भविष्य में क्या करना चाहता है। इसके बिना जाने वास्तविक आवश्यकता एवं वर्तमान कर्त्तव्य का बोध ही नहीं होता, जिसके बिना मानव अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता। इस दृष्टि से तो होने वाला चिन्तन भी उपयोगी है। परन्तु भारी भूल यह होती है कि होने वाले चिन्तन-मात्र को ही मानव कर्म मान लेता है तथा उसके अस्तित्व को स्वीकार कर लेता है। उससे यह प्रेरणा नहीं लेता कि मेरा लक्ष्य क्या है और उसकी उपलब्धि के लिए दायित्व क्या है। अतः होने वाले चिन्तन से भयभीत न होकर उसका सदुपयोग करना सफलता की कुंजी है।

५

व्यर्थ-चिन्तन का साधक के जीवन में क्या सदुपयोग हो सकता है, यह विचारणीय विषय है। वस्तु आदि के अभाव में उनका चिन्तन होता है। अभाव को सहन करना मानव-जीवन का अनादर है। अभाव के अनुभूति-काल में ही पूर्ण जीवन की माँग जाग्रत होती है। वास्तविक माँग की जागृति होने पर चिन्तन स्वतः माँग में विलीन हो जाता है। इस दृष्टि से अभाव की अनुभूति विकास की भूमि है। होने वाले चिन्तन से भयभीत न होना, उसके अस्तित्व को स्वीकार न करना, उसके द्वारा की हुई प्रवृत्तियों को न दुहराने का निर्णय लेना अनिवार्य है। इस दृष्टि से चिन्तन विघ्न नहीं है, प्रत्युत उसका सदुपयोग सफलता की कुंजी है।

यह सभी को सर्वदा मान्य है कि जब मानव आवश्यक कार्य से अवकाश पाता है, तो उसके न चाहने पर भी बिना किये अपने आप आगे-पीछे का व्यर्थ-चिन्तन उत्पन्न होता है। इस प्राकृतिक तथ्य का साधक के जीवन में क्या सदुपयोग हो सकता है, यह प्रस्तुत निबन्ध का विचारणीय विषय है। होने वाले चिन्तन से साधक यह भलीभाँति अनुभव कर सकता है कि जिन विषयों का भोग किया है, उन्हीं का चिन्तन हो रहा है। यह कोई नवीन कर्म नहीं है। उसके द्वारा साधक भोगे हुए विषयों पर विचार कर सकता है। चिन्तन उन विषयों की स्मृति-मात्र है, जिनका उसने उपभोग किया है, अथवा जिन वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्बन्ध स्वीकार किया है। वस्तु आदि के अभाव में उनका चिन्तन होता है, अर्थात् जो चिन्तन के रूप में प्रतीत होता है, वह अस्तित्वहीन है। अस्तित्वहीन से भयभीत होना, अथवा आकर्षित होना भारी भूल है। होने वाले चिन्तन के आधार पर मानव अपनी वर्तमान

दशा से भली-भाँति परिचित हो सकता है। उसे चिन्तन के द्वारा यह ज्ञात होता है कि अब तक उसने जो कुछ किया, उसका परिणाम अभाव ही है। अभाव के रहते हुए चैन से रहना जड़ता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अभाव के अनुभव से मानव पूर्णता की माँग जाग्रत कर सकता है, जो विकास का मूल है। अभाव को सहन करना मानव-जीवन का अनादर है। अभाव की अनुभूति अभाव से रहित होने के लिए प्रेरणा देती है, पर असावधानी के कारण मानव अभाव से पीड़ित होकर वास्तविक जीवन से निराश होने लगता है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। अभाव के अनुभूति-काल में ही पूर्ण जीवन की माँग सबल तथा स्थायी होनी चाहिए। वास्तविक माँग की जागृति होने पर चिन्तन स्वतः माँग में विलीन हो जाता है। इस दृष्टि से अभाव की अनुभूति विकास की भूमि है। किन्तु होने वाले चिन्तन का सदुपयोग न करने से चिन्तन का अस्तित्व स्वीकार कर साधक भयभीत होने लगता है, अथवा चिन्तन का समर्थन कर उन्हीं प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होने का प्रयास करता है, जिन्हें अनेक बार कर चुका है। किसी भी प्रवृत्ति के द्वारा वास्तविक माँग की पूर्त्ति नहीं होती, अपितु सामर्थ्य का व्यय ही होता है- यह जानते हुए भी साधक प्रवृत्तियों के द्वारा ही अभाव को मिटाने का प्रयास करता है और परिणाम में असफलता ही पाता है। भूतकाल की प्रवृत्तियों के परिणाम-स्वरूप जो वर्तमान में अभाव का अनुभव हो रहा है, उसकी निवृत्ति प्रवृत्तियों के द्वारा सम्भव नहीं है। होने वाले चिन्तन से भूतकाल की जिन प्रवृत्तियों का परिचय मिल रहा है, वे प्रवृत्तियाँ साधक के लिए सर्वथा त्याज्य हैं। ऐसा करने पर ही साधक में वास्तविक माँग की जागृति होगी, जो चिन्तन के विनाश के समर्थ है। पर साधक से भारी भूल यह होती है कि वह चिन्तन के आधार पर भावी कार्यक्रम निश्चित कर लेता है, अर्थात् चिन्तन का समर्थन कर उसके अनुसार पुनः प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होता है और परिणाम में अभाव ही पाता है। चिन्तन हमें यह प्रकाश देता

है कि अब चिन्तन का समर्थन तथा विरोध न करके उससे असहयोग ही करना है। चिन्तन का तादात्म्य भी साधक को चिन्तन से असहयोग नहीं करने देता। अतः होने वाले चिन्तन से तादात्म्य नहीं करना है। यह तभी सम्भव होगा, जब साधक चिन्तन को अपने से भिन्न दृश्य-मात्र अनुभव कर सम्बन्ध-विच्छेद करे। चिन्तन से सम्बन्ध-विच्छेद करते ही चिन्तन निर्जीव हो जायगा। फिर साधक में वास्तविक माँग की जागृति होगी, जो चिन्तन को खाकर स्वतः अपनी पूर्त्ति में समर्थ है। माँग साधक के व्यक्तित्व में ही उदित होती है, इस कारण चिन्तन की भाँति दृश्य नहीं होती। माँग की शिथिलता ही चिन्तन को जन्म देती है। इस कारण वास्तविक माँग की जागृति अत्यन्त आवश्यक है। चिन्तन का समर्थन न करने पर अपने-आप चिन्तन का नाश हो जाता है। पर यह तभी स्पष्ट होता है कि जब साधक होने वाले चिन्तन को नवीन कर्म स्वीकार नहीं करता। चिन्तन तो केवल साधक को सजगता प्रदान करने के लिये दैवी-विधान से होता है। दैवी-विधान विकास में हेतु है। अतः होने वाले चिन्तन से भयभीत होना और उसे विकार मानना अपने में हीन-भाव को जन्म देना है। चिन्तन को देखना और उससे असहयोग करना चाहिये। वह अपने-आप मिट जायगा तथा वास्तविक माँग की जागृति होगी, जो अपनी पूर्त्ति में आप समर्थ है। इस कारण होने वाले चिन्तन से भयभीत न होना, उसके अस्तित्व को स्वीकार न करना तथा उसके द्वारा की हुई प्रवृत्तियों को न दुहराने का निर्णय करना अनिवार्य है। इस दृष्टि से चिन्तन विघ्न नहीं है, अपितु उसका सदुपयोग सफलता की कुंजी है।

६

अभाव को सहन करने से व्यर्थ-चिन्तन की उत्पत्ति होती है। सार्थक-चिन्तन उसी का होता है, जिसकी उपलब्धि पराश्रय तथा परिश्रम के द्वारा नहीं होती। सार्थक-चिन्तन साध्य की अखण्ड स्मृति है। व्यर्थ-चिन्तन से साधक को अपनी भूल का अनुभव होता है और सार्थक-चिन्तन अविनाशी जीवन को प्रकाशित करता है। सार्थक-चिन्तन की अभिव्यक्ति साधक में होती है। उसकी साधना है-

(क) साध्य में अविचल आस्था,
(ख) उनकी महिमा की स्वीकृति,
(ग) उनकी आवश्यकता अनुभव करने से स्मृति की जागृति।

स्मृति की जागृति से आत्मीयतापूर्वक साध्य से अभिन्नता होती है। यही जीवन की सफलता है।

जब तक मानव अभाव को सहन करता रहता है, तब तक व्यर्थ-चिन्तन की उत्पत्ति होती ही रहती है। अभाव असह्य हो जाने पर व्यर्थ-चिन्तन मिट जाता है और सार्थक-चिन्तन का उदय होता है। सार्थक-चिन्तन उसी का होता है, जिसकी उपलब्धि पराश्रय तथा परिश्रम के द्वारा नहीं होती। परिश्रम तथा पराश्रय से रहित होते ही स्वतः सार्थक-चिन्तन की अभिव्यक्ति होती है। सार्थक-चिन्तन साध्य की अखण्ड स्मृति है। स्मृति साध्य से भिन्न की विस्मृति कराने में समर्थ है, जिसके होते ही स्मृति सजीव हो जाती है और फिर बोध तथा प्रेम में परिणत होकर साधक को साध्य से अभिन्न कर देती है। इस दृष्टि से सार्थक-चिन्तन बड़े ही महत्त्व की वस्तु है। व्यर्थ-चिन्तन से साधक को अपनी भूल का अनुभव होता है और सार्थक-चिन्तन अविनाशी जीवन को प्रकाशित

करता है। व्यर्थ-चिन्तन उसका होता है, जिसका अस्तित्व नहीं है, केवल प्रतीति-मात्र है। सार्थक-चिन्तन साधक को उससे सर्वांश में सदा के लिए असंग कर देता है, जिसका अस्तित्व नहीं है, और उससे अभिन्न कर देता है, जो सर्वदा-सर्वत्र मौजूद है।

परिवर्तनशील दृश्य के अस्तित्व को स्वीकार करना ही व्यर्थ-चिन्तन को जन्म देना है। यह जानते हुए भी कि परिवर्तन निरन्तर हो रहा है, उसकी स्थिति स्वीकार कर लेना व्यर्थ-चिन्तन को पोषित करना है। व्यर्थ-चिन्तन सदैव उसी का होता है, जिसकी प्रतीति भले ही कभी हुई हो, पर जो अभी नहीं है तथा जो स्थितिहीन है। जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, उसी की प्रतीति होती है और उसी के आकर्षण से प्रवृत्ति होती है। यदि परिवर्तनशील दृश्य के अस्तित्व को अस्वीकार कर दिया जाय, तो व्यर्थ-चिन्तन का स्वतः नाश हो जाता है और जो सदैव-सर्वत्र सभी का अपना है, उसे स्वीकार कर लिया जाय, तो अपने-आप सार्थक-चिन्तन की अभिव्यक्ति होती है, जो व्यर्थ-चिन्तन को खाकर उससे अभिन्न कर देती है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। वैधानिक-प्रवृत्ति प्रवृत्तियों के राग से रहित कर मानव को सहज तथा स्वाभाविक निवृत्ति द्वारा विद्यमान तत्त्व से अभिन्न करने में समर्थ है। इस दृष्टि से प्रवृत्ति की सार्थकता दूसरों के अधिकारों की रक्षा में एवं सहज निवृत्ति के सम्पादन में ही है। प्रवृत्तियों के द्वारा साधक को अपने लिये कुछ भी प्राप्य नहीं है। इस वास्तविकता को अपना कर जब साधक स्वाधीनता तथा विश्राम का सम्पादन कर लेता है, तब अपने-आप सार्थक चिन्तन की अभिव्यक्ति होती है, जो वास्तविक जीवन की प्राप्ति में हेतु है। सार्थक-चिन्तन की अभिव्यक्ति साधक में होती है, मन में नहीं। इतना ही नहीं, सार्थक-चिन्तन होने पर इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी अपने-अपने विषय को त्याग, सार्थक-चिन्तन से अभिन्न हो जाते हैं। सार्थक-चिन्तन साध्य की अगाध प्रियता को पोषित करता है। यह सभी को मान्य है कि प्रियता जिसके प्रति होती है, उससे दूरी, भेद तथा भिन्नता नहीं रहने

देती। सार्थक-चिन्तन, साध्य की आस्था, श्रद्धा-विश्वासपूर्वक आत्मीयता से ही उदित होता है और साधक की अहंता एवं ममता को खाकर साध्य की मधुर स्मृति में परिणत हो जाता है। सार्थक-चिन्तन के लिये किसी श्रम-साध्य उपाय की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि साध्य की आत्मीयता ही सार्थक-चिन्तन का मूल-मन्त्र है। आत्मीयता तभी सजीव होती है, जब साधक साध्य में अविचल आस्था करता है। साध्य की आस्था अन्य सभी आस्थाओं का नाश करने में समर्थ है। पर आस्था में दृढ़ता तभी होती है, जब साधक साध्य की महिमा स्वीकार करे और साध्य की आवश्यकता अनुभव करने पर साधक में साध्य की स्मृति सजीव होती है। विस्मृति ने ही साधक को साध्य से विमुख किया है। अतः स्मृति से विमुखता का नाश होगा। इस दृष्टि से साध्य में अविचल आस्था रखना, उसकी महिमा स्वीकार करना, उसकी आवश्यकता अनुभव कर स्मृति जगाना एवं आत्मीयतापूर्वक अभिन्नता स्वीकार करना सफलता की कुंजी है।

७

मानव का समुचित विकास, दर्शन, विज्ञान, श्रद्धा, उदारता और सौन्दर्य में है। विज्ञान कामना-पूर्त्ति में सहयोग देता है। दर्शन मानव को निष्काम बनाता है। समर्पण अहं रूपी अणु को गलाने में हेतु है। दर्शन दृश्य की आस्था का नाश करता है। श्रद्धा दृश्य के आधार तथा प्रकाशक से आत्मीयता सजीव करती है। आस्था श्रद्धास्पद में श्रद्धा और संसार के प्रति उदारता प्रदान करती है। दर्शन ने निर्विकारता और निर्विकारता से सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है।

मानव-जीवन का समुचित विकास निहित है-दर्शन, विज्ञान, श्रद्धा, उदारता और सौन्दर्य में। पर विज्ञान को दर्शन के अधीन रहना चाहिए, क्योंकि विज्ञान कामना-पूर्त्ति में सहयोग देता है और दर्शन मानव को निष्काम बनाता है। निष्कामता के बिना कामना-पूर्त्ति पराधीनता में आबद्ध करती है। पराधीन प्राणी कभी भी अपने लिये उपयोगी सिद्ध नहीं होता जो अपने लिये अनुपयोगी है, वह जगत के लिए तथा जगत्पति के लिये कभी उपयोगी नहीं हो सकता। दर्शन हमें सर्व प्रथम अपने लिये उपयोगी होने की सामर्थ्य प्रदान करता है। अपने लिये उपयोगी होने पर स्वभाव से ही उदारता तथा परम प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। उदारता सामाजिक समस्याओं को हल करने में समर्थ है और प्रेम का प्रादुर्भाव होने पर जीवन में किसी प्रकारकी परिच्छिन्नता शेष नहीं रहती, अर्थात् अनन्त से आत्मीयता एवं एकता सिद्ध होती है। इस दृष्टि से मानव-जीवन में श्रद्धास्पद के प्रति अविचल श्रद्धा अनिवार्य है। श्रद्धारहित जीवन भार से दब जाता है और पराश्रय लेता रहता है, जो विनाश का मूल है। पराधीनता से परिच्छिन्नता, भेद तथा भय का जन्म होता है, जो किसी को अभीष्ट नहीं है। सभी

में निर्भयता, एकता तथा समता की स्वाभाविक माँग है, जिसकी पूर्त्ति मानव अपने दर्शन से ही कर सकता है। मानव का अपना ज्ञान उसे स्वाधीनता प्रदान करता है। विज्ञान मानव को 'यह' (दृश्य) के सम्बन्ध में सोचने, समझने एवं उसके उपयोग करने में सहयोगी सिद्ध होता है। विज्ञान एक प्रकार का बल है। बल से कार्य, भोग आदि की सिद्धि होती है; किन्तु बल के द्वारा अभाव का अन्त नहीं होता, अपितु मिथ्या अभिमान ही पोषित होता है। अभिमानी कितना ही सबल क्यों न हो, उसे पराधीनता में आबद्ध होना ही पड़ता है। इस दृष्टि से विज्ञान को दर्शन के अधीन रखना चाहिये। विज्ञान से प्राप्त सामर्थ्य का उपयोग यदि ज्ञानपूर्वक नहीं किया जायगा, तो विज्ञान अहितकर सिद्ध होगा, जो किसी को अभीष्ट नहीं है। श्रद्धा-रहित ज्ञान-विज्ञान मानव को शून्यता तथा विलासिता में बाँधता है। श्रद्धा ज्ञान में चेतना जीवित रखती है; साधक को शून्य में आबद्ध नहीं होने देती, बल का सदुपयोग कराती है और साधक को कभी विलासी नहीं होने देती। इस दृष्टि से ज्ञान-विज्ञान के साथ श्रद्धा को रखना अनिवार्य है।

श्रद्धा साध्य के प्रति समर्पण-भाव प्रदान करती है। समर्पण अहं-रूपी अणु को गलाने में हेतु है। अहं के गलते ही भेद तथा भिन्नता की गंध भी नहीं रहती अर्थात् एकता, समता और अभिन्नता की अभिव्यक्ति होती है। इस कारण अहं का गल जाना अत्यन्त आवश्यक है। इस दृष्टि से श्रद्धा का मानव-जीवन में प्रमुख स्थान है। दर्शन, दृश्य की आस्था का नाश करता है और श्रद्धा, दृश्य के आधार तथा प्रकाशक से आत्मीयता सजीव करती है। इस कारण मानव-जीवन में से दर्शन तथा श्रद्धा को मिटाया नहीं जा सकता। विज्ञान के बिना कार्य करने की सामर्थ्य नहीं आती। अतः दर्शन और श्रद्धा के साथ-साथ विज्ञान जीवन के लिए उपयोगी है। आस्था, श्रद्धास्पद में श्रद्धा और संसार के प्रति उदारता प्रदान करती है। उदारता, विज्ञान का सदुपयोग कराती है और विश्व के साथ एकता स्थापित करती है। उदारता के बिना

विश्व-शान्ति का प्रश्न हल नहीं हो सकता।

दर्शन, मानव को निर्मम होने की प्रेरणा देता है। निर्ममता के बिना निर्विकारता का सौन्दर्य मानव में अभिव्यक्त नहीं होता। निर्विकारता सभी को आकर्षित करती है। इस दृष्टि से निर्विकारता का सौन्दर्य मानव-मात्र के लिये अत्यन्त आवश्यक है। दृश्य का आकर्षण एकमात्र भूल-जनित राग से उत्पन्न होता है और नवीन राग को जन्म देता है। दर्शन, मानव को राग-रहित करने में हेतु है। इस कारण दर्शन के प्रकाश में ही सर्वतोमुखी विकास होता है। यदि जीवन में से दर्शन को निकाल दिया जाय, तो विकास की तो कौन कहे, विनाश अवश्य हो जाता है। दर्शन से ही मानव 'मानव' होता है। दर्शन के बिना मानव में मानवता की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। मानवता-रहित मानव, पशुओं से भी अधिक निम्न कोटि में आ जाता है। इस कारण मानव-मात्र के जीवन में दर्शन, श्रद्धा, विज्ञान, उदारता तथा सौन्दर्य की आवश्यकता है।

सर्वांश में सद्‌गुणों की अभिव्यक्ति जीवन में तभी सम्भव है, जब दबी हुई अशान्ति प्रकट होकर मिट जाय और वास्तविक चिरशान्ति की स्थापना हो जाय। शान्ति का वेष बनाकर बैठ जाना और भीतर विप्लव उठते रहना, उसे प्रकट न करना चित्त को अशुद्ध रखना है।

८

परिवर्तन में स्थायित्व स्वीकार करना प्रमाद है। माँग की पूर्ति सहज निवृत्ति में है। निवृत्ति में जीवन है। निवृत्ति-काल में होने वाला व्यर्थ-चिन्तन अपने किये हुए का परिणाम है। उससे भयभीत नहीं होना है, प्रत्युत उसका सदुपयोग करना है। व्यर्थ-चिन्तन को देखो, पर उससे तादात्म्य मत रखो। उससे असहयोग करके शान्त हो जाओ। यही सफलता की कुंजी है।

विश्राम-काल में अपने-आप होने वाला चिन्तन साधकों को विघ्न प्रतीत होता है। पर वास्तव में बात ऐसी नहीं है। चिन्तन के रूप में वही आता है, जिसका साधक अनेक बार भोग कर चुका है। वर्तमान में उसे यह तथ्य भले ही ज्ञात न हो, किन्तु प्राकृतिक न्याय के अनुसार जिससे मानव किसी न किसी रूप में सम्बन्ध तथा जिसका अस्तित्व स्वीकार नहीं करता उसका चिन्तन कभी नहीं हो सकता। इस दृष्टि से होने वाला चिन्तन भूतकाल की घटनाओं का परिचय-मात्र है। उससे भयभीत होना तथा उसका समर्थन कर, बिना ही उसे प्राप्त किये उसमें सुख-बुद्धि रखना भारी भूल है। प्रत्येक विषय उपलब्धि-काल में उतना सुखद प्रतीत नहीं होता, जितना अप्राप्त दशा में उसका चिन्तन सुखद लगता है। यह जानते हुए भी कि पराश्रय तथा परिश्रम के द्वारा जो सुखाभास होता है, वह वास्तविक नहीं है, रुचि की पूर्ति-मात्र से कुछ काल के लिये मानसिक तनाव में ढीलापन आने से सुखाभास होता है तथा साधक प्रवृत्ति में सुख का आरोप कर लेता है। यद्यपि प्रवृत्ति से शक्ति का व्यय होता है, परन्तु साधक इस रहस्य पर विचार नहीं करता और प्रवृत्तियों में सुख का आरोप कर प्रवृत्ति की रुचि को पोषित करता है, जो पराधीनता का मूल है।

वैधानिक दृष्टि से रुचि पूर्त्ति-अपूर्त्ति दोनों ही दशाओं में मानव पराधीन ही रहता है, पर रुचि-अपूर्त्ति की पराधीनता में दुःख अनुभव करता है और रुचि-पूर्त्ति में सुख मान लेता है। दुःख-सुख दोनों ही अवस्थाएँ जीवन नहीं हैं, क्योंकि उनमें सतत् परिवर्तन होता रहता है। परिवर्तन में स्थायित्व स्वीकार करना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। किन्तु मानव की स्वाभाविक माँग अविनाशी, स्वाधीन, चिन्मय, रसरूप जीवन की है। पराधीनता-जनित सुख-भोग की रुचि को स्वीकार करने से स्वाभाविक माँग में शिथिलता आ जाती है और फिर मानव रुचि पूर्त्ति-अपूर्त्ति की द्वन्द्वात्मक स्थिति में ही जीवन-बुद्धि स्वीकार कर बैठता है। पर वास्तविक माँग का नाश नहीं होता। जीवन का अध्ययन करने पर ज्यों-ज्यों द्वन्द्वात्मक स्थिति से अरुचि होती जाती है, त्यों-त्यों स्वाभाविक माँग सबल तथा स्थायी होती जाती है। इतना ही नहीं, माँग की जागृति होने पर रुचि का सर्वांश में नाश हो जाता है और फिर वास्तविक माँग अपने-आप पूरी हो जाती है। इस दृष्टि से होने वाला चिन्तन एकमात्र रुचि का परिचय है और कुछ नहीं। रुचि की पूर्त्ति नवीन रुचि को जन्म देती है और रुचि-पूर्त्ति का प्रलोभन प्रवृत्तियों में प्रवृत्त करता है। प्रवृत्तियों का राग मानव को देहाभिमान में आबद्ध कर उसमें जड़ता, पराधीनता, अभाव आदि दोषों को उत्पन्न करता है। इस कारण विद्यमान राग की निवृत्ति के लिए मर्यादित प्रवृत्ति भले ही साधनरूप हो, किन्तु मानव की वास्तविक माँग की पूर्त्ति तो सहज निवृत्ति से ही होती है। प्रवृत्तियों के आरम्भ से पूर्व और उनके अन्त में अपने-आप स्वतः सिद्ध सहज निवृत्ति में जीवन है, इस वास्तविकता को स्वीकार करना मानव-मात्र के लिए अनिवार्य है। निवृत्ति में जीवन है, इस वास्तविकता को स्वीकार करने पर परिस्थितियों का कोई महत्त्व नहीं रह जाता, अपितु सभी परिस्थितियाँ समान रूप से साधन-सामग्री के रूप में ही रह जाती हैं। साधन-सामग्री चाहे जैसी हो, साधक को साध्य की प्राप्ति कराने में उपयोगी सिद्ध

होती है, इतना ही नहीं, साधक विषमता में समता और अनेकता में एकता का अनुभव कर निश्चिन्तता एवं निर्भयता प्राप्त करता है। फिर साधक के जीवन में किसी प्रकार की दीनता तथा अभिमान शेष नहीं रहता, अपितु साधक में समता, उदारता एवं प्रियता की अभिव्यक्ति होती है, जो सर्वतोमुखी विकास का मूल है।

उदारता से साधक का जीवन जगत् के लिए और समता से जीवन अपने लिये एवं प्रियता से साधक का जीवन साध्य के लिए उपयोगी होता है। जीवन सभी के लिए उपयोगी हो जाय, यही मानव-जीवन की पूर्णता है। विश्राम-काल में होने वाले चिन्तन से साधक को अपनी रुचि का अनुभव करना चाहिये, किन्तु उसका समर्थन तथा विरोध एवं उससे तादात्म्य रखना भारी भूल है। इस भूल का अन्त करना मानव-मात्र के लिये अनिवार्य है। जो होता है, वह मानव का व्यक्तिगत कर्म नहीं है। उसका समर्थन कर्म को जन्म देता है और उससे असहयोग करना साधन-रूप सिद्ध होता है। अपने किये हुए का चिन्तन अपने को सजग होने की प्रेरणा देता है। उससे भयभीत होना अपने ही द्वारा अपने को असमर्थ बनाना है, क्योंकि भयभीत होने से सामर्थ्य का ह्रास होता है और अभय होने से सामर्थ्य की वृद्धि होती है। जो हो रहा है, उसे देखना और उससे विमुख होकर अपने में ही अपने प्रेमास्पद की स्थापना कर उनकी प्रियता को ही अपना सर्वस्व स्वीकार करना चाहिये। प्रियता से दूरी, भेद, भिन्नता का सर्वांश में नाश हो जाता है और फिर साधक बड़ी ही सुगमता पूर्वक भोग, मोह, आसक्ति को मिटा कर सदा के लिये योग, बोध, प्रेम से अभिन्न हो जाता है, जो मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है।

जो हो रहा है, उसको देखने के लिए साधक को उससे असंग होना होगा। असंगता के लिए अहंकृति-रहित होना अनिवार्य है। अहंकृति के रहते हुए दृश्य से तादात्म्य रहता है। तादात्म्य-रहित हुए बिना, जो हो रहा है, साधक उसका साक्षी नहीं हो

सकता। इस दृष्टि से होने वाले चिन्तन का तादात्म्य मिटाना अत्यन्त आवश्यक है। यह तभी सम्भव होगा, जब चिन्तन से साधक भयभीत न हो और न उसका समर्थन करे, अपितु चिन्तन से असहयोग कर शान्त हो जाय। शान्ति का सम्पादन होने पर आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति मंगलमय विधान से स्वतः होती है, किन्तु उसमें रमण करना विकास में बाधक है। होने वाले चिन्तन के प्रभाव से रहित होकर ही साधक शान्ति को सुरक्षित रख सकता है, जो विकास की जननी है। अतः चिन्तन से तादात्म्य न रखना सफलता की कुंजी है।

६

समस्त दृश्य का प्रकाशक तथा आश्रय अविनाशी तथा स्वयं-प्रकाश्य है, जिसकी माँग मानव-मात्र में स्वभाव से विद्यमान है। किन्तु दृश्य से तादात्म्य स्वीकार करने पर मानव में भोग की रुचि उत्पन्न होती है। माँग की जागृति से भोग की रुचि का नाश होता है, जिससे साधक को सहज विश्राम मिलता है। कुछ न करने की स्थिति में देह का तादात्म्य टूट जाता है। कुछ न करने में स्वाभाविक गति है, जिससे अविनाशी से अविनाशी योग प्राप्त होता है। योग में बोध और बोध में प्रेम निहित है। दृश्य से विमुख होना ही सफलता की कुंजी है।

समस्त दृश्य का प्रकाशक तथा आश्रय अविनाशी तथा स्वयं-प्रकाश्य है, जिसकी माँग मानव-मात्र में स्वभाव से विद्यमान है। किन्तु दृश्य से तादात्म्य स्वीकार करने पर मानव में भोग की रुचि उत्पन्न होती है। यद्यपि दृश्य से स्वरूप की एकता कभी किसी मानव की नहीं होती, परन्तु तादात्म्य-मात्र से ही दृश्य में अहम् तथा मम-बुद्धि हो जाती है और फिर मानव अपने को भोग की रुचि में आबद्ध कर लेता है। जिसके होते ही मोह तथा आसक्तियों का जन्म हो जाता है, जो दुःख का मूल है। योग की माँग सबल होने पर भोग की रुचि स्वतः निर्जीव होकर मिट जाती है और फिर दृश्य से असंगता हो जाती है। जिसके होते ही पराधीनता, जड़ता तथा अभाव शेष नहीं रहते। अतः योग की माँग को सबल तथा स्थायी बनाना अनिवार्य है। विद्यमान माँग को सबल बनाने के लिये स्वाधीनता की आवश्यक अनुभव करना अत्यन्त आवश्यकता है। स्वाधीनता प्राप्त करने में प्रत्येक मानव सर्वदा स्वाधीन है। स्वाधीनता की प्राप्ति में कुछ भी बाधक नहीं है। पराधीनता को सहन करना ही स्वाधीनता से विमुख होना है। अपने लिये दृश्य-

मात्र की अपेक्षा नहीं है। इस वास्तविकता का अनुभव करना प्रत्येक मानव के लिए अत्यन्त आवश्यक है। वास्तविकता उसे नहीं कहते जो अनुभव-सिद्ध न हो। निज-अनुभव का अनादर कर मानव वास्तविकता को भूल जाता है, अर्थात् उसकी विस्मृति हो जाती है। विस्मृति का नाश एकमात्र स्मृति से ही होता है और स्मृति आवश्यकता अनुभव करने से जाग्रत होती है। इस कारण अपनी आवश्यकता को जानना विकास का मूल है।

समस्त दृश्य के आश्रय तथा प्रकाशक से देश-काल आदि की दूरी नहीं है। जिससे देश-काल की दूरी नहीं होती, उसकी उपलब्धि श्रम-साध्य उपाय से किसी प्रकार नहीं हो सकती। जिसकी उपलब्धि परिश्रम तथा पराश्रय से नहीं होती, उसके लिये श्रम तथा पराश्रय का त्याग अत्यन्त आवश्यक है। विश्राम-काल में पराश्रय का त्याग स्वतः हो जाता है, जिसके होने पर साधक सुगमतापूर्वक पराधीनता का अन्त कर स्वाधीनता से अभिन्न हो जाता है। इस दृष्टि से विश्राम बड़े ही महत्त्व की वस्तु है। अनावश्यक कार्यों का त्याग और आवश्यक कार्यों को पूरा करने पर विश्राम की उपलब्धि होती है। सामर्थ्य तथा विवेक के अनुरूप कार्य को पूरा करना है और सामर्थ्य तथा ज्ञान-विरोधी कार्य का त्याग करना है, तभी विश्राम की उपलब्धि होगी। विश्राम कोई अवस्था विशेष नहीं है, अपितु सभी अवस्थाओं से अतीत है। अवस्थाएँ शरीर के तादात्म्य से उत्पन्न होती हैं और विश्राम देहाभिमान-रहित होने से प्राप्त होता है। इस दृष्टि से देहाभिमान का अन्त करना अनिवार्य है।

देहाभिमान से रहित होने के लिये किसी श्रम-साध्य उपाय की अपेक्षा नहीं है, अपितु इस तथ्य को अपना लेना है कि अपने लिये कुछ नहीं करना है। कुछ न करने की स्थिति से देह का तादात्म्य अपने-आप मिट जाता है। कुछ न करने का अर्थ आलस्य तथा अकर्मण्यता नहीं है। अपितु कर्त्तव्यनिष्ठ होने पर ही करने का राग नाश होता है और फिर अपने-आप प्रत्येक कार्य के

आरम्भ से पूर्व तथा कार्य के अन्त में जो वास्तविकता शेष रहती है, वही कुछ न करना है। कुछ न करने में स्वाभाविक प्रगति है, जिससे मानव अविनाशी से अविनाशी योग प्राप्त करता है। जो अविनाशी है, वही सभी का अपना है। इस दृष्टि से न करने की स्थिति में अपने से अपना योग होता है। योग कोई अभ्यास नहीं है। योग सहज तथा स्वाभाविक तथ्य है, जो दृश्य के प्रकाशक से साधक की दूरी नहीं रहने देता। योग की पूर्णता में बोध स्वतः हो जाता है और बोध में अगाध प्रियता निहित है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब साधक श्रम तथा पराश्रय से रहित होकर विश्राम एवं स्वाधीनता का सम्पादन करने में समर्थ होता है। यह कैसे आश्चर्य की बात है कि जो नित्य प्राप्त है, उससे वह दूरी मान लेता है और जिसकी केवल प्रतीति है, उसकी प्राप्ति मान लेता है ! प्रतीति से विमुख होने के लिये प्रतीति की वास्तविकता का अनुभव अपेक्षित है। प्रतीति की वास्तविकता का बोध प्रतीति से असंग होने से ही सम्भव है और असंगता बिना विश्राम के प्राप्त नहीं होती। विश्राम के लिये यह महामन्त्र अपनाना अनिवार्य है कि 'अपने लिये कभी कुछ नहीं करना है और न आज तक किया हुआ अपने काम आया है।' कर्म का परिणाम जो कुछ होता है, उसकी पहुँच शरीर तक ही रहती है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध है कि अपने लिये कुछ नहीं करना है। श्रम-साध्य उपाय से शरीर, परिवार, समाज, संसार के लिये उपयोगी होना है; अर्थात् दूसरों के अधिकार की रक्षा करनी है, जिससे करने का राग निवृत्त हो जाय और अपने में संतुष्ट होने की सामर्थ्य आ जाय, जिससे अपने ही में अपने प्रेमास्पद को पाकर जीवन सार्थक हो जाय। इस दृष्टि से दृश्य से विमुख होना ही सफलता की कुंजी है।

१०

जो मौजूद है, वही सबका अपना है। मिले हुए के सदुपयोग से सुन्दर समाज का निर्माण और अपने में सन्तुष्ट होने से अपना कल्याण होता है। क्रियाशीलता, चिन्तन एवं स्थिति से असहयोग करने पर साधक अपने में सन्तुष्ट होता है। सार्थक-चिन्तन तथा निर्विकल्प-स्थिति का आश्रय पराश्रय ही है। इसका भी त्याग अनिवार्य है। अपने में सन्तुष्ट होने से सर्व दुःखों की निवृत्ति होती है। अपने में अपने प्रेमास्पद को स्वीकार करने पर अनन्त रस की अभिव्यक्ति होती है। अप्रयत्नपूर्वक अपने में सन्तुष्ट होना सफलता की कुंजी है।

जो मौजूद है, वही सबका अपना है, किन्तु उसकी उपलब्धि के लिए साधक को अपने ही में सन्तुष्ट होना है। अपने में सन्तुष्ट होने के लिए अप्रयत्न होना अपेक्षित है। जिसे वह चाहिए, जो कभी है और कभी नहीं है, उसके लिये प्रयत्न अपेक्षित है। प्रयत्न का परिणाम अविनाशी नहीं होता, यह अनुभव-सिद्ध तथ्य है। अतः प्रयत्न-रहित होकर ही साधक अपने में सन्तुष्ट हो सकता है। अपने से भिन्न में कुछ नहीं है, अपने में सब कुछ है; अर्थात् जो अपने में है, उसको पाकर कुछ भी पाना शेष नहीं रहता। इस दृष्टि से अप्रयत्न होकर अपने में सन्तुष्ट होना अनिवार्य है। अप्रयत्न होने के लिए मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का सदुपयोग करना है, किन्तु उसके बदले में कुछ नहीं चाहिये-इस वास्तविकता में दृढ़ रहना है। मिले हुए के सदुपयोग में सुन्दर समाज का निर्माण होता है और अपने में सन्तुष्ट होने से अपना कल्याण होता है। मिले हुए का दुरुपयोग करने से मानव पराधीनता में आबद्ध हो जाता है और परिवार, समाज, संसार आदि के लिए अनुपयोगी हो जाता है। इस दृष्टि से मिले हुए का दुरुपयोग भारी

भूल है। मिले हुए के सदुपयोग का अभिमान तथा फलासक्ति रखने पर जीवन अपने लिये अनुपयोगी हो जाता है। अतः न तो मिले हुए का दुरुपयोग करना है और न सदुपयोग का अभिमान तथा फलासक्ति रखना है। यही कर्त्तव्य-विज्ञान है।

कर्त्तव्य-विज्ञान का उत्तर पक्ष योग-विज्ञान है। योग साधक को अपने में सन्तुष्ट होने की सामर्थ्य प्रदान करता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-विज्ञान तथा योग-विज्ञान एक ही जीवन के दो पहलू हैं। योग सिद्ध होने पर कर्त्तव्यपरायणता स्वतः आ जाती है और कर्त्तव्यनिष्ठ होने पर योग सहज तथा स्वाभाविक हो जाता है। कर्त्तव्यपरायणता तथा योग जीवन-विज्ञान है, इसका मानव-जीवन से विभाजन नहीं किया जा सकता, अर्थात् यह मानव-मात्र के लिए अनिवार्य है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब मानव अपनी वास्तविक आवश्यकता का अनुभव करता है। आवश्यकता है-अविनाशी, स्वाधीन, रसरूप और चिन्मय जीवन की। इसकी उपलब्धि किसी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि से नहीं होती, यह सर्वमान्य सत्य है। जिसकी उपलब्धि 'पर' की अपेक्षा नहीं रखती, उसकी उपलब्धि नित्ययोग, अर्थात् अपने में सन्तुष्ट होने से ही होती है। इस वास्तविकता का अनुभव तथा इसमें अविचल आस्था अत्यन्त आवश्यक है।

योग किसी अप्राप्त की प्राप्ति नहीं कराता, अपितु जो विद्यमान है, सभी का अपना, है, सभी में है, उसी से दूरी मिटाता है। जो सभी को सर्वदा, सर्वत्र, सदा के लिए प्राप्त नहीं है, वह साधक को नहीं चाहिये-इसमें अविचल आस्था करने पर अपने में सन्तुष्ट होने की सामर्थ्य स्वतः आती है। अपने में संतुष्ट होने का अर्थ क्या है? इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट ही है कि क्रियाशीलता, चिन्तन और स्थिति से असहयोग करने पर साधक अपने में सन्तुष्ट होता है। पराधीनता तथा पराश्रय असह्य हो जाने पर ही सभी अवस्थाओं से असहयोग करने की सामर्थ्य आती है। सार्थक-चिन्तन तथा निर्विकल्प-स्थिति का आश्रय भी पराश्रय ही है। कोई-कोई साधक सार्थक-चिन्तन तथा निर्विकल्प-स्थिति को ही जीवन का लक्ष्य

मान बैठते हैं। यद्यपि निर्विकल्प स्थिति बड़े ही महत्त्व की वस्तु है, परन्तु उसमें रमण करना निर्विकल्प-बोध में बाधक है। निर्विकल्प-बोध से ही साधक अपने में सन्तुष्ट होता है। सर्व दुःखों की निवृत्ति एकमात्र अपने में सन्तुष्ट होने से ही होती है, किन्तु अनन्त रस की अभिव्यक्ति अपने में अपने प्रेमास्पद को स्वीकार करने पर होती है। जिसने अपना निर्माण किया है, वह अपने ही में है और अपना है। इतना ही नहीं, निर्माता ने अपने में से ही निर्माण किया है। उसे स्वीकार न कर दुःख-निवृत्ति मात्र से सन्तुष्ट हो जाना अपने को अनन्त-रस से वंचित रखना है। अपने में संतुष्ट होना साधन है, साध्य नहीं; यद्यपि साधन में सत्ता साध्य की ही होती है। साधन और साध्य में स्वरूप से भिन्नता नहीं है, किन्तु साधन को साध्य मान लेने से अहम्-भाव रूपी अणु का सर्वांश में नाश नहीं होता। जिसके नाश हुए बिना योग, बोध और प्रेम से अभिन्नता नहीं होती। योग, बोध और प्रेम साध्य की विभूतियाँ हैं और साधक का जीवन। भोग, मोह और आसक्तियों की निवृत्ति एकमात्र योग, बोध तथा प्रेम की उपलब्धि से ही होती है, जो एक मात्र अपने में सन्तुष्ट होने से ही साध्य है। योग, बोध तथा प्रेम का विभाजन नहीं किया जा सकता, क्योंकि योग की पूर्णता में बोध और बोध में प्रेम ओत-प्रोत है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जो सभी अवस्थाओं से अतीत निर्विकल्प-बोध से अभिन्न होते हैं, अर्थात् जिनकी अनन्त से दूरी, भेद एवं भिन्नता नहीं रहती। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक को सावधानीपूर्वक अपने में सन्तुष्ट होना है; अर्थात् परिश्रम, पराश्रय और पराधीनता का सर्वांश में अन्त करना अनिवार्य है। यह तभी सम्भव होगा, जब साधक अपनी वास्तविक आवश्यकता का अनुभव कर, जो विद्यमान है, उसमें अविचल आस्था करे और सब प्रकार से उन्हीं का होकर रहे। उन्हीं के नाते प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग कर अप्रयत्न हो जाय। अप्रयत्न होते ही नित्ययोग स्वतः हो जाता है, जो सर्वतोमुखी विकास का मूल है। इस दृष्टि से अप्रयत्नपूर्वक अपने में सन्तुष्ट होना सफलता की कुंजी है।

११

पराश्रय और परिश्रम में जीवन स्वीकार करना अविनाशी से विमुख होना है। वास्तविक जीवन विश्राम तथा स्वाधीनता में है। परिश्रम और पराश्रय में सुखाभास से चिन्तन दृढ़ होता है और शक्तिहीनता की वृद्धि होती है, जो किसी को अभीष्ट नहीं है। चिन्तन का दृश्य देखो, किन्तु उसका समर्थन मत करो और उसकी सत्यता स्वीकार मत करो। जो कभी था, पर अभी नहीं है, वह वास्तव में कभी नहीं है। जो कभी होगा, अभी नहीं है, वह अपना नहीं है। उससे तादात्म्य रखना या उसका विरोध करना 'नहीं' में 'हैं' बुद्धि स्वीकार करना है, जो वास्तव में प्रमाद है। जब साधक दृश्य के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता, तब दृष्टि अपने-आप दृश्य से विमुख होकर अपने उद्गम में विलीन हो जाती है। जब दृश्य-मात्र से असंगता हो जाती है, तब साधक को अविनाशी जीवन से नित्ययोग, बोध और प्रेम प्राप्त होता है।

परिश्रम और पराश्रय में जीवन स्वीकार करना, अर्थात् यह मान लेना कि हम जब कुछ करेंगे, तभी कुछ मिलेगा, बिना किये कुछ नहीं मिलता है-इस धारणा में आस्था करना मानव को अविनाशी जीवन से विमुख करता है। वास्तविक जीवन विश्राम तथा स्वाधीनता में है। पर जब इसमें अविचल आस्था नहीं करते, तब परिश्रम और पराश्रय में आस्था होने लगती है। परिश्रम और पराश्रय के द्वारा जिस किसी ने जो कुछ पाया, उससे उसका नित्य सम्बन्ध नहीं रहा, केवल प्रवृत्ति-जनित सुखाभास ही हुआ। किन्तु परिश्रम का परिणाम शक्ति-हीनता तो भोगनी ही पड़ती है, जो किसी को अभीष्ट नहीं। इस कारण आवश्यक कार्य के अन्त में कुछ काल श्रम-रहित होना आवश्यक है। परन्तु श्रम-रहित होते ही आगे-पीछे का चिन्तन होने लगता है और वह शान्ति-सम्पादन में विघ्न हो जाता है। किसी अभ्यास-विशेष से वह चिन्तन कुछ

काल के लिये भले ही दब जाय, पर उसका नाश नहीं होता। इस समस्या को किस प्रकार हल किया जाय, यह सभी साधकों के लिए विचारणीय है।

जो चिन्तन बिना चाहे, बिना किये होता है, उसे प्राकृतिक कार्य मानना ही पड़ेगा। प्राकृतिक कार्य अहितकर नहीं होता। अहित तो एकमात्र भूल-जनित प्रवृत्तियों से होता है। फिर भी अपने-आप होने वाला चिन्तन विकास में बाधक ही प्रतीत होता है। परन्तु जो होता है, यदि हमें उसका सदुपयोग करना आ जाय, तो समस्या हल हो सकती है।

अपने-आप होने वाले चिन्तन में वह कभी नहीं आता, जिसको शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि के द्वारा कभी विषय न किया हो। अतः चिन्तन किये हुए भोग की स्मृति-मात्र है। भोगों का आकर्षण अपने-आप होने वाले चिन्तन में भी सुख का भास कराता है। उस सुखाभास से चिन्तन और दृढ़ होता जाता है। ज्यों-ज्यों चिन्तन दृढ़ होता जाता है, त्यों-त्यों मानव में शक्तिहीनता की वृद्धि होती जाती है, जिससे अनेक प्रकार की व्याधि उत्पन्न होती है। इस दृष्टि से चिन्तन को बनाये रखना भारी भूल है। चिन्तन जिस वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदि से सम्बन्ध जोड़ता है, उनसे क्या नित्य-सम्बन्ध सम्भव है ? सभी को मानना पड़ेगा कि यह सम्भव नहीं है। जिससे सम्बन्ध रह ही नहीं सकता, उसके चिन्तन का समर्थन करना निज-ज्ञान का अनादर है, जो विनाश का मूल है। चिन्तन का दृश्य देखो, किन्तु उसका समर्थन मत करो और उसकी सत्यता स्वीकार मत करो। जो कभी था, अभी नहीं है, वह वास्तव में कभी नहीं है। जो कभी होगा ! अभी नहीं है, वह अपना नहीं है, उससे तादात्म्य रखना या उसका विरोध करना 'नहीं' में 'है'-बुद्धि स्वीकार करना है, जो वास्तव में प्रमाद है। जब साधक 'नहीं' को 'है' के रूप में मान लेता है, तब उसका छुटकारा कठिन हो जाता है। नहीं को 'नहीं' अनुभव करने से ही नहीं की निवृत्ति होती है, और 'है' को 'है' स्वीकार करने से ही 'है' में अविचल आस्था-श्रद्धा-विश्वासपूर्वक आत्मीयता होती है।

इस दृष्टि से साधक को प्रतीत होने वाले दृश्य-मात्र से-चाहे वह दिखलाई देने वाला स्थूल दृश्य हो, अथवा स्थूल दृश्य के चिन्तन के रूप में सूक्ष्म दृश्य हो -विमुख होना ही है। क्योंकि दृश्य की स्वतन्त्र स्थिति नहीं है। चिन्तन-रूपी दृश्य की यदि स्थिति स्वीकार न की जाय, तो चिन्तन निर्जीव होकर मिट जायगा। जब साधक दृश्य के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता, तब दृष्टि अपने-आप दृश्य से विमुख होकर अपने उद्‌गम में विलीन हो जाती है। दृष्टि का उद्‌गम अहं है और अहं भी दृश्य ही है; क्योंकि जिसकी प्रतीति होती है और जो भासित होता है, वह दृश्य ही है। इस दृष्टि से अपने को अहम्-रूपी दृश्य से भी असंग होना है, जो एकमात्र अप्रयत्न से ही साध्य है। जब दृश्य-मात्र से असंगता हो जाती है, तब उस अविनाशी जीवन से, जो सदैव है, सर्वत्र है, अद्वितीय है, साधक का नित्य-योग हो जाता है तथा उसे उसका बोध एवं प्रेम प्राप्त होता है और फिर भोग, मोह, और आसक्ति की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है, जिसके होते ही साधक दृश्य के प्रभाव से मुक्त हो जाता है। दृश्य के प्रभाव से रहित होते ही साधक की उसमें आस्था हो जाती है, जो दृश्य का आश्रय तथा प्रकाशक है और दृश्य की आस्था सर्वांश में मिट जाती है। इस कारण साधक को स्थूल, सूक्ष्म और कारण, तीनों ही प्रकार के दृश्य की सत्यता को अस्वीकार करना है। इसके अतिरिक्त दृश्य से सम्बन्ध-विच्छेद करने का और कोई अचूक उपाय नहीं है।

प्रतीति बिना प्रकाशक के और उत्पत्ति बिना आश्रय के नहीं होती। उत्पत्ति तथा प्रतीति का जो आश्रय तथा प्रकाशक है, वही वास्तव में 'है'। 'है' की विस्मृति से ही 'नहीं' में 'है-बुद्धि' होती है और 'नहीं' में 'है-बुद्धि' होने से ही साधक दृश्य के प्रभाव में आबद्ध होता है। अतः जो सदैव नहीं है, सभी के लिए नहीं है, सर्वत्र नहीं है, उसको स्वीकार करना भूल है और जो सदैव है, सर्वत्र है, समर्थ है, सभी का है, अद्वितीय है, उसे स्वीकार करना और दृश्य को अस्वीकार करना सफलता की कुंजी है।

१२

सर्व का प्रकाशक तथा आश्रय अद्वितीय है। उसमें अविचल आस्था करना और सब प्रकार से उसी को अपना मानना व्यर्थ चिन्तन के नाश का अचूक उपाय है। व्यर्थ-चिन्तन शरीर के आश्रय से उत्पन्न होता है और स्मृति अपने की आत्मीयता से अपने में जाग्रत होती है। जिसकी प्रतीति होती है, उस पर विचार किया जा सकता है, विश्वास नहीं। विश्वास करने से दृश्य से सम्बन्ध हो जाता है, जिससे व्यर्थ-चिन्तन की उत्पत्ति होती है। अतः विश्वास करने योग्य एकमात्र वही है, जो सर्व का ज्ञाता है तथा जिसका और कोई ज्ञाता नहीं है। इस दृष्टि से सर्वाधार को स्वीकार करना अथवा सभी स्वीकृतियों को अस्वीकार करना व्यर्थ चिन्तन के मिटाने में तथा अखण्ड स्मृति के जगाने में समर्थ है।

सर्व का प्रकाशक तथा आश्रय अद्वितीय है। उसमें अविचल आस्था करना और सब प्रकार से उसी को अपना मानना व्यर्थ-चिन्तन के नाश करने का अचूक उपाय है। क्योंकि जिससे साधक सम्बन्ध स्वीकार करता है, उसी की उसमें स्मृति जाग्रत होती है। स्मृति जाग्रत होने पर दृश्य-मात्र से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। स्मृति कोई अभ्यास नहीं है, अपितु साधक का सहज स्वभाव है। स्मृति उसी की होती है, जो सदैव, सर्वत्र तथा सभी का है। स्मृति-मात्र से ही दूरी, भेद तथा भिन्नता मिट जाती है। व्यर्थ-चिन्तन शरीर के आश्रय से होता है और स्मृति अपने में अपने की जाग्रत होती है। स्मृति उसी की होती है, जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता है। माने हुए सम्बन्ध से व्यर्थ-चिन्तन उत्पन्न होता है। साधक का शरीर आदि समस्त दृश्य से, माना हुआ सम्बन्ध है और जातीय भिन्नता है। जिससे माना हुआ सम्बन्ध है, उसकी सेवा की जा सकती है, उसका उपयोग किया

जा सकता है, पर उसमें आत्मीयता नहीं की जा सकती। आत्मीयता तो एकमात्र उसी से हो सकती है, जिससे देश-काल की दूरी नहीं है, अपितु विस्मृति हो गई है। विस्मृति का नाश स्मृति से ही होता है।

यह सर्वमान्य सत्य है कि जिन प्रवृत्तियों को साधक अनेक बार कर चुका है, उन्हीं का चिन्तन होता है। किन्तु यदि वह स्वयं विचार करे, तो उसे की हुई प्रवृत्तियों को दुहराना और उनका समर्थन करना अपनी भारी भूल जान पड़ेगी। भूल का ज्ञान भूल मिटाने में हेतु है। यह सभी को विदित है कि पराश्रय तथा प्रवृत्तियों द्वारा अभाव का अभाव नहीं हुआ। तो फिर क्या पराश्रय का त्याग अनिवार्य नहीं है ? पराश्रय का त्याग करते ही स्वतः निर्वासना आती है, अर्थात् भोग-वासनाओं का नाश हो जाता है, जिसके होते ही स्वतः नित्ययोग की उपलब्धि होती है और फिर व्यर्थ-चिन्तन शेष नहीं रहता। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक के लिये पराश्रय का त्याग अनिवार्य है। सेवा के लिए 'पर' का आश्रय लेना विद्यमान राग की निवृत्ति में साधन-रूप है, किन्तु 'पर' के द्वारा अपनी वास्तविक माँग की पूर्त्ति हो सकती है, यह भ्रमात्मक धारणा है। अपने से भिन्न जो कुछ है, उसका सदुपयोग किया जा सकता है, उसका आश्रय नहीं लिया जा सकता। पराश्रय का त्याग करते ही सर्वाधार का आधार स्वतः प्राप्त होता है। जो सर्वाधार है, वही सभी का है। जो सभी का है, उसमें अविचल आस्था करना अत्यन्त आवश्यक है। उसकी आस्था अन्य आस्थाओं को शेष नहीं रहने देती, अर्थात् सर्वाधार की आस्था दृश्य की आस्था से मुक्त कर देती है। दृश्य से मुक्त होते ही साधक अपने ही में अपने साध्य को पाकर कृत-कृत्य हो जाता है और फिर किसी प्रकार का अभाव शेष नहीं रहता। इस वास्तविक जीवन की उपलब्धि वर्तमान का प्रश्न है, जो एकमात्र स्मृति से ही साध्य है। साधक जिसमें आस्था, श्रद्धा तथा विश्वास करता है, उसमें उसी की स्मृति जाग्रत होती है। जिसकी प्रतीति होती है, उस पर विचार किया जा सकता है, विश्वास नहीं। विचार करने

से प्रतीति की वास्तविकता का बोध होता है और विश्वास करने से दृश्य से सम्बन्ध हो जाता है, जिससे व्यर्थ-चिन्तन की उत्पत्ति होती है। अतः विश्वास करने योग्य एकमात्र वही है, जो सर्व का ज्ञाता है और जिसका और कोई ज्ञाता नहीं है। उसको किसी ने इन्द्रिय, बुद्धि आदि दृष्टियों से विषय नहीं किया। जिसको इन्द्रिय, बुद्धि आदि के द्वारा विषय नहीं किया जा सकता, उसी में श्रद्धा तथा विश्वास करना अनिवार्य है।

अब यदि कोई यह कहे कि जिसकी हमें बुद्धि-जन्य अनुभूति नहीं है, उसमें हम विश्वास नहीं करेंगे। तो क्या किसी ने अपने को बुद्धि-द्वारा अनुभव करके स्वीकार किया है ? सभी का यह कहना होगा कि हमें अपने को स्वीकार करने के लिये किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती और न किसी करण ही की आवश्यकता होती है। हम स्वयं ही अपने को अपने-आप स्वीकार करते हैं। इतना ही नहीं, शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि का हम स्वयं उपयोग करते हैं। ये सभी वस्तुएँ साधन-सामग्री के रूप में हैं। अब विचार यह करना है कि जब हम अपने को ही बिना बुद्धि आदि के समर्थन के स्वीकार कर लेते हैं, तो जिसकी जिज्ञासा तथा लालसा अपने में है, उसको क्या हम अपने द्वारा स्वीकार नहीं कर सकते ? अवश्य कर सकते हैं। यदि इस पर भी हम उसे स्वीकार करने में आपत्ति करते हैं, तो फिर क्या अपने में से समस्त स्वीकृतियों का अन्त करना आवश्यक नहीं हो जाता ? अपने में से समस्त स्वीकृतियों का अन्त करते ही व्यर्थ-चिन्तन का अपने-आप नाश हो जाता है, और फिर जो अपने में अपना है, उसकी सदा के लिये प्राप्ति हो जाती है; अर्थात, भोग, मोह और आसक्ति मिट जाती है और योग, बोध तथा प्रेम की अभिव्यक्ति स्वतः हो जाती है। इस दृष्टि से सर्वाधार को स्वीकार करना, अथवा सभी स्वीकृतियों को अस्वीकार करना व्यर्थ-चिन्तन के मिटाने में तथा अखण्ड-स्मृति के जगाने में समर्थ है। अतः सर्वाधार को स्वीकार करना, अथवा सभी स्वीकृतियों से रहित हो जाना सफलता की कुंजी है।

१३

देहाभिमान के रहते हुए आगे-पीछे का व्यर्थ-चिन्तन होता ही रहता है, यह प्रत्येक मानव का अपना अनुभव है। कार्य के अन्त में होने वाले चिन्तन को तटस्थ होकर देखना है। ऐसा करने से चिन्तन के मूल में जो अपनी वास्तविक माँग है, उसकी स्मृति जाग्रत होगी। माँग की पूर्ति किसी परिस्थिति से नहीं होती, प्रत्युत् प्राप्त परिस्थिति से असंग होने पर होती है। असंग होते ही देहाभिमान गल जाता है और फिर होने वाला व्यर्थ-चिन्तन निर्जीव होकर मिट जाता है। व्यक्तिगत भिन्नता के कारण श्रम की शक्ति सभी में भिन्न-भिन्न है। जो तत्त्व सभी के लिए समान है, उसी में सर्वतोमुखी विकास है।

देहाभिमान के रहते हुए आगे-पीछे का व्यर्थ-चिन्तन होता ही रहता है, यह प्रत्येक मानव का अपना अनुभव है। किन्तु व्यर्थ-चिन्तन किसी को अभीष्ट नहीं है। इस कारण उसकी निवृत्ति और सार्थक-चिन्तन की जागृति प्रत्येक साधक के लिये अनिवार्य है। इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए सर्वप्रथम पवित्र भाव से, लक्ष्य पर दृष्टि रखकर, विधिवत्, प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना है। कार्य के अन्त में होने वाले चिन्तन को तटस्थ होकर देखना है। ऐसा करने से चिन्तन में सजीवता नहीं रहेगी और फिर चिन्तन के मूल में जो अपनी वास्तविक माँग है, उसकी स्मृति जाग्रत होगी। माँग का बोध होने पर ही कर्त्तव्य का ज्ञान होता है। मानव की वास्तविक माँग क्या है, इस तथ्य पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि अभाव, नीरसता, पराधीनता, जड़ता और परिच्छिन्नता आदि विकारों से रहित जीवन चाहिए। इस माँग की पूर्त्ति किसी परिस्थिति से नहीं होती। तो फिर अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन का तथा प्राप्त परिस्थिति के तादात्म्य का

साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं रहता। अतः प्राप्त परिस्थिति से असंग होकर उसके सदुपयोग में साधक का अधिकार रह जाता है। प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग परिस्थितियों की दासता से मुक्त करने में समर्थ है।

जब साधक के जीवन में परिस्थितियों का महत्त्व नहीं रहता, तब साधक स्वयं अपने द्वारा सत्संगी होकर साधन-निष्ठ हो जाता है। कर्त्तव्य-परायणता, असंगता एवं आत्मीयता ही समस्त साधनों की भूमि है। कर्त्तव्य-परायणता से विश्व-शान्ति की समस्या हल हो जाती है और फिर साधक में स्वयं असंग होने की सामर्थ्य आ जाती है। असंग होते ही देहाभिमान गल जाता है और फिर होने वाला व्यर्थ-चिन्तन निर्जीव होकर स्वतः मिट जाता है। इस वास्तविकता का अनुभव करने के लिए साधक के लिए, जो नहीं करना चाहिए तथा जिसे नहीं कर सकते, उन प्रवृत्तियों का त्याग अनिवार्य है और फिर जो करना चाहिए तथा जिन्हें कर सकते हैं, उन प्रवृत्तियों को विद्यमान राग की निवृत्ति के लिये पूरा करना है। करने के राग से रहित होते ही स्वतः साधक को विश्राम की उपलब्धि होती है। विश्राम जीवन-तत्त्व है; क्योंकि उसी में सर्वतोमुखी विकास, अर्थात् शक्ति का सम्पादन, विचार का उदय तथा प्रीति की जागृति साधक की बनावट के अनुसार क्रमशः उदित होती है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि प्रत्येक साधक के लिए विश्राम का सम्पादन अत्यन्त आवश्यक है।

यह सभी को मान्य होगा कि दो व्यक्ति भी सर्वांश में सर्वदा समान रूप से श्रम नहीं कर सकते; क्योंकि सभी के पास समान सामर्थ्य नहीं है। इतना ही नहीं, श्रम से प्राप्त सामर्थ्य का व्यय ही होता है और विश्राम मिलते ही स्वतः सामर्थ्य का सम्पादन होने लगता है। इस वास्तविकता में आस्था करने पर विश्राम सभी के लिए प्राकृतिक नियमानुसार आवश्यक हो जाता है। विश्राम-काल में सभी मानव समान स्थिति में होते हैं। जो तथ्य सभी के लिए समान रूप से है, उसी में सर्वतोमुखी विकास है। इस दृष्टि से

जीवन को दो भागों में विभाजित करना आवश्यक हो जाता है- सामर्थ्य और विवेक के अनुरूप कार्य करना, और प्रत्येक कार्य के अन्त में शान्त होना। यह तभी सम्भव होगा जब साधक कर्त्तव्य-पालन के अभिमान से रहित होकर निष्काम हो जाय। निष्कामता से उदारता, समता एवं प्रियता पोषित होती है। इस दृष्टि से निष्कामता को अपना लेना सभी साधकों के लिए अत्यन्त आवश्यक है। कामनाओं की पूर्त्ति-अपूर्त्ति के द्वन्द्व में फँसा मानव न तो अपनी वास्तविक आवश्यकता का ही अनुभव कर पाता है और न अपने दायित्व को ही पूरा कर पाता है। आवश्यकता का अनुभव और अपने दायित्व की पूर्त्ति में ही विकास निहित है। इस दृष्टि से कामना-पूर्त्ति-अपूर्त्ति के द्वन्द्व का अन्त करना अनिवार्य है। यह तभी सम्भव होगा, जब मानव कामना-पूर्त्ति और अपूर्त्ति दोनों ही दशाओं में पराधीनता का अनुभव करे। कामना-पूर्त्ति की सुखद पराधीनता को स्वीकार करना, नवीन कामनाओं को जन्म देना है और कामना अपूर्त्ति के दुःख से भयभीत होना, अपने ही द्वारा अपना मूल्य घटाना है। यदि साधक विचार पूर्वक सुख-दुःख का सदुपयोग करने लगे, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक सुख की दासता तथा दुःख के भय से रहित हो जाता है, जिसके होते ही कामना-निवृत्ति अपने-आप आ जाती है। और फिर बड़ी ही सुगमतापूर्वक साधक निष्काम होकर जगत् के प्रति उदार और प्रभु का प्रेमी हो जाता है। इतना ही नहीं, उसे अपने लिए जगत् और जगत्पति से कुछ भी माँगना शेष नहीं रहता और सदा के लिए समता पाकर वह सर्व-दुःखों की निवृत्ति एवं परमानन्द को प्राप्त कर कृत कृत्य हो जाता है। इस दृष्टि से अपनी वास्तविक आवश्यकता का अनुभव एवं दायित्व को पूरा करना सफलता की कुंजी है।

१४

मानव-मात्र के लिए यह जानना आवश्यक है कि उसका लक्ष्य क्या है तथा उसकी प्राप्ति का साधन क्या है। लक्ष्य उसे कहते हैं, जिसकी प्राप्ति अनिवार्य हो। यह मानव-मात्र का प्रश्न है कि हमारा वास्तविक जीवन क्या है। उस जीवन की खोज करना, उसको जानना, उसे प्राप्त करना इस जीवन का परम पुरुषार्थ है। इस दृष्टि से हम सभी को अपने को उससे विमुख कर लेना है, जो वास्तविक जीवन नहीं है। आप विचार करेंगे तो मन, चित्त, बुद्धि, इन्द्रियाँ, पद, सामर्थ्य, योग्यता, परिस्थिति, इन सबसे अपने को असंग कर लेना होगा। ऐसा करते ही जो वास्तविक जीवन है, उसकी अभिव्यक्ति होगी।

मानव-जीवन बड़े ही महत्त्व का जीवन है। इसी जीवन में प्राणी अपने वास्तविक लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। इस दृष्टि से हमें इस बात पर विशेष ध्यान देना है कि हमारा वास्तविक लक्ष्य क्या है। इस सम्बन्ध में एक बात बड़े ही ध्यान से सामने रखनी है कि लक्ष्य उसे नहीं कहते, जिसकी प्राप्ति न हो और साधन उसे नहीं कहते कि जिसके करने में साधक स्वाधीन न हो। इन दोनों बातों को सामने रखने से हमारे जीवन में एक नवीन आशा का संचार होता है कि हम साधन कर सकते हैं और साध्य हमें प्राप्त हो सकता है।

अब विचार यह करना है कि वास्तव में जो साध्य हमें प्राप्त हो सकता है, वह है क्या, और हमें उसके लिए क्या साधन करना है। साध्य उसे ही कह सकते हैं कि जिससे हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता हो, अथवा जिससे हमारा नित्य सम्बन्ध हो। इस प्रश्न को सामने रखकर यदि विचार करें, तो यह सभी को स्पष्ट रूप से विदित हो जायगा कि किसी भी वस्तु से न तो

हमारा नित्य सम्बन्ध है और न उससे हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता ही है। जिससे हमारा नित्य सम्बन्ध नहीं है, उसको प्राप्त करना हमारा लक्ष्य नहीं हो सकता, वह हमारा साध्य नहीं हो सकता।

वस्तु कहते ही उसे हैं कि जिसकी उत्पत्ति हो, जिसका विनाश हो, जिसमें परिवर्तन हो और जो पर-प्रकाश्य हो; अर्थात् जो अपने को अपने-आप प्रकाशित न कर सके। इस परिभाषा के अनुसार हमारा शरीर भी एक वस्तु है। जब वह वस्तु है, तो उससे भी हमारा नित्य-सम्बन्ध नहीं हो सकता। जिससे नित्य-सम्बन्ध नहीं हो सकता, उससे आत्मीयता स्वीकार करना, अपनापन स्वीकार करना, उससे ममता कर लेना अपने ही विवेक का विरोध है। जिसमें अपने विवेक का विरोध है, वह त्याज्य है। इसका तात्पर्य कोई यह न समझे कि शरीर त्याज्य है, तो खुदकशी कर ली जाय। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि शरीररूपी जो वस्तु आपको प्राप्त है, उसका अच्छे-से-अच्छा उपयोग करें, किन्तु उससे नित्य-सम्बन्ध स्वीकार न करें। इसका अर्थ यह है कि एक तो यह न सोचें कि शरीर सदैव हमारे साथ रहेगा और दूसरी बात यह है कि यह न समझें कि शरीर हमारा है। यह बात व्यवहार में तो कही जाती है, पर यह सत्य नहीं है। जैसे एक मिल का मजदूर कह सकता है कि 'मिल मेरी है।' इंजीनियर भी कहता है कि 'मिल मेरी है।' यहाँ 'मेरी' का अर्थ यह नहीं कि वे मिल के मालिक हैं। उनका तात्पर्य इतना ही है कि वे मिल में काम करते हैं। इसी प्रकार यह जो हमारा शरीर है, जिसे हम अपना कहते हैं, उसके साथ भी हमारा उतना ही सम्बन्ध है, उससे अधिक नहीं। इन प्राप्त वस्तुओं के सदुपयोग में ही हमारा अधिकार है और उनके सदुपयोग से प्राकृतिक नियम के अनुसार साधन का निर्माण तथा साध्य की उपलब्धि होनी चाहिए। इससे अधिक वस्तुओं का जीवन में कोई महत्त्व नहीं है। तात्पर्य यह निकला कि वस्तुएँ जीवन नहीं हैं, अपितु साधन-सामग्री हैं।

इस दृष्टि से हम सबको यह समस्या अपने-आप हल करनी पड़ेगी कि हमारा लक्ष्य क्या है, हम चाहते क्या हैं, हमारी वास्तविक आवश्यकता क्या है ? वह कौन-सा जीवन है कि जिसके बिना हम रह नहीं सकते और जो हमारे बिना रह नहीं सकता ? यह प्रश्न मानव-मात्र का प्रश्न है। यह किसी वर्ग का प्रश्न नहीं है। यह किसी दल-विशेष या सम्प्रदाय-विशेष का प्रश्न नहीं है। यह मानव-मात्र का प्रश्न है कि हमारा वास्तविक जीवन क्या है ? उस जीवन की खोज करना, उसको जानना, उसे प्राप्त करना इस जीवन का परम पुरुषार्थ है। हमें यह बात तो मालूम हो गई कि किसी वस्तु से हमारा नित्य-सम्बन्ध नहीं है। अतः यह स्पष्ट है कि किसी वस्तु को प्राप्त करना हमारा लक्ष्य नहीं है। अब यहाँ एक बहुत बड़ा गम्भीर प्रश्न उपस्थित होगा-कुछ लोग कहेंगे कि वस्तु से रहित तो हम कुछ जानते ही नहीं। लेकिन विचार करें, यह बात आपके ही ज्ञान से कहाँ तक ठीक है ? आप ही स्वयं सोचें कि जिसके परिवर्तन का, जिसके अभाव का आपको ज्ञान है, वह परिवर्तनशील वस्तु आप कैसे हो सकते हैं ! आपको मानना ही पड़ेगा कि जिसे आप जानते हैं, वह आपसे भिन्न होगा। तो आप प्रत्येक वस्तु को जानते हैं, वस्तुओं की उत्पत्ति, उनके परिवर्तन तथा उनके अभाव को जानते हैं। आप यह नहीं कह सकते हैं कि हम वस्तुओं की उत्पत्ति, उनके परिवर्तन तथा अभाव को नहीं जानते। यहाँ किसी के हृदय में दार्शनिक द्वन्द्व उत्पन्न होगा। कुछ लोग यह कहेंगे कि जिसे जानना कहते हैं, वह भी तो इस शरीररूपी वस्तु का स्वभाव है। थोड़ी देर के लिए ऐसा विपक्ष स्थापित कर लें कि जिसे हम जानना कहते हैं, वह भी शरीररूपी वस्तु का ही कार्य है; इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण, शरीर-ये सब भी तो वस्तुएँ हैं और इन्हीं के द्वारा तो हम जानते हैं ! इन्द्रियों के द्वारा हम बहुत सी बातें जानते हैं, मन के द्वारा तथा बुद्धि के द्वारा हम बहुत सी बातें जानते हैं। तो आप कह सकते हैं कि शरीर से अलग भी जानने की कोई शक्ति है, यह सोचना ही अपने को धोखा देना है लेकिन, यदि हम पूछें कि आपकी बुद्धि जैसी इस

समय है, क्या बीस-पच्चीस वर्ष पहले भी ऐसी ही थी ? आपका तन, आपका मन, आपकी परिस्थिति, जैसी इस समय है, क्या वैसी ही पहले थी ? क्या वह आगे वैसी ही रहेगी ? कम-से-कम यह तो कहना ही पड़ेगा कि ये सब जैसे पहले थे, वैसे अब नहीं हैं। तो फिर यह मानने में क्या आपत्ति हो सकती है कि जैसे अब हैं, वैसे आगे नहीं रहेंगे अब यदि यह पूछा जाय कि परिस्थिति के, अवस्थाओं के परिवर्तन का ज्ञान तो आपको हुआ, लेकिन कभी आपको यह भी भास हुआ कि जो मैं पहले था, वह अब नहीं हूँ! आप सबको यह बात माननी पड़ेगी कि सचमुच यह भास नहीं हुआ। आप यह तर्क कर सकते हैं कि यदि यह मान भी लें कि हमें यह भास नहीं हुआ कि जो हम पहले थे, वह अब नहीं हैं। तो हम यह भी नहीं जानते कि हम क्या हैं ! बहुत ठीक; लेकिन क्या आपको यह भास होता है कि हम नहीं हैं ? आपको कहना पड़ेगा कि ऐसा भास तो नहीं होता कि हम नहीं हैं। हम हैं तो अवश्य, हमें अपनेपन का भास तो होता है, पर हम सचमुच यह नहीं जानते कि हम क्या हैं। जब हम सचमुच नहीं जानते कि हम क्या हैं, तब हमें निर्णय देने का क्या अधिकार है ? सन्देहकाल में कोई निर्णयात्मक बात नहीं कही जा सकती।

ऐसी स्थिति में हमारा एक आवश्यक प्रश्न यह हो सकता है कि हम क्या हैं ? अपने सम्बन्ध में हम जानना चाहते हैं। इसका बड़ा सीधा-सादा उपाय है कि जो शक्ति आप दूसरों के सम्बन्ध में जानने में लगाते हैं, उसे अपने को जानने में लगा दें। आप कहेंगे कि दूसरों को जानने में हम जो शक्ति लगाते हैं, उस शक्ति के द्वारा हम अपने सम्बन्ध में जान ही नहीं सकते। हम इन्द्रियों के द्वारा इन्द्रियों के विषयों को जानते हैं, मन के द्वारा इन्द्रियों को जानते हैं और बुद्धि के द्वारा मन आदि को जानते हैं। तो क्या इन सबके द्वारा हम अपने को जान सकेंगे ! अच्छा भाई, तो जिस मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि से हम अपने को नहीं जान सकते, तो कम-से-कम यह तो कर ही सकते हैं कि हम उन सबसे थोड़ी देर के लिए विमुख हो जायँ, उनसे सम्बन्ध तोड़ दें, थोड़ी देर के लिये

उनसे काम लेना बन्द कर दें।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि हम बुद्धि आदि से सम्बन्ध कैसे तोड़ सकते हैं ? इस सम्बन्ध में विचार यह करना है कि हम बुद्धि, मन, शरीरादि से काम लेते कब हैं ? आपको यह मानना पड़ेगा कि जब हम अपनी कामना पूरी करना चाहते हैं और इसके लिये हमको वस्तुओं की आवश्यकता होती है, तभी इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की आवश्यकता होती है। ज्ञान-विज्ञान, कलाओं और शिक्षा की भी आवश्यकता होती है। यह हम सबको मानना होगा कि बिना वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य और शिक्षा के कामना-पूर्त्ति नहीं हो सकती। यदि कामना-पूर्त्ति ही जीवन है, तो कहना पड़ेगा कि वस्तु ही जीवन है। और यदि यह निर्णय हो जाय कि कामना-पूर्ति मात्र ही जीवन नहीं है, उससे आगे भी जीवन हो सकता है, उससे विलक्षण भी जीवन हो सकता है, तब यह मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये कि वस्तु जीवन नहीं है।

कामना-पूर्त्ति के लिए वस्तु आवश्यक है, यह सिद्ध हो गया। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या आप कह सकते हैं, या संसार का कोई भी बड़े-से-बड़ा व्यक्ति कह सकता है कि मेरी सभी कामनाएँ पूरी हो जाती हैं, हो गई हैं या हो सकती हैं ? मैंने तो अभी तक नहीं सुना और न अपने जीवन में ही अनुभूति हुई कि सभी कामनाएँ पूरी हो गई हों। परन्तु यह बात भी नहीं है कि कोई कामना पूरी न हुई हो। देखने से यही मालूम होता है कि कुछ कामनाएँ तो पूरी हो ही जाती हैं, हम चाहें तो भी, न चाहें तो भी। कुछ कामनाएँ ऐसी भी हैं, जो पूरी होती ही नहीं हैं। जो कामनाएँ पूरी हो ही नहीं सकतीं, उन्हें जीवन में रखना कुछ अर्थ नहीं रखता और जो कामनाएँ पूरी हो ही जाती हैं, उनके लिए चिन्ता करना भी कुछ अर्थ नहीं रखता। इस प्रकार कामनाओं के साथ सम्बन्ध रखना कोई महत्त्व की बात नहीं मालूम होती, इसका कोई अर्थ जीवन में नहीं मालूम होता। अर्थात् कामना-पूर्त्ति ही जीवन नहीं है, वह जीवन का लक्ष्य नहीं है।

१५

यह सभी का अनुभव है कि कामना-पूर्त्ति जीवन नहीं है। तब यह प्रश्न बनता है कि कामना-पूर्त्ति का जीवन में स्थान क्या है ? कामना-पूर्त्ति की निस्सारता कामना निवृत्ति की प्रेरणा देती है। कामना की पूर्त्ति-अपूर्त्ति जीवन का लक्ष्य नहीं है। देह का अभिमान कामना-पूर्त्ति के सुख के आधार पर टिका रहता है। देहाभिमान का अन्त कर वास्तविक जीवन की अभिव्यक्ति का साधन है—(क) कामना अपूर्त्ति से भयभीत न होना (ख) कामना पूर्त्ति के सुख की दासता में आबद्ध न होना (ग) कामना निवृत्ति की शान्ति में भी रमण न करना।

यह सिद्ध हो जाने पर कि कामना-पूर्त्ति जीवन नहीं है, प्रश्न यह उपस्थित होता है कि फिर कामना-पूर्त्ति का जीवन में स्थान ही क्या है ? मैं यह नहीं कहता कि कामना-पूर्त्ति का जीवन में कोई स्थान नहीं है। उसका जीवन में स्थान है, पर कामना-निवृत्ति के लिए और जब कामना-पूर्त्ति कामना-निवृत्ति के लिए है, तो फिर कामना की पूर्त्ति-अपूर्त्ति लक्ष्य नहीं हो सकती, जीवन नहीं हो सकती। तब प्रश्न उठता है कि क्या कामना-निवृत्ति जीवन है ? अब आप विचार करें कि कामना-अपूर्त्ति में क्या भास होता है ? अभाव का ही भास होता है। और कामना-पूर्त्ति में सुख मालूम होता है तथा उस सुख का प्रभाव यह होता है कि जिन साधनों से कामना-पूर्त्ति होती है, उनकी अधीनता ही हमें मिलती है। परन्तु वे साधन सदा अभावरूप होते हैं, परिवर्तनशील और पर-प्रकाश्य होते हैं। तात्पर्य यह निकला कि कामना-पूर्त्ति का सुख हमें उन परिवर्तनशील अभावरूप साधनों की अधीनता और जड़ता में आबद्ध कर देता है। तो कामना-पूर्त्ति भले ही सुखद मालूम हो, उसका परिणाम तो संसार के किसी मानव को अभीष्ट

नहीं हो सकता। अतः कामना-पर्ति मात्र में जीवन नहीं हो सकता और जब कामना-पूर्त्ति में जीवन नहीं है, तो कामना-अपूर्त्ति का भय कुछ अर्थ नहीं रखता। क्योंकि जब कामना-पूर्ति जीवन नहीं है, तो फिर कामना चाहे पूरी हो या न हो, उसमें विशेष अन्तर नहीं है। हाँ, एक अन्तर अवश्य है- कामना-पूर्त्ति के पूर्व उसके प्रति मन में जो प्रलोभन बैठा रहता है कि न जाने कितना सुख कामना-पूर्त्ति में होगा, वह प्रलोभन बिना कामना-पूत्ति के सुख का अनुभव किये दूर नहीं हो सकता। बस, इतनी बात के लिये कि कामना-पूर्ति में कितना सुख है, इसको जानने के लिए कामना-पूर्ति का जीवन में कुछ स्थान है। इसी बात को दार्शनिक भाषा में इस प्रकार कह सकते हैं कि विद्यमान राग की वास्तविकता को जानने तथा उसकी निवृत्ति के लिये ही कामना-पूर्ति साधन-मात्र है।

अब रही कामना-अपूर्त्ति, जो दुःख देती है। उसका भी जीवन में स्थान है। कामना-पूर्ति का जीवन जब आपको पराधीन बना देता है, जड़ता में आबद्ध कर देता है, जो आपको अभीष्ट नहीं है, तो क्या आपके सामने यह प्रश्न नहीं आता कि कामना-पूर्त्ति के ऊपर का जीवन आपको चाहिये ? कामना-पूर्त्ति क्या उस जीवन की खोज में सहायक नहीं है, साधन-रूप नहीं है ? आपको मानना पड़ेगा कि अवश्य है। इस दृष्टि से प्रकृति का विधान मंगलमय ही है कि कुछ कामनाएँ पूरी हो जाती हैं और कुछ पूरी नहीं होतीं। जो कामनाएँ पूरी हो जाती हैं, वे सुख की वास्तविकता का परिचय कराने में समर्थ हैं और जो पूरी नहीं होतीं, वे दुःख की जागृति के द्वारा कामना-पूर्त्ति के ऊपर के जीवन में ले जाने में सहायक होती हैं। अतः कामना-अपूर्त्ति का भी हमें उतना ही स्वागत करना है, जितना कि कामना-पूर्त्ति का। हमें यह बात बड़ी गम्भीरता के साथ अपने जीवन में रखनी है कि कामना-पूर्ति और अपूर्त्ति दोनों में हमारा विकास निहित है। इस दृष्टि से संसार में जो दुःख है, वह भी विकास का साधन है और जो सुख है, वह

भी विकास का साधन है। सुख-दुःख जीवन नहीं हैं, परन्तु साधन-सामग्री अवश्य हैं। इस दृष्टि से आये हुए सुख का भी और आये हुए दुःख का भी हमें स्वागत करना है। सुख का भी सदुपयोग करना है और दुःख का भी। जब हम आये हुए सुख-दुःख का सदुपयोग करना सीख जायेंगे, तो हमारा जीवन साधन-निष्ठ हो जायगा। फिर भी हमारा आरम्भिक प्रश्न तो ज्यों-का-त्यों रहा कि हमारा साध्य क्या है ?

इतनी बात तो स्पष्ट हो गई कि सुख-दुःख हमारा जीवन नहीं है, वह हमारा साध्य नहीं हो सकता। अब आगे विचार कीजिये कि जब सुख हमारा साध्य नहीं है, तो उसकी दासता हममें नहीं रह सकती और न दुःख का भय ही रह सकता है। एक बात और समझने की है कि जो अपना साध्य नहीं रहता, वह अपने-आप आता है और जाता भी अपने-आप ही है। साध्य से भिन्न जो कुछ भी होगा, वह आपके साथ रह नहीं सकता। इसलिए आया हुआ सुख भी नहीं रहेगा और आया हुआ दुःख भी नहीं रहेगा। परन्तु सुख की दासता सुख को बनाये रखने के लिए और दुःख का भय दुःख को न आने देने के लिए हमें प्रेरित करता है। हमारी यह प्रेरणा मानव की प्रेरणा नहीं है। यह देहाभिमानी व्यक्ति की प्रेरणा है। तो क्या देहाभिमानी व्यक्ति को मानव नहीं कह सकते ? बोलचाल की भाषा में उसे भले ही मानव कहें, पर वास्तव में दार्शनिक भाषा में उसे मानव नहीं कहा जा सकता। जिसे आप मानव कहते हैं, वह वास्तविक 'मानव' तभी हो सकेगा, जब उसमें देहाभिमान न रहे।

अब देह का अभिमान गलाने के लिए पहली आवश्यक बात यह जानना है कि देहाभिमान किस बात पर टिका है ? तब फिर वही पहली बात सामने आयेगी कि कामना-पूर्त्ति जीवन नहीं है। कामना-पूर्त्ति के आधार पर ही वस्तु से सम्बन्ध रहता है। वस्तु से सम्बन्ध तोड़ने पर देहाभिमान गल जाता है। यहाँ एक बात और बहुत गम्भीरता से सोचने की है कि जब कामना-पूर्त्ति जीवन नहीं

है, तो कामना-अपूर्त्ति का दुःख भी नहीं हो सकता। यदि हम ऐसी स्थिति में रह सकें, जहाँ कामना-अपूर्त्ति का दुःख न हो और पूर्त्ति के सुख का भोग न हो, तो हम उस जीवन को जानने में समर्थ हो सकते हैं, जो कामना-पूर्त्ति और अपूर्त्ति से अतीत है। आप कह सकते हैं कि यह अवस्था अखण्ड नहीं रह सकती, कुछ देर बाद कोई-न-कोई कामना उठेगी और कामना-पूर्त्ति-अपूर्त्ति का चक्र चलता ही रहेगा; क्योंकि अखण्ड न कामना-पूर्त्ति है, न अपूर्त्ति, न उत्पत्ति। इनके मूल में एक ऐसी स्थिति भी होती है, जिसे न पूर्त्ति कह सकते हैं, न अपूर्त्ति। जैसे, बोलने के बाद चुप भी होते हैं और दुबारा बोलते भी हैं; चलने के बाद स्थिर भी होते हैं और फिर चलते भी हैं। अतः कामना-पूर्त्ति और अपूर्त्ति के बीच में एक मध्यकाल भी होता है, जब एक कामना पूरी हो जाती है और दूसरी की उत्पत्ति नहीं होती। इसका नाम कामना-निवृत्ति रखा जा सकता है। वह भी एक अवस्था है, जो अखण्ड नहीं हो सकती। परिणाम यह निकला कि कामना की पूर्त्ति, अपूर्त्ति और निवृत्ति तीनों ही अवस्थाएँ हैं। अवस्थाएँ जितनी होंगी, वे सब पर-प्रकाश्य होंगी, वे नित्य नहीं हो सकतीं, अखण्ड नहीं हो सकतीं। यद्यपि तीनों अवस्थाओं में बड़ा अन्तर है-कामना-अपूर्त्ति-काल में दुःख का भास होता है, पूर्त्ति-काल में सुख का भास होता है और निवृत्ति-काल में शान्ति का। और ये एक की अपेक्षा सुखद और उत्कृष्ट भी हो सकती हैं। फिर भी वे जीवन नहीं हो सकतीं और जो जीवन नहीं है, उसे अपना लक्ष्य नहीं कह सकते।

फिर वही प्रश्न उठता है कि हमारा लक्ष्य क्या है ? तो लक्ष्य वही हो सकता है, जो उपर्युक्त तीनों अवस्थाओं से विलक्षण हो। निषेधात्मक दृष्टि से यही कह सकते हैं कि कामना-पूर्त्ति, अपूर्त्ति और निवृत्ति से अतीत जो जीवन है, वही हमारा लक्ष्य हो सकता है। अब विचार कीजिये कि जो इन सबसे अतीत है, वह जीवन क्या अभावरूप होगा, परिवर्तनशील होगा, पर-प्रकाश्य होगा ? कहना पड़ेगा कि नहीं होगा, क्योंकि वह उत्पन्न होने वाला

जीवन नहीं है। जिसकी उत्पत्ति होती है, उसके सम्बन्ध में तो परिवर्तन की बात कही जा सकती है और जड़ता की भी बात कही जा सकती है। किन्तु जिसकी उत्पत्ति नहीं होती, उसके सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि वह परिवर्तनशील और पर-प्रकाश्य है। तो जो पर-प्रकाश्य नहीं होगा, उसे क्या कहेंगे?उसे यही कहेंगे कि जो अपने को आप प्रकाशित करने में समर्थ हो, वही हमारा वास्तविक जीवन हो सकता है और वही हमारा लक्ष्य भी हो सकता है। अच्छा, जो अपने को आप प्रकाशित करने में समर्थ है, उसके जानने के लिए, क्या अन्य साधन की अपेक्षा होगी ? कहना पड़ेगा कि नहीं। तात्पर्य यह निकला कि वह जीवन अपने ही द्वारा आप जाना जाता है, अर्थात् उस जीवन से ही जाना जाता है। तो प्रश्न उठेगा कि उस जीवन तक पहुँचें कैसे ?

उस तक पहुँचने का सीधा उपाय है कि -(१) कामना-अपूर्त्ति से भयभीत होना बन्द कर दें, (२) कामना-पूर्त्ति के सुख की दासता में रमण न करें, (३) कामना-पूर्त्ति के सुख का भोग न करें और (४) कामना-निवृत्ति की शान्ति में भी रमण न करें। यह वास्तविक जीवन की प्राप्ति का स्वाभाविक साधन है। इसी बात को यदि सरल शब्दों में कहा जाय, तो कहना होगा कि जीवन में जो सुख-दुःख और शान्ति का भोग है, उसे छोड़ दें। यह तो लोग कहते हैं कि अब हम शान्त रहना चाहते हैं, अमुक सुख भोगना चाहते हैं; यह कोई नहीं कहता कि हम दुःख भोगना चाहते हैं। पर सुख के भोग में दुःख का भोग निहित रहता है, सुख भोगने के लिए दुःख अपेक्षित रहता है। जैसे, भोजन का सुख भोगने के लिए भूख का दुःख पहले भोगना पड़ता है। तो हमें सुख भी नहीं भोगना है, दुःख भी नहीं और शान्ति भी नहीं भोगनी है। शान्ति का भोग न करने से क्या लाभ होगा ? सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि शान्ति जीवन की ओर ले जायगी। उससे जीवन की प्राप्ति की सामर्थ्य आयेगी। यदि शान्ति का भोग करते रहेंगे, तो सबसे

बड़ी हानि यह होगी कि हमारे भोक्तापन के स्वभाव का नाश नहीं होगा। यदि शान्ति के भोग से भोगने के स्वभाव का नाश हो गया होता, तो प्रत्येक प्रवृत्ति के आदि और अन्त में जो शान्ति सभी को प्राप्त होती है, उससे सामर्थ्य प्राप्त कर सुख-दुःख के भोग में फिर न लगते। अतः शान्ति सामर्थ्य-सम्पादन के लिए है, भोग के लिए नहीं है। जीवन में जो सुख है, वह सुख की वास्तविकता जानने के लिए है, भोग के लिए नहीं। दुःख जागृति के लिए है, भयभीत होने के लिए नहीं। दुःख से जागृति प्राप्त करना है, सुख से सुख की वास्तविकता को जानना है और शान्ति से आवश्यक सामर्थ्य का सम्पादन करना है। जिस साधन से सामर्थ्य का सम्पादन हो, उसे यदि हम भोगने लग जायँ, तो सामर्थ्य का सम्पादन नहीं होगा। इस दृष्टि से शान्ति में भी रमण नहीं करना है। परन्तु सुख की दासता से मुक्त होकर, दुःख के भय से मुक्त होकर, शान्ति को प्राप्त अवश्य करना है। शान्ति को प्राप्त करने के लिये एक साधारण साधन की बात का यहाँ निवेदन करना है। सबसे पहली बात यह है कि वर्तमान कार्य जिसे करना हो, अथवा जिसे बिना किये नहीं रह सकते और जिससे किसी का अहित नहीं है, उस वर्तमान कार्य को इतनी सुन्दरता से करें कि जितनी सुन्दरता से कर सकते हैं। ऐसा करने से करने का जो राग है, वह नष्ट हो जायगा और जब करने का राग नष्ट हो जायगा, तब कार्य के अन्त में आपको शान्ति मिलेगी। परन्तु यदि आपने उस किये हुए कार्य से फल की आशा कर ली, या उस कार्य में जो क्रिया-जनित सुख है, उसका भोग किया, तो तमाम शान्ति भंग हो जायगी। इन दो बातें की ओर ध्यान रखना है कि वर्तमान कार्य सुन्दर-से-सुन्दर करना, और उसके फल की आशा न करना। तब कार्य के अन्त में शान्ति सुरक्षित रहेगी। शान्ति का यह स्वभाव है कि आवश्यक सामर्थ्य प्रदान करेगी, जिससे हमें वह जीवन मिल सकेगा, जो हमारा लक्ष्य है।

१६

जो 'हैं' उसमें विश्वास करना और जो 'नहीं' है, उसके अस्तित्व को अस्वीकार करना प्रत्येक साधक के लिये अनिवार्य है। सत्य को स्वीकार करने से सत्य में आत्मीयता और असत्य को अस्वीकार करने से उससे असंगता स्वतः होती है। साधक की जिसमें आत्मीयता होती है, उसमें सहज स्नेह तथा अगाध प्रियता स्वतः होती है। और जिससे असंगता हो जाती है, साधक उसके प्रभाव से मुक्त हो जाता है। सृष्टि और सृष्टि के प्रकाशक से साधक का अविभाज्य सम्बन्ध है—इस बात की विस्मृति न हो, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक राग-द्वेष की निवृत्ति एवं स्वाधीनता तथा प्रेम की प्राप्ति हो जाती है। 'हैं' के नाते 'नहीं' को अपना माना जा सकता है। और इस प्रकार सर्वात्मभाव को स्वीकार करने पर उदारता तथा निष्कामता सुदृढ़ होती है, जिसके होते ही अनन्त में आत्मीयता एवं विश्व में सर्वात्मभाव आ जाता है, जो सफलता की कुंजी है।

यह सर्वमान्य सत्य है कि जो 'हैं', वह सदैव है, सर्वत्र है, सभी का है और अद्वितीय है। उसमें अविचल आस्था करना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है। और जो 'नहीं' है, वह कभी नहीं है, किसी का नहीं और कहीं नहीं है। उसके अस्तित्व को अस्वीकार करना भी साधक-मात्र के लिए अत्यन्त आवश्यक है। स्वीकार करना और अस्वीकार करना, यह साधक का स्वधर्म है। सत् को स्वीकार करने से सत् में आत्मीयता और असत् को अस्वीकार करने से असत् से असंगता स्वतः होती है। साधक की जिसमें आत्मीयता होती है, उसमें सहज स्नेह और अगाध-प्रियता स्वतः होती है और जिससे असंगता हो जाती है, साधक उसके प्रभाव से रहित हो जाता है। प्रियता में अनन्त-रस विद्यमान है, जिसकी माँग प्रत्येक साधक को स्वभाव से है। साधक जिसके

प्रभाव से रहित हो जाता है, उससे वह सदा के लिए मुक्त हो जाता है। मुक्ति में चिर-शान्ति तथा अमरत्व विद्यमान है। जिसकी साधक को प्रतीति हो और उसमें प्रवृत्ति भी हो, किन्तु प्राप्त न हो, वह वास्तव में 'है' नहीं। 'नहीं' को 'है' के रूप में स्वीकार करना प्रमाद ही है और कुछ नहीं, जिसकी निवृत्ति प्रत्येक साधक को अभीष्ट है। जिसकी प्रतीति होती है, उसको जानने की और प्राप्त करने की कामना उत्पन्न हो जाने पर साधक पराधीनता तथा बेबसी एवं अभाव का अनुभव करता है। यद्यपि प्रत्येक साधक को अभाव में आबद्ध रहना रुचिकर नहीं है, अपितु अभाव-का-अभाव ही अभीष्ट है, अर्थात् पूर्णता ही उसकी अपनी माँग है।

माँग की पूर्ति और कामनाओं की निवृत्ति होती है, यह वैधानिक तथ्य है। प्रतीति की कामना साधक को 'है' से विमुख करती है। निष्काम होते ही 'है' में प्रियता हो जाती है और 'नहीं' में आसक्ति शेष नहीं रहती। प्रियता से दूरी, भेद, भिन्नता सब मिट जाते हैं और फिर साधक साध्य से अभिन्न हो जाता है। आसक्ति-रहित होते ही साधक स्वाधीन हो जाता है और फिर वह अपने ही में अपने साध्य को पाकर सदा के लिए जड़ता, अभाव एवं नीरसता से रहित हो जाता है, जो सभी को अभीष्ट है। इस दृष्टि से प्रियता और अनासक्ति में ही जीवन है। प्रतीति का प्रकाशक और उत्पत्ति का आधार जो है, वही 'है' है। उससे भिन्न जो प्रतीति है, वह वास्तव में 'नहीं' है। 'नहीं' में 'है-बुद्धि' रखना साधक की अपनी भूल है। भूल-रहित होने का दायित्व साधक पर है। ज्यों-ज्यों साध्य की माँग सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों साधक में भूल-रहित होने की सामर्थ्य आती जाती है। सामर्थ्य साध्य की देन है। साधक को उसका सदुपयोग करना है, जिसकी स्वाधीनता उसको प्राप्त है। स्वाधीनता के दुरुपयोग से ही साधक असाधन में आबद्ध हो गया है। इस दृष्टि से स्वाधीनता का सदुपयोग ही सर्वतोमुखी विकास का मूल है।

असमर्थता सामर्थ्य के दुरुपयोग से उत्पन्न होती है। सामर्थ्य

का सदुपयोग करने से उत्तरोत्तर उसकी वृद्धि ही होती रहती है। यह सर्व-समर्थ की सहज उदारता है। उदारता से प्रेरित होकर ही साध्य ने अपने ही में से साधक का निर्माण किया है। इस कारण साधक की साध्य से जातीय एकता तथा नित्य-सम्बन्ध है। प्राप्ति उसी की होती है, जिससे नित्य-सम्बन्ध है। साधक का जिससे नित्य-सम्बन्ध है, उसका उसने इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा अनुभव नहीं किया। जिसका इन्द्रिय आदि के द्वारा अनुभव किया, उससे साधक की जातीय एकता तथा नित्य-सम्बन्ध नहीं है। जिससे नित्य-सम्बंध तथा जातीय एकता नहीं है, उससे निर्मम तथा निष्काम होना अनिवार्य है और जिससे जातीय एकता तथा नित्य-सम्बन्ध है, उससे आत्मीयता स्वीकार करना अत्यन्त आवश्यक है, जिसे साधक स्वाधीनतापूर्वक कर सकता है। वह जो कर सकता है, वही करना है। उसके करने पर कुछ भी करना शेष नहीं रहता। जब करना शेष नहीं रहता, तब जो होना चाहिए, वह स्वतः होने लगता है। करने से रहित और होने से असंगता आ जाने पर साधक को 'है' की प्राप्ति होती है।

'है' के नाते 'नहीं' को अपना माना जा सकता है, किन्तु अचाह होकर। चाह-रहित हुए बिना 'नहीं' में 'है-बुद्धि' का नाश नहीं होता। जब तक 'नहीं' में से 'है-बुद्धि' का नाश नहीं होता, तब तक 'है' में अविचल आस्था नहीं होती और आस्था के बिना श्रद्धा तथा विश्वास की अभिव्यक्ति नहीं होती और श्रद्धा, विश्वास के बिना आत्मीयता सजीव नहीं होती। आत्मीयता के बिना अखण्ड स्मृति सम्भव नहीं है। अचाह होने से 'है' में आस्था और सृष्टि के प्रति उदारता आ जाती है। जो 'है' उसकी प्रियता और सृष्टि के प्रति उदारता रस-रूप है, अर्थात् साधक का जीवन रस से परिपूर्ण हो जाता है। उदारता से प्रियता और प्रियता से उदारता उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है। इस कारण प्रत्येक साधक के लिये चाह-रहित होना अनिवार्य है। जिसे कुछ भी चाहिये, वह उदार तथा प्रेमी नहीं हो सकता और बिना उदार तथा प्रेमी हुए रस की अभिव्यक्ति

नहीं होती।

सृष्टि तथा सृष्टि के प्रकाशक से साधक का अविभाज्य सम्बन्ध है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब साधक को अपने लिए कुछ नहीं चाहिए। अचाह होने के लिए ही साधक को विवेकरूपी प्रकाश मिला है। यह सभी साधकों का अनुभव है कि सभी कामनाएँ विश्व के इतिहास में कभी किसी की पूरी नहीं हुईं और कुछ कामनाएँ सभी की पूरी हुईं। इस विधान से भी निष्काम होने की ही प्रेरणा मिलती है। निष्काम होने पर साधक को शान्ति, स्वाधीनता, उदारता एवं प्रियता की प्राप्ति होती है। शान्ति सामर्थ्य की जननी है। स्वाधीनता में अमरत्व निहित है। उदारता सर्वात्मभाव को पोषित करती है और प्रियता नित-नव-रस का स्रोत है।

सृष्टि और सृष्टि के प्रकाशक से अविभाज्य सम्बन्ध की विस्मृति न हो, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक राग-द्वेष की निवृत्ति तथा स्वाधीनता एवं प्रेम की प्राप्ति अपने-आप हो जाती है, जो वास्तविक जीवन है। अपने सुख, अर्थात् कामना-पूर्त्ति के लिए सृष्टि और उसके प्रकाशक को स्वीकार किया जाय, तो सृष्टि और उसके प्रकाशक से भिन्नता हो जाती है, एकता नहीं रहती। एकता के बिना समता और उदारता की अभिव्यक्ति नहीं होती। इस कारण निष्काम होकर ही सर्वात्मभाव तथा अनन्त से जातीय एकता, नित्य-सम्बन्ध एवं आत्मीयता होती है, जो योग-बोध-प्रेम में हेतु है। योग में शक्ति, बोध में मुक्ति और प्रेम में भक्ति निहित है। इनमें स्वरूप से भिन्नता नहीं है, केवल रस का भेद है। योग में शान्त रस, बोध में अखण्ड रस और प्रेम में अनन्त रस है। रस की उपलब्धि के बिना नीरसता का सर्वांश में नाश नहीं होता और उसके बिना हुए साधक आप्तकाम तथा आत्माराम नहीं होता एवं प्रेम-तत्त्व से अभिन्नता भी नहीं होती, जो साध्य का स्वभाव तथा साधक का जीवन है।

साधक, साधन-तत्त्व और साध्य में सत्ता साध्य ही की है।

जब साधक के प्रमाद से उत्पन्न हुआ असाधन नहीं रहता, तब साधक में ही साधन-तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है, जो साध्य से अभिन्न करने में समर्थ है। साधन-तत्त्व तथा साध्य से साधक तभी तक भिन्नता अनुभव करता है, जब तक वह भोग, मोह और आसक्ति से रहित नहीं होता। सुख-भोग की रुचि का सर्वांश में नाश होते ही अहंरूपी अणु नष्ट हो जाता है। जिसके होते ही स्वतः योग-बोध-प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, जो वास्तव में साधन-तत्त्व है। साधन-तत्त्व की अभिव्यक्ति के लिए साधक में उत्कट लालसा तथा नित-नव उत्साह की जागृति होनी चाहिए। साधक ज्यों-ज्यों साध्य की महिमा को अपनाता है, त्यों-त्यों उत्कट लालसा तथा नित-नव उत्साह की जागृति होती है। इस कारण साधक के लिए साध्य के महत्त्व को स्वीकार करना परम आवश्यक है। साध्य के महत्त्व को स्वीकार करते ही साधक की सभी समस्याएँ स्वतः हल हो जाती हैं। वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि के महत्त्व ने ही साधक को साध्य के महत्त्व से वंचित किया है। आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन तथा विभाजन, प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग एवं निर्विकल्प अवस्था आदि साधन-रूप भले ही हों, किन्तु इनका आश्रय लेना अहंरूपी अणु को जीवित रखना है, जो भेद तथा भिन्नता में हेतु है। भेद और भिन्नता का अन्त हुए बिना परिच्छिन्नता का सर्वांश में नाश नहीं होता और न निर्भयता, समता, मुदिता की अभिव्यक्ति ही होती है। इस कारण परिच्छिन्नता का अन्त करने के लिए अहंरूपी अणु का नाश अनिवार्य है, जो एकमात्र अचाह, अप्रयत्न एवं अभिन्नता से ही साध्य है।

जिसका कुछ नहीं है और जिसे कुछ नहीं चाहिए, उसे अपने लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता, अर्थात् वह अप्रयत्न हो जाता है। जिसके होते ही साधक में स्वतः उदारता, समता एवं प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। उदारता, अर्थात् सर्वात्म-भाव आ जाने पर निर्वासना, निर्वैरता तथा निर्भयता अपने-आप आ जाती है, जो विकास का मूल है। समता से ही सब दुःखों की निवृत्ति

तथा अमरत्व की प्राप्ति होती है और प्रियता से अहम्-रूपी अणु शेष नहीं रहता, क्योंकि प्रेम जिसमें उदित होता है, उसे अपने से अभिन्न कर लेता है। अर्थात् प्रेम-तत्त्व की अभिव्यक्ति होने पर प्रेम से भिन्न प्रेमी का कोई अस्तित्व नहीं रहता और फिर प्रेम और प्रेमास्पद का नित्य-विहार स्वतः होता रहता है; क्योंकि प्रेम और प्रेमास्पद दोनों ही अविनाशी हैं, अनन्त हैं, अनुपम हैं। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब साधक योग से प्राप्त चिर-शान्ति और बोध से प्राप्त जीवनमुक्ति को ही अपना लक्ष्य नहीं मानता। यद्यपि चिरशान्ति तथा जीवन मुक्ति के बिना प्रेम-तत्त्व की अभिव्यक्ति नहीं होती, परन्तु उनमें सन्तुष्ट हो जाना अहम्-रूपी अणु को जीवित रखना है। चिर-शान्ति बोध में और बोध प्रेम में विलीन हो जाता है। इन तीनों में जातीय तथा स्वरूप की एकता है। जैसे वृक्ष, फल तथा रस में एकता है। उसी प्रकार चिर-शान्ति बोध और प्रेम में एकता है। शान्ति में रमण न करने तथा बोध में सन्तुष्ट न होने पर स्वतः प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। इतना ही नहीं, योग में ज्ञान और ज्ञान में प्रेम ओत-प्रोत है।

अहं-रूपी अणु में समस्त विश्व और अनन्त में अहम् विद्यमान है। स्वतन्त्र सत्ता उसी की है, जो अनन्त है। जिसकी स्वतन्त्र सत्ता है, उसकी आत्मीयता साधन-रूप है और जो अहम् में है उसके प्रति सर्वात्मभाव साधन-रूप है सर्वात्मभाव स्वीकार करने पर उदारता तथा निष्कामता सुदृढ़ होती है, जिसके होते ही कोई और नहीं है, यह बोध हो जाता है। सभी अपने हैं, अर्थात् विश्व और विश्वनाथ अपने ही हैं-इस दृष्टि से अनन्त में आत्मीयता और विश्व में सर्वात्मभाव स्वीकार करना सफलता की कुंजी है।

१७

अहंरूपी अणु में समस्त विश्व और अनन्त में अहम् विद्यमान है। जिसकी स्वतन्त्र सत्ता है, उस अनन्त की आत्मीयता साधन-रूप है और जो अहम् में है, उस विश्व के प्रति सर्वात्म-भाव साधन-रूप है। काम की निवृत्ति में साधक के प्रयास की परावधि है। समस्त प्रवृत्ति का मूलाधार विश्राम है। विश्राम के सम्पादन के लिए इस तथ्य को स्वीकार करना आवश्यक है कि इच्छाओं की उत्पत्ति नवीन कर्म नहीं है, अपितु भूतकालिक प्रवृत्तियों का संस्कार है। इस दृष्टि से इच्छाओं का समर्थन न किया जाय, तो भुक्त-अभुक्त का प्रभाव मिटकर सहज विश्राम मिलता है।

अपनेपन का भास मानव-मात्र का अपना सत्य है। किन्तु जब मानव अपने में प्रतीत होने वाले जगत् की आवश्यकता का अनुभव करता है, तब शरीर, इन्द्रिय, मैन, बुद्धि आदि के द्वारा किसी-न-किसी रुचिकर प्रवृत्ति को अपनाता है। यद्यपि प्रवृत्ति के परिणाम में उसे किसी अस्ति-तत्त्व की प्राप्ति नहीं होती, अपितु प्राप्त सामर्थ्य का व्यय ही होता है और अन्त में विवश होकर अपने-आप आने वाली निवृत्ति को कुछ काल के लिए स्वीकार करता है, अर्थात् निवृत्ति के बिना किसी प्रकार भी रह नहीं सकता। प्रवृत्ति-जनित क्रियाओं में जीवन-बुद्धि स्वीकार करने से निवृत्ति-काल में भी प्रवृत्ति की रुचि शेष रहती है और मानव प्रवृत्ति के परिणाम को भूल जाता है। उसका यह भयंकर परिणाम होता है कि बार-बार प्रवृत्ति का आह्वान करता है। प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का व्यय अपने सुख के लिये करता रहता है और परिणाम में अभाव ही पाता है। इस तथ्य का मानव अपने द्वारा अपने में अनुभव कर सकता है। अभाव-काल में भी दृश्य का चिन्तन होने लगता है, जो उसे स्वभाव से प्रिय नहीं है। उस अपने-आप होने वाले चिन्तन को मिटाने के लिए भिन्न-भिन्न

प्रकार के चिन्तनों को वह आरम्भ करता है, किन्तु किसी भी चिन्तन से चिन्तन का सर्वांश में नाश नहीं होता। जिस प्रकार बाह्य प्रवृत्ति से असमर्थता का अनुभव कर प्रवृत्ति की रुचि को रखते हुए विवश होकर वह निवृत्ति को अपनाता है, उसी प्रकार वह बलपूर्वक किये हुए चिन्तन के द्वारा होने वाले चिन्तन का नाश न होने पर भी, चिन्तन से चिन्तन को दबाता रहता है और अन्त में व्यर्थ चिन्तन से मुक्त न होने वाली दशा में आबद्ध होता रहता है। इस वस्तुस्थिति का अनुभव प्रायः उन सभी साधकों को होता है, जिन्होंने चिन्तन द्वारा बल-पूर्वक व्यर्थ चिन्तन को मिटाने का प्रयास किया है। चिन्तन से चिन्तन दबता है, मिटता नहीं। इतना ही नहीं, कालान्तर में किये हुए चिन्तन का भी चिन्तन होने लगता है। जिसका चिन्तन किया, उससे दूरी, भेद तथा भिन्नता ज्यों-की-त्यों शेष रहती है, यद्यपि उसका चिन्तन दृश्य के चिन्तन की अपेक्षा कहीं अधिक सुखद प्रतीत होता है। इतना ही नहीं, भविष्य में उसकी उपलब्धि की आशा रहती है, जिसका उसने बल-पूर्वक चिन्तन किया है।

प्राकृतिक नियमानुसार बल का उपयोग एकमात्र शरीर, परिवार, समाज, संसार आदि की सेवा में ही किया जा सकता है। उसके द्वारा अविनाशी जीवन की उपलब्धि नहीं हो सकती। किन्तु इस रहस्य पर साधक-समाज विचार न करके बलपूर्वक, अर्थात् परिश्रम तथा पराश्रय के द्वारा विद्यमान अविनाशी जीवन को प्राप्त करना चाहता है और परिणाम में असफलता ही पाता है। विद्यमान अविनाशी जीवन में बिना ही श्रम के अविचल आस्था की जा सकती है। अपने में जिसकी माँग है, उसमें आस्था करना सहज तथा स्वाभाविक है। अपनी आस्था में विकल्प न करने से आस्था सजीव होती है। ज्यों-ज्यों आस्था सजीव होती जाती है, त्यों-त्यों बाह्य दृश्य का प्रभाव स्वतः मिटता जाता है। दृश्य के प्रभाव से ही अपने में दृश्य का चिन्तन होता है, जिसके मिटाने के लिए साधक बलपूर्वक अन्य चिन्तन करता है। यदि बाह्य दृश्य की भाँति अपने में होने वाले चिन्तन से भी असहयोग कर लिया जाय,

तो साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक अपनी आस्था में अपने को सन्तुष्ट कर सकता है और फिर सदा के लिये व्यर्थ चिन्तन से रहित हो सकता है।

आस्था उसमें होती है, जिसका अस्तित्व और अनेक इच्छाओं के मूल में माँग भी उसी की होती है, जो विद्यमान परम तत्त्व है। माँग की पूर्ति और इच्छाओं की निवृत्ति प्रत्येक साधक को अभीष्ट है। यदि साधक अस्ति-तत्त्व में आस्था करे, तो उसकी उपलब्धि होती है। किन्तु प्रतीत होने वाले दृश्य को पसन्द करने से तो बेचारा व्यर्थ-चिन्तन ही में आबद्ध रहता है और प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के आवर्तन चक्र में फँसा रहता है, जो किसी भी मानव को कभी भी अभीष्ट नहीं है। प्रवृत्ति और निवृत्ति के पाश में आबद्ध मानव न तो सन्देह-रहित ही होता है और न स्थिति ही पाता है। इतना ही नहीं, जिसका अस्तित्व है, उसकी विस्मृति हो जाती है, जिसके होते ही बेचारा प्राणी लोभ, मोह आदि विकारों में आबद्ध हो जाता है और समता, स्वाधीनता एवं प्रियता से विमुख होकर भयंकर दुःख पाता है।

सर्व-दुःखों की निवृत्ति तथा नित-नव रस की उपलब्धि मानव की वास्तविक माँग है। वास्तविक माँग की पूर्ति और काम की निवृत्ति हो सकती है। इस वास्तविक जीवन से निराश होना भारी भूल है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। वास्तविक माँग की जागृति काम-निवृत्ति का अचूक उपाय है। सर्वांश में काम की निवृत्ति होने पर माँग की पूर्ति होती है, यह अनन्त का मंगलमय विधान है। इस दृष्टि से काम की निवृत्ति में ही साधक के प्रयास की परावधि है, जो एकमात्र माँग की जागृति से ही साध्य है।

प्रवृत्तियों के प्रभाव से उत्पन्न होने वाले चिन्तन का साधक को स्पष्ट दर्शन होता है। किन्तु बेचारा साधक उससे भयभीत हो जाता है और उसके मिटाने के लिए किसी-न-किसी प्रकार का श्रम-साध्य उपाय अपनाता है। पराश्रय के बिना परिश्रम हो ही नहीं सकता। पराश्रय को अपनाकर कोई भी मानव विद्यमान

अस्ति-तत्त्व को प्राप्त नहीं कर सकता, अपितु परिवर्तनशील परिस्थितियों तथा अवस्थाओं में ही भ्रमण करता रहता है, अर्थात् वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि के चिन्तन में ही सुखी-दुःखी होता रहता है। सुख-दुःख से अतीत जो अपने में अपना जीवन है, उसकी विस्मृति हो जाती है।

जीवन उसे नहीं कहते, जो सदैव तथा सर्वत्र न हो। सदैव होने से जीवन अभी है और सर्वत्र होने से अपने में है। अपने ही में अपना जीवन-धन है। इस वास्तविकता को स्वीकार करना प्रत्येक साधक के लिये अनिवार्य है। अपने में अपना जीवन है, इसकी विस्मृति से ही मानव ने अपने को शरीर और संसार में आबद्ध किया है। शरीर और संसार का अविभाज्य सम्बन्ध है। कोई भी मानव शरीर को संसार की सीमा से बाहर नहीं ले जा सकता। हाँ, शान्ति के सम्पादन से विचार का उदय होने पर अपने को शरीर से असंग कर सकता है। असंग होते ही समस्त दृश्य से असहयोग करने की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है, जो सर्वतोमुखी विकास का मूल है।

समस्त प्रवृत्तियों का मूल आधार विश्राम है। समस्त श्रम विश्राम से ही उत्पन्न होता है और विश्राम में ही विलीन होता है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब मानव आवश्यक कार्य को पूरा कर अनावश्यक संकल्पों से असहयोग कर क्षोभ-रहित हो जाय। संकल्पों की उत्पत्ति-मात्र से क्षुब्ध हो जाना अपने अस्तित्व को भूल जाना है। अपने में अपने अविनाशी जीवन की उपलब्धि की सामर्थ्य स्वतः सिद्ध है। अर्थात् परिश्रम तथा पराश्रय से रहित होकर अपने ही द्वारा अपने जीवन को प्राप्त किया जा सकता है। इस दृष्टि से सामर्थ्य तथा ज्ञान-विरोधी संकल्पों का त्याग आवश्यक है। किन्तु यह तभी सम्भव होगा, जब उत्पन्न हुए संकल्पों से भयभीत न हों, बल्कि उनके अस्तित्व को ही न स्वीकार करें। जो केवल प्रवृत्तियों का प्रभाव-मात्र है, उससे भयभीत हो जाना अपनी विद्यमान सामर्थ्य को खोना है। इसका अर्थ यह नहीं है कि निस्संकल्पता आवश्यक नहीं है। निस्संकल्पता के बिना तो आवश्यक

सामर्थ्य का प्रादुर्भाव ही नहीं होता। निस्संकल्प होने के लिये उत्पन्न होने वाले संकल्पों से तादात्म्य नहीं रखना चाहिये। जिन संकल्पों से तादात्म्य नहीं रहता, वे स्वयं ही निर्जीव होकर नष्ट हो जाते हैं और फिर साधक अपनी स्वाभाविक स्थिति में स्थित होकर उस वास्तविक जीवन की ओर स्वतः गतिशील होता है, जो समस्त विश्व का उद्गम है। अपने उद्गम में विलीन होना ही अपने अभीष्ट को प्राप्त करना है।

अनेक इच्छाओं के मूल में जो माँग है, उसकी विस्मृति से इच्छाओं में जीवन मालूम होता है। वास्तव में तो जीवन अपनी माँग में है, इच्छाओं में नहीं। अनेक बार इच्छाओं की पूर्ति होने पर भी अभाव का अभाव नहीं होता, अपितु इच्छाओं की उत्पत्ति होती रहती है और परिणाम में इच्छाओं की अपूर्ति का दुःख ही भोगना पड़ता है। इच्छाओं की पूर्ति से जो सुख का भास होता है, वह वास्तव में अस्तित्वहीन है। अस्तित्वहीन को पसंद करना भारी भूल है। इच्छाओं की अपूर्ति की व्यथा जब असह्य हो जाती है, तब इच्छाएँ अपने आप मिटने लगती हैं। और फिर स्वाभाविक माँग स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाती है, जिसके होते ही इच्छाएँ समूल नष्ट हो जाती हैं और जो सामर्थ्य इच्छाओं की उत्पत्ति और पूर्ति में व्यय होती थी, वह संचित होकर माँग में सन्निहित हो जाती है। जिसके होते ही माँग स्वतः सबल तथा स्थायी हो जाती है। माँग सबल होने पर काम का नाश हो जाता है। जिसके होते ही माँग की पूर्त्ति होती है और फिर सदा के लिए सर्व-दुःखों की निवृत्ति एवं नित-नव रस की अभिव्यक्ति हो जाती है, जो मानव के विकास की चरम सीमा है।

इच्छाओं की उत्पत्ति भूतकाल की प्रवृत्तियों का परिचय-मात्र है। जिन विषयों में प्रवृत्ति नहीं हुई, उनकी इच्छा नहीं होती। इस दृष्टि से इच्छाओं की उत्पत्ति नवीन कर्म नहीं है, अपितु भूतकालिक भोग-प्रवृत्तियों का संस्कार है। यदि उन संस्कारों का समर्थन न किया जाय, तो भुक्त-अभुक्त का प्रभाव स्वतः मिट जाता है और फिर काम का नाश तथा माँग की पूर्ति हो जाती है। अतः काम का नाश तथा माँग की जागृति ही सफलता की कुंजी है।

१८

शान्ति साधक को स्वाधीनता से अभिन्न करती है और सुख-भोग उसे शान्ति से विमुख करता है। इस दृष्टि से संकल्प-पूर्ति के लालच का त्याग अनिवार्य है। संकल्प-रहित होने पर शान्ति-सम्पादन स्वाभाविक है। शान्ति की उपलब्धि में सभी साधक सर्वदा समर्थ हैं, क्योंकि विश्राम से ही शान्ति का सम्पादन होता है और विश्राम स्वतः सिद्ध तथ्य है। विश्राम-काल में साधक का सम्बन्ध अपने-आप अविनाशी तत्त्व से हो जाता है।

शान्ति साधक को स्वाधीनता से अभिन्न करती है और सुख का प्रलोभन मानव को पराधीनता में आबद्ध करता है। इतना ही नहीं, सुख का केवल भास होता है, उसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। सुख के भोगी को पराश्रय तथा परिश्रम का आश्रय लेना ही होता है। पराश्रय का त्याग प्राकृतिक विधान के अनुसार स्वतः होता है। केवल उसका प्रलोभन ही अपने में रह जाता है, जो दुःख को जन्म देता है। श्रमित होने से प्राप्त शक्ति का व्यय ही होता है और अन्त में असमर्थता ही शेष रहती है। इस दृष्टि से पराश्रय तथा परिश्रम का परिणाम अपने लिये हितकर नहीं होता। एकमात्र पर-सेवा में ही पराश्रय तथा परिश्रम का सदुपयोग हो सकता है। अपने लिए लेशमात्र भी पराश्रय तथा परिश्रम की अपेक्षा नहीं है; क्योंकि अपने में अपना जीवन विद्यमान है, जिसकी अभिव्यक्ति एकमात्र शान्ति के सम्पादन से ही होती है। इस कारण साधक को सुख के प्रलोभन से रहित होकर शान्ति का सम्पादन करना अनिवार्य है। यद्यपि शान्ति स्वतः सिद्ध तथ्य है, उसके लिए किसी प्रयास की अपेक्षा नहीं है, प्रत्येक कार्य के आरम्भ से पूर्व और अन्त में सभी साधकों के जीवन में शान्ति रहती ही है परन्तु शान्ति के महत्त्व को स्वीकार न करने के

कारण साधक उससे विमुख हो जाता है। सब प्रकार की सामर्थ्य का प्रादुर्भाव शान्ति में ही होता है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने शान्ति के लिए, विचारपूर्वक सुख को अस्वीकार किया है।

सुख-भोग का संकल्प साधक को शान्ति से विमुख कर देता है। यदि अपने सुख के लिए पराश्रय तथा परिश्रम का उपयोग न किया जाय, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक स्वतः शान्ति का सम्पादन हो जाता है। जगत् और जगत्पति से अपने सुख की माँग न की जाय, अपितु जगत् के प्रति उदारता और जगत्पति के प्रति प्रेम को अपनाया जाय, तो स्वतः शान्ति, समता और स्वाधीनता की प्राप्ति हो जाती है। शान्ति में सामर्थ्य, समता में सर्व-दुःखों की निवृत्ति, स्वाधीनता में अमरत्व एवं प्रेम में अनन्त रस निहित है। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक को शान्ति, समता, स्वाधीनता एवं प्रियता की आवश्यकता का अनुभव करना अनिवार्य है। शान्ति के बिना किसी भी प्रकार समता का, समता के बिना स्वाधीनता का तथा स्वाधीनता के बिना प्रेम का प्रादुर्भाव नहीं होता। इस दृष्टि से शान्ति सर्वतोमुखी विकास की भूमि है। शान्ति की माँग सुख के प्रलोभन से रहित कर साधक को शान्ति से अभिन्न कर देती है। शान्ति की प्राप्ति आवश्यकता अनुभव करने मात्र से होती है, जो सभी साधकों को सभी परिस्थितियों में सुलभ है। इस कारण शान्ति-सम्पादन के लिए किसी परिस्थिति-विशेष की अपेक्षा नहीं है, अपितु विचारपूर्वक प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग ही अपेक्षित है। कर्त्तव्यपरायणता योग-विज्ञान का पूर्व-पक्ष है। कर्त्तव्यनिष्ठ साधक योग-युक्त हो जाता है और योग-युक्त होने पर ही शान्ति सुरक्षित रहती है। योग-युक्त होने पर जिज्ञासु साधक आत्मवित् और प्रभु-विश्वासी ब्रह्मवित् हो जाता है। इतना ही नहीं, योग-युक्त होने पर कर्त्तव्य-पालन के लिए आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति भी स्वतः होती है। इस दृष्टि से सभी साधकों के लिए शान्ति का

सम्पादन अनिवार्य है।

शान्ति के सम्पादन से आवश्यक संकल्पों की पूर्ति और अनावश्यक संकल्पों की निवृत्ति अपने-आप हो जाती है और निस्संकल्पता आ जाती है। जब साधक का अपना कोई संकल्प नहीं रहता, तब साधक जगत् और जगत्पति दोनों ही के लिए उपयोगी हो जाता है। संकल्प-विकल्प में आबद्ध मानव न तो अपने ही लिए उपयोगी होता है, और न जगत् तथा जगत्पति के लिए, अर्थात् सभी के लिए अनुपयोगी हो जाता है इस कारण संकल्प-रहित होना अनिवार्य है, जो एकमात्र शान्ति के सम्पादन से ही साध्य है।

शान्ति की उपलब्धि में सभी साधक सर्वदा समर्थ हैं, क्योंकि विश्राम से ही शान्ति का सम्पादन होता है। विश्राम स्वतः सिद्ध तथ्य है। समस्त श्रमों का उद्गम विश्राम में है और समस्त श्रम विश्राम में ही विलीन होते हैं। इतना ही नहीं, विश्राम-काल में साधक का सम्बन्ध अपने-आप अविनाशी तत्त्व से हो जाता है। अविनाशी तत्त्व सभी में सदैव मौजूद हैं, क्योंकि वह उत्पत्ति-विनाश के विकार से रहित है, अर्थात् अनुत्पन्न है। अविनाशी जीवन की माँग सभी साधकों की माँग है। अपने को बनाये रखना सभी को स्वभाव से प्रिय है, परन्तु मिले हुए शरीर आदि को अपना मानना भूल है। वह किसी का अपना नहीं हो सकता, जो कभी हो और कभी न हो, तथा कहीं हो और कहीं न हो। अर्थात् अविनाशी सदैव है, सर्वत्र है और सभी का है। उसमें अविचल आस्था करना तथा उसकी खोज करना साधकों का सहज स्वभाव है। किन्तु संकल्प-पूर्ति के सुख के प्रलोभन के कारण साधक अपने सहज स्वभाव को भूल जाता है और शान्ति को न अपनाकर सुख की कामना करने लगता है। यह साधक की अपनी उत्पन्न की हुई भूल है, जिसे वह स्वतः मिटा सकता है; क्योंकि भूल के ज्ञान से ही साधक भूल-रहित हो जाता है। सुख-दुःख के द्वन्द्व में आबद्ध हो जाने के कारण साधक अपनी भूल का अनुभव करने में

अपने को असमर्थ पाता है। किन्तु शान्ति का सम्पादन होते ही स्वतः साधक अपनी भूल का अनुभव कर उससे रहित होने में समर्थ होता है। यह वैधानिक तथ्य है।

शुभाशुभ संकल्पों का द्वन्द्व तभी तक रहता है, जब तक साधक शान्ति को नहीं अपनाता। वस्तु, व्यक्ति आदि के द्वारा अपने सुख का सम्पादन करना अशुभ संकल्पों को जन्म देना है, जिनका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। वस्तु आदि के द्वारा पर-सेवा करने की सद्भावना से शुभ संकल्प उत्पन्न होते हैं। किन्तु शान्ति के पुजारी को तो अशुभ-संकल्पों का त्याग और निष्काम-भाव से शुभ-संकल्पों को यथाशक्ति पूरा कर संकल्प-रहित हो जाना है। जब साधक का अपना कोई संकल्प नहीं रहता, तब दूसरों के संकल्प से आवश्यक कार्य स्वतः पूरे होते रहते हैं। संकल्प-रहित होने से साधक की किसी प्रकार की क्षति नहीं होती, अपितु सर्वतोमुखी विकास ही होता है। इतना ही नहीं, सर्व संकल्पों से रहित होते ही साधक में उदारता, समता और प्रियता की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। उदारता समता और प्रियता साध्य का सहज स्वभाव है और साधक का जीवन है। साधक का जीवन सभी के लिए उपयोगी हो जाता है, क्योंकि जगत् को उदारता, अपने को समता तथा जगत्पति को प्रियता अभीष्ट है। इतना ही नहीं, मानव का निर्माण भी मानव के रचयिता ने अपने सहज स्वभाव से ही किया है। इस कारण साधक में बीजरूप से उदारता, समता तथा प्रियता विद्यमान है। जो विद्यमान है, उसी की अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से उदारता, समता और प्रियता से ही साधक की जातीय एकता तथा नित्य-सम्बन्ध है। किन्तु उनकी उपलब्धि तभी होती है, जब साधक उससे आस्था-श्रद्धा-विश्वास-पूर्वक आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करे, जिसका सहज स्वभाव उदारता, समता तथा प्रियता है। साधक को जो कुछ मिला है, उसी से उसकी प्राप्ति होती है, जिससे वह मिला है। जिससे सभी को सब कुछ मिला है, वही सभी का अपना है। पर साधक अपनी

ही भूल से मिली हुई सामग्री को अपनी मान लेता है और उसे भूल जाता है, जिसने उसे सब कुछ दिया है।

मिली हुई सामर्थ्य आदि को अपना मान लेने से ही कामनाओं का जन्म होता है। जिसे कुछ भी चाहिए, वह उससे विमुख हो जाता है, जो उसका अपना है। अपने से विमुख होने पर ही मानव पराधीनता, जड़ता, अभाव आदि विकारों में आबद्ध हो जाता है। अचाह होते ही साधक अपने में अपने प्रेमास्पद को पाता है। जिसे कुछ भी चाहिए, वह परमात्मा में जगत् को देखता है। जिसे कुछ नहीं चाहिए, वह जगत् में परमात्मा को पाता है। यह निर्विवाद सत्य है।

कामना-पूर्ति में सभी सर्वदा पराधीन हैं, किन्तु अचाह होने में सभी साधक सर्वदा स्वाधीन हैं। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब साधक कामना-पूर्त्ति-अपूर्ति के द्वन्द्व, अर्थात् सुख-दुःख से अतीत के जीवन की आवश्यकता अनुभव करता है। सुख की दासता और दुःख के भय के अतिरिक्त बन्धन कुछ नहीं है। अचाह होते ही सुख की दासता तथा दुःख का भय स्वतः सदा के लिए मिट जाता है और साधक स्वाधीन होकर उदारता तथा परम प्रेम को प्राप्त कर कृत-कृत्य हो जाता है। साधक का भूतकाल चाहे जैसा बीता हो, वर्तमान परिस्थिति चाहे जैसी क्यों न हो, चाह-रहित होने पर वह उसी जीवन को पाता है, जो जीवन कभी भी किसी भी महामानव को मिला है। चाह-रहित होने की स्वाधीनता होने से भिन्न-भिन्न प्रकार की परिस्थितियाँ वास्तविक जीवन की उपलब्धि के लिए समान अर्थ रखती हैं। अचाह होते ही साधक में प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है और अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन सदा के लिए मिट जाता है। इतना ही नहीं, प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग से ही साधक सभी परिस्थितियों से अतीत अविनाशी, अलौकिक, अद्वितीय, अनुपम, रसरूप तथा चिन्मय जीवन से अभिन्न हो जाता है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है। विधान में अविचल आस्था तथा उसका

अनुसरण प्रत्येक साधक के लिए सर्वदा अनिवार्य है। विधान के आदर में ही मानव-जीवन का आदर है। विधान और जीवन में एकता ही विकास का मूल है। जीवन विधान और विधान जीवन है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब मानव अचाह हो जाता है।

चाह-रहित होने पर साधक के जीवन में आलस्य तथा अकर्मण्यता की गन्ध भी नहीं रहती। क्योंकि अचाह होते ही प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग भी होने लगता है और आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति भी स्वतः होती है। प्राप्त सामर्थ्य के सदुपयोग के अतिरिक्त कर्त्तव्यपरायणता और कुछ नहीं है। इस कारण अचाह होने से अकर्मण्यता नहीं आती, अपितु सहजभाव से कर्त्तव्यपरायणता आ जाती है, किन्तु उसका अभिमान तथा फलासक्ति नहीं रहती। फलासक्ति तथा अभिमान-रहित कर्त्तव्य-पालन ही वास्तविक कर्त्तव्यपरायणता है। फलासक्ति तथा अभिमान-रहित होने से असंगता अपने-आप आ जाती है और असंगता आ जाने पर अभिन्नता स्वतः हो जाती है। इस दृष्टि से अचाह होने पर साधक में कर्त्तव्यपरायणता, असंगता एवं अभिन्नता की अभिव्यक्ति होती है। कर्त्तव्यपरायणता जगत् के लिए, असंगता अपने लिए एवं अभिन्नता से प्राप्त परम प्रेम जगत्पति के लिए उपयोगी होता है। इस कारण प्रत्येक साधक को चाह-रहित होना अनिवार्य है। चाह-रहित होना ही सफलता की कुंजी है।

१६

वास्तविक आवश्यकता का अनुभव सर्वतोमुखी विकास का मूल है। काम और माँग के द्वन्द्व के कारण मानव जो प्रतीत होता है, उससे भेद, और जो मौजूद है, उससे दूरी मानने लगता है। भेद से ही इच्छाओं का जन्म होता है और दूरी मान लेने पर लालसा तथा जिज्ञासा होती है। काम की निवृत्ति और जिज्ञासा की पूर्ति होने पर साधक को अपने लक्ष्य की प्राप्ति होती है।

वास्तविक आवश्यकता का अनुभव सर्वतोमुखी विकास का मूल है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब साधक इच्छाओं की पूर्ति-अपूर्ति के सुख-दुःख में अपने को सन्तुष्ट नहीं पाता। माँग और इच्छा में एक बड़ा भेद यह है कि माँग साधक को दृश्य से असंग करती है और इच्छाओं से दृश्य के साथ तादात्म्य हो जाता है; क्योंकि वास्तविक माँग की पूर्ति में कोई भी परिस्थिति समर्थ नहीं है सभी को स्वभाव से अविनाशी जीवन की माँग है, जिसकी पूर्ति किसी भी उत्पन्न हुई वस्तु, अवस्था आदि से नहीं होती। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि माँग उसकी है, जो अनुत्पन्न है, अर्थात् उत्पत्ति-विनाश आदि विकारों से रहित है। जो अनुत्पन्न है, वह सदैव और सर्वत्र है। जो सदैव और सर्वत्र है, वह अभी है और अपने में है। यदि साधक उससे ही जातीय, नित्य तथा आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार कर ले, तो वास्तविक माँग की पूर्ति हो सकती है। परन्तु साधक अपनी ही भूल से प्रतीत होने वाले दृश्य के साथ अपना भेद-अभेद-भाव का सम्बन्ध स्वीकार कर लेता है, अर्थात् किसी को 'मैं' और किसी को 'मेरा' मान लेता है। उसी का यह परिणाम होता है कि साधक में दृश्य का आकर्षण उत्पन्न हो जाता है, अर्थात् काम की उत्पत्ति हो जाती है।

काम और माँग के द्वन्द्व के कारण मानव, जो प्रतीत होता है, उससे भेद, और जो मौजूद है, उससे दूरी मानने लगता है। भेद से ही इच्छाओं का जन्म होता है और दूरी मान लेने पर लालसा तथा जिज्ञासा होती है। काम की निवृत्ति और जिज्ञासा की पूर्ति होने पर ही साधक को अपने लक्ष्य की प्राप्ति होती है। साधक जिज्ञासा और काम दोनों को अपने ही में पाता है। कामना-पूर्ति के प्रलोभन में आबद्ध हो जाने पर जिज्ञासा शिथिल हो जाती है। परन्तु जब सभी कामनाएँ पूरी नहीं होतीं और कामना-पूर्ति के परिणाम में अभाव ही शेष रहता है, तब साधक में स्वभाव से ही जिज्ञासा तथा वास्तविक जीवन की लालसा सबल हो जाती है। ज्यों-ज्यों जिज्ञासा तीव्र और लालसा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों कामनाएँ स्वतः नष्ट होती जाती हैं।

निष्कामता आ जाने पर साधक समता के साम्राज्य में प्रवेश पाता है, जो सर्वतोमुखी विकास की भूमि है। इस दृष्टि से निष्कामता अनिवार्य है। अब विचार यह करना है कि दृश्य का आकर्षण क्यों होता है ? यह सभी को मान्य है कि शरीर और संसार का स्वरूप से विभाजन नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों में जातीय एकता तथा नित्य-सम्बन्ध है। इन्द्रियाँ अपने विषयों की दृष्टा तथा बुद्धि की दृश्य हैं। बुद्धि सृष्टि की द्रष्टा, किन्तु साधक का दृश्य है। साधक बुद्धि-दृष्टि से ही मन, इन्द्रिय आदि तथा उनके विषयों को देखता है। किन्तु जब साधक में इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव नहीं रहता और केवल बुद्धि दृष्टि का प्रभाव रह जाता है, तब मन में निर्विकल्पता आ जाती है और फिर बुद्धि स्वतः सम हो जाती है। बुद्धि के सम होते ही अनेकता में एकता भासित होती है और फिर जिज्ञासा-पूर्ति के लिए विचार का उदय होता है। विचार का उदय, अविचार की निवृत्ति एवं जिज्ञासा की पूर्ति युगपत् है। किन्तु जब साधक बुद्धि के सम होने पर समता-जनित सुख में रमण करने लगता है, तब बुद्धि विवेकवती नहीं हो पाती।

विवेकवती बुद्धि के बिना दृश्य से सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होता और उसके बिना साधक अपने ही में अपने साध्य को नहीं पाता, अर्थात् साध्य से दूरी, भेद, भिन्नता का अनुभव करता है। यद्यपि साध्य उसे नहीं कहते, जो नित्य-प्राप्त नहीं है, परन्तु सुख-लोलुपता के कारण साधक साध्य से दूरी, भेद और भिन्नता मानता रहता है। इस कारण बुद्धि की समता से उत्पन्न सुख से भी अपने को असंग होना है।

दृश्य के आकर्षण, अर्थात् कामरूपी भूमि में अनेक कामनाएँ उत्पन्न होती हैं। उनमें से कुछ कामनाएँ पूरी होती हैं और कुछ नहीं। कामना-पूर्ति-काल में क्रिया-जनित सुख, अर्थात् इन्द्रिय-जन्य प्रवृत्ति का सुख तथा उसके पश्चात् संकल्प-पूर्ति का सुख प्राणी अनुभव करता है और फिर साधक उसी दशा में आ जाता है, जिसमें संकल्प-पूर्ति से पूर्व था। परिणाम में अभाव ही अभाव रहता है। अभाव की वेदना साधक को संकल्प-निवृत्ति की प्रेरणा देती है। ज्यों-ज्यों अभाव की व्यथा तीव्र होती जाती है, त्यों-त्यों संकल्प-पूर्ति के सुख का प्रलोभन मिटता जाता है। सर्वांश में संकल्प-पूर्ति के सुख के प्रलोभन से रहित होते ही निस्संकल्पता अपने-आप आ जाती है। संकल्प-निवृत्ति का सुख संकल्प-पूर्ति की अपेक्षा कहीं अधिक मूल्यवान है, परन्तु उसमें रमण करने से भी दृश्य का तादात्म्य नहीं टूटता, अर्थात् देहाभिमान शेष रहता है। निर्विकल्प स्थिति में साधक की रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की शक्तियों का प्रादुर्भाव भी होता है। किन्तु रुचि-पूर्ति भी वास्तविक माँग की पूर्ति में आवरण ही उत्पन्न करती है।

निर्विकल्प स्थिति कल्पतरु के समान है। सजग साधक जिज्ञासा-पूर्ति और प्रेम की प्राप्ति के बिना अपने को सन्तुष्ट नहीं पाता। सन्देह-रहित होने पर देहाभिमान की निवृत्ति होती है, अर्थात् साधक अपने में सन्तुष्ट होता है और फिर उसे अपने लिए किसी भी दृश्य की अपेक्षा नहीं रहती, अर्थात् वह अपने को

स्वाधीन अनुभव करता है। वह पराधीनता की पीड़ा से रहित हो जाता है और फिर स्वभाव से ही उसमें जगत् के प्रति उदारता उदित होती है और हृदय करुणा से भर जाता है। उस जीवन से प्राणीमात्र अभय होता है। इतना ही नहीं, साधकों को चेतना और प्राणियों को सुखानुभूति होने लगती है। सृष्टि उस स्वाधीन जीवन की आवश्यकता अनुभव करती है। क्योंकि स्वाधीन जीवन से किसी की क्षति नहीं होती, अपितु हित ही होता है। पराधीन प्राणी से ही पर-पीड़ा होती है। स्वाधीन जीवन से किसी को पीड़ा नहीं होती और स्वाधीनता स्वाधीनतापूर्वक प्राप्त की जा सकती है। इस दृष्टि से स्वाधीन जीवन का बड़ा ही महत्त्व है। स्वाधीनता प्राप्त करना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है, किन्तु स्वाधीनता में ही पूर्णता का अनुभव करना अपने को जगत्पति के प्रेम से वंचित रखना है। जगत् के प्रति उदारता और प्रभु के प्रति प्रेम की अभिव्यक्ति होने पर ही पूर्णता होती है, किन्तु स्वाधीनता के बिना उदारता तथा प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं होती। इस दृष्टि से स्वाधीनता उत्कृष्ट तत्त्व है। किन्तु उसके आश्रित अहं-रूपी अणु को जीवित नहीं रखना चाहिए। अहं-रूपी अणु सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने से विभु है, समस्त विश्व उसके किसी अंशमात्र में है। किन्तु जो सूक्ष्मतम है और उस अहम् में भी है, उसकी प्रियता के बिना अहं की अनन्त से अभिन्नता नहीं होती, जो वास्तविक जीवन है।

वास्तविक जीवन की माँग साधक में सुख-भोग की रुचि को जीवित नहीं रहने देती। इस कारण साधक को क्रिया-जनित, चिन्तन-जनित तथा स्थिरता-जनित सुख से असंग रहकर स्वाधीन होना है। और यदि स्वाधीन होकर भी सन्तुष्ट न हो, तो उदारता और प्रेम की अभिव्यक्ति अनन्त की अहैतुकी कृपा से स्वतः होती है।

उपर्युक्त सुखों का महत्त्व उसी समय तक रहता है, जब तक वे उपलब्ध नहीं हैं। ज्यों-ज्यों उनकी उपलब्धि होती जाती है,

त्यों-त्यों उनसे उपरति भी होती जाती है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है। अहं यद्यपि अत्यन्त प्रिय तत्त्व है, किन्तु अनन्त की अभिन्नता के लिए अहं-तत्त्व के मोह से रहित होना अनिवार्य है। पर यह रहस्य उन्हीं साधकों को स्पष्ट होता है, जिन्होंने अपना लक्ष्य सभी के लिए उपयोगी होना स्वीकार किया है।

उदारता से जीवन जगत् के लिए और स्वाधीनता से अपने लिए एवं प्रेम-तत्त्व की अभिव्यक्ति से जीवन जगत्पति के लिए उपयोगी होता है। वास्तविक उदारता, स्वाधीनता एवं परम-प्रेम साध्य का ही स्वभाव है। साधक साध्य के स्वभाव से अभिन्न होकर साध्य को पाता है। इस कारण उदारता, स्वाधीनता एवं प्रियता की माँग ही वास्तविक माँग है। वास्तविक माँग की जागृति के बिना काम की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति एवं प्रेम की प्राप्ति नहीं होती। यह कैसा अनुपम विधान है कि माँग की जागृति में मानव स्वाधीन है, पराधीन नहीं। सुख-लोलुपता के कारण अहं-रूपी अणु को जीवित रखना भारी भूल है। पराश्रय तथा परिश्रम के द्वारा सुख का भोग करना अपने को अपनी माँग से विमुख करना है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान नहीं है। पराश्रय तथा परिश्रम का उपयोग पर-सेवा में किया जा सकता है, किन्तु वास्तविक जीवन की प्राप्ति के लिए तो साधक को परिश्रम तथा पराश्रय से रहित होना अनिवार्य है। वास्तविक जीवन से दूरी, भेद, भिन्नता एकमात्र पराश्रय से ही प्रतीत होती हैं। पराश्रय का त्याग सुख-लोलुपता के नाश से ही सम्भव है। यह कैसा अनुपम विधान है कि सुख-लोलुपता के नाश के लिए सुख-लोलुप के जीवन में दुःख अपने-आप आता है। दुःख का प्रभाव सुख के प्रलोभन का नाश कर दुःखी को सदा के लिए दुःख से रहित कर देता है। इस दृष्टि से सुख-लोलुपता से रहित होना प्रत्येक साधक के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

वास्तविक जीवन की माँग ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों पराश्रय से प्राप्त होने वाले सुख का प्रलोभन स्वतः मिटता जाता है। वास्तविक माँग की पूर्ति होती है। उससे निराश होना भारी भूल है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। अपितु साधक के जीवन में माँग की पूर्ति के लिए नित-नव उत्साह तथा तत्परता उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहनी चाहिए। वास्तविक माँग की जागृति ही सफलता की कुंजी है।

२०

स्वीकृति के अनुरूप प्रवृत्ति स्वतः होती है। अतः अहंता-परिवर्तन ही विकास का मूल है। अपने को साधक स्वीकार करने के लिए यह आवश्यक है कि पराधीनता, नीरसता तथा अभाव असह्य हो जाय। पराधीनता से पीड़ित होने पर स्वाधीन होने की सामर्थ्य स्वतः आती है। जिसे पराधीनता नहीं भाती, वह साधक शरीर आदि किसी भी वस्तु को अपनी नहीं मानता, अपितु विवेकपूर्वक निर्मम होकर निष्काम हो जाता है। निर्ममता में निर्विकारता और निष्कामता में शान्ति निहित है।

उत्पन्न हुई वस्तु पर किसी का स्वतन्त्र अधिकार नहीं है। अनुत्पन्न तत्त्व से सभी की आत्मीयता हो सकती है। जिससे आत्मीयता होती है, उसके महत्त्व को स्वीकार करते ही उससे अपनत्व होता है और फिर अखण्ड स्मृति स्वतः जाग्रत होती है, जो अभाव का अभाव करने में समर्थ है।

प्रत्येक मानव साधक है। उसे साधन-निष्ठ होने की स्वाधीनता अनन्त की अहैतुकी कृपा से प्राप्त है। साधन-निष्ठ जीवन से किसी का अहित नहीं होता, अपितु वह सभी के लिए सर्वदा हितकर ही होता है। साधन-निष्ठ होने के लिए अपने को 'साधक' स्वीकार करना अनिवार्य है। स्वीकृति के अनुरूप प्रवृत्ति स्वतः होती है। इस दृष्टि से अहंता-परिवर्तन ही विकास का मूल है। जब मानव अपने को साधक स्वीकार करता है, तब वह अपनी माँग तथा दायित्व को निज-विवेक के प्रकाश में जानने का प्रयास करता है। अपनी माँग का अनुभव अपने को हो सकता है। माँग का अनुभव होते ही दायित्व का ज्ञान भी स्वतः हो जाता है। माँग उसे नहीं कहते, जिसकी पूर्ति न हो, और दायित्व वह नहीं है, जिसे साधक पूरा न कर सके; अर्थात् दायित्व पूरा किया जा सकता है और माँग पूरी होती है। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक

साधन-निष्ठ होने में सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है। साधक के जीवन में असफलता के लिए कोई स्थान ही नहीं है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब साधक इस वास्तविकता को स्वीकार करे कि पराधीनता, नीरसता तथा अभाव का अन्त करना अनिवार्य है। जिसे पराधीनता, नीरसता तथा अभाव सहन होता है, उसकी 'साधक' संज्ञा नहीं हो सकती। अपने को साधक स्वीकार करने के लिए यह आवश्यक है कि पराधीनता, नीरसता तथा अभाव असह्य हो जाय।

जब साधक पराधीनता की वेदना से पीड़ित हो जाता है, तब उसमें स्वाधीन होने की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है-यह मंगलमय विधान है। पराधीनता तभी तक जीवित रहती है, जब तक वह असह्य नहीं होती। पराधीनता को सहन करना घोर प्रमाद है। जिसे पराधीनता नहीं भाती, वह साधक शरीर आदि किसी वस्तु को अपनी नहीं मानता, अपितु विवेकपूर्वक निर्मम होकर निष्काम हो जाता है। निर्ममता में निर्विकारता और निष्कामता में शान्ति निहित है। प्रत्येक साधक के लिए निर्विकारता तथा शान्ति का सम्पादन अनिवार्य है, जो एकमात्र निज-ज्ञान के प्रभाव से सभी साधकों के लिए साध्य है। जिसकी उपलब्धि ज्ञान से सिद्ध है, उसके लिए किसी प्रकार की पराधीनता तथा परिश्रम अपेक्षित नहीं है। पराश्रय तथा परिश्रम के बिना जिसकी प्राप्ति होती है, उसके लिए देश-काल भी अपेक्षित नहीं है। अतः निज-ज्ञान के प्रभाव को अपनाकर साधक जब चाहे तब निर्विकारता तथा शान्ति का सम्पादन कर सकता है; क्योंकि निज-ज्ञान के अनादर से साधक ने स्वयं विकारों तथा अशान्ति को जन्म दिया है। जिसकी उत्पत्ति अपनी भूल से होती है, उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। निवृत्ति उसी की होती है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। इसी कारण भूलरहित होने मात्र से ही अशान्ति तथा विकारों की निवृत्ति हो जाती है और फिर स्वतः निर्विकारता तथा शान्ति की अभिव्यक्ति होती है। अभिव्यक्ति उसी की होती है, जो

स्वतः सिद्ध है।

साधक का प्रयास अशान्ति तथा विकारों की निवृत्ति-मात्र में है। जो स्वतः सिद्ध है उसका साधक को अभिमान नहीं करना चाहिए; क्योंकि गुणों का अभिमान विकारों का मूल है। निर्दोषता नित्य-तत्त्व है। नित्य-तत्त्व से अभिन्नता हो सकती है, उसका अभिमान नहीं होता, यह वैधानिक तथ्य है। निर्विकारता आने पर ही निर्भयता और शान्ति से सामर्थ्य प्राप्त होती है। सामर्थ्य का सदुपयोग जगत् के लिए और निर्भयता अपने लिए हितकर होती है। भयभीत प्राणी ही दूसरों को भयभीत करता है। जो अभय हो जाता है, वह किसी को भयभीत नहीं करता। जो किसी को भय नहीं देता है, उसकी माँग सभी को होती है। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक को अभय होना अनिवार्य है, जो एकमात्र निर्विकारता से ही साध्य है।

जिस पर स्वतन्त्र अधिकार नहीं है, उसको अपना मानना भूल है। इस भूल का अन्त होते ही निर्ममता से प्राप्त निर्विकारता स्वतः आती है और फिर साधक अभय हो जाता है। किसी भी उत्पन्न हुई वस्तु पर किसी का स्वतन्त्र अधिकार नहीं है। और अनुत्पन्न-तत्त्व से सभी साधकों की आत्मीयता हो सकती है; क्योंकि वह सदैव, सर्वत्र और सभी का है। जो सभी का है, वही अपना है। अपना अपने को स्वभाव से प्रिय होता है। जिसका कोई प्रिय है, उसके जीवन में नीरसता नहीं रहती। नीरसता का नाश होते ही काम स्वतः नष्ट हो जाता है, जो सर्वतोमुखी विकास का मूल है। ज्ञानपूर्वक ममता का नाश और अनुत्पन्न-तत्त्व में आस्था स्वीकार करने से आत्मीयता होती है। ममता का नाश होने पर स्वाधीनता और आत्मीयता से प्रियता प्राप्त होती है। स्वाधीनता में अविनाशी जीवन और प्रियता में नित नव रस स्वतः सिद्ध है। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक को अविनाशी तथा रसरूप जीवन की प्राप्ति हो सकती है।

ज्ञान, बल तथा आस्था प्रत्येक साधक में विद्यमान है। ज्ञान

साधक को प्राप्त बल के दुरुपयोग की प्रेरणा नही देता, अपितु बल के सदुपयोग का ही समर्थन करता है। इतना ही नहीं, बल का दुरुपयोग न करने पर सदुपयोग स्वतः होने लगता है। बल का सदुपयोग करने पर सुन्दर समाज का निर्माण तथा पारस्परिक एकता होती है तथा उत्तरोत्तर बल की वृद्धि ही होती रहती है। इस कारण बल का सदुपयोग करना अनिवार्य है। बल के दुरुपयोग से मानव स्वयं निर्बल हो जाता है और पारस्परिक संघर्ष तथा भेद और भिन्नता का जन्म होता है, जो विनाश का मूल है। बल का दुरुपयोग न करने का निर्णय निज-ज्ञान से सिद्ध है। जो निज-ज्ञान से सिद्ध है, वह स्वतः सिद्ध है; उसके लिए किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती। इस कारण किसी भी दशा में बल का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। बल अपने लिए नहीं है, अपितु विश्वरूपी वाटिका की सेवा के लिए है। बल के द्वारा कोई भी अविनाशी, स्वाधीन, रसरूप जीवन को प्राप्त नहीं कर सकता, जो साधक की अपनी माँग है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध है कि बल अपने लिए नहीं है। जो अपने लिए नहीं है, उसका दुरुपयोग करना भारी भूल है। बल के दुरुपयोग में सभी का अहित ही होता है। बल मानव को किसी के द्वारा मिला है। मिले हुए को अपना तथा अपने लिए मानना युक्ति-युक्त नहीं है। मिले हुए के द्वारा सेवा करनी है। सेवा का अन्त त्याग में और त्याग का अन्त प्रेम में होने से वास्तविक जीवन से अभिन्नता होती है।

साधक ज्ञानपूर्वक निर्मम, निष्काम तथा असंग होकर निर्विकारता, शान्ति एवं स्वाधीनता सुगमतापूर्वक प्राप्त कर सकता है। इस दृष्टि से ज्ञान अपने लिए है। जो अपने लिए है, उसका अनादर नहीं करना चाहिए। ज्ञान के अनादर से ही साधक ने अपने में असाधन को जन्म दिया है। असाधन कोई प्राकृतिक वस्तु नहीं है। इस कारण ज्ञान के आदर से असाधन का नाश और साधन की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। साधन की अभिव्यक्ति होने पर साधन और जीवन में भिन्नता नहीं रहती, अर्थात् साधन

जीवन और जीवन साधन हो जाता है। यदि ज्ञान का आदर किये बिना ही बल-पूर्वक साधन किया जाय, तो साधन और असंसाधन का द्वन्द उत्पन्न हो जाता है, जो विनाश का मूल है, क्योंकि साधन का मिथ्या अभिमान हो जाता है और असाधन की निवृत्ति नहीं होती। असाधन की निवृत्ति के बिना साधक साधन-निष्ठ नहीं हो सकता। निज-ज्ञान के आदर से असाधन तथा अकर्त्तव्य की निवृत्ति अपने-आप हो जाती है और फिर स्वतः कर्त्तव्यपरायणता तथा साधन-निष्ठा सजीव हो जाती है जिससे जाना जाता है वह ज्ञान है; जो जानने में आता है वह ज्ञान नहीं है। ज्ञान सभी का प्रकाशक है, किसी का नाशक नहीं है। ज्ञान के आदर से अज्ञान, अर्थात् अल्प-ज्ञान का नाश होता है, जिसके होते ही इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव नष्ट हो जाता है और साधक राग-रहित हो जाता है, जो योग तथा बोध में हेतु है। योग में शक्ति और बोध में मुक्ति निहित है। इस कारण प्रत्येक साधक को निज-ज्ञान का आदर करना अनिवार्य है।

आस्था उसी में की जाती है, जो इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से अगोचर है, जिसे भक्तों से सुना है और जिसकी माँग अपने में है। अपने को अपना चाहिए-यह साधक की स्वाभाविक माँग है। जिसे इन्द्रिय, बुद्धि आदि से देखा है, वह अपना नहीं है। जो अपना है, उसे देखा नहीं। जिसे देखा नहीं, उसके अस्तित्व तथा महत्त्व को स्वीकार करना है। साधक जिसके अस्तित्व तथा महत्त्व को स्वीकार कर लेता है, उससे अपनत्व अपने-आप हो जाता है। जिससे अपनत्व हो जाता है, उसकी अखण्ड स्मृति स्वतः जाग्रत होती है, जिसके होते ही अन्य की विस्मृति तथा अपने में अपने की प्रियता और प्राप्ति स्वतः हो जाती है। इस दृष्टि से साधक को अपने साध्य में विकल्प-रहित आस्था करनी अनिवार्य है। आस्थावान साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक पराधीनता, अभाव एवं नीरसता से रहित हो जाता है और स्वाधीनता, पूर्णता एवं रसरूप जीवन से

अभिन्न हो जाता है। आस्था उसी में होती है जो सदैव है। जो सदैव है, उसी से नित्य-योग होता है, जो बोध में हेतु है। इस दृष्टि से योग, बोध, प्रेम की प्राप्ति और भोग, मोह, आसक्ति की निवृत्ति साधक की वास्तविक माँग है, जिसकी पूर्ति अनिवार्य है। साधक को साधन-निष्ठ होने के लिए विकल्प-रहित आस्था, ज्ञान का आदर तथा बल का सदुपयोग करना अत्यन्त आवश्यक है। अतः ज्ञान का अनादर, बल का दुरुपयोग तथा आस्था में विकल्प न करना सफलता की कुंजी है।

२१

रुचि की निवृत्ति के बिना जिज्ञासा की पूर्ति एवं निस्संदेहता के बिना रसरूप जीवन की प्राप्ति नहीं हो सकती। भोग की रुचि का सर्वांश में नाश होते ही साधक में ही साधन-तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है और फिर साध्य से दूरी, भेद, भिन्नता नहीं रहती। माँग की शिथिलता ही दूरी, भेद, भिन्नता में हेतु है।

जीवन अविनाशी है, उसका कभी नाश नहीं होता। केवल विस्मृति होती है; जो साध्य की स्मृति से स्वतः मिट जाती है। अखण्ड स्मृति साधक में उदित होती है। अखण्ड स्मृति से सृष्टि में आस्था नहीं रहती, अपितु साध्य की आस्था ही रह जाती है, जो कि साधक का सर्वस्व है। अतः साध्य को स्वीकार करना ही साध्य की शरणागति है और साध्य की शरणागति ही सफलता की कुंजी है।

मानव के व्यक्तित्व में अनेक बार भोगे हुए विषयों की रुचि, वास्तविकता की जिज्ञासा एवं रसरूप जीवन की लालसा विद्यमान है। रुचि की निवृत्ति के बिना जिज्ञासा की पूर्ति एवं निस्संदेहता के बिना रस-रूप जीवन की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस वैधानिक तथ्य को स्वीकार करने से रुचि-निवृत्ति का प्रश्न जीवन का मुख्य प्रश्न हो जाता है। रुचि-पूर्ति का प्रलोभन मानव को पराधीन, श्रमित तथा शक्तिहीन बनाता है, जो किसी भी सजग मानव को अभीष्ट नहीं है। सभी को स्वाधीनता, सामर्थ्य तथा सरसता की माँग है, जिसकी पूर्ति साधन-निष्ठ होने से हो सकती है। साधन-निष्ठ होने के लिए प्रत्येक साधक की अपने साध्य में अविचल आस्था होनी अनिवार्य है। साध्य की उपलब्धि होती है, यह वैधानिक तथ्य है। ज्यों-ज्यों साध्य की माँग सबल होती जाती है, त्यों-त्यों साधक में रुचि-निवृत्ति की सामर्थ्य अपने-आप आती जाती है। यह अनन्त का विधान है साधक को प्राप्त सामर्थ्य का

सदुपयोग करना है। सामर्थ्य किसी साधक की व्यक्तिगत नहीं है, साधन-निष्ठ होने के लिए साध्य से स्वतः प्राप्त होती है। साध्य की अप्राप्ति साधक को असह्य हो जाय-बस, यही साधक का मूल प्रयास है। साध्य की प्राप्ति में साधक को जो असमर्थता प्रतीत होती है, उसका एकमात्र कारण यही है कि साध्य की माँग सबल तथा स्थायी नहीं है। माँग की पूर्ति वर्तमान का प्रश्न है; क्योंकि माँग उसी की है, जो अविनाशी है, अर्थात् विद्यमान है। विद्यमान जीवन से जो दूरी, भेद तथा भिन्नता प्रतीत होती है, वह केवल इसलिए कि साध्य की अप्राप्ति असह्य नहीं है। माँग की शिथिलता ही दूरी, भेद तथा भिन्नता में हेतु है।

माँग की पूर्ति में विकल्प करना ही साधक का प्रमाद है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। यदि साध्य की उपलब्धि किसी परिस्थिति विशेष के आश्रित होती, तब वह प्रत्येक साधक के लिए सम्भव न होती। किन्तु साध्य अद्वितीय है और उसकी उपलब्धि मानव-मात्र, अर्थात् प्रत्येक साधक को हो सकती है। रुचि दो व्यक्तियों की भी सर्वांश में समान नहीं होती, किन्तु वास्तविक माँग तो मानव-मात्र ही एक है। रुचि, परिस्थिति, सामर्थ्य, योग्यता आदि में भेद है, किन्तु वास्तविक माँग में कोई भेद नहीं है। परिस्थिति आदि के भेद के कारण साध्य की उपलब्धि नहीं हो सकती- यह धारणा भ्रमात्मक है, जिसका अन्त करना अनिवार्य है। परिस्थिति-भेद प्राकृतिक तथ्य है और सृष्टि की शोभा है। वास्तविक जीवन सभी परिस्थितियों से अतीत है। परिस्थिति व्यक्तिगत साधन-सामग्री है और कुछ नहीं। प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग की स्वाधीनता प्रत्येक साधक को स्वतः प्राप्त है। यदि यह प्राप्त न होती, तो परिस्थितियों से अतीत के जीवन की उपलब्धि ही नहीं होती।

साधन-सामग्री साध्य नहीं है, अपितु साध्य की प्राप्ति में साधन-रूप है। साधन-सामग्री में भेद होने पर भी साध्य में एकता है। इस वास्तविकता में अविचल आस्था अत्यन्त आवश्यक है।

यद्यपि साधक में साधन-तत्त्व तथा साध्य विद्यमान हैं, किन्तु रुचि-पूर्ति के प्रलोभन के कारण साधक में साधन-तत्त्व की अभिव्यक्ति नहीं होती और उसके बिना साध्य से दूरी, भेद तथा भिन्नता प्रतीत होती है। साध्य की माँग ही रुचि के नाश में हेतु है। रुचि मानव को पराधीनता की ओर और माँग स्वाधीनता की ओर गतिशील करती है। अर्थात् रुचि से विवश होकर मानव सतत् परिवर्तनशील दृश्य की ओर प्रवृत्त होता है और माँग उसे दृश्य से विमुख कर अविनाशी, स्वाधीन, रसरूप, चिन्मय जीवन से अभिन्न करती है। रुचि-पूर्ति का प्रलोभन प्रमाद है और वास्तविक जीवन की माँग सजगता है। सजगता से प्रमाद की निवृत्ति होती है; क्योंकि चेतना से ही साधक भूल-रहित होता है। वास्तविकता की जिज्ञासा सुदृढ़ होने पर सजगता सजीव होती है, जो साधक को साध्य से अभिन्न करने में समर्थ है। भोग की रुचि का सर्वांश में नाश होते ही साधक में ही साधन-तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है, अर्थात् साधन-तत्त्व से भिन्न साधक का कोई अस्तित्व नहीं रह जाता। साधन-तत्त्व की अभिव्यक्ति होने पर साध्य से दूरी, भेद, भिन्नता नहीं रहती।

दृश्य की आस्था ने साध्य की आस्था को शिथिल किया है। यद्यपि साध्य की माँग साधक में विद्यमान है, परन्तु दृश्य की आस्था ने माँग को शिथिल और रुचि को बलवती कर दिया है। रुचि चाहे कितनी बलवती क्यों न हो जाय, माँग नष्ट नहीं होती। माँग का आधार अविनाशी जीवन है और रुचि परिवर्तनशील दृश्य से पोषित होती है। यदि रुचि का आधार अविनाशी होता, तो रुचि-पूर्ति होने पर उसकी निवृत्ति हो जाती और अभाव का अभाव हो जाता। पर ऐसा नहीं होता। रुचि-पूर्ति रुचि को ही जन्म देती रहती है। रुचि के अनुरूप प्रवृत्ति भी होती रहती है, किन्तु प्राप्ति कुछ नहीं होती; अर्थात् अभाव ही शेष रहता है, जो किसी भी साधक को अभीष्ट नहीं है। वास्तविकता की माँग रुचि को मिटाकर स्वतः सदा के लिये पूरी हो जाती है और फिर किसी

प्रकार का अभाव शेष नहीं रहता। इस दृष्टि से साध्य की माँग ही साध्य की प्राप्ति में हेतु है। इस तथ्य को स्वीकार करते ही माँग सबल हो जाती है और रुचि का नाश हो जाता है, अर्थात् रुचि और माँग का द्वन्द्व शेष नहीं रहता। रुचि काष्ठ और माँग अग्नि है। काष्ठ में विद्यमान अग्नि जब प्रकट हो जाती है, तो काष्ठ को भस्मीभूत करदेती है। उसी प्रकार माँग की जागृति रुचि का सदा के लिए अन्त कर देती है। और फिर साध्य की माँग साध्य में विलीन हो जाती है, केवल साध्य तथा उसकी अगाध प्रियता ही शेष रहती है। साध्य की प्रियता साध्य के समान अविनाशी तथा अनन्त है। इतना ही नहीं, साध्य की प्रियता साध्य के लिए रसरूप है और साधक का जीवन है।

जीवन अविनाशी है, उसका कभी नाश नहीं होता। केवल विस्मृति होती है, जो साध्य की स्मृति से स्वतः मिट जाती है। अर्थात् विस्मृति का नाश ही जीवन की उपलब्धि में हेतु है, जो एकमात्र अखण्ड स्मृति से ही सम्भव है। अखण्ड स्मृति साधक में उदित होती है और उसके उदित होने से इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि अपने-अपने विषयों से विमुख होकर स्मृति में विलीन होते हैं, जिसके होते ही साधक में सृष्टि की आस्था नहीं रहती, अपितु साध्य की आस्था ही रह जाती है। साध्य की आस्था साधक का सर्वस्व है। साध्य की आस्था ही साधक को साध्य से अभिन्न करती है। यदि साधक साध्य की आवश्यकता की अनुभूति द्वारा अपने में से साध्य से भिन्न की आस्था को निकाल दे, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक साधक को साध्य की प्राप्ति हो जाती है।

साध्य से भिन्न की आस्था ने ही साधक को साध्य से विमुख किया है। साधक साध्य से विमुख होकर ही दृश्य की ओर प्रवृत्त होता है और अन्त में असमर्थता में आबद्ध हो जाता है। यद्यपि असमर्थता की वेदना सर्व-समर्थ की आस्था में हेतु है, परन्तु जो सदैव, सर्वत्र, सभी के लिए नहीं है, उसके अस्तित्व को स्वीकार करना वास्तविक आस्था से विमुख होना है। साध्य सदैव है,

समर्थ है, अद्वितीय है और प्रत्येक साधक का अपना है। अपने में अपनी प्रियता सहज तथा स्वाभाविक होती है। साध्य की प्रियता समस्त आसक्तियों को मिटाकर साधक को साध्य से अभिन्न करती है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब साधक साध्य से भिन्न को स्वीकार न करे। साध्य से भिन्न जो कुछ प्रतीत होता है, उसकी प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि प्राप्ति उसकी होती है, जो सदैव तथा सर्वत्र है। उसमें अविचल आस्था सर्वतोमुखी विकास का मूल है। प्रतीति स्वयं-प्रकाश्य नहीं है। जो स्वयं प्रकाश्य नहीं है, उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, उसकी उपलब्धि नहीं होती। प्रतीति का प्रकाशक, उत्पत्ति का आधार ही साधक का साध्य है। प्रतीति और उत्पत्ति साध्य नहीं है। जो साध्य नहीं है, उसमें आस्था करना भारी भूल है। साध्य की आस्था ही साधक को साध्य से अभिन्न करती है। साध्य में आस्था करना साधक का स्वधर्म है। स्वधर्म का सम्पादन किसी पराश्रय के द्वारा नहीं होता। इस दृष्टि से साध्य की आस्था शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा सम्भव नहीं है, अपितु अपने ही द्वारा अपने साध्य में आस्था करना सम्भव है, अर्थात् प्रत्येक साधक स्वयं अपने साध्य में आस्था कर सकता है।

मानव प्रमाद-वश शरीरादि वस्तुओं की आस्था में अपने को आबद्ध कर लेता है, यह जानते हुए भी कि किसी भी उत्पन्न हुई वस्तु की स्थिति नहीं है, केवल उत्पत्ति-विनाश का क्रम है। जिसकी स्थिति नहीं है, उससे नित्य-सम्बन्ध स्वीकार करना, उसमें आस्था करना वास्तविक जीवन से वंचित होना है। अस्तित्वहीन की आस्था का नाश एकमात्र साध्य की आस्था से हो सकता है। जिसकी उपलब्धि आस्था से होती है, उसकी प्राप्ति किसी अन्य उपाय से नहीं हो सकती। इस वास्तविकता को अपनाना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है। आस्था तभी सजीव होती है, जब साधक साध्य के महत्त्व को अपनाकर साध्य में

अपनत्व स्वीकार करे। अपनत्व से ही अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता की अभिव्यक्ति होती है, जो रसरूप जीवन की प्राप्ति में हेतु है। साधक के लिए साध्य में आस्था-श्रद्धा-विश्वास आवश्यक है, जो अन्य विश्वास, अन्य सम्बन्ध तथा चिन्तन के त्याग से ही सजीव होता है, जिसके होते ही साधक सब प्रकार से साध्य का हो जाता है। साध्य तो साधक को अपना जानता ही है, पर साधक को आस्था-श्रद्धा-विश्वासपूर्वक साध्य को स्वीकार करना है। साध्य को स्वीकार करना ही साध्य की शरणागति में हेतु है। अतः साध्य की शरणागति ही सफलता की कुंजी है।

२२

'सुख के भोगी को दुःख भोगना ही पड़ता है', यह प्राकृतिक तथ्य है। इस तथ्य को अपनाकर यदि व्यक्ति सुख-भोग की रुचि का त्याग कर दे, तो अपने में ही चिन्मय, रसरूप जीवन को पाकर कृत-कृत्य हो सकता है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है।

शरीर को बनाये रखने की स्वाधीनता किसी भी मानव को कभी भी प्राप्त नहीं है। पर शरीर के सदुपयोग की स्वाधीनता प्रत्येक मानव को है। शरीर को अपना न मानते हुए उसका सदुपयोग सर्वहितकारी कार्य में कर डालने पर साधक शरीर की दासता से मुक्त हो जाता है। यह जीवन का सत्य है।

निज-ज्ञान का आदर एवं ईश्वर में अविचल आस्था स्वधर्म है। स्वधर्म-पालन 'स्व' से ही साध्य है। उसमें पराश्रय एवं परिश्रम का लेश-मात्र नहीं है। इस दृष्टि से निज-ज्ञान के आदर से एक साधक असत् से सम्बन्ध-विच्छेद करने में तथा आस्था के आधार पर अनन्त परमात्मा से आत्मीयता स्वीकार करने में सर्वथा स्वाधीन है। यह मानव-जीवन की मौलिक स्वाधीनता है।

जिस ज्ञान से ज्ञातव्य जाना जाता है वह ज्ञान तथा जिस आस्था से प्रेमास्पद से अभिन्नता होती है वह आस्था—दोनों ही अनुत्पन्न अविनाशी तत्त्व हैं, मनुष्य के मस्तिष्क की उपज नहीं। मस्तिष्क के द्वारा दृश्य के सम्बन्ध में ही खोज हो सकती है। 'मैं' की खोज में मस्तिष्क असमर्थ है, क्योंकि मस्तिष्क 'मैं' का करण है। करण से कार्य होता है, परन्तु करण से कारण को नहीं जाना जा सकता। मस्तिष्क हमें मिला हुआ है। मस्तिष्क जिसकी देन है, वह मस्तिष्क का विषय नहीं हो सकता। सृष्टि के लिए उपयोगी होने में मस्तिष्क सहायक हो सकता है, किन्तु सृष्टि के उद्गम की ओर गतिशील होने में तो साधक को मस्तिष्क से भी असंग होना पड़ता है। जीवन अपने में है। जो अपने में है, उसे स्वाधीनतापूर्वक प्राप्त किया जा सकता है। इस वास्तविकता को अपनाना अनिवार्य है।

पराधीनता-जनित सुख-लोलुपता साधक को साध्य से विमुख करती है। इतना ही नहीं, जिस सुख-लोलुपता की दासता में आबद्ध होकर साधक अपने में विद्यमान साध्य से अपने को विमुख कर लेता है, वह सुख भी अपने आप नष्ट हो परिणाम में भयंकर दुःख उत्पन्न कर जाता है। प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक सुख के भोगी को विवश होकर दुःख भोगना ही पड़ता है। इस वैधानिक तथ्य को अपनाकर यदि साधक सुख-भोग की रुचि को वास्तविक नित-नव-रस की आवश्यकता में विलीन कर दे, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक वह अपने में ही अपने साध्य को पाकर कृतकृत्य हो सकता है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है। विधान मानव की उपज नहीं है, अपितु खोज है। खोज उसी की होती है जो अविनाशी है। इस कारण विधान में अविचल आस्था करना अनिवार्य है। प्रत्येक साधक में नित-नव-रस की माँग बीज रूप से विद्यमान है, परन्तु मानव अपनी ही भूल से रस की माँग को शिथिल कर कामना-पूर्ति के सुख में अपने को बाँध लेता है। यह भली-भाँति जानते हुए भी कि अनेक बार कामनाओं की पूर्ति होने पर भी अभाव का अभाव नहीं हुआ और न नीरसता का ही नाश हुआ, अपितु अनेक प्रकार के भय उत्पन्न हो गये। भयभीत जीवन किसी भी प्राणी को कभी भी अभीष्ट नहीं है। मानव स्वभाव से ही अभय होने की आवश्यकता का अनुभव करता है, किन्तु पराधीनता को पसन्द करने से निर्भय हो नहीं पाता। यदि स्वाधीनता की माँग सबल हो जाय, तो पराधीनता स्वतः नष्ट हो जाती है।

स्वाधीनता उसे नहीं कहते जो किसी पराश्रय तथा परिश्रम द्वारा प्राप्त की जाय। बाह्य वस्तुओं की तो कौन कहे, स्वाधीनता प्राप्त करने के लिये मानव को मिले हुए शरीर की भी अपेक्षा नहीं है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने निज-ज्ञान के प्रकाश में विवेकवती बुद्धि द्वारा शरीर की वस्तुस्थिति का यथेष्ट अनुभव किया है। क्या कभी भी शरीर संसार से अलग हो

सकता है ? कदापि नहीं। शरीर और संसार का अविभाज्य सम्बन्ध है। शरीर संसार-रूपी वाटिका की खाद हो सकता है। और स्वयं उसके काम आ सकता है, जो संसार और शरीर का मालिक है। शरीर के उपयोग की स्वाधीनता मानव को मिली है। उसको बनाये रखने की स्वाधीनता किसी भी मानव को कभी भी प्राप्त नहीं है। जिसके बनाये रखने की स्वाधीनता नहीं है, उसको अपना मानना और उसके द्वारा अपनी वास्तविक माँग की पूर्ति का प्रयास करना, क्या भारी भूल नहीं है ? शरीर अपने लिए नहीं है- इस वास्तविकता को अपनाना अत्यन्त आवश्यक है। हाँ, शरीर के माध्यम से कामना-पूर्ति के सुख का सम्पादन होता है, किन्तु सभी कामनाओं की पूर्ति कभी भी किसी भी मानव की नहीं हुई और कुछ कामनाएँ प्रायः सभी की पूरी होती हैं। इस दृष्टि से कामना-पूर्ति-अपूर्ति भी तो साधक को निष्काम होने की ही प्रेरणा देती है। निष्कामता साधक का अपना स्वधर्म है, अर्थात् प्रत्येक साधक स्वाधीनतापूर्वक निष्काम हो सकता है। निष्काम होने के लिए शरीर आदि किसी भी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि की अपेक्षा नहीं है। जिसकी उपलब्धि किसी परिस्थिति आदि की अपेक्षा नहीं रखती, उसकी प्राप्ति विवेकपूर्वक प्रत्येक परिस्थिति में हो सकती है। इस दृष्टि से निष्काम होने के लिए किसी अप्राप्त परिस्थिति का आह्वान करना भारी भूल ही है और कुछ नहीं।

स्वधर्म-पालन 'स्व' से ही साध्य है। जो 'स्व' से साध्य है, उसके लिए पराश्रय तथा परिश्रम की लेशमात्र भी आवश्यकता नहीं है। इस वास्तविकता में अविचल आस्था अनिवार्य है। 'स्व' के द्वारा उसी की उपलब्धि होती है जो निज-ज्ञान तथा आस्था से साध्य हो। जो ज्ञान से साध्य हो, उसके लिए किसी प्रमाण की भी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि ज्ञान अविनाशी तत्त्व है। ज्ञान उसे नहीं कहते जो जानने में आता है, अपितु उसे कहते है जिससे जाना जाता है। जिससे जाना जाता है वह किसी मस्तिष्क की उपज नहीं है, अर्थात् ज्ञान कोई भौतिक तत्त्व नहीं है, अपितु अनुत्पन्न

अविनाशी तत्त्व है। जिज्ञासुओं ने अविनाशी तत्त्व की खोज की है और उससे अभिन्न होकर जिज्ञासा की पूर्ति का आनन्द प्राप्त किया है। वैधानिक दृष्टि से कामना की निवृत्ति तथा जिज्ञासा की पूर्ति होती है। जिज्ञासा-पूर्ति में विकल्प करना मानव की अपनी असावधानी, अर्थात् जड़ता है और कुछ नहीं। जिज्ञासा की तीव्र जागृति होने पर जड़ता स्वतः नष्ट हो जाती है। सन्देह-रहित होने की उत्कट लालसा से जिज्ञासा तीव्र होती है। निस्संदेहता की माँग मानव की स्वाभाविक माँग है। स्वाभाविक माँग में विकल्प करना साधक की अपनी ही उत्पन्न की हुई भूल है। भूल कोई प्राकृतिक तथ्य नहीं है। जो निज-ज्ञान से सिद्ध है, उसे स्वीकार न करना ही भूल है। भूल-रहित होने का दायित्व अपने पर है, किसी और पर नहीं। भूल मिटाने की सामर्थ्य मानव को स्वतः प्राप्त है। इस कारण भूल-रहित होने के लिए सर्वदा सजग रहना आवश्यक है।

स्वाधीनता के लिए किसी देश-काल, वस्तु-व्यक्ति आदि की भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वस्तु आदि से मानव का नित्य सम्बन्ध नहीं है। जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं है, उसके द्वारा स्वाधीनता सम्भव नहीं है। नित्य सम्बन्ध उसी से हो सकता है, जो सदैव है, सर्वत्र है, सभी में है और सभी का है; और ऐसा होने से अद्वितीय है, समर्थ है। उसमें अविचल आस्था भी 'स्व' से ही साध्य है। मस्तिष्क के द्वारा जो-जो तथ्य सिद्ध होते हैं, उनमें परिवर्तन होता रहता है। मस्तिष्क के आधार पर कोई भी निर्णय अन्तिम नहीं हो सकता। उसमें प्रगति एवं परिवर्तन होता ही रहता है; क्योंकि मस्तिष्क के द्वारा दृश्य के सम्बन्ध में ही खोज हो सकती है। दृश्य 'मैं' का विषय है। इस दृष्टि से मस्तिष्क भी मानव का एक करण मात्र है और कुछ नहीं। मस्तिष्क का ज्ञान स्वयं मस्तिष्क को नहीं है।

मस्तिष्क के द्वारा अनेक वैज्ञानिक आविष्कार हुए, किन्तु किसी भी विज्ञानवेत्ता ने मस्तिष्क का आविष्कार नहीं किया।

इससे यह स्पष्ट ही सिद्ध होता है कि मस्तिष्क मिला है। मिली हुई वस्तु से नित्य सम्बन्ध नहीं हो सकता। मस्तिष्क जिसकी देन है, वह मस्तिष्क का विषय नहीं हो सकता। इतना ही नहीं, मस्तिष्क के द्वारा तो उसे भी नहीं जाना जाता जिससे मस्तिष्क मिला है; अर्थात् मस्तिष्क के द्वारा कोई भी अपने को अनुभव नहीं करता, अपितु अपने द्वारा मस्तिष्क का उपयोग करता है। सृष्टि के लिए उपयोगी होने में मस्तिष्क सहायक हो सकता है, किन्तु सृष्टि के उद्‌गम की ओर गतिशील होने में तो साधक को मस्तिष्क से भी असंग होना पड़ता है। मस्तिष्क से असंग होते ही साधक अपने ही द्वारा अपने में वास्तविक जीवन को पाकर कृतकृत्य हो जाता है। अपने में अपना जीवन है। जो अपने में है, उसे स्वाधीनतापूर्वक प्राप्त किया जा सकता है। इस वास्तविकता को अपनाना अनिवार्य है।

मानव के व्यक्तित्व में भूल-जनित काम और स्वभाव-जनित नित-नव-रस की माँग मौजूद है। जिसकी उत्पत्ति भूल-जनित है, उसकी निवृत्ति होती है। इस कारण काम की निवृत्ति होती है, अर्थात् प्रत्येक साधक निष्काम हो सकता है। मिले हुए शरीर आदि को अपना मान लेने पर अनेक विकार उत्पन्न होते हैं और ममता दृढ़ होने पर काम का जन्म होता है। 'मिला हुआ अपना नहीं है, अपने लिये नहीं है,' क्योंकि उसके द्वारा वास्तविक जीवन की उपलब्धि नहीं होती, किन्तु मिले हुए का सदुपयोग विश्व-रूपी वाटिका की सेवा में हो सकता है। अपने को जो चाहिए वह अपने में है। जो अपने में है, वह किसी श्रम से साध्य नहीं है, अपितु विश्राम से ही साध्य है। विश्राम के लिए किसी भी मिली हुई वस्तु, योग्यता और सामर्थ्य की अपेक्षा नहीं है। मिले हुए का उपयोग सुख-भोग में करना विश्राम में बाधक है। जिसका उपयोग सेवा में करना चाहिये था, उसका उपयोग रुचि-पूर्ति में करना अपने को पराधीनता में आबद्ध करना है। पराधीनता में आबद्ध प्राणी न तो

स्वाधीन हो नहीं सकता है, न उदार और न प्रेमी। जो स्वाधीन नहीं हो सकता, वह अमरत्व से अभिन्न नहीं हो सकता। पराधीन प्राणी सदैव मृत्यु के भय से भयभीत रहता है, जो किसी को अभीष्ट नहीं है। और उदारता के बिना जीवन जगत् के लिए उपयोगी नहीं होता, अर्थात् जो उदार नहीं है, उसकी माँग संसार को नहीं है। जिसकी माँग संसार को नहीं है, वह संसार के लिए अनुपयोगी है। जो संसार के लिए अनुपयोगी हो जाता है, वही संसार के चिंतन में फँसा रहता है। जो संसार के लिए उपयोगी हो जाता है, वह संसार के चिंतन से रहित होकर अपने में संतुष्ट हो जाता है। उसी में प्रेम-तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है। प्रेम-तत्त्व की अभिव्यक्ति होने पर ही जीवन नित-नव-रस से भरपूर होता है। नीरसता सदा के लिए नष्ट हो जाती है। नीरसता का नाश होते ही काम का अत्यन्त अभाव हो जाता है और फिर वास्तविक माँग स्वतः पूरी हो जाती है। अतः स्वाधीनता का सम्पादन ही सफलता की कुंजी है।

२३

साधन और साधन-तत्त्व में बड़ा अन्तर यह है कि साधन व्यक्तिगत होता है, साधन-तत्त्व सभी का एक है। साधन-तत्त्व है-अपने साध्य की अगाध, अनन्त और नित-नव प्रियता। प्रियता के बिना सभी साधन निर्जीव हैं। साधक के जीवन में मूल्य प्रियता का है प्रियता उदित होती है—जातीय एकता, स्वरूप की एकता एवं आत्मीय सम्बन्ध से, और सुरक्षित होती है—अचाह होने से। प्रियता से शून्य साधन भार-स्वरूप बन जाता है। वह साधन नहीं, असाधन है। अतः प्रियता का उदित होना एवं सुरक्षित रहना साध्य की प्राप्ति के लिए अनिवार्य है।

समस्त साधनों की अभिव्यक्ति अपने जाने हुए असत् के त्याग और सत् के संग में ही निहित है। अतः अपने जाने हुए असत् के त्यागमात्र से साधन का निर्माण बड़ी ही सुगमतापूर्वक हो सकता है। यदि जाने हुए का प्रभाव हो जाय, तो साधन-निर्माण में कोई कठिनाई न हो, अपितु स्वाभाविकता आ जाय। स्वाभाविकता का अर्थ यह है कि उसमें प्रियता हो जाय और उसके बिना हम किसी प्रकार से न रह सकें। किन्तु सबसे बड़ा दुःख इस बात का है कि अपने जाने हुए का प्रभाव ही अपने पर नहीं रहता। इस निर्बलता का नाश होने पर बड़ी ही सुगमतापूर्वक प्रत्येक साधक अपने साधन का निर्माण कर सकता है। साधन-निर्माण होते ही साधन में तत्परता आती है और जैसे-जैसे वह तत्परता बढ़ती जाती है, वैसे ही वैसे साधक का अस्तित्व साधन में विलीन हो जाता है। जैसे-जैसे साधक का अस्तित्व साधन में विलीन हो जाता है, वैसे-ही-वैसे साधक की साध्य से अभिन्नता होती जाती है। जिस समय साधक का अस्तित्व सर्वांश में साध्य में विलीन हो जाता है, उसी समय अनेक साधन एक ही साधन-तत्त्व में विलीन हो जाते हैं।

साधन और साधन-तत्त्व में बड़ा अन्तर है। साधन व्यक्तिगत होता है और साधन-तत्त्व सभी का एक है। साधन-तत्त्व है-अपने साध्य की अगाध, अनन्त और नित-नव प्रियता। यह प्रश्न नहीं है कि आपका साध्य क्या है। प्रश्न यह है कि आपकी अपने साध्य में प्रियता है या नहीं। जीवन में मूल्य प्रियता का है संसार में जितने भी बड़े लोग हुए हैं, उन सबमें किसी की प्रियता का दर्शन होता है-चाहे मीरा होकर गिरिधर की प्रियता हो, चाहे कबीर होकर निर्विशेष-तत्त्व की प्रियता हो, चाहे जिज्ञासु होकर तत्त्व में प्रियता हो, चाहे भक्त होकर भगवान् में प्रियता हो, व्यक्ति होकर समाज में प्रियता हो या शरीर होकर विश्व में प्रियता हो।

प्रियता किसी वस्तु के द्वारा प्राप्त नहीं होती, किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा प्राप्त नहीं होती। और यह भी कहने में कोई संकोच नहीं लगता कि प्रियता किसी अभ्यास के द्वारा भी प्राप्त नहीं होती। यदि वस्तु के द्वारा प्रियता प्राप्त होती है, तो प्रियता आज अमेरिका में कैद दिखाई देती है। यदि बल के द्वारा वह प्राप्त हो सकती, तो रूस में कैद होती। किन्तु इन सब बातों से प्रियता नहीं मिलती। प्रियता का वास्तविक मूल्य है-आत्मीयता, अपनापन। जहाँ अपनापन हो जाता है, वहीं प्रियता का उदय होता है। और अपनापन सुरक्षित होता है-चाह-रहित होने से, जो अपने पास है, उसे दे डालने से। अपनापन सुरक्षित होता है-नित्य सम्बन्ध से और जातीय एकता से।

जातीय एकता का अर्थ यह नहीं है कि हम ब्राह्मण हैं, तो ब्राह्मण से हमारी जातीय एकता हो गई। असली अर्थ में हमारी जातीय एकता उससे ही हो सकती है कि जिसके और हमारे बीच स्वरूप की भिन्नता न हो पाये। उदाहरण के लिए, यदि किसी से पूछा जाय कि क्या आप वही हैं जो पच्चीस वर्ष पूर्व थे ? तो वह कहेगा-"जी, मैं वही हूँ।" विचार करें, 'उसमें' परिवर्तन नहीं हुआ। परिवर्तन हुआ शरीर में, परिस्थिति में, भावनाओं में, विचारों में, प्रवृत्तियों में। तो जिसमें परिवर्तन हुआ, वह उसकी जाति का नहीं

है जिसमें परिवर्तन नहीं हुआ। इसका अर्थ यह हुआ कि हम और हमारे शरीर में जातीय एकता नहीं है; हमारी हमारे प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि से जातीय एकता नहीं है। संसार में जो कुछ इन्द्रियों के ज्ञान से या बुद्धि के ज्ञान से देखने में आता है, उसमें भी कोई ऐसी वस्तु नहीं है कि जिसमें परिवर्तन न हो, अतः उससे भी हमारी जातीय एकता नहीं है। इस दृष्टि से संसार से हमारी जातीय एकता नहीं है, उससे हमारी मानी हुई एकता है। मानी हुई एकता के नाते हमारे पास जो कुछ संसार की वस्तु है, उसे उसी को भेंट करना है, उसको आदरपूर्वक उसकी सेवा में लगा देना है। अतः मानी हुई एकता से कर्त्तव्य का जन्म हुआ है।

आज हम कुटुम्बी जनों से ममता करेंगे, सेवा नहीं करेंगे। जिसके साथ हम रहते हैं, जो हमारे साथ रहते हैं, उनसे ममता रखेंगे, पर उनकी सेवा नहीं करेंगे, उलटे उनसे सुख की आशा करते हैं। सेवा तो तब करें, जब स्वयं सुख की आशा न करें ! सुख की आशा और ममता-बस, यही असाधन है। असाधन कहीं बाहर से नहीं आता, हम स्वयं अपने-आप अपने जीवन में असाधन को जन्म देते हैं। जिनसे मानी हुई एकता है, जातीय एकता नहीं है, उनकी सेवा करने में हिचकते हैं, उनको आदर देने में हिचकते हैं, प्यार देने में हिचकते हैं; किन्तु उनसे सुख की आशा करने में नहीं हिचकते, उनसे ममता करने में नहीं हिचकते। अगर ये साधन हैं, तो फिर असाधन क्या है ?

अगर आप कहें कि जब सुख की आशा और ममता असाधन हैं, तो फिर यदि हमसे कोई सुख की आशा करता है, तो क्यों हम उसे पूरी करें ? विचार कीजिए, आपसे कोई सुख की आशा नहीं करता, वह आशा करता है अपनी दी हुई वस्तु की। संसार ने आपको शरीर-रूपी वस्तु दी है, योग्यता दी है, सामर्थ्य दी है; ज्ञान, विज्ञान और कला दी है। उसने दिया है आपको इन्द्रिय-जन्य ज्ञान, बुद्धि-जन्य ज्ञान, वस्तुओं के उपयोग वाला विज्ञान और कला, जो दैनिक जीवन में सुन्दरता लाने वाली है। यह सब

संसार की देन है। जो संसार की देन है, उसके द्वारा संसार की पूजा कर दो। जैसे, कोई गंगाजल से गंगा की पूजा कर दे, तो उसका क्या खर्च होता है ? संसार की दी हुई वस्तु के द्वारा यदि हम संसार की सेवा नहीं कर सकते, तो इससे बढ़कर और कोई बेईमानी हो ही नहीं सकती। और इससे बढ़कर और कोई सुगम साधन भी नहीं हो सकता कि किसी की दी हुई वस्तु से हम उसकी पूजा कर दें।

बहुत से लोग विनोद में कह देते हैं कि अभी कौन सी जरूरत है साधन करने की, कुछ वर्षों के बाद देखा जायगा, अभी तो भाई आनन्द करने दो ! सोचने की बात है कि बिना साधन के आपको कैसे आनन्द मिलेगा ! भाई, जीवन का कोई कार्य असाधन-रूप से किया हुआ सुखद भी नहीं होता, शान्ति देने वाला भी नहीं होता और सद्गति देने वाला भी नहीं होता। तो यह आपकी रुचि की बात है कि आप क्या पसन्द करें। यदि शान्ति की परवाह न कर, आप सुख में संतुष्ट हो जायँ या सद्गति की परवाह न कर शान्ति में सन्तुष्ट हो जायँ, तो यह मूर्खता की बात होगी; किन्तु वास्तव में जीवन का कोई भी क्षण साधन-रहित नहीं होना चाहिए। बिना साधन के कुछ नहीं मिल सकता। साधन जीवन है, जीवन साधन है। जीवन और साधन में विभाजन नहीं हो सकता।

जगत् की दी हुई वस्तु आदरपूर्वक, प्यारपूर्वक ईमानदारी से विधिवत् जगत् को दे देना साधन है। विधिवत् इसलिए देना है कि यदि हम विधिवत् नहीं देंगे, जैसे, रोगी का भोजन स्वस्थ को दे देंगे और स्वस्थ का भोजन रोगी को, तो दोनों बरबाद हो जायेंगे। आज अपनी अयोग्य सन्तान के लिए लाखों रुपये जमा कर दिये जाते हैं और पड़ोसी की योग्य सन्तान के लिए ध्यान ही नहीं दिया जाता ! रोगी होने पर भी स्वयं मक्खन खा जाते हैं और अपने स्वस्थ सम्बन्धी और स्वस्थ साथी को कुछ भी नहीं देते ! भाई, यह विधि का दोष है। इसलिए सेवा में विधि का बहुत

बड़ा स्थान है।

विधि का अर्थ है अहितकर प्रवृत्ति न हो, अपितु हितकर हो। साधन का यह अर्थ कभी नहीं है कि हम वह करें, जो हमारे जीवन से अलग हो सके। जागना-सोना, उठना-बैठना, खाना-पीना, मिलना-जुलना आदि जितनी प्रवृत्तियाँ जीवन में हैं, उनमें से कोई भी प्रवृत्ति ऐसी नहीं होनी चाहिए कि जो साधन-युक्त न हो। साधनरूप प्रवृत्ति की कसौटी यह है कि जो अपने लिए प्रसन्नता देने वाली हो और दूसरों के लिए हितकर हो। जो प्रवृत्ति अपने लिए प्रसन्नता देने वाली न हो और दूसरों के लिए हितकर न हो, वह असाधन है। कुछ प्रवृत्तियाँ ऐसी भी होती हैं, जो अपने लिए प्रसन्नता देने वाली होती हैं, पर दूसरों के लिए अहितकर नहीं होती-ऐसी प्रवृत्तियाँ भी साधन के अन्तर्गत आ सकती हैं। किन्तु जो प्रवृत्तियाँ अपने लिए सुखद हों और दूसरों के लिए दुःखद हों, वे कभी भी साधन-युक्त नहीं हो सकतीं। जो सुख किसी का दुःख बनकर आता है, वह कालान्तर में घोर-दुःख बन जाता है। और जो दुःख किसी के हित के लिए आता है, वह हमें आनन्द से अभिन्न कर देता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि भाई ! साधन बोझा नहीं है। आज साधक को यह मालूम होता है कि जैसे कोई आदमी रोटी खाकर निश्चिन्त होकर उठता है, वैसे ही जब वह ध्यान से उठता है, तो उसे विश्राम मिलता है, अर्थात् जब वह ध्यान में था, तब उसे विश्राम नहीं था। तो क्या यह भी साधन है कि ध्यान-काल में विश्राम न मिले ? वह भी क्या चिन्तन है कि जो चिन्तन-काल में विश्राम का हेतु न बने और चिन्तन समाप्त होने पर विश्राम मिले ? इस प्रकार की साधन-प्रणाली जो हमारे-आपके जीवन में है, वह साधन के नाम पर असाधन ही है। इसलिए भाई, साधन का अर्थ यह कभी भी नहीं है कि साधन हमारे लिए अत्यन्त रुचिकर न हो। अत्यन्त रुचिकर नहीं होगा, तो उसमें हमारा पूरा

जीवन लगेगा नहीं। और साधन उसे कहते भी नहीं जिसमें पूरा जीवन न लग जाय। ऐसा साधन हमें तभी प्राप्त होगा, जब हम अपने जाने हुए असत्य का त्याग करने में सर्वदा तत्पर रहेंगे। और जाने हुए असत्य का त्याग करने में तत्पर तभी रहेंगे, जब अपने जाने हुए का प्रभाव जीवन में होगा।

२४

जाने हुए का प्रभाव जीवन पर क्यों नहीं होता ? हम जानते हैं कि भोग की प्रवृत्ति में सुख और परिणाम में दुःख है। जो सुखद क्रिया पर दृष्टि रखता है और दुःखद परिणाम पर ध्यान नहीं देता, उस पर जाने हुए का प्रभाव नहीं होता। हमारा जाना हुआ है कि विवेक-विरोधी कर्म, सम्बन्ध एवं विश्वास से सब प्रकार के असाधन उत्पन्न होते हैं। असाधनों का नाश इस भूल को मिटाने से होगा, अन्यथा नहीं। अतः वस्तु, व्यक्ति एवं परिस्थिति का सम्बन्ध विवेक-विरोधी सम्बन्ध है। इनके सहारे सत्य नहीं मिल सकता। विवेक-विरोधी सम्बन्ध का त्याग धीरे-धीरे नहीं होता है। सम्बन्ध के टुकड़े नहीं होते। सम्बन्ध जब टूटता है, तो एक साथ टूटता है। विवेक-विरोधी सम्बन्ध एवं विश्वास के त्याग से जाने हुए का प्रभाव एवं मिले हुए का सदुपयोग स्वतः होने लगता है। यह बड़ा भारी सत्य है कि मिले हुए के सदुपयोग द्वारा ही जीवन जगत् के लिए उपयोगी होता है। तब जगत् उस जीवन की माँग करने लगता है, उस जीवन का जगत् अनुसरण करने लगता है। इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं है।

जाने हुए असत् का त्याग करने से ही साधन निर्माण होता है। ऐसा नहीं है कि हम नही जानते। जीवन में ऐसी बात भी नहीं है कि हम नहीं मानते। बहुत से लोग हैं जो प्रभु को मानते हैं। बहुत से लोग हैं जो संसार की वास्तविकता को जानते हैं। महत्त्व की बात यह है कि उस जाने हुए का प्रभाव कितना है जीवन में; उस माने हुए का प्रभाव कितना है जीवन में। यह बात बड़ी ही गम्भीरता से प्रत्येक साधक को देखनी चाहिए कि हम जो जानते हैं, उसका प्रभाव जीवन पर क्यों नहीं होता। विचार करने से मालूम होता है कि जानने के दो अंग हैं-एक प्रवृत्ति के रूप को जानना, दूसरे प्रवृत्ति के परिणाम को जानना। जैसे, भोजन करने में क्रियाजन्य सुख भी मिलता है और भोजन का परिणाम भी

होता है। भोजन के परिणाम पर जिसकी दृष्टि होती है, वह भोजन के सम्बन्ध में ठीक जानता है। पर जिसकी दृष्टि भोजन के क्रियाजन्य सुख पर होती है, वह ठीक नहीं जानता। ठीक न जानने का अर्थ अधूरा जानना होता है। देखना, सुनना, बोलना, सोचना-समझना आदि भोग-प्रवृत्तियों में सुख भी होता है और दुःख भी। भोग-प्रवृत्तियों के उदय में सुख, पर परिणाम में दुःख होता है। भोग-प्रवृत्ति के सुखद अंग को ही जानना अधूरी जानकारी है।

हमारी सुखद प्रवृत्ति यदि किसी के लिए अहितकर है, तो हमें उसका त्याग करना चाहिए; क्योंकि कर्त्तव्य-विज्ञान का एक सुन्दर सिद्धान्त है कि हमारे द्वारा जो दूसरों को मिलेगा, वह कई गुना अधिक होकर हमें मिलेगा। यदि हमने सुख के प्रलोभन से किसी के साथ अहितकर प्रवृत्ति की, तो उससे उसका जितना अहित होगा, उसका कई गुना हमारा अपना अहित होगा। पर आज हम कर्त्तव्य-विज्ञान को भूलकर उसका अनादर करने लगे। उसका परिणाम यह हुआ कि जो नहीं करना चाहिए, हम उसे करने लगे और जो हमें करना चाहिए, वह कठिन मालूम होने लगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि हमें अपनी अधूरी जानकारी के आधार पर अपना सारा जीवन नहीं रखना चाहिए। जब हम अधूरी जानकारी के आधार पर अपना जीवन नहीं रखेंगे, तब वास्तविक जानकारी का प्रभाव होगा और जब उसका प्रभाव होगा, तो जीवन में असाधन रह ही नहीं सकता।

असाधन और कुछ नहीं, विवेक-विरोधी कर्म ही असाधन है, विवेक-विरोधी विश्वास ही असाधन है और विवेक-विरोधी सम्बन्ध ही असाधन है। अब सोचिये! जिससे हमारी जातीय भिन्नता है, उसमें ममता करना विवेक-विरोधी सम्बन्ध है; जिससे हमारा नित्य सम्बन्ध नहीं है, उसमें विश्वास करना विवेक-विरोधी विश्वास है; जो अपने प्रति नहीं चाहते, उसी कार्य को दूसरे के प्रति करना विवेक-विरोधी कर्म है। अब आप गम्भीरता से विचार करें, क्या

असाधन के मूल कारण को हम नहीं जानते ? क्या हम उसे नहीं मिटा सकते ? अवश्य मिटा सकते हैं।

जरा ध्यान तो दें। क्या विवेक-विरोधी सम्बन्ध आप सुरक्षित रख सकते हैं ? क्या विवेक-विरोधी विश्वास को आप सुरक्षित रख सकते हैं ? क्या विवेक-विरोधी कर्म के आधार पर आप समाज में रह सकते हैं ? कभी नहीं। हाँ, यह दूसरी बात है कि जीवन में कुछ भाग ऐसा भले ही बनाये रखें जो विवेक-विरोधी है, लेकिन कुछ भाग ऐसा भी रखना पड़ता है, जिसमें विवेक का विरोध नहीं है। इसी कारण आप देखेंगे कि कोई व्यक्ति सर्वांश में दोषी नहीं होता, सभी के लिए दोषी नहीं होता और सदैव दोषी नहीं रहता। सर्वांश में, सभी के लिए और सदा के लिये दोषी होकर कोई रह ही नहीं सकता। इसलिए भाई ! विवेक-विरोधी कर्म से विवेक-विरोधी विश्वास से, विवेक-विरोधी सम्बन्ध से काम चलेगा नहीं। उनका त्याग करना ही पड़ेगा।

हमें सिखाया जाता है कि विवेक-विरोधी कर्म मत करो। पर, यदि विवेक-विरोधी विश्वास या सम्बन्ध रहेगा, तो विवेक-विरोधी कर्म अवश्य बनेगा। इसलिए सबसे पहले विवेक-विरोधी सम्बन्ध और विश्वास का नाश आवश्यक है। उनको बनाये रखने से असाधन का नाश होगा ही नहीं। जैसे, शरीर की ममता विवेक-विरोधी सम्बन्ध है। यदि वह बना रहा, तो घोर तप करने के बाद भी यदि किसी ने प्रणाम नहीं किया, तो उसका भी नाश कर बैठेंगे और अपना भी। इसलिए विवेक-विरोधी सम्बन्ध पहले छोड़ना है।

यदि हम विवेक-विरोधी सम्बन्ध का त्याग कर देते हैं, तो हमें यह मानना पड़ेगा कि यह शरीर हमारा नहीं है, इन्द्रियाँ हमारी नहीं हैं; मन, बुद्धि और प्राण हमारे नहीं हैं, जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थायें हमारी नहीं हैं, तथा स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर हमारे नहीं हैं। इसके मानने का परिणाम बड़ा सुन्दर निकलेगा। यदि 'स्थूल' शरीर की ममता छोड़ दी, तो कर्म की

आसक्ति विदा हो जायगी। यदि 'सूक्ष्म' शरीर की ममता छोड़ दी, तो चिन्तन की आसक्ति विदा हो जायगी। यदि 'कारण' शरीर की ममता छोड़ दी, तो स्थिति की आसक्ति नहीं रहेगी। जब आसक्ति नहीं रहती, तो अनासक्ति आती है और अनासक्ति अशुद्धि को खा जाती है। अशुद्धि का नाश हो जाने पर कर्म भी शुद्ध, चिन्तन भी शुद्ध और स्थिति से असंगता हो जाती है। फिर साधन बनने में क्या रह जाता है ? और उसके लिये त्यागा क्या ? केवल विवेक-विरोधी सम्बन्ध।

आज हम विवेक-विरोधी सम्बन्ध नहीं त्यागते और गीता चाट जाते हैं। पर क्या उससे मोह का नाश होता है ? हम कोठरी में बन्द होकर ताला लगवा देते हैं, गुफा में घुसकर हम ईश्वर को खरीदना चाहते हैं। इनसे क्या सिद्धि मिलेगी ? कभी नहीं। हम धोखा देते हैं अपने को और दूसरों को। इससे सिद्धि नहीं मिलेगी। वह तो मिलेगी-विवेक-विरोधी सम्बन्ध तोड़ने से, जो उसी क्षण मोह का नाश कर देगा, और जिसके बिना साधन का आरम्भ ही नहीं हो सकता, चाहे गीता पढ़ें, चाहे समाधि लगावें।

यह भी नहीं हो सकता कि विवेक-विरोधी सम्बन्ध का त्याग धीरे-धीरे हो। सम्बन्ध के टुकड़े नहीं होते। सम्बन्ध जब टूटता है; तो एक साथ टूटता है। इसलिए निश्चय यह करना है कि विवेक-विरोधी सम्बन्ध तोड़े बिना दूसरे कार्य का आरम्भ ही नहीं करेंगे। जरा बिताओ तो चौबीस घण्टे इस कार्य के लिये ! यदि लगातार चौबीस घण्टे लगाए होते आपने इस कार्य के लिए, तो आपकी वही दशा होती, जो भगवान् बुद्ध की हुई थी कि यदि मुझे सत्य नहीं मिलेगा, तो मैं यहाँ से नहीं उठूँगा, दूसरे कार्य का आरम्भ नहीं करूँगा। आप देखिए, आपको सिद्धि होती है कि नहीं। अवश्य होगी।

हमको सिद्धि प्राप्त करनी है, तो सत् का संग करना ही होगा और विवेक-विरोधी सम्बन्ध असत् है, अतः उसका त्याग करना ही होगा। उसका त्याग करते ही जीवन में जाने हुए का

प्रभाव होगा और मिले हुए का सदुपयोग स्वतः होने लगेगा। जाने हुए का प्रभाव हुए बिना मिले हुए का सदुपयोग हो ही नहीं सकता और जब तक मिले हुए का सदुपयोग नहीं होता, तब तक जीवन जगत् के लिए उपयोगी नहीं हो सकता। यह बड़ा भारी सत्य है कि मिले हुए के सदुपयोग के द्वारा ही जीवन जगत् के लिये उपयोगी होता है। और तब जगत् उस जीवन की माँग करने लगता है, उस जीवन का जगत् अनुसरण करने लगता है। इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है।

यदि कहें कि विवेक-विरोधी सम्बन्ध का त्याग तो बड़ा कठिन है, हमसे नहीं हो सकता। तो विचार करने पर मालूम होगा कि इससे सुलभ और साधन दुनियाँ में है ही नहीं। सोचो, जो हमारे बिना रह सकता है, जो बराबर हमारा त्याग कर रहा है, उससे सम्बन्ध बनाये रखना कठिन है या उसका त्याग ? भाई, त्याग करने वाले के प्रति सम्बन्ध असम्भव है, कठिन है, टिक नहीं सकता; परन्तु त्याग सुगम है, स्वाभाविक है। वस्तुएँ तो हमारा त्याग कर ही रही हैं, यदि हमने भी उनका त्याग कर दिया, तो वे हमारी सराहना करेंगी। वे घबड़ाती हैं, बहुत दुःखी होती हैं, संग्रह से दुरुपयोग करने वाले से और उससे जो उन पर ममता का पत्थर रख देता है। वे प्रसन्न होती हैं उससे जो न उनसे ममता करता है, न उसका संग्रह करता है और न दुरुपयोग, उनकी प्रसन्नता की पहचान यह है कि फिर आपके लिए आवश्यक वस्तुएँ अपने-आप आने लगती हैं, जीवन से दरिद्रता सदा के लिए मिट जाती है। यदि हमारे जीवन से वस्तु-विश्वास निकल गया होता, वस्तु-सम्बन्ध टूट गया होता, वस्तु का हमने दुरुपयोग न किया होता, तो वस्तु तरसती सेवा में आने के लिए। लेकिन आज हम तरसते हैं वस्तु के लिये। कोई वस्तु के सहयोग से तत्त्व-ज्ञान खरीदना चाहता है, कोई भगवान् को प्राप्त करना चाहता है, कोई विश्व-कल्याण करना चाहता है; कदापि नहीं होगा। वस्तु की आशा लेकर आज तक किसी को सत्य मिला नहीं, मिलेगा नहीं;

क्योंकि वस्तु का सम्बन्ध ही विवेक-विरोधी है। सत्य का संग क्या वस्तु की ममता से मिलेगा? वस्तु के संग्रह से मिलेगा ? वस्तु के दुरुपयोग से मिलेगा ? नहीं, कभी नहीं।

जो वस्तु प्राप्त है, वह हमारी अपनी नहीं है। भौतिक दृष्टि से वह जगत् की है। अध्यात्म-दृष्टि से वह मायामात्र है। आस्तिक दृष्टि से वह प्यारे प्रभु की है। वस्तु किसी देश की नहीं है, पार्टी की नहीं है, कुटुम्बी-जनों की नहीं है; वह जगत् की है। आस्तिक दृष्टि से वह उसकी है, जो जगत् का आधार है, जगत् का प्रकाशक है। दर्शन में चाहे जितना भेद हो, जीवन में कोई भेद नहीं हो सकता। भौतिकवादी को भी स्वीकार करना पड़ेगा कि 'शरीर मेरा नहीं है।' ईश्वरवादी को भी स्वीकार करना पड़ेगा कि 'शरीर मेरा नहीं है।' अध्यात्मवादी को भी स्वीकार करना पड़ेगा कि 'मैं' शरीर नहीं।" सोचो, जीवन में कुछ भेद हुआ ? दार्शनिक भेद होने से भेद नहीं होगा। जब हम जीवन की ओर गतिशील होंगे, उस समय हम सभी में प्रीति की एकता होगी, क्योंकि जीवन एक है। हमारे और दूसरों के बीच अनेक भेद हो सकते हैं, किन्तु प्रीति का भेद नहीं सहा जा सकता।

प्रीति की एकता को कोई तोड़ नहीं सकता। प्रीति करने में किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं है। आप हमको भले ही प्यार न करें, पर यदि हम आपको प्यार करते हैं, तो आपकी हिम्मत नहीं कि आप हमारे प्यार को काट सकें। और जिसके जीवन में प्रीति की अभिव्यक्ति होती है, उसके जीवन में बुराई कभी रह नहीं सकती। बुराई हम उसके साथ करते हैं, जिसके साथ हमारा प्यार नहीं होता। आज तक अपने प्यारे के साथ क्या कोई बुराई कर पाया है ? प्यार का रस इतना गहरा होता है कि बुराई की जरूरत नहीं होती।

इसलिए, भाई ! विवेक-विरोधी सम्बन्ध, जो हमारे जीवन में ओतप्रोत हो गया है, उसको तोड़ना है। उसका तोड़ना वर्तमान की वस्तु है और प्रत्येक व्यक्ति उसको तोड़ने में समर्थ और

स्वाधीन है। यदि हम यह स्वीकार कर लें कि जिस वाणी से हम बोलते हैं, वह हमारी नहीं है, जिस कान से हम सुनते हैं, वह हमारा नहीं है; तो बोलना श्रोता के अधिकार की रक्षा के लिए हो जायगा। उससे श्रोता की पूजा होने लगेगी और सुनना वक्ता के अधिकार की रक्षा, उसकी पूजा के लिए होगा। तब न बोले हुए का अभिमान होगा, न सुने हुए का। यदि दो सहोदर बन्धुओं के बीच का सम्बन्ध, पति-पत्नी के बीच का सम्बन्ध, पड़ोसियों के बीच का, वर्गों के बीच का, देशों के बीच का सम्बन्ध इसी भावना से प्रेरित हो, तो कितना आनन्द हो ! यदि हम सबेरे से शाम तक, जागृति से लेकर सुषुप्ति तक, जन्म से मृत्यु तक इस भावना को जीवित रखें, तो जीवन कितना सुखमय हो जाय ! कितना रसमय हो जाय !

इसलिए विवेक-विरोधी सम्बन्ध का त्याग ही साधन है। वह त्याग वर्तमान की वस्तु है। उससे प्राप्त वस्तु का दुरुपयोग न होकर सदुपयोग होने लगता है और अप्राप्त की कामना नहीं रहती। कामना न रहने से प्रवृत्ति के अन्त में नित्य योग की प्राप्ति होती है और प्राप्त का सदुपयोग होने से सुन्दर समाज का निर्माण होता है। यही जीवन का उद्देश्य है।

२५

आस्थावान साधक ऐसा मानते हैं कि मानव का कोई आश्रय तथा प्रकाशक है और वही सनातन सत्य है और वह सब प्रकार से पूर्ण है। पूर्ण से निर्मित मानव प्राप्त विवेक, आस्था और बल के द्वारा शान्ति, मुक्ति एवं भक्ति का जन्म-जात अधिकारी है। शान्ति, मुक्ति, भक्ति जिसे चाहिए, उसे अपना कोई संकल्प नहीं रखना चाहिए। मनुष्य प्राप्त सामर्थ्य को जगत् एवं जगत्पति के संकल्प पूरे करने में लगा सकता है। जगत्पति के नाते किया गया कर्म भक्ति प्रदान करता है। और जगत् के नाते किये हुए कर्म से शान्ति मिलती है। अपना संकल्प ही अपने को भोग, मोह और आसक्ति में आबद्ध करता है, जो विनाश का मूल है। अपना संकल्प न रहना साधन है। जगत् के संकल्पों को पूरा करना कर्त्तव्य और सेवा है और प्रभु के संकल्पों को पूरा करना पूजा है।

प्रकृति के परे के विधान से यह स्पष्ट सिद्ध है कि मानव का निर्माण मानव के अपने प्रयास का फल नहीं है; क्योंकि प्रयास का दायित्व मानव होने के पश्चात् ही आता है। मानव का निर्माण उसी ने किया है, जिसने सृष्टि रची है। यदि कोई यह कहे कि सृष्टि का निर्माता नहीं है, वह तो स्वतः सिद्ध है, तो मानना होगा कि सृष्टि का ज्ञाता होने के कारण मानव का अस्तित्व सृष्टि से पूर्व है। इस दृष्टि से मानव को निर्मित न मानकर सनातन और अविनाशी मानना होगा, परन्तु यह सभी विचाराकों का मत नहीं है। सृष्टि के ज्ञाता का अस्तित्व सृष्टि की अपेक्षा अधिक सनातन और अविनाशी है, परन्तु जो मानव को किसी की रचना मानते हैं, उन आस्थावान साधकों के जीवन में सृष्टि और मानव का कोई आश्रय तथा प्रकाशक है और वही सनातन सत्य एवं सब प्रकार से पूर्ण है। पूर्ण से निर्मित मानव प्राप्त विवेक, आस्था, और बल के द्वारा शान्ति, मुक्ति एवं भक्ति का जन्म-जात अधिकारी है।

जो मानव शान्ति, मुक्ति एवं भक्ति का अधिकारी है, उसको अपना कोई संकल्प नहीं रखना चाहिए; क्योंकि शान्ति, मुक्ति, भक्ति स्वतः सिद्ध तत्त्व हैं। उनकी उपलब्धि के लिए उनकी माँग ही अपेक्षित है। माँग की पूर्ति पराश्रय तथा परिश्रम के द्वारा नहीं होती। पराश्रय एवं परिश्रम के द्वारा संकल्पों की पूर्ति होती है, किन्तु अन्त में संकल्प-अपूर्ति का अभाव ही शेष रहता है। इस दृष्टि से सजग मानव अपना कोई संकल्प नहीं रखते। उन्हें जो वस्तु, योग्यता और सामर्थ्य प्राप्त है, उसके द्वारा जगत् और जगत्पति के संकल्प पूरे किये जा सकते हैं। जगत्पति के नाते किया हुआ कर्त्तव्य-कर्म भक्ति प्रदान करता है। और जगत् के नाते किए हुए कर्त्तव्य-कर्म से मानव निःसंकल्प होकर शान्ति, और सेवा-भाव से की हुई प्रवृत्ति के द्वारा जगत् के राग से रहित होकर जगदातीत जीवन में प्रवेश पाता है। उसी कर्त्तव्य-कर्म को जब आस्थावान साधक प्रभु की पूजा के भाव से करता है, तो वह प्रभु-प्रेम पाता है। इस दृष्टि से मानव की प्रत्येक प्रवृत्ति निवृत्ति में विलीन होकर शान्ति, मुक्ति और भक्ति देती है। निवृत्ति में भी एक अलौकिक शक्ति है, जिससे मानव जगत् के उद्गम को और अपने में अपने अविनाशी जीवन एवं जीवन-धन को पाकर कृत-कृत्य होता है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब मानव का अपना कोई संकल्प नहीं रहता; केवल कर्त्तव्य-परायणता रह जाती है। कर्त्तव्य-परायणता से मानव सभी विकारों से रहित हो जाता है। और निर्विकारता की भूमि में ही योग, बोध, प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, जो शान्ति, मुक्ति, भक्ति में हेतु है। अपना संकल्प ही अपने को भोग, मोह और आसक्ति में आबद्ध करता है, जो विनाश का मूल है। इस वास्तविकता का यथेष्ट अनुभव होने पर मानव अपने सभी संकल्पों का त्याग कर निस्संकल्प हो जाता है, अर्थात् उसके सभी संकल्प जगत् और जगत्पति के संकल्प में विलीन हो जाते हैं।

अपना संकल्प न रहना साधन है। जगत् के संकल्पों को पूरा

करना 'कर्त्तव्य', अर्थात् 'सेवा' है और प्रभु संकल्पों को पूरा करना 'पूजा' है। जब अपना कोई संकल्प नहीं रहता, तब किसी विकार की उत्पत्ति नहीं होती, अर्थात् निर्विकारता की अभिव्यक्ति होती है, जो वास्तव में साधन है। जगत् के संकल्पों की पूर्ति से जीवन में उदारता की अभिव्यक्ति होती है, जिससे मानव जगत् के लिए उपयोगी होता है। प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग पूजा-भाव से करने पर प्रभु से आत्मीय सम्बन्ध सुदृढ़ तथा सजीव होता है, जिससे अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता की अभिव्यक्ति होती है और जीवन अनन्त रस से भरपूर हो जाता है। शान्ति से उदित सामर्थ्य तथा ज्ञान के प्रकाश एवं प्रेम के रस से परिपूर्ण होना ही मानव-जीवन की पूर्णता है। इसी पवित्रतम उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनन्त की अहैतुकी कृपा से मानव-जीवन का निर्माण हुआ है। मानव की माँग सभी को है, क्योंकि उसके द्वारा सभी के अधिकार सुरक्षित होते हैं। इस दृष्टि से मानव सर्व-प्रिय है। मानव की जो अपनी माँग है, उसकी पूर्ति सत्संग से होती है, जो उसका स्वधर्म है। स्वधर्म का सम्पादन 'स्व' के द्वारा ही होता है। उसके लिए किसी पराश्रय तथा परिश्रम की अपेक्षा नहीं है। मानव-जीवन में जो पराश्रय और परिश्रम दिखाई देता है, उसका उपयोग पर-सेवा ही में है। पर इस वास्तविकता का बोध तभी होता है, जब मानव इस तथ्य को अपना ले कि 'मेरा कोई संकल्प नहीं है।' यह सर्व-मान्य सत्य है कि मानव का अविभाज्य सम्बन्ध जगत् और उसके आश्रय तथा प्रकाशक से है। तदनुसार जगत् के प्रति उदारता और उसके प्रकाशक के प्रति अनन्त प्रेम होना ही चाहिए। यह तभी सम्भव होगा जब मानव निज-ज्ञान के प्रकाश में निर्मम, निष्काम एवं असंग होकर स्वाधीन हो जाय और कर्त्तव्य-बुद्धि से निस्संकल्प होकर प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करता रहे । परिस्थिति के सदुपयोग से ही सभी परिस्थितियों से अतीत अविनाशी, स्वाधीन, चिन्मय, और रसरूप जीवन से अभिन्नता होती है। प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। इस कारण प्राप्त

परिस्थिति का सदुपयोग करने में मानव स्वाधीन है, परन्तु प्रमाद-वश पराधीनता में आबद्ध होने के कारण मानव प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नहीं करता और अप्राप्त के चिन्तन में आबद्ध हो जाता है, जो अहितकर है।

प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का सदुपयोग करना अनिवार्य है, पर उसके लिए सजगतापूर्वक निस्संकल्प होकर कार्य करना होगा। आवश्यक कार्य बिना किए करने के राग की निवृत्ति नहीं होती और अनावश्यक कार्यों का त्याग किए बिना आवश्यक कार्य की पूर्ति नहीं होती। अनावश्यक कार्य का त्याग तभी हो सकता है, जब मानव यह स्वीकार करे कि जो भी वर्तमान कार्य है, वह भौतिकवादी दृष्टिकोण से जगत् का और आस्तिकवादी दृष्टिकोण से जगदाधार का है। व्यक्तिगत कार्य कुछ नहीं है, यह वैज्ञानिक तथ्य है। परन्तु असावधानी के कारण जब मानव कार्य के बदले में अपने लिए कुछ भी चाहता है, तब कर्त्तव्य-पालन में अनेक दोष पैदा हो जाते हैं और फिर व्यक्तिगत जीवन में अशान्ति एवं सामाजिक जीवन में संघर्ष उत्पन्न हो जाता है, जो किसी भी सजग मानव को अभीष्ट नहीं है। जिसका अपना कोई कार्य नहीं है, उसी के द्वारा जगत् एवं जगदाधार के कार्य सम्पन्न होते हैं। यह अनन्त का मंगलमय विधान है।

अपना कोई कार्य नहीं है, इस वास्तविकता का अनुभव करने के लिए कार्य के आदि और अन्त में विश्राम का सम्पादन अनिवार्य है। यह तभी सम्भव होगा, जब अनावश्यक और अशुद्ध संकल्प नष्ट हो जायँ और आवश्यक तथा शुद्ध संकल्प पूरे हो जायँ। संकल्प-पूर्ति और संकल्प-निवृत्ति दोनों ही अवस्थाओं में निस्संकल्पता स्थायी होती है। किन्तु सजग मानव को निस्संकल्प स्थिति में भी रमण नहीं करना है, अर्थात् उससे भी असंग होना है। इसके होते ही मानव अपने में अपने अविनाशी जीवन तथा जीवन-धन को पाता है। इस वास्तविकता में अविचल आस्था अत्यन्त आवश्यक है। जीवन तथा जीवन-धन अपने में नहीं हैं, ऐसा मानने की भूल से ही मानव देहाभिमान तथा अनेक प्रकार की पराधीनता में

आबद्ध हो जाता है, जिसका मानव-जीवन में कोई स्थान नहीं है।

जगत् तथा जगदाधार के कार्य को अपना मान लेना भारी भूल है। इस भूल से ही मानव कर्त्तव्य-पालन में असमर्थता का अनुभव करता है और क्षुब्ध तथा क्रोधित हो जाता है। यदि प्राकृतिक विधान के अनुसार कोई भी कार्य अपना होता, तो उसके द्वारा अभाव का अभाव हो जाता, जो मानव की वास्तविक माँग है। माँग की पूर्ति विश्राम में है। विश्राम के सम्पादन के लिए करने के राग की निवृत्ति अनिवार्य है। उस राग-निवृत्ति के लिए ही कर्त्तव्य-पालन का विधान है। करने के राग की निवृत्ति और सुन्दर समाज का निर्माण कर्त्तव्य-परायणता से ही साध्य है। कर्त्तव्य-निष्ठ मानव का किसी पर कोई अधिकार नहीं है, अपितु उससे सभी के अधिकार सुरक्षित होते हैं। यह विशेषता मानव ही में है। जब मानव अपने जीवन के महत्त्व को भूलता है, तब अधिकार-लोलुपता में आबद्ध होकर कर्त्तव्य से विमुख हो जाता है। बाह्य परिस्थिति परस्पर कितनी ही भिन्न क्यों न हो, किन्तु मानव-जीवन के महत्त्व की दृष्टि से सब मानव बराबर हैं। मानव-जीवन का यह गौरव सुरक्षित रखना अनिवार्य है। पर यह तभी सम्भव होगा, जब मानव अपने ही द्वारा अपने सत्य को अपनाए और भूल से उत्पन्न हुए असत् का त्याग कर सत्संगी हो जाय।

सत्संग कोई अभ्यास नहीं है, अपितु विचार तथा विश्वास से साध्य जीवन-तत्त्व है। सत्संग के बिना व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं सामूहिक समस्याओं का हल नहीं हो सकता। इस दृष्टि से सत्संग में ही मानव के पुरुषार्थ की परावधि है। यदि यह कह दिया जाय कि सत्संग ही एक मात्र सफलता की कुंजी है, तो अत्युक्ति न होगी, अपितु यही वास्तविकता है। वास्तविकता को अपनाकर प्रत्येक मानव मानव-जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर कृत-कृत्य हो सकता है।

२६

प्रत्येक संयोग संयोग-काल से ही वियोग में बदल रहा है। अतः संयोग का सुख समस्त दुःखों का मूल है। इस दार्शनिक सत्य को अपनाकर व्यक्ति संयोग की दासता एवं वियोग के भय से मुक्त हो जाता है।

जीवन-विज्ञान मनुष्य को उदार, क्षमाशील एवं सहिष्णु बनाता है। दर्शन से जो सिद्ध है, उसमें सन्देह की गन्ध भी नहीं रहती और जीवन-विज्ञान से जो साध्य है, वह सभी को अभीष्ट है। प्राकृतिक विधान के अनुसार बलपूर्वक दूसरों के प्रति जो कुछ किया जायेगा, वही कालान्तर में अपने प्रति अवश्य होगा। इस विधान का आदर करने से व्यक्ति की देहातीत जीवन से अभिन्नता होती है। इस दृष्टि से जीवन-विज्ञान और दर्शन मानव को एक ही अविनाशी तत्त्व से अभिन्न करते हैं।

जीवन-विज्ञान से मानव बुराई-रहित हो जाता है और दर्शन से वह भलाई के अभिमान से मुक्त हो जाता है। निरभिमानता से परिच्छिन्नता का अन्त होता है, जिससे साधक अविनाशी, स्वाधीन, रसरूप जीवन से अभिन्न हो जाता है। विज्ञान और दर्शन को अपनाकर मानव जगत् के काम भी आता है और उससे असंग भी हो जाता है। फिर आस्था से साध्य आत्मीयता से उदित प्रभु-प्रेम की अभिव्यक्ति से जीवन पूर्ण होता है।

दर्शन का अर्थ है-मानव का अपना निज-ज्ञान। उसके प्रकाश में मानव को अपनी वर्तमान गति-विधि देखनी है। ऐसा करने से प्रत्येक साधक को यह स्पष्ट हो जायगा कि प्रत्येक संयोग संयोग-काल से ही वियोग में बदल रहा है। अतः संयोग का सुख समस्त दुःखों का मूल है। संयोग-काल में ही वियोग का अनुभव कर वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के द्वारा जगदाधार के नाते विश्व-वाटिका की यथा-शक्ति सेवा करनी है। जगदाधार से अभिन्न होने के लिए

निज-ज्ञान का आदर अनिवार्य है। उससे ही मानव निर्मम होकर निर्विकारता और असंग होकर स्वाधीनता एवं निष्काम होकर चिर-शान्ति पाता है। यह मानव के अपने दर्शन की देन है।

अब रही जीवन के विज्ञान की बात। जीवन-विज्ञान हमें उदार तथा क्षमाशील होने की एवं आई हुई प्रतिकूलता को सहर्ष सहन करने की प्रेरणा देता है। दर्शन और विज्ञान की वास्तविकता का कोई विरोध नहीं कर सकता, क्योंकि इनके द्वारा जीवन-तत्त्व की वास्तविकता का अनुभव होता है, जो मानव-मात्र को अभीष्ट है। दर्शन से जो सिद्ध है, उसमें सन्देह की गन्ध भी नहीं रहती और जीवन-विज्ञान से जो साध्य है, वह सभी को अभीष्ट है।

निस्सन्देहता आ जाने पर निश्चिन्तता, निर्भयता स्वतः प्राप्त होती है और फिर साधक का सन्तुलन स्थिर रहता है, जिससे कर्त्तव्य तथा निजस्वरूप की विस्मृति नहीं होती। जीवन-विज्ञान से यह सिद्ध है कि कर्त्तव्य की स्मृति में ही कर्त्तव्य पालन की सामर्थ्य निहित है। कर्त्तव्यपरायणता आ जाने पर व्यक्ति और समाज में गहरी एकता हो जाती है, जो विकास की भूमि है। यह रहस्य जीवन-विज्ञान से ही स्पष्ट होता है।

अपनी सुरक्षा की माँग सभी में है। यह जानते हुए भी दूसरों के विनाश की सोचना, क्या अपने ही द्वारा अपने को धोखा देना नहीं है ? इतना ही नहीं, प्राकृतिक विधान के अनुसार बलपूर्वक दूसरों के प्रति जो कुछ किया जायगा, वही कालान्तर में अपने प्रति अवश्य होगा, यह वैज्ञानिक तथ्य है। यदि जीवन-विज्ञान का आदर किया जाय, तो मानव में अकर्त्तव्य की उत्पत्ति ही नहीं होगी और मानव स्वतः कर्मनिष्ठ हो जायगा। उसके द्वारा सभी के अधिकार सुरक्षित होंगे और वह स्वयं अधिकार-लोलुपता से रहित हो जायगा, जिसके होते ही देहातीत जीवन से अभिन्नता होगी। इस दृष्टि से जीव-विज्ञान और दर्शन मानव को एक ही अविनाशी तत्त्व से अभिन्न करते हैं। वास्तव में दर्शन और विज्ञान में एकता है, विरोध नहीं। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब मानव

निज-ज्ञान के प्रभाव को अपनाकर अर्थात् निज-ज्ञान के आदर से भूल-जनित दोषों से रहित हो जाय। निर्दोषता प्राकृतिक तत्त्व है और भूल-जनित दोषों की उत्पत्ति निज-ज्ञान के अनादर से होती है। अतएव ज्ञान और कर्म की एकता जीवन-विज्ञान है।

ज्ञान के प्रकाश से ही अज्ञान का अन्धकार नष्ट होता है, किसी अन्य प्रकार से नहीं, यह दार्शनिक तथ्य है। ज्ञान-विरोधी कार्य न करना विज्ञान है। विज्ञान को अपनाये बिना जीवन जगत् के लिए उपयोगी नहीं होता और ज्ञान के प्रकाश के बिना मानव भूल-रहित नहीं होता। भूल-रहित हुए बिना निर्विकारता, चिर-शान्ति एवं स्वाधीनता प्राप्त नहीं होती और जीवन-विधान को अपनाये बिना उदारता, समता, निर्विकारता, निर्भयता आदि दिव्य गुणों की अभिव्यक्ति नहीं होती। निर्विकारिता, चिरशान्ति एवं स्वाधीनता मानव का जन्म-सिद्ध अधिकार है, परन्तु मानव अपने ही प्रमाद से वास्तविक जीवन से विमुख हो जाता है; जिसके होते ही वह देहाभिमान में आबद्ध होकर पराधीन हो जाता है, किन्तु स्वाधीनता की माँग नष्ट नहीं होती। जो विकृति भूल से उत्पन्न होती है, उसके द्वारा मानव की वास्तविक माँग नष्ट नहीं होती, शिथिल हो जाती है। माँग के शिथिल होने पर काम का जन्म होता है, जो समस्त कामनाओं की भूमि है। कामनाएँ अनेक और माँग एक है। माँग अविनाशी, स्वाधीन, रसरूप जीवन से अभिन्न करती है और कामनाएँ मानव को वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदि की दासता में आबद्ध करती है। इस प्रकार की दासता में आबद्ध व्यक्ति संतुलन खो बैठता है। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह होता है कि कर्त्तव्य तथा निज-स्वरूप की विस्मृति हो जाती है, जो विनाश का मूल है। काम का नाश एकमात्र वास्तविक माँग के सबल होने से ही सम्भव है, किसी अन्य प्रकार से नहीं। वास्तविक माँग की पूर्ति होती है, यह वैधानिक तथ्य है। इस तथ्य में अविचल आस्था अनिवार्य है। ज्यों-ज्यों यह आस्था स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों माँग सबल होती जाती है। ज्यों-ज्यों माँग तीव्र

होती जाती है, त्यों-त्यों काम नष्ट होता जाता है। सर्वांश में काम का नाश होते ही माँग स्वतः पूरी हो जाती है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है।

जीवन-विज्ञान से मानव बुराई-रहित हो जाता है और दर्शन से वह भलाई के अभिमान से मुक्त हो जाता है। निरभिमानता आते ही परिच्छिन्नता शेष नहीं रहती और फिर अविनाशी, स्वाधीन, रसरूप जीवन में मानव प्रवेश पाता है। बुराई और भलाई का द्वन्द्व ही मानव में परिच्छिन्नता को जीवित रखता है। परिच्छिन्नता मानव को वास्तविकता से विमुख कर देती है। वास्तविकता से विमुख होते ही, जिससे अभिन्नता है, उससे भिन्नता और जिससे भिन्नता है, उससे एकता भासित होती है। इस कारण द्वन्द्व का अन्त करना अनिवार्य है, जो एकमात्र बुराई-रहित होने से ही सम्भव है। बुराई का अन्त होते ही भलाई अपने-आप होने लगती है। उसका अभिमान मानव को परिच्छिन्नता से रहित नहीं होने देता। परिच्छिन्नता से रहित हुए बिना मानव अपने में अपना जीवन नहीं पाता और न जीवन-धन के प्रेम से ही परिपूर्ण होता है। इतना ही नहीं, परिच्छिन्नता से ही पराधीनता पोषित होती है। पराधीन मानव न तो उदार ही हो पाता है और न प्रेमी। उदारता तथा प्रेम के बिना जीवन जगत् और जगदाधार के लिए उपयोगी नहीं होता। इस दृष्टि से परिच्छिन्नता का अन्त करना अनिवार्य है, जो एकमात्र भलाई के फल तथा उसके अभिमान से रहित होने पर ही हो सकता है।

भूल-रहित होने पर बुराई का सर्वांश में नाश हो जाता है, क्योंकि उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। बुराई-रहित होने से भलाई अपने-आप होती है। भलाई मानव की उपज नहीं है, अपितु खोज है। खोज उसी की होती है, जो सदैव तथा सर्वत्र है। उसी से मानव की एकता होती है। जो स्वतः सिद्ध है उसका अभिमान करना प्रमाद है। प्रमाद किसी न किसी अंश में बुराई को जीवित रखता है। उससे ही भलाई का अभिमान उत्पन्न होता है।

भलाई के अभिमान से ही उसके फल में आसक्ति होती है, जो मानव को स्वाधीन नहीं होने देती। स्वाधीन हुए बिना मानव सर्वांश में प्रमाद-रहित नहीं होता और उसके बिना वह बुराई-रहित भी नहीं होता। बुराई-रहित होने के लिए मानव का पराश्रय तथा परिश्रम के द्वारा पर-सेवा करना अनिवार्य है, जो जीवन-विज्ञान है।

अपने में अपना जीवन है, उसकी प्राप्ति के लिए एकमात्र सत्संग ही अचूक उपाय है। अपने में अपना जीवन है, यह आस्था मानव को पराश्रय एवं परिश्रम से रहित कर देती है, जिससे मानव को विश्राम तथा स्वाधीनता प्राप्त होती है। स्वाधीन होते ही स्वतः उदारता तथा प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, जिससे जीवन जगत् और जगदाधार के लिए उपयोगी होता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये मानव का निर्माण हुआ है। मानव-दर्शन और जीवन-विज्ञान को अपनाकर मानव जगत् से असंग भी होता है और उसके काम भी आता है। असंगता अपने लिए और उदारता जगत् के लिए है। इसी वास्तविकता को अपनाने के लिए परम उदार परम सुहृद् प्रेमास्पद ने अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर अपने ही में से मानव का निर्माण किया है। अतः उन्हीं के नाते जीवन-विज्ञान के आधार पर बुराई-रहित होना अनिवार्य है और दर्शन के द्वारा भलाई से असंग होकर अपने में अविनाशी जीवन को पाकर सन्तुष्ट होना है। परन्तु यह जीवन की पूर्णता नहीं है। जिसने दर्शन और विज्ञान प्रदान किया, उससे आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करना अनिवार्य है। अपना कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण मानव-दर्शन तथा जीवन-विज्ञान को अपनाने से होता है। अनन्त ज्ञान से ज्ञान का प्रकाश पाकर सर्वदुःखों की निवृत्ति होती है, किन्तु आत्मीयता से उदित पावन प्रेम की अभिव्यक्ति के बिना जीवन की पूर्णता नहीं होती।

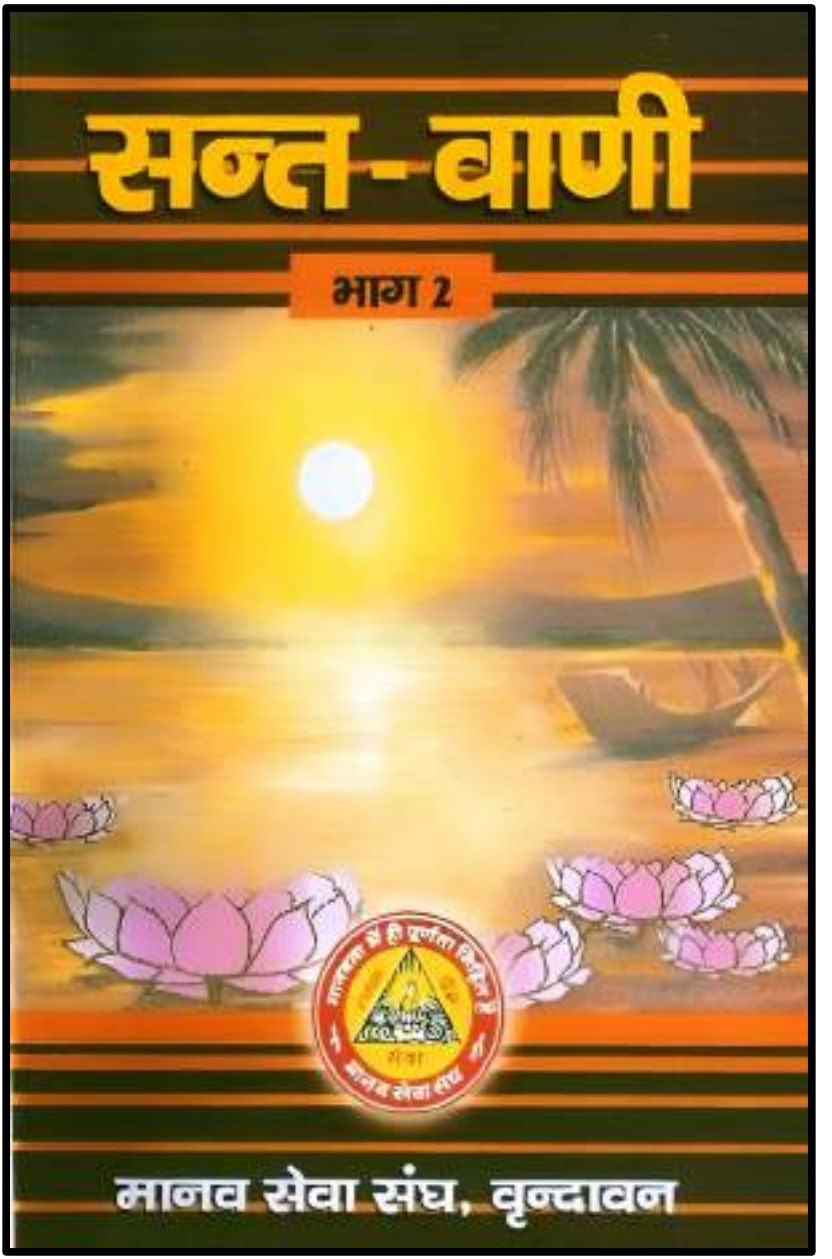
मानव-दर्शन, जीवन-विज्ञान एवं आस्था को अपनाना ही सफलता की कुंजी है।

वक्ता जगत को चेतावनी

जो उपदेष्टा भगवद्-विश्वास की जगह पर अपने व्यक्तित्व का विश्वास दिलाते हैं और भगवत्-सम्बन्ध के बदले अपने व्यक्तित्व से सम्बन्ध जोड़ने देते हैं, वे घोर अनर्थ करते हैं ।

https://youtu.be/WqblLkDwwJk?si=OmSgWBhn6egatws0

रामसुखदासजी महाराज से शरणानन्दजी की उपर्युक्त चोटदार बात की गंभीरता को सुननेके लिए लिंक को **click** करें, **QR Code scan** करें ।


सन्त-वाणी
भाग 2
मानव सेवा संघ, वृन्दावन

भूमिका

श्री महाराज जी के द्वारा अमूर्त सत्य को मूर्त शब्दों में प्रकाशित करने की लीला का संवरण हो चुकने के बाद, सन्त-प्रेमी, संघ-प्रेमी और सत्संग प्रेमी भाई-बहनों में यह संकल्प जोर पकड़ने लगा कि सन्तवाणी को सुरक्षित एवं सुलभ बनाए रखने का प्रयास होना चाहिए। श्री स्वामीजी महाराज जब तक सशरीर विद्यमान थे, कुछ प्रेमीजनों ने उनकी विशेष स्वीकृति लेकर उनके कुछ प्रवचनों को टेप में रिकार्ड कर लिया था। विशेष स्वीकृति लेने का अर्थ यह है कि सामान्यत: प्रवचनों को टेप रिकार्डिंग करके रखना श्री महाराज जी ने साधकों के लिए विशेष हितकर नहीं माना था। प्रेमीजनों के विशेष आग्रह पर कभी-कभी स्वीकृति दे देते थे। ऐसी दशा में उनके प्रवचनों की Arranged Recording कभी नहीं हो सकी। जब जैसा बन पड़ा Record कर लिया गया। उनके ब्रह्मलीन हो जाने के बाद उनके ही स्वर में जीवनोपयोगी अनमोल वचनों को सुनकर जीवनदायी प्रेरणा लेने के लिए उनके चुने हुए टेप रिकार्डेड प्रवचनों के Cassettes तैयार कराए गए। बारह कैसेट्स का एक सेट तैयार हुआ। श्री महाराज जी की अमृतवाणी का यह सेट सत्संग प्रेमियों के द्वारा बहुत पसन्द किया गया। साधकों के साधनयुक्त जीवन के निर्माण का यह एक आधार बन गया। संघ की शाखाओं द्वारा संचालित सत्संग की बैठकों में श्री महाराज जी के वचनों से सजीवता आ गयी। मानव-जीवन पर प्रयुक्त गूढ़ दार्शनिक तथ्यों की सरल अभिव्यक्ति श्री महाराज जी की ही प्रेम-पूर्ण सशक्त ध्वनि में सुनकर प्रेमीजनों के हृदतन्त्री के तार स्पन्दित हो उठते हैं। यह तथ्य आज श्री महाराज जी के साकार विग्रह के लुप्त हो जाने की स्थिति में अत्यधिक अलभ्य उपलब्धि मालूम हो रही है।

जिस समय रिकार्डेड प्रवचनों के कैसेट्स बनाए जा रहे थे उस समय यह विचार भी आया कि कैसेट्स में जो वचन हैं वे इतने गूढ़ हैं कि उनके अध्ययन, मनन, पठन-पाठन बारम्बार करते रहने पर ही उनको हृदयंगम किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त जो सत्संग-प्रेमी टेप रिकार्डिंग मशीन तथा कैसेट्स अपने पास नहीं रख पाएँगे उनके लिए भी ये अनमोल प्रवचन सुलभ होने चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पूरे सेट के प्रवचनों को पुस्तकाकार प्रकाशित किया जा रहा है। सन्तवाणी माला का यह द्वितीय पुष्प आपकी सेवा में प्रस्तुत है। इस संग्रह में प्रत्येक प्रवचन बिल्कुल कैसेट में भरे हुए प्रवचन के अनुरूप है। कैसेट्स सुनते समय भी जिन-जिन वाक्यों पर आप विशेष रूप से विचार करना, अध्ययन तथा मनन करना चाहें उन वाक्यों को इस संग्रह में रेखांकित करके सरलता से कर सकते हैं। सत्संग प्रेमी भाई-बहनों की सेवा में सप्रेम समर्पित सन्तवाणी माला का द्वितीय पुष्प सब प्रकार से आपके लिए हितकारी हो, इसी सद्भावना के साथ—

विनीता :

देवकी

वृन्दावन

6–8–82

अनुक्रमणिका

क्रमांक		पृष्ठ संख्या
1.	प्रार्थना	... 4
2.	प्रार्थना	... 5
3.	भूमिका	... 6
4.	अनुक्रमणिका	... 8
5.	प्रवचन (कैसेट संख्या 1 अ–ब)	... 9
6.	प्रवचन („ „ 2 अ–ब)	... 35
7.	प्रवचन („ „ 3 अ–ब)	... 59
8.	प्रवचन („ „ 4 अ–ब)	... 86
9.	प्रवचन („ „ 5 अ–ब)	... 110
10.	प्रवचन („ „ 6 अ–ब)	... 133

सन्तवाणी-2

1

(अ)

जिन महापुरुषों ने कठिन साधना के द्वारा सत्य को पाकर अपना कल्याण कर लिया, उनमें एक बड़ी गहरी वेदना जग जाती है इस बात के लिए कि कितना अच्छा होता कि अपनी भूल से अज्ञान के अंधकार में पड़े हुए एवम् दुःखों के भार से दबे हुए मनुष्यों को शान्ति मिल जाती, जीवन का आनन्द मिल जाता और सारे विश्व के सब प्रकार के संघर्षों का अन्त हो जाता। ऐसे महापुरुषों का आविर्भाव देश-देश में, युगों-युगों में होता रहता है। ऐसे ही महान् सन्तों की परम्परा में मानव सेवा संघ के प्रवर्तक ब्रह्मलीन पूज्यपाद स्वामी शरणानन्दजी महाराज हुए, जिन्होंने मानव-सेवा-संघ को प्रतीक बनाकर उसके माध्यम से मानव-जीवन की वैज्ञानिकता एवम् आस्तिकता के सत्य को प्रकाशित किया।

परिचय :

आज जिसकी अमृत वाणी आप पढ़ने जा रहे हैं, वे ब्रह्मलीन स्वामी शरणानन्दजी महाराज एक महान् क्रान्तदर्शी, तत्त्ववेत्ता, भगवद्भक्त एवं मानवता के संरक्षक सन्त थे। उनका प्रादुर्भाव उत्तर भारतवर्ष में 20वीं सदी के प्रारम्भ में हुआ। उनके जीवन के उन्मेष के सम्बन्ध में समय-समय पर प्रसंगवश उन्हीं के श्रीमुख से जो कुछ सुना गया, उससे हम लोगों ने जाना कि बचपन में ही, लगभग 10 वर्ष की उम्र में, उनकी आँखें चली गयीं। इनके अन्धेपन के दुःख से सारा परिवार अथाह दुःख में डूब गया। परन्तु उस दुःख के प्रभाव से इनमें एक प्रश्न पैदा हो गया—"क्या ऐसा भी कोई सुख होता है, जिसमें दुःख शामिल न हो?" उत्तर मिला कि ऐसा सुख साधु-सन्त को होता है, जिसमें दुःख नहीं रहता। इस उत्तर से इन्हें जीवन की राह मिल गयी। इन्होंने निश्चय कर लिया कि मैं साधु हो जाऊँगा। इनके मन में यह चिन्तन चलने लगा कि साधु कैसे बनूँ। सद्गुरु-रूप सन्त मिले। बातचीत हुई। सन्त ने परामर्श दिया कि ईश्वर के शरणागत हो जाओ। इनके बाल्यकाल के कोमल हृदय पर सन्त की वाणी का बड़ा गहरा प्रभाव हुआ। ईश्वर की शरणागति स्वीकार करते ही इनके मन में ईश्वर से मिलने की तीव्र उत्कण्ठा जाग्रत हो गयी। उस उत्कण्ठा ने शरीर और संसार के सब बन्धनों को ढीला कर दिया। १९ वर्ष की उम्र में इन्होंने विधिवत् संयास ले लिया। इनका नया नामकरण हुआ—"स्वामी शरणानन्द जी"। उसी समय से सब सामान एवं साथियों का सहारा छोड़कर ये संयास धर्म के कठिन व्रतों का बड़ी दृढ़ता से पालन करते हुए भगवान् के सहारे रहने लगे।

श्री महाराजजी के साधन-काल की घटनाओं से स्पष्ट विदित होता है कि भगवान् के शरणागत होने का भाव इनमें इतना सजीव था कि—**"सर्व समर्थ प्रभु सदैव अपने साथ हैं"** इस सत्य के अभिव्यक्त होने में देर नहीं लगी। एक बार मथुरा से आगरा जाते समय ये अकेले ही पैदल यमुना के किनारे-किनारे जा रहे थे। एक स्थान पर ढाह गिरी। ये पानी में जा पड़े। नदी चढ़ी हुई थी। हाथ की लाठी छूट गयी। तैरना कुछ आता था, पर बिना देखे पता नहीं चला कि किधर की ओर तैरें। शरण्य की याद आयी और उनके भरोसे इन्होंने जल में डूबते हुए शरीर को ढीला छोड़ दिया। तत्काल ऐसा महसूस हुआ जैसे किसी ने इनको जल में से निकाल कर खुश्की पर डाल दिया हो। उठने के लिए जब इन्होंने धरती पर हाथ टेका तो एक नई लाठी हाथ में आ गयी। प्रभु की शरणागत-वत्सलता को पाकर इनका हृदय भर आया। उनकी महिमा से अभिभूत, उनके प्यार में मस्त होकर ये उठे, और चल दिए।

इनके जीवन की ऐसी अनेक घटनाएँ हैं जिनमें ईश्वर के प्रति अविचल आस्था एवं अनन्य शरणागति का परिचय मिलता है। जब कभी ये वृन्दावन में होते तो प्रतिदिन श्री बाँके बिहारीजी के दर्शन करने जाते थे। एक दिन एक मित्र ने पूछ दिया कि, महाराज जी—आपको दिखायी तो देता नहीं है—दर्शन कर नहीं सकते, फिर आप मन्दिर में क्यों जाते हैं? श्री महाराजजी ने उत्तर दिया—"भले आदमी! सोचो तो सही—मेरी आँखें नहीं हैं, तो क्या ठाकुरजी की भी आँखें नहीं हैं? मैं नहीं देख सकता, परन्तु वे तो देखते हैं। मुझे देखकर उन्हें प्रसन्नता होती है, इसलिए मैं मन्दिर में जाता हूँ।" कितना सजीव ईश्वर विश्वास है!

श्री स्वामीजी महाराज एक बार ट्रेन में बैठे थे। ईसाई मत के एक पादरी साहब भी वहाँ आकर बैठ गए। थोड़ी देर बाद उन्होंने श्री महाराजजी से पूछा कि आप मसीहा को जानते हैं? इन्होंने सहज भाव से उत्तर दिया कि "जी हाँ, जानता हूँ"। पादरी साहब ने फिर प्रश्न किया कि मसीहा के सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं? इस प्रश्न को सुनकर बड़ी प्रसन्नता एवं कॉनफिडैन्स के साथ श्री महाराजजी ने कहा कि भाई, "मसीहा, खुदा के पुत्र हैं मैं खुदा का दोस्त हूँ, मसीहा मेरा सगा भतीजा है, मैं उसको अच्छी तरह जानता हूँ। मसीहा मुझे बहुत प्यारा लगता है। एक गेरुए वस्त्रधारी हिन्दू संयासी मसीहा को अपना सगा सम्बन्धी मानता है और आत्मीयता के नाते प्यार करता है—ऐसे सम्बन्ध की कल्पना भी पादरी साहब नहीं कर सकते होंगे। वे श्री महाराजजी का उत्तर सुनकर स्तम्भित रह गए। उन्होंने हिन्दू मत के इस व्यापक ईश्वरीय सम्बन्ध की बात, जिसमें सभी मजहब के ईश्वर-विश्वासी समा जाएँ, कभी सुनी नहीं होगी। किन्तु आप सोचिए कि श्री महाराजजी की बात कितनी सत्यतापूर्ण है। वस्तुतः ईश्वरवाद में मजहब-भेद हो ही नहीं सकता। ईश्वरवाद तो मानव-जीवन का एक ऐसा व्यापक सत्य है कि मन्दिर, मस्जिद और चर्च के भेद इसे विभाजित नहीं कर सकते। ईश्वरवादी होकर मजहबी संघर्ष करने वाला घोर अनीश्वरवादी है। क्योंकि सही ईश्वरवाद का अर्थ है—प्रभु से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करना। वैष्णव मत के अनुसार यही उपासना है। इसी आधार पर श्री महाराजजी ने भक्तिमती मीराजी, महात्मा ईसा मसीह और पैगम्बर मुहम्मद को 'परम वैष्णव' कहकर स्वीकार किया है। क्योंकि, मीराजी ने ईश्वर को अपना पति माना, महात्मा ईसा ने ईश्वर को अपना पिता माना

और पैगम्बर मुहम्मद ने ईश्वर को अपना दोस्त माना; और तीनों ही प्रभु के परम-भक्त हुए। प्रभु-भक्ति के लिए ईश्वर को अपना मानना और उनको रस देने के लिए उनके प्रेमी होना अनिवार्य है। कोई मन्दिर में जाकर पूजा करेगा कि मस्जिद में जाकर नमाज पढ़ेगा कि चर्च में जाकर प्रार्थना करेगा—यह प्रश्न नहीं उठता। यदि कोई प्रभु को अपना मानकर उनके प्रति प्रेमभाव रखेगा और उन्हीं के नाते प्राणिमात्र के प्रति सद्भाव रखेगा तो उसे सब जगह परमात्मा मिलेगा। महाराज ने इस सत्य को स्वीकार करने का परामर्श सभी ईश्वरवादी साधकों को दिया है। उनका यह विचार उनके प्रवचनों में व्यक्त है जिसका अनुसरण मजहबी एकता को सुरक्षित रखने में समर्थ है।

श्री स्वामी जी महाराज को संयास देने वाले गुरु ने एक बार विदा होते समय कह दिया कि, "बेटा! जब तुम आजाद हो जाओगे, तो सारी प्रकृति तुम्हारी सेवा के लिए लालायित रहेगी। चराचर जगत् तुम्हारी आवश्यकता-पूर्ति के लिए तैयार रहेगा। वृक्ष तुम्हें फल-फूल देंगे, और खूँख्वार शेर तुम्हें गोद में लेकर तुम्हारी रक्षा करेंगे।" इतना कहकर सद्गुरुदेव ने स्वरचित एक दोहा सुना दिया—

"जीते जी मर जाय, अमर हो जावे।
दिल देवे, सो दिलवर को पावे।"

"जीते जी मर जाय", अर्थात् अकिंचन, अचाह एवं अप्रयत्न हो जाना और "दिल देवे" अर्थात् केवल प्रभु को अपना मानकर उन्हें रस देने के लिए अपने को समर्पित करना।

श्री स्वामीजी महाराज ने गुरुवाणी को सर्वांश में धारण किया और उसे अपने जीवन में शत-प्रतिशत फलित होते देखा। अकिंचन, अचाह एवं अप्रयत्न होकर इन्होंने परम स्वाधीन, दिव्य-चिन्मय जीवन पा लिया तथा प्रभु के प्रेमी होकर प्रेम के अनन्त रस से भरपूर हो गए।

घोर पराधीनता की पीड़ा से मुक्त होकर अमरत्व के आनन्द में मस्त हो गए। इस सम्बन्ध में श्री महाराजजी ने अपना एक अनुभव सुनाया था। एक बार उनका शरीर अस्वस्थ हो गया था। उत्तराखण्ड की यात्रा करके वापस आए थे। हिलडायरिया से शरीर बहुत ही दुर्बल हो गया था। साथ-साथ ज्वर भी रहने लगा। बीमारी की दशा में करीब 40 दिन बीत गए थे। चिकित्सकों के मतानुसार नाड़ी की गति शरीर के नाश का संकेत दे रही थी। मित्रों, प्रेमियों एवं चिकित्सकों ने चिन्ता प्रकट की। श्री स्वामीजी महाराज के शरीर को नियमानुसार कुशा और मृगछाला बिछाकर जमीन पर उतार दिया गया। चारों ओर प्रियजन खड़े थे। प्रेमी डाक्टर ने कहा कि "बाबाजी चले"। इन्होंने सुना और प्रियजनों के उमड़ते हुए हृदय के स्पन्दनों को अनुभव किया। वीतराग सन्त को बड़ा भारी कौतूहल हुआ कि प्रियजन इतने दुखी क्यों हैं? उन्होंने सोचा कि अब मैं देखता हूँ कि मृत्यु कैसी होती है? जब वे देखने लगे तो उन्हें बड़ा आनन्द आया। शरीर के छूट जाने में इतना हल्कापन और इतना आनन्द था कि जिसकी कोई सीमा ही नहीं थी। इस अनुभव से वे इस निश्चय पर पहुँचे कि मृत्यु में कोई दुःख नहीं है। चूँकि आदमी शरीर को बनाए रखना चाहता है, इस कारण मरने में दुखी और भयभीत होता है, अन्यथा आनन्द ही आनन्द है। उनका आनन्द मृतकवत् शरीर पर भी फैल गया था। वे उस शरीर को जमीन पर पड़ा हुआ देख रहे थे और सुन रहे थे कि मित्रगण कह रहे थे कि "देखो, बाबाजी कितने प्रसन्न हैं।" बुद्धि की प्रखरता, हृदय की कोमलता एवं जीवन के प्रति जागरूकता—ये गुण इनमें जन्म-जात थे। अवसर पाकर इन गुणों का पूर्ण विकास हुआ। एक बार ये अपने गुरु के पास बैठे थे—इनके मन में शास्त्रों एवं उपनिषदों के अध्ययन का संकल्प उठा। आँखें तो थीं नहीं, मन ही मन सोचकर रह गए। तत्काल ही

इनके गुरुदेव बोल उठे—"अरे भाई ! ठहरी हुई बुद्धि में श्रुति का ज्ञान स्वतः अभिव्यक्त होता है। उसकी पाठशाला है—"एकान्त" और पाठ है "मौन"।" ज्ञानार्जन का यह रहस्य सुनकर ये बहुत प्रसन्न हो गए। इन्होंने एकान्त में मौन रहकर बुद्धि को सम कर लिया। बुद्धि की समता में वह ज्ञान उदित हो गया जो ग्रन्थों के अध्ययन से कभी सम्भव ही नहीं है। उस ज्ञान के प्रकाश में इन्हें सृष्टि के आदि-अन्त के सभी रहस्यों का पता चल गया। सृष्टि के विधायक की मंगलकारिता एवं मानव-जीवन के मंगलमय विधान का अर्थ स्पष्ट हो गया। इन्होंने जानने योग्य सब कुछ जान लिया, क्योंकि जिस ज्ञान से सब कुछ जाना जाता है, वह ज्ञान इनमें अभिव्यक्त हो गया था।

अन्तर्चक्षु के खुलते ही इनमें इतनी सामर्थ्य आ गयी कि बाह्य जगत् को भी देखने में समर्थ हो गए। वे भीतर-बाहर सब कुछ देख सकते थे। बिल्कुल निर्द्वन्द्व एवं निर्भीक होकर रहते थे। बाहरी आँखों के बिगड़ जाने का दुःख सदा के लिए मिट गया।

इनका इतना विकास अल्प समय में ही हो गया। जिन मित्रों ने प्रारम्भ से इनको देखा है, वे कहते हैं कि देखते-ही-देखते उनके भीतर सत्य से अभिन्न होने की जो गहरी व्याकुलता थी, वह परम शान्ति में बदल गयी। उनका मुख-मण्डल प्रकाशमान हो गया। वे अपने अविनाशी अस्तित्व में आप स्थित रहने लगे। उनके हृदय में ईश्वरीय-प्रेम लहराने लगा, जिसके स्पर्श-मात्र से निकटवर्ती मित्रगण पुलकायमान होने लगे। योग के द्वारा सिद्ध होने वाली सब सिद्धियाँ सहज ही उनमें आ गयीं, पर वे उन सब सिद्धियों को गोपनीय रखते थे। उनका जीवन योग, बोध एवं प्रेम का सजीव प्रतीक था। यही कारण है कि इनकी उपस्थिति से वातावरण में प्रेम की लहरियाँ उठती रहती थीं। उनके जीवन से यह सत्य प्रत्यक्ष होता था कि ज्ञान और प्रेम

का तत्त्व जब किसी सन्त में अभिव्यक्त हो जाता है तो वह विभु हो जाता है। श्री महाराजजी के निकट सम्पर्क में आने वाले अनेक साधक भाई-बहन एक अज्ञात मिठास के आभास से आकर्षित होकर चुपचाप मन्त्र-मुग्ध की भाँति उनके पास बैठे रहते थे। प्रेम-पथ की साधना की चर्चा जब होने लगती थी और श्री महाराजजी प्रेमी तथा प्रेमास्पद के अनन्त-विहार की मधुर-वार्ता सुनाने लग जाते थे तो सुनने वाले ईश्वर-विश्वासी साधक अपने आपको भूल जाते थे। अनेक श्रोताओं ने समय-समय पर अपना अनुभव हमें बताया कि श्री महाराजजी की वाणी में उनका रसमय जीवन ही प्रवाहमान होकर श्रोताओं को स्पर्श करता था, जिससे श्रोता अपने आपको प्रेम-भाव में उत्तरोत्तर ऊँचा उठते हुए पाते थे। बड़ा आनन्द आता था।

इनकी प्रश्नोत्तर की शैली बेजोड़ थी। वाक्-पटुता एवं उन्मुक्त हास्य, भ्रम-निवारण के लिए कड़ी-से-कड़ी आलोचना के साथ ही मातृवत्-स्नेह का व्यवहार जिज्ञासु-जनों के विशेष आकर्षण का स्रोत था। अन्तर्बोध से अनुप्राणित, इनकी अकाट्य युक्तियों में बहुत ही स्पष्टता, दृढ़ता एवं निस्सन्देहता थी। इनके प्रवचनों एवं साहित्य में, कहीं भी आपको ग्रन्थों के प्रमाणों का उल्लेख नहीं मिलेगा। वे जानते थे कि स्वतःसिद्ध सत्य को प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। वे कभी सोचकर नहीं बोलते थे। कई बार उन्होंने प्रसंगवश ऐसा कहा कि, "भाई! जैसे तुम सुनते हो वैसे मैं भी सुनता हूँ। मैं भी तो श्रोता हूँ!" उनकी अहम्-शून्य वाणी में ज्ञान और प्रेम की अजस्र धारा सहज ही प्रवाहित होती रहती थी, जिसे सुनकर बड़े-बड़े शास्त्रज्ञ कहते थे और आज भी कह रहे हैं कि वर्षों तक ग्रन्थों के अध्ययन से दर्शन के जो गूढ़ रहस्य समझ में नहीं आए थे, वे सब इन बे-पढ़े सन्त की वाणी से स्पष्ट हो गए।

1921 में देश की स्वतन्त्रता के लिए असहयोग आन्दोलन आरम्भ हुआ। "शरीर विश्व-रूपी वाटिका की खाद है"—यह सत्य जिनमें उद्‌भासित हुआ था, वे सेवा-भावी सन्त देश-सेवा के अवसर को कैसे छोड़ते? वे कूद पड़े स्वातन्त्र्य आन्दोलन की लहर में। एक दिन इनके गुरुदेव के एक मित्र-सन्त इनको आन्दोलन में व्यस्त देखकर इनके पास आए और बड़े प्यार से पूछा—"बेटा! क्या तुमने इसी के लिए घर छोड़ा था?" श्री शरणानन्दजी महाराज ने बड़ी दृढ़ता के साथ स्पष्ट उत्तर दिया—"बिल्कुल नहीं! देश की सेवा के राग को मैं विचार से नहीं मिटा सका, इसलिए इस कार्य मे लगा हूँ।" पुनः यह पूछने पर कि "तुम्हारा क्या हाल है?" इन्होंने उत्तर दिया कि "मैं सर्वकाल में अपनी अखण्डता में स्थित हूँ। मैं करता-कराता कुछ नहीं हूँ।" सेवा में रत रहते हुए भी उनमें देहातीत आनन्द की अखण्डता अक्षुण्ण रहती थी। ऐसे त्रिगुणातीत पुरुष में ऐसी घोर कर्मठता अन्यत्र देखने में नहीं आती है। ऐसे विलक्षण पुरुष थे श्री स्वामीजी महाराज। उनके प्रवचनों में आप इस सत्य का विस्तृत विवरण पढ़ेंगे।

अमानवता की कालिमा से मानवीय सभ्यता का इतिहास तमाच्छन्न होने लगा। द्वितीय विश्वयुद्ध में भीषण नर-संहार हुआ, आणविक बम-विस्फोट से जापान के नगर हीरोशिमा और नागासाकी के हृदयविदारक दृश्य उपस्थित हुए, भारतवर्ष के विभाजन के समय मजहब के नाम पर बर्बरतापूर्ण कुकृत्यों से पीड़ित असंख्य विवश नर-नारियों के चीत्कारों से धरती आसमान काँप उठे। ..... यह सब सुनकर संत का नवनीत कोमल हृदय द्रवित हो गया।

जाति-भेद, रंग-भेद, मजहब और वर्ग-भेद, वाद और इज्म के भेदों से विविध संकीर्णताओं में विभाजित संसार के विभिन्न देशों को

एक-दूसरे के नाश में जुटे हुए देखकर पर-पीड़ा से पीड़ित परम-कारुणिक सन्त का हृदय अत्यन्त व्यथित हो उठा। राजनैतिक स्वाधीनता के बाद भारतीय नागरिकों को अधिकार-लोलुपता में फँसा हुआ देखकर इन्होंने काँग्रेस की सक्रिय सेवा छोड़ दी और एकान्तिक चिन्तन द्वारा मानव-मात्र की विविध समस्याओं के समाधान पर विचार करने लगे। इनके सामने प्रश्न थे कि—

(1) व्यक्ति का कल्याण एवं सुन्दर समाज का निर्माण कैसे हो?

(2) विश्व-शान्ति सुरक्षित कैसे रहे?

(3) मजहबी भेद-भाव कैसे मिटे?

(4) सामाजिक विषमताएँ कैसे दूर हों?

(5) मानव के भीतर विद्यमान, सोई हुई मानवता कैसे जाग्रत हो?

(6) मानव-मात्र का जीवन पूर्ण कैसे हो? अर्थात् शान्ति, मुक्ति और भक्ति की माँग पूरी कैसे हो? आदि, आदि।

करुणा से द्रवित, सर्वात्म-भाव से भावित, सन्त हृदय में गहन एकान्तिक-चिन्तन के फलस्वरूप उपर्युक्त प्रश्नों के उत्तर में 'मानवता के मूल सिद्धान्त' प्रकाश में आए। उनको श्री महाराज जी ने मानव-समाज के लिए एक नवीन क्रान्तिकारी विचार-प्रणाली के रूप में सँजोया। उसी विचार-प्रणाली का प्रतीक है—"मानव सेवा संघ", जिसकी स्थापना सन्त शिरोमणि पूज्यपाद स्वामी शरणानन्द जी महाराज ने इस हेतु की कि इसके माध्यम से युगों-युगों तक मानव समाज की विचारात्मक, भावात्मक एवं क्रियात्मक सेवाएँ होती रहें। 1952 में इसकी स्थापना हुई थी। 1953 में इसका रजिस्ट्रेशन हो गया। वृन्दावन में इसका प्रधान कार्यालय है। इस संस्था को स्थापित करने की आवश्यकता इसलिए पड़ गई कि मानव-मात्र के परित्राण के लिए सर्वमान्य

विचार-प्रणाली का सृजन श्री महाराज जी की अन्तर्व्यथा से हुआ था—उसको उन्होंने अपने व्यक्तिगत नाम से प्रकाशित करना पसन्द नहीं किया। जिन्हें अहम् को अभिमान-शून्य रखना अभीष्ट होता है, वे आत्मख्याति से बचकर रहते हैं।

इसमें दूसरी एक और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि श्री महाराज जी के विचारानुसार देश, काल, मत, मजहब, सम्प्रदाय एवं वर्ग-निरपेक्ष जो जीवन का सत्य है, उसे व्यक्ति के माध्यम से प्रकट करना उसका मूल्य घटाना है और सबसे बड़ी बात यह है कि जिन्होंने परम-प्रेमास्पद की सत्ता से भिन्न अपना अस्तित्व ही नहीं रखा, वे अपने नाम के माध्यम से कोई बात कैसे कह सकते थे! इन्हीं कतिपय उल्लेखनीय कारणों से "मानव-सेवा-संघ" की स्थापना हुई। तब से अब तक देश के विभिन्न भागों में 'मानव-सेवा-संघ" के माध्यम से जन-जन के भीतर सोई हुई मानवता को जगाने की सेवा की जा रही है। श्री स्वामी जी महाराज इस बात के लिए बड़े ही आतुर रहते थे कि प्रत्येक भाई-बहन अपने कल्याण में स्वाधीन और समर्थ हो जाय।

इनका प्रादुर्भाव एक विलक्षण विभूति के रूप में हुआ, ऐसा उनके सम-सामयिक सभी महान् सन्त एवं महापुरुष मानते हैं। प्रचण्डज्ञान, अकाट्य-युक्ति, सरल विश्वास एवं अनन्य-भक्ति—ये सभी पक्ष उनमें अपनी-अपनी पराकाष्ठा पर थे। ऐसा अद्‌भुत कॉम्बिनेशन कहीं देखने में नहीं आता, जैसा परमपूज्य स्वामीजी महाराज में विद्यमान था। फिर भी उपर्युक्त दिव्यताओं को अपनी विशेषता मानने की भूल उन्होंने कभी नहीं की।

मेरा कुछ नहीं है।
मुझे कुछ नहीं चाहिए।
मैं कुछ नहीं हूँ।
सर्व-समर्थ प्रभु मेरे अपने हैं।

यह चिरन्तन-सत्य उनका जीवन था और यही उनके कथन का केन्द्र भी है। श्री महाराज जी की बड़ी भारी विशेषता यह रही है कि वे साधकों को किसी भी बाहरी विधि-विधान एवं अभ्यास-जन्य साधनों पर अटकने नहीं देते थे। विभिन्न दार्शनिक मतभेदों में उलझने नहीं देते थे; किसी दर्शन या साधन-प्रणाली का आग्रह या विरोध नहीं करते थे। उन्होंने कभी अपना मत दूसरों पर आरोपित नहीं किया। स्वयं कट्टर ईश्वरवादी होते हुए भी कभी ईश्वरवाद का प्रचार नहीं किया। वे एक तत्त्वदर्शी सन्त थे। इसी कारण उन्होंने भक्तिपथ, ज्ञान-पथ या योगपथ में किसी को सबसे अच्छा या किसी को उससे कम अच्छा नहीं बताया। किसी को सहज या किसी को अपेक्षाकृत कठिन नहीं बताया। उन्होंने इस बात को घोषित किया है कि "दर्शन अनेक और जीवन एक है"। उन्होंने साधकमात्र को यह अभय-वचन दिया है कि तुम आरम्भ में अपनी रुचि, योग्यता, सामर्थ्य, विश्वास और विचार के अनुसार किसी एक साधन-पथ को पसन्द करलो, पूर्णता में तुम्हें पूर्ण जीवन मिलेगा। कर्त्तव्यनिष्ठ को भी, योगी को भी, विचारक को भी एवं प्रभु विश्वासी को दिव्य-चिन्मय, रस-रूप जीवन मिलता है, यह निर्विवाद सत्य है। जीवन की पूर्णता में योग, बोध और प्रेम से अभिन्नता सभी साधकों की हो जाती है। यह एक बड़ा ही क्रान्तिकारी विचार है, जिसमें अनेकों उलझनों से मुक्ति मिल जाती है। श्री महाराज जी का यह क्रान्तिकारी विचार उनके प्रवचनों में स्पष्टतः व्यक्त हुआ है।

जब तक पूज्यपाद श्री स्वामीजी महाराज सशरीर इस संसार में विराजमान थे, तब तक उन्होंने अपना जीवनदायी सन्देश, ग्राम-ग्राम, प्रान्त-प्रान्त अविराम भ्रमण करते हुए, साधु-सन्त, साधक, समाजसेवी, साहित्यकार आदि सभी वर्गों को सुनाया और अब उनके ब्रह्मलीन हो

जाने पर 'मानव-सेवा-संघ' के माध्यम से यह काम हो रहा है। उसी सन्दर्भ में यह अनुपम सन्त-वाणी आपके कल्याणार्थ टेप-अंकित रूप में आपके सम्मुख प्रस्तुत की जा रही है।

प्रस्तुतिकरण की त्रुटियों पर ध्यान न देकर, अमृतवाणी को प्रेम-पूर्वक पठन करेंगे तो जीवन को सफल बनाने की राह आपको अवश्य मिल जाएगी।

सन्त अमर हैं। उनकी वाणी अमर है। हम सब श्रोता उस अमरत्व से अभिन्न हो जाएँ, इसी सद्भावना के साथ—

निवेदिका
देवकी

1

(ब)

श्री स्वामी जी महाराज के विचारानुसार मानव मात्र की मौलिक माँग है—योग, बोध और प्रेम। योग भौतिक-विकास की, बोध आध्यात्मिक-विकास की और प्रेमभाव-विकास की चरम सीमा है। भौतिक-विकास का मूल मन्त्र है "अपने अधिकारों का त्याग और दूसरों के अधिकारों की रक्षा।" आध्यात्मिक-विकास का मूल मन्त्र है—"अचाह और अप्रयत्न होना।" भाव-विकास का मूल मन्त्र है—अपनी असमर्थता से पीड़ित होकर सर्व-समर्थ प्रभु की शरणागति स्वीकार करना अथवा मोक्ष की स्वाधीनता को भी उस परम स्वाधीन पर न्यौछावर करके उसको रस प्रदान करने के लिए उसका प्रेमी होना।

प्रवचन :

अपने अधिकार का त्याग करना है इसलिए कि क्रोध की उत्पत्ति न हो; दूसरों के अधिकार की रक्षा करनी है इसलिए कि विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाय। तो-विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाय, नवीन राग तथा क्रोध की उत्पत्ति न हो, इसी को कहते हैं—राग-रहित होना। अब यह राग-रहित होना—इसका कोई दृश्य नहीं बना सकते—आपकी रहन-सहन का ढंग ऐसा होगा तो राग-रहित होना कहलाएगा। राग-रहित होने का अर्थ यह है कि जो राग-रहित हो जाता है वह स्वभाव से ही योगवित् हो जाता है। राग-रहित होते ही योग की प्राप्ति होती है और जो योगवित् हो जाता है वह आत्मवित् हो जाता है, और जो आत्मवित् हो जाता है वह ब्रह्मवित् हो जाता है। तो चाहे आप भौतिकवाद की दृष्टि से योगवित् हो जाइए, चाहे अध्यात्मवाद की दृष्टि से आत्मवित् हो जाइए। चाहे आस्तिकवाद की दृष्टि से ब्रह्मवित् हो जाइए। यह राग-रहित होने से होता है। किसी अन्य प्रकार से यह होता नहीं। और राग नाश ही तब होता है जब हम पर जो दूसरों के अधिकार हैं उनको देते रहें, अपना अधिकार छोड़ते जाएँ। इसी को धर्म-विज्ञान कहते हैं। धर्म का अर्थ इतना ही है—दूसरों के अधिकार देना, अपना अधिकार छोड़ना। यह धर्म-तत्त्व है। यह मजहब नहीं है। मजहब और चीज है, धर्म और चीज है। मजहब तो धर्म का बाह्य रूप है—एक देशीय और धर्म एक मौलिक तत्त्व है।

तो हम धर्म-विज्ञान के अनुसार राग-रहित हो सकते हैं। अध्यात्म-विज्ञान के अनुसार जीवनमुक्त हो सकते हैं। और आस्तिक-विज्ञान के अनुसार भगवद्भक्त हो सकते हैं। भक्त होने में

आप स्वाधीन हैं, मुक्त होने में आप स्वाधीन हैं और धर्मात्मा होने में भी आप स्वाधीन हैं। मुक्त को जगत् की अपेक्षा नहीं रहती, धर्मात्मा की जगत् अपेक्षा करता है। अन्तर समझ में आया? जो धर्मात्मा है उसकी संसार आवश्यकता अनुभव करता है। मुक्त-पुरुष को संसार की आवश्यकता नहीं रहती। और जिसको संसार की आवश्यकता नहीं रहती—वही भक्त हो जाता है। क्यों? क्योंकि संसार माने उत्पन्न हुई चीज और जिसको उत्पन्न हुई चीज की आवश्यकता नहीं रहती, उसे अनुत्पन्न हुआ जीवन मिल जाता है। इसी का नाम मुक्त होना है, इसी का नाम भक्त होना है।

प्रश्न—ब्रह्मवित् होना और भक्त होना एक ही बात है?

उत्तर—हाँ, एक ही बात है—एक ही बात है। यह तो ऐसा है भैया, कि स्थूल जगत्, सूक्ष्म जगत्, कारण जगत् और स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर। शरीर क्या है? सृष्टि का एक छोटा नमूना। जैसे शरीर के तीन रूप हैं—स्थूल, सूक्ष्म और कारण। तो स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर। बुराई-रहित होने से तो स्थूल शरीर शुद्ध होता है, अचाह होने से सूक्ष्म शरीर शुद्ध हो जाता है और अप्रयत्न होने से कारण शरीर शुद्ध हो जाता है। चाहे तो यों कह दो, अथवा यों कह दो कि बुराई-रहित होकर भलाई का फल छोड़ने से स्थूल शरीर और स्थूल जगत् की आवश्यकता नहीं रहती और अचाह होने से सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म जगत् की आवश्यकता नहीं रहती और अप्रयत्न होने से कारण शरीर और कारण जगत् की आवश्यकता नहीं रहती। चाहे यों कह दो कि स्थूल सूक्ष्म में, सूक्ष्म कारण में विलीन हो जाता है और फिर देहातीत जीवन की प्राप्ति हो जाती है, ऐसा भी कह सकते हैं। अब जिसको जो रुचिकर हो, जैसी जिसकी मान्यता हो। इस चीज को दूसरी

तरह से भी कह सकते हैं—इन्द्रियों की शक्ति को मन में लय कर दो, मन की शक्ति को बुद्धि में लय कर दो। तो जब इन्द्रियाँ अविषय होंगी, मन निर्विकल्प होगा, बुद्धि सम होगी—इसे समाधि कह दो, योग कह दो। और अगर योग ही जीवन है, बोध और प्रेम की प्राप्ति न हो, तो यह शुद्ध भौतिकवाद है।

भौतिकवाद का अर्थ यह नहीं है जैसा आजकल लोग लगाते हैं कि खाओ, पीओ, मौज करो। भौतिकवाद का अर्थ है कि ठीक योगविज्ञान की प्राप्ति हो जाय। उसमें बड़ी-बड़ी अलौकिक शक्तियाँ भी आती हैं। बोध जो है यह अध्यात्म विज्ञान है और प्रेम आस्तिक विज्ञान है। लेकिन इन तीनों में इतना एकत्व है कि अगर योग की पूर्णता हो जाय—पूर्ण योग की प्राप्ति हो जाय तो बोध जरूर हो जाएगा और बोध प्राप्त हो जाय तो प्रेम जरूर हो जाएगा। जैसे, भोग की रुचि रहते हुए मोह और आसक्ति नाश होती है क्या? क्या राय है?

श्रोता—नहीं होती।

नहीं होती है न! चूँकि भोग है, इसलिए मोह और आसक्ति है। योग है इसलिए बोध और प्रेम है। तो जब योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति होती है तो अभाव का अभाव हो जाता है। फिर अभाव शेष नहीं रहता और वह प्राप्ति तभी होती है जब हम ठीक धर्मात्मा होते हैं, अचाह होते हैं अथवा शरणागत होते हैं।

तीन तरह से योग की प्राप्ति हो जाती है—धर्मात्मा होने से भी—यह कर्मयोग कहलाता है। अचाह होना—यह ज्ञानयोग कहलाता है। शरणागत होना—यह भक्तियोग कहलाता है। तो चाहे कर्म के द्वारा योग प्राप्त करो अथवा ज्ञान के द्वारा योग प्राप्त करो और चाहे आस्था के द्वारा योग प्राप्त करो। योग एक अनिवार्य तत्त्व है जो कि मनुष्यमात्र को मिल सकता है। तीनों में से किसी भी प्रकार से आप योग प्राप्त कर सकते हैं।

अब जो सुखमय परिस्थिति में हैं, उनहें धर्मात्मा होकर योग प्राप्त करने में सुलभता रहती है। और जिनकी दुःखमय परिस्थिति है, उन्हें अचाह होकर योग सुलभ रहता है। और जिनका आस्था, श्रद्धा, विश्वास वाला जीवन है, उनको शरणागति से योग की प्राप्ति होती है। अब अपनी बनावट देखो कि आप में आस्था, श्रद्धा, विश्वास की प्रबलता है कि दुःख की प्रबलता है कि सुख की सबलता है। अगर सुखमय जीवन है तो धर्मात्मा होना अनिवार्य है। अगर दुःखमय जीवन है तो अचाह होना अनिवार्य है। अगर आस्थावान जीवन है तो शरणागत होना अनिवार्य है। इनमें से किसी के द्वारा भी आप राग-रहित होकर, योग, बोध, प्रेम को प्राप्त कर सकते हैं।

श्रोता—जीवन की पूर्णता में तीनों आ जाएँगे न?

स्वामी जी—तीनों आ जाएँगे।

प्रश्न—अकिंचन और अचाह होने के बाद अप्रयत्न होना क्या है?

पूज्यपाद—देखो! अकिंचन और अचाह होने के बाद एक अहंकृति भी तो होती है न! करने में भी तो रस आता है। जैसे आप अपने जीवन में देखिए कि अगर हम कहें कि पैर दबाओ तो कैसा लगता है? तो कहते हैं कि "बहुत अच्छा लगता है, बैठने से भी ज्यादा शान्ति लगती है" तो एक अहंकृति का भी सुख होता है। मैं कुछ कर रहा हूँ—इस बात का भी सुख होता है। अहंकृति-रहित माने अपने लिए मुझे कुछ भी करना शेष नहीं है—इसको अप्रयत्न होना कहते हैं। करना शेष नहीं है अर्थात् अपने लिए कुछ भी करना शेष नहीं है—यह अहंकृति-रहित होना हो गया।

श्रोता—यह अप्रयत्न होना क्या अध्यात्मवाद है?

स्वामी जी—हाँ अध्यात्मवाद है, शुद्ध अध्यात्मवाद है।

प्रश्न—अच्छा, इसमें आस्था ..... ।

श्री महाराज—देखो, देखो! आस्था का अर्थ होता है कि जिसने अपनी असमर्थता से पीड़ित होकर, सर्वसमर्थ का आश्रय ले लिया। तो आस्था में भी तीनों बातें आ जाएँगी, अपने आप। और धर्मात्मा में भी तीनों बातें आ जाएँगी और अध्यात्मवाद में भी तीनों बातें आ जाएँगी। आस्था का मतलब क्या है? अगर विचार करके देखा जाए तो परमात्मा का मानना क्यों जरूरी है? देखा तो है नहीं, समझ में आया नहीं! बोलो! परमात्मा का मानना क्यों जरूरी है? ऐरे-गैरे नत्थू-खैरे सभी परमात्मा को मान लेंगे? ऐसा नहीं होता भाई। परमात्मा को मानने का प्रश्न उन लोगों को होता है कि जिन्हें मुक्ति भी खारी लगे। शान्ति और मुक्ति भी जिनको खारी लगे, वे परमात्मा को मानने के हकदार हैं—ईमानदारी से देखो तो। अथवा जो असमर्थता से पीड़ित हैं। असमर्थता से पीड़ित हैं और बिना लक्ष्य की प्राप्ति के रह नहीं सकते। वे कहते हैं—देखो, अब दुःखहारी हरि को पुकारो, अब भयहारी प्रभु को पुकारो। देखिए, एक बात सोचने की है, बड़ी गम्भीर। अगर परमात्मा को अपना मनवाना अभीष्ट हो तो दुनिया में किसकी मजाल है कि न माने। बोलो है, हिम्मत किसी की?

श्रोता—नहीं।

लेकिन परमात्मा को अपना मनवाना अभीष्ट नहीं है। सृष्टि को कुछ लोग ईश्वरकृत मानते हैं, कुछ लोग प्राकृतिक यानी स्वभाव से ही मानते हैं। यानी खेल को मानते हैं, खिलौने को मानते हैं और उसके बनाने वाले कुम्हार को नहीं मानते हैं। ऐसे दोनों सिद्धान्त हैं। तो जो

सृष्टि को अनादि और अनुत्पन्न हुई मानते हैं और सृष्टिकर्त्ता को नहीं मानते हैं, उन्हें धर्मात्मा होना पड़ता है और अचाह होना पड़ता है। आप सृष्टि का विधान मानोगे कि नहीं? सृष्टि का विधान क्या है? कि मेरे साथ कोई बुराई न करे। तो बुराई-रहित होना सृष्टि का विधान हो गया। अच्छा, और मुझसे सबल मेरी सहायता करे। तो सहयोग देना विधान हो गया। तो जो सृष्टि को माने, परमात्मा को न माने, उसको भी यह दो बातें माननी पड़ेंगी कि नहीं? सहयोग और बुराई-रहित होना। तो बुराई-रहित होने से क्या होगा? तुम भले हो जाओगे। भले होने से क्या होगा? तुम्हारे द्वारा भलाई होगी। अगर उस होने वाली भलाई का फल भोगोगे तो आप फिर पराधीन हो जाओगे। क्योंकि कर्मफलभोग की रुचि से ही मनुष्य पराधीन होता है। आपने दान दिया और उसका फल आपको चाहिए। तो फल तो प्राकृतिक बनेगा ही। क्या राय है? तो दान का फल चाहने वाला पराधीन होगा कि स्वाधीन?

श्रोता—पराधीन।

अच्छा, तप का फल चाहने वाला स्वाधीन होगा कि पराधीन? सोचो! लेकिन आगे आपके सामने प्रश्न पैदा होगा कि भाई! मैंने भलाई तो की, पर इसका फल मुझको नहीं चाहिए। यानी अचाह होना पड़ेगा। तो अचाह होने से क्या होता है कि जगत् की तो निवृत्ति हो जाती है, और जो जगत् की उत्पत्ति से पूर्व है—जगत् काल में है—न रहने पर भी है—उसकी प्राप्ति हो जाती है। इसलिए अचाह होना एक ऐसी सुन्दर साधना है कि परमात्मा तो मिल जाता है—मानो तो, न मानो तो—और जगत् छूट जाता है। चाहे उसे सत्य मानो तब भी छूट जाएगा, मिथ्या मानो तब भी छूट जाएगा, अनित्य मानो तब भी छूट जाएगा।

तो अब अचाह होने की तैयारी कौन कर सकता है? जिसे कुछ नहीं चाहिए। कुछ नहीं चाहिए का मतलब क्या होता है, बोलो? थोड़ा चाहिए यह थोड़े ही होता है। कुछ नहीं चाहिए का मतलब होता है कुछ नहीं चाहिए। न भोग चाहिए, न मोक्ष चाहिए। तो जो भोग-मोक्ष निराकांक्षी है वह तो होता है भगवत्भक्त। और जो मोक्षार्थी है उसे मोक्ष-प्राप्ति होती है। जो भोगार्थी है उसे भोग प्राप्त होता है। तो सकाम कर्म से भोग प्राप्त होता है, निष्काम कर्म से मोक्ष प्राप्त होता है। परमात्मा को मानने की जरूरत ही नहीं है। लेकिन नहीं भाई, जिसे मोक्ष भी खारी लगे वह परमात्मा को माने, ऐसा है। परमात्मा का मानना एक अत्यन्त ही उच्चकोटि की बात है। अगर किसी को जँचे तो, नहीं तो रहो मोक्ष के आनन्द में। काहे को परमात्मा को मानते हो भैया। परमात्मा थोड़े ही कहने आया है कि तुम मुझे मान लो। और परमात्मा को मनवाना हो तो तुम्हारी हिम्मत है क्या? अभी-अभी ऐसा विधान बना दे परमात्मा कि देखो! अगर तुम मुझको नहीं मानोगे तो मैं तुमको श्वास नहीं लेने दूँगा। तो दम घुटने लगे, तो मानोगे कि नहीं? क्या राय है?

श्रोता—मानना पड़ेगा।

तो परमात्मा कितने उदार हैं, परमात्मा कितने महान् हैं और परमात्मा के मानने वाले कितने उच्चकोटि के विरक्त और अनुरक्त हैं। आ-हा-हा, कमाल है इसमें। यानी आप विचार करके देखिए—मोक्ष के आनन्द में जो सन्तुष्ट है, वह विरक्त है? वह तो अपने में सन्तुष्ट है। भोग से, दुःख से विरक्त है, पराधीनता से विरक्त है, अशान्ति से विरक्त है, अभाव से विरक्त है। लेकिन परमात्मा को मानने वाला मोक्ष से भी विरक्त है! वैसे तो आजकल सभी लोग कह देते हैं कि हम परमात्मा को मानते हैं, पर परमात्मा को मानने वाला तो ओ-हो-हो! परमात्मा को मानने वाला परमात्मा को प्यारा लगता है। परमात्मा

जिसको प्यार करे, वह परमात्मा का मानने वाला हुआ। और मोक्ष में जो आनन्द ले—वह अपना मानने वाला हुआ। और शान्ति और सद्भाव में जो रहे, वह जगत् को मानने वाला हुआ। तो जगत् को मानकर हमको शान्ति और सद्भाव चाहिए, अपने को मानकर मोक्ष चाहिए, परमात्मा को मानकर अगाध प्रेम चाहिए।

श्रोता—महाराज जी! इस हिसाब से तो जब मोक्ष खारी लगे तब परमात्मा को मानना चाहिए, परमात्मा को मानना पहले जरूरी कैसे हुआ?

स्वामी जी—ऐसा नहीं है, पण्डित जी, मोक्ष खारी नहीं। मैं आपसे पूछता हूँ कि मोक्ष का अर्थ क्या है? दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति। अगर हम स्वतन्त्र रूप से आचार्यों के मत पर विचार करें तो दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति बुद्ध ने भी मानी है, जैनियों ने भी मानी है, पर परमात्मा को नहीं माना है।

पण्डित जी—मेरा प्रश्न यह नहीं है। मेरा प्रश्न यह है कि परमात्मा का मानना तभी होगा जब मोक्ष प्राप्त कर लेंगे? पहले कैसे मान सकते हैं?

स्वामी जी—आस्था के आधार पर।

प्रश्न—आस्था के आधार पर तो माना ही जाएगा।

स्वामी जी—अगर मोक्ष खारी लगे तब तो परमात्मा मिल जाएगा।

पण्डित जी—मेरे समझ में आया था कि मोक्ष खारी लगने पर परमात्मा को माना जाएगा।

स्वामी जी—यह नहीं पण्डित जी! मैंने यह नहीं कहा। मैंने कहा था कि जो मोक्षार्थी है वह विरक्त है भोग से, और जो प्रेमार्थी है वह मोक्ष से भी विरक्त है—यह कहा था। महान् विरक्त है। तो आसान चीज नहीं है परमात्मा का मानना। मोक्ष उसे नहीं कहते जो अच्छा न

लगे। मैं मोक्ष का अपमान करने को राजी नहीं हूँ। अखण्ड रस है मोक्ष में। शान्त रस है मोक्ष में। दुःखों की निवृत्ति है मोक्ष में। मोक्ष कोई घटिया चीज थोड़े ही है जो कि अच्छी नहीं लगेगी! लेकिन मोक्ष तो उन लोगों की चीज है कि जिन्होंने परमात्मा के अस्तित्व को नहीं माना, तो भी उन्हें मोक्ष तो चाहिए। ऐसे ही जिन्होंने अपने अस्तित्व को नहीं माना, उन्हें भी तो दुःखों की निवृत्ति चाहिए। इस तरह से मैं बोल रहा हूँ पण्डित जी।

भगवान बुद्ध ने "निर्वाण" शब्द इस्तेमाल किया, मोक्ष शब्द इस्तेमाल नहीं किया। और उन्होंने चार सत्य रखे सामने—दुःख है, उसका कारण है, उपाय है और निवृत्ति है। तो दुःख की अत्यन्त निवृत्ति कह कर वे मौन हो गए। अच्छा, जैन मत ने मोक्ष को सामने रख दिया, 'आत्मा' शब्द को सामने रख कर कि आत्मवित् हो जाओ, मोक्ष प्राप्त हो जाएगा। वे 'अध्यात्म' कह कर चुप हो गए। तब भक्तों ने परमात्मा की बात कही। अतः मैं यह निवेदन कर रहा था कि इन तीनों के रस में भेद है। वैसे तो मोक्षार्थी कब तक है? जब तक मोक्ष नहीं हुआ। अहं रहेगा ही नहीं मोक्ष में। दुखी कब तक है? जब तक दुःख का अत्यन्त अभाव नहीं हुआ। दुखी रहेगा ही नहीं। तो परिच्छिन्नता का तो नाश हो जाएगा तीनों प्रकार से। ऐसा नहीं कि नहीं होगा। लेकिन मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि आस्था के आधार पर परमात्मा माना जाता है। ज्ञान के द्वारा परमात्मा को सिद्ध नहीं किया जाता। प्रमाण से परमात्मा को सिद्ध करते हैं। प्रमाण में आधार होता है, आस्था का। हम पहले स्वीकार करें कि हम श्रुति-भगवती को मानते हैं। तो श्रुति-भगवती से परमात्मा की चर्चा चली है। इसी आधार पर हमने एक बार श्री करपात्री जी के मुख से सुना था कि "हम तो ब्रह्म को इसलिए मानते हैं कि उसकी चर्चा वेद में है।" वेद को मानते हैं, वेद के आधार पर ब्रह्म को

मानते हैं। "हम कृष्ण को इसलिए मानते हैं कि उनकी चर्चा गीता में है।" तो यह जो एक शास्त्रवाद है वह परमात्मावाद कहलाता है शुद्ध रूप से। अब शास्त्र तो सभी हैं—धर्मशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र, आस्तिकशास्त्र। इसलिए मैं तो इस दृष्टि से निवेदन करता हूँ कि परमात्मा का मानना बहुत महान् काम है। एक बात। दूसरी बात है कि जैसे मान लीजिए कोई अपनी असमर्थता से पीड़ित है, वह भी परमात्मा को मान सकता है। पण्डित जी, मेरी आदत है कि मैं विचार को विश्वास में मिलाता नहीं हूँ। मेरा निवेदन यह है कि जो असमर्थता से पीड़ित है, जैसे श्री विभीषण जी ने प्रश्न किया हनुमान जी से। कथा की बात है। क्योंकि विश्वास में ही यह सब चलता है। तो प्रश्न यह किया कि—

'तामस तन कछु साधन नाहीं,
प्रीति न पद सरोज मन माहीं।'

तामस शरीर होने से तो मैं धर्मात्मा नहीं हो सका और चतुष्टय-साधन-सम्पन्न न होने से मैं ज्ञान योग का अधिकारी नहीं हो सका और प्रीति के अभाव में मैं भक्ति योग का अधिकारी नहीं हो सका। अधिकारी नहीं हो सका सो तो ठीक है, परन्तु क्या ऐसे मुझ अनधिकारी पर भी भानुकुलनाथ कृपा करेंगे? और हनुमान जी ने न तो मन्त्र-दीक्षा दी, न तन्त्र-दीक्षा दी और न कोई प्रमाण उनके सामने रखा। अपना प्रमाण रख दिया कि 'मुझ जैसे अपावन पर भी प्रभु ने कृपा की है।' यानी प्रभु कृपा करते हैं—यह बात हनुमान जी ने बताई और यह सुनकर के विभीषण जी ने स्वीकार कर ली। गुरु हो तो हनुमान जैसा और शिष्य हो तो विभीषण जैसा। और जब स्वीकार कर लिया तो क्या हुआ? आ-हा-हा! वही विभीषण है जो यह कहता था कि मैं

अनधिकारी हूँ, वह उस रावण को जो कि वेदों का पण्डित था—चारों वेदों का पण्डित था रावण, पण्डित जी, उसको लगा समझाने विभीषण, तो उसने एक लात दी।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि परमात्मा को कौन मानता है? या तो ऐसा आदमी जो मोक्ष के आनन्द में भी सन्तुष्ट नहीं होता। उससे भी परे का कोई आनन्द हो तो उसे चाहिए। या वह जो माँग से निराश नहीं है। माँग तो सबकी एक ही है—चाहे कोई मोक्षार्थी हो, चाहे कोई धर्मात्मा हो, चाहे कोई आस्तिकवादी हो—रसरूप जीवन की माँग है। रसरूप जीवन में तीन चीजें होती हैं—जिसका कभी नाश न हो, जो रसरूप हो और जो चिन्मय हो। चेतना हो जिसमें, रस हो और जिसका नाश न हो—उसी को जीवन कहते हैं। धर्मात्मा को भी रसरूप जीवन मिलता है, मोक्षार्थी को भी रसरूप जीवन मिलता है और प्रेमार्थी को भी रसरूप जीवन मिलता है। रस में भेद करते हैं लोग। कहते हैं प्रेम का जो रस है वह अनन्त है और मोक्ष का रस अखण्ड है और धर्मात्मा का रस शान्त है। तो शान्त रस, अखण्ड रस, अनन्त रस—ये रस के भेद है। वास्तव में उसमें स्वरूप भेद नहीं है। शान्तरस में भी परमात्मा की प्राप्ति है, अखण्ड-रस में भी परमात्मा की प्राप्ति है, अनन्त-रस में भी परमात्मा की प्राप्ति है। पर साधकों के दृष्टिकोण से इनमें केवल रस का भेद किया जाता है, ऐसा मैं मानता हूँ। नहीं तो जिसे मोक्ष मिलेगा उसे परमात्मा भी मिलेगा। जिसे परमात्मा मिलेगा उसे मोक्ष भी मिलेगा। जिसे शान्ति मिलेगी उसे मोक्ष भी मिलेगा। जिसकी दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति हो गई, उसे मोक्ष भी मिलेगा, परमात्मा भी मिलेगा। चीज तो एक है न! माँग तो अनेक नहीं हैं, माँग तो एक है।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि आज हम इस बात को सोचें कि अगर अभाव हमसे सहा नहीं जाता तो भाई, अभाव का अभाव हो सकता है अचाह होने से। एक उपाय सोचें, बहुत से न सोचें। अब अचाह किस-किस प्रकार से बनेंगे आप, आप ही को न सोचना पड़ेगा! जब तक अपना करके मैं कुछ भी मानूँगा, तब तक अचाह हो ही नहीं सकता। अथवा जब तक भगवान को अपना नहीं मानूँगा, तब तक अचाह हो ही नहीं सकता। तो किसी तरह से आप हो जाएँ, अचाह हो जाएँ। अचाह होने से अभाव की निवृत्ति हो जाएगी। यह निर्विवाद सत्य है।

2

(अ)

(1) सेवा की साधना का मूल मन्त्र है—"बुराई-रहित होना।"

(2) निज स्वरूप के बोध का साधन है—"चाह और प्रयत्न-रहित होना।"

(3) प्रभु-प्रेमी होने के लिए आवश्यक है—"अपने सहित अपना सर्वस्व उनके समर्पित करना।"

(4) यह सब शरीर-धर्म नहीं है—"स्वधर्म है।"

(5) "मैं" की खोज करते-करते "मैं"—"है" में विलीन हो जाता है।

(6) "मैं" जब "है" में विलीन हो जाता है तो "मैं" की खोज का प्रश्न हल हो जाता है।

(7) "मैं" को "ब्रह्म" कहना साधन पद्धति है, अनुभवसिद्ध नहीं है।

(8) संसार को नापसन्द किए बिना उससे मन हटता नहीं है, और दिव्य-चिन्मय-स्वरूप जीवन को पसन्द किए बिना उसमें मन लगता नहीं है।

प्रवचन :

सेवा करने से हमें अपने को जानने की और प्रभु से प्रेम करने की सामर्थ्य आ जाती है। इस तरह सेवा भी अपने लिए ही हुई, लेकिन लम्बे रास्ते से हुई। तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि जग की सेवा यानी आवश्यक कार्य में भाग लेना, यह सेवा हो गयी। और उस सेवा के अन्त में अचाह होकर—मुझे कुछ नहीं चाहिए और निर्मम होकर—मेरा कुछ नहीं है, अर्थात् या तो हम अपने को समर्पित कर दें, या हम अचाह और अप्रयत्न हो जाएँ। तो जब हम अचाह हो जाते हैं, जब हम अप्रयत्न हो जाते हैं, तो अपने आप हमारा प्रवेश उस देहातीत जीवन में हो जाता है जहाँ "मैं" और "है" का भेद नहीं रहता, आत्मा-परमात्मा का भेद नहीं रहता। उसमें हमारा प्रवेश होता है अचाह होने से, अप्रयत्न होने से। अचाह कैसे हो सकते हैं? मुझे कुछ नहीं चाहिए। जब मैं सेवा करूँगा तो मुझे सेवा के सिवा और कुछ नहीं चाहिए। सेवक के पास अपना कुछ नहीं होता। अतः सेवा करने से अचाह होने की, अप्रयत्न होने की सामर्थ्य आती है। चूँकि जीवन में करने का राग है इसलिए अगर सेवा नहीं करोगे तो भोग करोगे। और जब भोग करोगे तब अचाह नहीं हो सकोगे, तब अप्रयत्न नहीं हो सकोगे। चाह भी रहेगी और प्रयत्न भी रहेगा। चाह और प्रयत्न जब तक रहेगा, तब तक देह के साथ मिले रहोगे। हो अलग, पर मिले रहोगे। जब तक देह के साथ मिले रहोगे, तब तक पराधीन रहोगे, स्वाधीन नहीं हो सकते। तब तक जन्म और मरण के चक्कर में घूमते रहोगे, मुक्त नहीं हो सकते। अशान्त रहोगे, शान्त नहीं हो सकते। सुख-दुःख में बँधे रहोगे, सुख-दुःख से अतीत नहीं हो सकते। इसलिए ये प्रोग्राम रखा कि भाई, जग की सेवा करो, अपनी खोज करो, प्रभु से प्रेम करो।

तो अपनी खोज करने के लिए आपको किसी और का सहारा नहीं लेना पड़ेगा। कोई परिश्रम नहीं करना पड़ेगा। पराश्रय और परिश्रम को छोड़कर ही तुम अपनी खोज कर सकोगे नहीं तो अपनी खोज नहीं होगी। और प्रेम के लिए प्रभु को ही अपना मानना पड़ेगा। वे ही मेरे अपने हैं, और कोई मेरा अपना नहीं है। और उनसे भी मुझे कुछ नहीं चाहिए, यह भी मानना पड़ेगा। और अपने पर उनका पूरा अधिकार है, यह भी मानना पड़ेगा। किसी को किसी से प्रेम करना हो तो उसको अपना मानना होता है। और अपना मानने के लिए अपने को उनके हाथ में दे देना होता है। मुझ पर तुम्हारा पूरा अधिकार है, चाहे जैसे रक्खो, चाहे कुछ करो और मेरा तुम पर कोई अधिकार नहीं है; अर्थात् मुझे तुमसे कुछ नहीं चाहिए। मुझे तुमसे कुछ नहीं चाहिए, मुझ पर तुम्हारा पूरा अधिकार है—इसके पूर्व प्रेम केवल बातों में नहीं हो सकता। न नाक बन्द करने से होता है, न आँख बन्द करने से होता है। किसी प्रकार प्रेम उत्पन्न नहीं होता सिवा इसके और सेवा बिना किए कोई कभी अचाह नहीं हो सकता, अप्रयत्न नहीं हो सकता। इसलिए पुरुषार्थ में कौन-कौन सी बातें रहीं? कि सेवा करके अपनी खोज करो और अपनी खोज करने के लिए अचाह होना पड़ेगा, अप्रयत्न होना पड़ेगा। क्योंकि, शरीर के द्वारा अपनी खोज नहीं हो सकती, इन्द्रियों के द्वारा अपनी खोज नहीं हो सकती, मन-बुद्धि के द्वारा अपनी खोज नहीं हो सकती, प्राणों के द्वारा अपनी खोज नहीं हो सकती। इन सबसे अलग होने पर ही अपने द्वारा अपनी खोज हो सकती है। तो इन सबसे अलग होने का उपाय क्या है? कि सेवा करो और कुछ मत चाहो।

सेवा करो अथवा अपने लिए कुछ मत करो। अपने लिए कुछ मत करो; क्योंकि अपने लिए कुछ करने की बात है नहीं। क्यों नहीं है? कि अपनी जो माँग है—अमर जीवन की—वह माँग किसी कर्म के द्वारा पूरी नहीं होगी। हम जो अमर जीवन चाहते हैं, हम जो स्वाधीन जीवन चाहते हैं, हम जो चिन्मय जीवन चाहते हैं—तो वह जीवन किसी शरीर के आश्रित, परिश्रम द्वारा प्राप्त नहीं होता। इसलिए, अपने लिए करने की बात नहीं है; और वह जीवन संसार की सहायता से भी प्राप्त नहीं होता। अगर वह जीवन संसार की सहायता से प्राप्त होता, तब तो उस जीवन के लिए खोज करने की बात नहीं होती। देखिए, एक होता है खोज करना; एक होता है उत्पन्न करना। कर्म का सम्बन्ध होता है उन चीजों से जो उत्पन्न होती हैं। यह फर्क मालूम होता है कि नहीं? यह भाषा समझ में आई या नहीं? खोज करना और उत्पन्न करना। जैसे, खेत में अनाज का उत्पन्न करना, तो इसमें कर्म अपेक्षित हुआ। लेकिन कोई चीज अगर मौजूद है और उसकी खोज करना है, तो यह कर्म है क्या? भाई देखो, न समझ में आए तो खून लगाकर शहीदों में शामिल मत होना। सुनते-सुनते जन्म बिता दो और समझ कुछ न पाओ, उससे कोई लाभ नहीं। इसलिए मैं बार-बार पूछता हूँ। तो किसी चीज को पैदा करना होता है और किसी चीज की खोज करना होता है। खोज याने तलाश। तलाश उस चीज की की जाती है जो 'है'; और पैदा उसे किया जाता है जो 'नहीं है'। कभी है और कभी नहीं है, उसको उत्पन्न किया जाता है और जो सदैव है, सर्वत्र है उसकी खोज की जाती है।

तो 'यह' के सम्बन्ध में जो कुछ जरूरत होती है उसके लिए कर्म किया जाता है। जैसे कल अगर जाना है किसी को बम्बई डॉक्टर को दिखाने के लिए, तो उसके लिए कर्म करना पड़ेगा। अब उस डॉक्टर

की पहुँच 'मैं' तक न होकर शरीर तक रहेगी। तो संसार के जितने कर्म हैं वे शरीर तक रहते हैं, 'मैं' तक नहीं पहुँचते। 'मैं' की खोज करने के लिए शरीर का आश्रय छोड़ना पड़ता है। और शरीर का आश्रय छोड़ने के लिए सेवा करनी पड़ती है। अगर तुम सेवा नहीं करोगे और करने का राग बना रहेगा, करने की अगर रुचि बनी रहेगी, तो तुम शरीर में चिपके रहोगे और व्यर्थ चेष्टा करते रहोगे या व्यर्थ-चिन्तन होता रहेगा। कब तक होता रहेगा? जब तक तुम सेवा नहीं करोगे। यह बात, यह भाषा समझ में आई? कोई भाई-बहन ऐसा है जिसको यह समझ में न आई हो?

सेवा का मतलब क्या है? सेवा का मतलब यह है कि जो काम आप करो उसमें दूसरों का हित होना चाहिए। उसका सम्बन्ध दूसरे के साथ होना चाहिए। अपने सुख में उसका उपयोग नहीं होना चाहिए। यानी हम यह नहीं सोचें कि हम जो करें उससे हमें मजा आए। हम जो करें उससे दूसरे का हित हो, दूसरे को प्रसन्नता हो, दूसरे का कल्याण हो। दूसरे का सुख हो—सो नहीं। नहीं तो सभी कामी कुत्ते कहेंगे कि आओ! हमारे सुख के लिए हमसे यह कराओ। लेकिन उसमें उसका हित नहीं होगा न? तो जिसमें दूसरे का हित निहित हो उसको सेवा कहते हैं। जिसमें अपना सुख हो उसे भोग कहते हैं। भोग से शरीर का सम्बन्ध नहीं छूटता, सेवा से शरीर का सम्बन्ध टूटता है। और जब शरीर का सम्बन्ध टूटता है तब हम अपनी खोज के अधिकारी होते हैं। जब मनुष्य अपनी खोज करने चलता है तो खोज करते-करते स्वयं खो जाता है और जो सदा-सदा के लिए है, वही रह जाता है। ये तो मैंने आपको पुराने खोज करने वालों का फैसला सुना दिया। पर उस फैसले के सीखने से काम नहीं चलेगा। तुम्हें भी अपने को खो देना पड़ेगा, तब काम चलेगा। इसलिए सेवा करो और अपनी खोज करो।

अपनी खोज करते-करते, 'मैं' को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते 'मैं' 'है' में विलीन हो जाता है। क्यों? "मैं" एक ऐसा तत्त्व है, जो बिना आश्रय के रह नहीं सकता; चाहे यह संसार का आश्रय ले अथवा परमात्मा का। जब संसार का आश्रय लेता है तो संसार को ही "मैं" मानने लगता है और यदि परमात्मा का आश्रय लेता है तो परमात्मा को ही 'मैं' मानने लगता है। यह तो मैंने एक फैसला सुनाया। लेकिन इसका तरीका आपको जानना चाहिए कि "मैं" की खोज कैसे की जाए। 'यह' से 'मैं' का सम्बन्ध तोड़ दिया जाय। "यह" में मेरा कुछ नहीं है, 'यह' से मुझे कुछ नहीं चाहिए। "यह" के द्वारा "यह" की सेवा करनी है। यह भाषा समझ में आयी या नहीं? 'यह' माने शरीर। शरीर के द्वारा संसार की सेवा करनी है। 'यह' माने संसार। संसार में कुछ मेरा नहीं है, संसार से मुझे कुछ नहीं चाहिए। जब संसार में मेरा कुछ नहीं है तो संसार की सहायता के बिना मैं कुछ कर नहीं सकता; और जब मैं कुछ कर ही नहीं सकता तो सचमुच मुझे यह विधान मानना पड़ेगा कि मुझे अपने लिए कुछ करना नहीं है। जो कुछ करना है संसार के लिए करना है। सेवा करनी है संसार के लिए। मुझे अपने लिए कुछ नहीं करना है।

देखिए, सेवा का जो क्रियात्मक रूप होता है, जो प्रैक्टिकल रूप होता है, वह अखण्ड नहीं होता। अभी हम बोल रहे हैं तो चुप भी होंगे। आप सुन रहे हैं तो चुप भी होंगे। आप देख रहे हैं तो न देखने की स्थिति में भी जाएँगे। सोच रहे हैं तो कुछ काल के बाद न सोचने की स्थिति में भी जाएँगे। जाएँगे कि नहीं? जाएँगे, जाना ही पड़ता है। तो जागृति में ज्ञानपूर्वक न करने की जो स्थिति है उसका नाम है 'योग'। और थककर, स्वभाव से विवश होकर, जो न करने की स्थिति है उसका नाम है सुषुप्ति। उसका नाम योग नहीं है। तो सुषुप्ति से

हमको आराम तो मिलता है, शक्ति तो मिलती है, लेकिन हमें ज्ञान नहीं रहता कि हम कहाँ चले गए, न करने की स्थिति में! इस बात का पता नहीं चलता। लेकिन जाग्रत में जब न करने की स्थिति आती है तो इस बात का बोध होता है कि हम किसी काल में भी शरीर नहीं हैं। न स्थूल शरीर हैं, न सूक्ष्म शरीर हैं, न कारण शरीर हैं। हम किसी काल में शरीर नहीं हैं। जब हम शरीर नहीं हैं तो हम क्या हैं? यह देखना पड़ेगा। अब आप कह दीजिए, सुन लीजिए, मान लीजिए कि—'मैं आत्मा हूँ'—तो ऐसे काम नहीं चलेगा। "हम शरीर नहीं हैं"—इस बात को शरीर से अलग होकर अनुभव करो कि हम शरीर नहीं हैं। शरीर से असंगता का अनुभव हमें उस जीवन से, उस सत्य से, जिसका कभी नाश नहीं होता, उससे अभिन्न कर देता है, मिला देता है, एक कर देता है। तो अब अन्तर क्या हुआ? कि शरीर के साथ हम कभी भी एक नहीं हो पाते। लेकिन शरीर से अतीत जो जीवन है, उसके साथ हमारी एकता हो जाती है। उसकी समीपता आती है पहले, फिर एकता आती है और फिर अभिन्नता आती है। तो, उसके साथ हमारी एकता होती है। लेकिन शरीर के साथ हम कितने ही मिल जाएँ, पर एक नहीं हो पाते। हमेशा यही सोचते हैं कि "मेरा हाथ"। यह नहीं सोच पाते कि "मैं हाथ"। यही कहते हैं कि "मेरा शरीर", यह नहीं कह पाते कि "मैं शरीर"। इसी प्रकार मेरा मन, मेरे प्राण, मेरी बुद्धि, मेरी इन्द्रियाँ, इत्यादि-इत्यादि। तो यह तीनों शरीरों का जो एक संगठन दिखाई देता है आपको, इन तीनों ही शरीरों के साथ "मैं पन" नहीं आता, "मेरा पन" आता है। यानी मैं नहीं है, यह मेरा है, ऐसा महसूस करते हैं। लेकिन वास्तव में और गहराई से देखा जाए तो जैसे "मैं" नहीं है ऐसे "मेरा भी" नहीं है, क्योंकि शरीर को आप संसार से अलग नहीं कर पाते। कर सकते हैं क्या? शरीर को संसार से अलग ले जा सकते हैं क्या?

नहीं ले जा सकते। तो शरीर को यदि आप मेरा कहते हो तो भाई, संसार को मेरा क्यों नहीं कहते? और जब संसार को मेरा नहीं कहते हो, तो शरीर को मेरा क्यों कहते हो? इस प्रकार शरीर मैं नहीं हूँ,—यह भी सिद्ध है और शरीर मेरा नहीं है—यह भी सिद्ध है।

जब ये दोनों बातें आपको सिद्ध हो गयीं कि शरीर न मैं हूँ, न मेरा है तो सब विकार नाश हो गए। शरीर मैं नहीं हूँ—तो इसमें जो बँधे हुए थे हम जड़ता में, वह नाश हो जाएगी। प्रमाद नाश हो जाएगा, जड़ता नाश हो जाएगी और फिर "मैं" की "है" के साथ एकता हो जाएगी—चाहे योग होकर, चाहे बोध होकर और चाहे प्रेम होकर। यानी "मैं" को बोध प्राप्त हो जाए तब भी "है" के साथ एकता हो जाती है, "मैं" को योग प्राप्त हो जाए तब भी "है" के साथ एकता हो जाती है और "मैं" के अन्दर प्रेम की अभिव्यक्ति हो जाए तब भी एकता हो जाती है। तो "मैं" का जो अन्तिम विकसित रूप है वह योग है, बोध है और प्रेम है; शरीर नहीं है। वैसे तो लोग "मैं" माने ब्रह्म कह देते हैं, ब्रह्म को 'मैं' कह देते हैं। यह उपासना की एक पद्धति है। लेकिन वास्तव में 'मैं' का जो नित्य-सम्बन्ध है वह योग, बोध और प्रेम से है। बोध, प्रेम और योग—इसके द्वारा हम उस जीवन को प्राप्त करते हैं जिसमें किसी प्रकार की कमी नहीं है, जिसमें किसी प्रकार का अभाव नहीं है, जिसमें किसी प्रकार की जड़ता नहीं है, नीरसता नहीं है। अभाव से, जड़ता से, नीरसता से रहित जीवन हमारा-आपका अपना जीवन है।

तो वह जो अपना जीवन है, उसको हम भूल गए हैं अलग नहीं हो गए हैं, भूल गए हैं। उस भूल को मिटाने के लिए ही यह बात कही गई कि भाई, पहले तो जगत् की सेवा करो, फिर अपनी खोज करो, फिर प्रभु को प्रेम करो। यानी प्रभु के प्रेमी होकर, जगत् के सेवक होकर आप अपनी खोज करो। ऐसा बताया गया। अपनी खोज करने के लिए

जब प्रयास आरम्भ होगा तो वह प्रयास शरीर के द्वारा नहीं होगा। क्योंकि, शरीर के द्वारा तो सेवा हो सकती है, भोग हो सकता है, तप हो सकता है, खोज नहीं हो सकती। बड़ी विचित्र बात है। शरीर के सहारे को लेकर आप सही काम कर सकते हैं और शरीर के सहारे को लेकर आप तप कर सकते हैं लेकिन शरीर के सहारे को लेकर आप अपनी खोज नहीं कर सकते हैं। इसलिए शरीर का सहारा छोड़कर अचाह, अप्रयत्न होकर हम अपनी खोज कर सकते हैं। खोज क्या कर सकते हैं? जब हम शरीर के साथ मिले नहीं रहते हैं तब हम परमात्मा के समीप होते हैं, परमात्मा से एक होते हैं, परमात्मा से अभिन्न होते हैं उसी समीपता का नाम 'योग' और एकता का नाम 'बोध' और अभिन्नता का नाम 'प्रेम' है। तो हमको योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति होती है एवं भोग, मोह और आसक्ति का नाश होता है। जब तक हमको योग प्राप्त नहीं है तब तक भोग की रुचि में बँधे हुए हैं। और जब तक भोग की रुचि में बँधे हुए हैं तब तक मोह और आसक्ति में आबद्ध हैं। यह भाषा समझते हैं आप—मोह और आसक्ति?

तो, अब सोचिए कि आप भोग, मोह और आसक्ति में ही रहना चाहते हैं कि योग, बोध और प्रेम को पाना चाहते हैं? यह सोचिए। अगर आप योग, बोध और प्रेम को पाना चाहते हैं, तो आपको सेवा करनी होगी, अचाह होना पड़ेगा, अप्रयत्न होना पड़ेगा। और कोई उपाय नहीं है। सेवा करो, ताकि अचाह होने की सामर्थ्य आ जाय। अचाह हो जाओ, जिससे अप्रयत्न होने की सामर्थ्य आ जाए। यह जरूर आ जाती है। अप्रयत्न होने से योग हो जाता है; क्योंकि भोग में तो प्रयत्न रहता है। भोग बिना परिश्रम के, बिना पराश्रय के होता है क्या? कोई भी भोग हो, पराश्रय और परिश्रम के बिना हो सकता है क्या? योग में न पराश्रय है, न परिश्रम है। हम आपसे क्या बताएँ, आज योग के बड़े-बड़े सेमीनार होते हैं। सम्मेलन होते हैं और योग के नाम पर

शरीर-विज्ञान और मनोविज्ञान की कुछ क्रियाएँ सिखाते हैं, बताते हैं, योग के नाम पर! शरीर-विज्ञान योग नहीं है और सच पूछिए तो मनोविज्ञान भी योग नहीं है। क्यों? मनोविज्ञान माने मन का व्यापार, शरीर-विज्ञान माने शरीर का व्यापार। और वह व्यापार जिसमें शरीर का और मन का हित हो। इतनी बात है। लेकिन यह योग नहीं है। योग तो शरीर-विज्ञान, मनोविज्ञान इन दोनों से परे है। क्योंकि योग जो है वह मनुष्य का अपना जीवन है। योग का डेफीनीशन (परिभाषा) यदि मैं करूँ तो—जो हमें उससे मिला दे जो हमसे अलग नहीं है। अपने में अपने को मिला दे—एक योग की डिफीनीशन यह है। अपने को अपने से मिलाने वाले का नाम योग है। और यह डेफीनीशन आगे चलकर योग के फल के रूप में बताई है। पतंजलि ने जो योगदर्शन लिखा है इसमें योग की परिभाषा की है—चित्त की वृत्तियों का निरोध और फल बताया है कि द्रष्टा अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाए। अब मानव-सेवा-संघ ने इस बात को ऐसे बताया। योग का बाह्य रूप बताया, अचाह और अप्रयत्न। अप्रयत्न अर्थात् कोशिश न करना (effortlessness)। तो न करने की स्थिति को भी योग कहते हैं। लेकिन मैं ऐसा मानता हूँ कि न करने की स्थिति में हमारा उससे योग होता है जो अपना है अपने में है और अभी है। अविनाशी है, और समर्थ है, अद्वितीय है, एक ही है। तो योग परमात्मा के साथ होता है—ऐसा मानलो, बोलचाल की भाषा में।

तो परमात्मा के साथ हमारी एकता, समीपता, अभिन्नता हो जाए, इसी के लिए यह जीवन है और संसार के काम आ जाए—इसके लिए जीवन है। तो जग की सेवा अर्थात् संसार के काम आ गए और अपनी खोज अर्थात् संसार से ऊपर उठ गए। अपनी खोज में ऊपर उठते हैं। संसार के साथ मिले नहीं रहते हैं, संसार से अलग हो जाते हैं। और जब संसार से अलग हो जाते हैं तो "उनमें" प्रेम। यह एक के

बाद एक होता है। सेवा अगर ठीक बन गयी तो संसार से ऊपर उठने की शक्ति आ गयी और संसार से ऊपर उठ गए तो प्रेमी होने की शक्ति आ गयी। वैसे तो तीनों चीजें मिलकर एक जीवन है। जग की सेवा, खोज अपनी, प्रेम उनसे—ये तीनों मिलकर एक जीवन है, एक लाइफ (Life) है।

मैं यह निवेदन कर रहा था आपसे कि क्या आज हम सेवा करने के लिए राजी हैं? अचाह होने के लिए राजी हैं? अप्रयत्न होने के लिए राजी हैं? प्रेमी होने के लिए राजी हैं? अगर आप इन तीनों के लिए राजी हैं तो आप बड़ी सुगमतापूर्वक सेवा कर सकते हैं, अपनी खोज भी कर सकते हैं, और प्रेमी भी हो सकते हैं। इसमें आप पराधीन नहीं हैं। हर भाई, हर बहन, सेवा करने में, अपनी खोज करने में और प्रेमी होने में पराधीन नहीं है। और भोग करने में और मोह में और आसक्ति में कोई स्वाधीन नहीं है।

प्रश्न—स्वामी जी! सेवा से अभिमान पैदा होता है।

उत्तर—बेवकूफों को पैदा होता है अभिमान। जब सेवा-सामग्री अपनी नहीं तो अभिमान किस बात का होगा? मैं आपसे निवेदन करना चाहता हूँ कि जिन वस्तुओं द्वारा हम भलाई करते हैं वे वस्तुएँ आपकी हैं क्या? तो अभिमान कैसे कर सकते हो? अगर अपनी मान ली तो यह भूल है और भूल से सेवा नहीं बनती है। पहले अपने जीवन को देखिए कि आप लोगों ने सेवा की नहीं, आपसे सेवा हुई नहीं। अगर सेवा हो गयी होती तो त्याग और प्रेम अपने आप आ जाता। ऐसा नियम है। जहाँ सेवा है वहाँ त्याग जरूर है और जहाँ त्याग है वहाँ प्रेम अवश्य है। इन तीनों में विभाजन नहीं हो सकता कि सेवा अलग चीज है, त्याग अलग चीज है और प्रेम अलग चीज है—ऐसा नहीं होता।

आपके जीवन के ये तीन आधारभूत स्तम्भ हैं। सेवा करोगे तो त्याग का बल आ जाएगा, त्याग करोगे तो प्रेम अवश्य आ जाएगा। त्याग का दूसरा नाम ज्ञान भी है, प्रेम भी है। उस ज्ञान-प्रेम में कोई विभाजन नहीं। परन्तु वह अलग विषय है। तो मैं जो आपसे अभी निवेदन कर रहा था कि सेवा बिना किए आप अपनी खोज नहीं कर सकोगे और अपनी खोज किए बिना अपने में अपने प्रेमास्पद को नहीं पा सकोगे। इसलिए ये तीनों बातें बताई गईं। जग की सेवा को कब बताया गया? कि जब आपके सामने यह बात पहले रख दी गयी कि—"मैं नहीं मेरा नहीं।" ये शरीर 'मैं' नहीं हूँ, ये शरीर 'मेरा' नहीं है। ये तन किसी का है दिया, और जो भी अपने पास है वो धन किसी का है दिया। अर्थात् पहले ज्ञानपूर्वक यह अनुभव करो कि शरीर मेरा नहीं और मैं शरीर का नहीं हूँ। जो कुछ मुझे अपने पास मालूम होता है वह किसी का दिया हुआ है। देने वाले की इतनी महानता है, उसने इस महानता के साथ दिया है कि लेने वाला उसे अपना महसूस करने लगा। कहने लगा कि यह मेरा ही है और जो मिला है वह हमेशा पास रह सकता नहीं। और कब बिछुड़ जाए ये राज कोई कह सकता है नहीं—ऐसा कुछ है।

मिला हुआ पास नहीं रहेगा, बिछुड़ जाएगा। अगर यह सच्ची बात पहले मान लेंगे तो उसके बाद कहा कि जग की सेवा, खोज अपनी, प्रेम उनसे कीजिए। तो पहली बातों को भूलने से ही न आपको अभिमान होगा, भाई? अगर आप ये मान लेंगे कि तन मेरा नहीं है तो तन के द्वारा की हुई सेवा से अभिमान कैसे हो जाएगा? धन मेरा नहीं है तो धन के द्वारा की हुई सेवा का अभिमान कैसे हो जाएगा? योग्यता, वस्तु और सामर्थ्य मेरी नहीं है तो उनके द्वारा सेवा करने का

अभिमान कैसे हो जाएगा? तो सेवा करने से अभिमान नहीं होता है, तप करने में अभिमान होता है। कर्म करने में अभिमान होता है। पुण्य-कर्म करने में अभिमान हो सकता है, क्योंकि कर्म का जन्म भूल से होता है, सेवा का जन्म भूल-रहित होने से होता है। इसलिए सेवा का अभिमान नहीं होना चाहिए और सेवा का अन्त त्याग में और त्याग का अन्त प्रेम में हो जाना चाहिए। अथवा यों कहिए कि सेवा का अन्त योग में और योग की पूर्णता बोध में और बोध की पूर्णता प्रेम में होनी ही चाहिए।

2

(ब)

(1) तन का प्रभाव मोह के, धन का प्रभाव लोभ के और परिस्थितियों का प्रभाव कामनाओं के रूप में मनुष्य में उत्पन्न हो जाता है।

(2) सत्संग के द्वारा इस प्रभाव का नाश कर देना मानव का सबसे बड़ा पुरुषार्थ है।

(3) साधक के लिए श्रम और विश्राम दोनों ही अनिवार्य हैं। श्रम का अर्थ है आवश्यक कार्य सर्व-हितकारी भाव से पूरा करना और विश्राम का अर्थ है अचाह, अकिंचन और अप्रयत्न होना।

(4) श्रम है संसार के लिए और विश्राम है मानव जीवन की पूर्णता के लिए।

प्रवचन :

जबसे मनुष्य को शरीर मिला है तबसे उसमें कुछ-न-कुछ करने की रुचि रहती है। करने की रुचि के राग की निवृत्ति करने के लिए कुछ करना होता है; एक बात। दूसरी बात यह है कि सत् शब्द का अर्थ है—जिसका कभी नाश न हो। जिसका कभी नाश नहीं होता उसकी कभी उत्पत्ति भी तो नहीं होती! क्या राय है? और उसमें परिवर्तन भी नहीं होता। अब हमें यह देखना चाहिए कि जीवन का सत्य क्या है? तो साफ मालूम होता है कि मिला हुआ शरीर, मिली हुई वस्तु, मिली हुई योग्यता, मिली हुई सामर्थ्य ये सदैव नहीं रहतीं। जो चीज सदैव नहीं रहती उसको अपने लिए पसन्द नहीं करना चाहिए, वरन् उसका सदुपयोग करना चाहिए।

असत् वस्तु का सदुपयोग करना चाहिए। सदुपयोग का अर्थ क्या है? कि हम परहित की दृष्टि से यदि कुछ कर सकते हैं तो करें और अपने सुख के भाव से कुछ करना चाहते हैं तो न करें। असत्-कार्य कौन-सा कहलाता है? जिसके मूल में अपने सुख का भोग रहता है। सत्-कार्य कौन-सा कहलाता है? जिसके मूल में परहित रहता है। परहित के भाव से की हुई प्रवृत्ति सत्-कार्य कहलाती है, अपने सुख भोग की रुचि से की हुई प्रवृत्ति असत्-कार्य कहलाती है।

तात्पर्य कहने का यह है कि हम सुख का भोग न करें। अगर हम सुख का भोग नहीं करेंगे, तो दुःख से छूट जाएँगे। अब दुःख से छूटने के लिए कोई श्रम-साध्य उपाय अपेक्षित नहीं हुआ। केवल सुख का भोग न करें। क्यों भाई, क्या हानि है सुख-भोग से? क्योंकि सुख-भोग हमें पराधीनता में आबद्ध करता है। और जब हम पराधीनता

में आबद्ध हो जाते हैं तो अनेक प्रकार के अभाव, अशान्ति और नीरसता आने लगती है। क्यों आने लगती है? कि पराश्रय और परिश्रम द्वारा हमें कभी भी ऐसा जीवन नहीं मिल सकता या नहीं मिला है कि जिसका कभी नाश न हो। अगर हम उस वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का उपयोग पर-सेवा में करें, तो सेवा का अन्त हमेशा त्याग में होता है परन्तु भोग का अन्त त्याग में नहीं होता। त्याग का अर्थ यह है कि जो अपने से भिन्न है, उसकी हमको अपेक्षा न रहे। हम अपने में अपने जीवन का अनुभव करें। हम अपने में अपने प्रेमास्पद को पा जाएँ। अपने में जीवन पा जाएँ, प्रेमास्पद को पा जाएँ। यह मनुष्य की एक मौलिक माँग है। क्योंकि जो अपने में होगा वह कभी अपने से अलग नहीं होगा; अर्थात् ऐसा योग जो वियोग से रहित है, अगर हमको प्राप्त हो जाय तो हम बड़ी सुगमतापूर्वक अमर जीवन से, स्वाधीन जीवन से, रस-रूप जीवन से अभिन्न हो सकते हैं। अब, जिसका वियोग न हो, उसको संयोग कहते हैं क्या? क्या राय है! बोलो?

श्रोता—नहीं कहते।

तो संयोग-वियोग से रहित "नित्य योग" हमारी माँग है। यह माँग संयोग की रुचि का नाश करती है; और संयोग है ही। ऐसा मत सोचिए कि संयोग का नाश करती है संयोग की रुचि का नाश करती है। तो संयोग का उपयोग है सेवा में। उसका फल है त्याग। त्याग का फल है प्रेम। तो सेवा, त्याग, प्रेम—यह जीवन का सत्य है।

अब सेवा का वास्तविक स्वरूप क्या है? इस पर यदि हम विचार करें, तो सर्वांश में बुराई-रहित हो जाएँ, अर्थात् बुराई न करें। तब क्या होगा कि तब हम भले हो जाएँगे और फिर स्वभाव से भलाई होने लगेगी। जब स्वभाव से भलाई होने लगती है तो सृष्टि की ओर से

सम्मान मिलने लगता है, आदर मिलने लगता है। हमारी सुविधाएँ दूसरे लोग सोचने लगते हैं। हमारी सुविधा का अर्थ केवल इतना लेना चाहिए कि हमारी भूख समाज की भूख हो जाती है, हमारी प्यास समाज की प्यास हो जाती है। हमारी शारीरिक आवश्यकता हमारी न रहकर समाज उसे अपनी आवश्यकता अनुभव करने लगता है; और हम किसी ऐसी आवश्यकता से जो पराश्रय से पूरी हो, परिश्रम से पूरी हो, मुक्त हो जाते हैं। फिर हम सदा के लिए हरि-आश्रय और विश्राम से अभिन्न होते हैं। यानी हरि-आश्रय से "हम" अभिन्न होते हैं, विश्राम से "हम" अभिन्न होते हैं और जब हरि आश्रय और विश्राम प्राप्त हो जाता है, तो फिर उसका कभी वियोग नहीं होता। आप विचार करके देखिए, परमात्मा उसे नहीं कहते जिससे हम कभी अलग हो सकें अथवा जो हमसे अलग हो सके। उसका नाम परमात्मा नहीं है। विश्राम उसे नहीं कहते जो स्थाई न हो, अखण्ड न हो। विश्राम भी अखण्ड है, प्रभु का योग भी अखण्ड है, अविनाशी है। तो इससे यह सिद्ध हुआ कि विश्राम से और हरि-आश्रय से जीवन मिलता है और किसी प्रकार जीवन मिलता होगा, इसका हमको भाई अनुभव नहीं है। आप लोगों को अगर किसी अन्य प्रकार से जीवन मिला हो आप बताइए।

अब आप सोचिए कि विश्राम के लिए आवश्यक कार्य करना होगा या नहीं? क्या राय है। आवश्यक कार्य को हम पकड़े रहें पूरा, न करें, तो विश्राम मिलेगा?

श्रोता—जी नहीं।

स्वामी जी—कभी नहीं मिलेगा। और आवश्यक कार्य करने में क्या हमें कभी भी असमर्थता का अनुभव होता है? तो जिस काम में हम असमर्थ नहीं हैं वह कार्य हमारे लिए स्वाभाविक है कि

अस्वाभाविक? मानना पड़ेगा कि स्वाभाविक है। आवश्यक कार्य क्या हैं? आवश्यक कार्य उसे कहते हैं कि जिसके करने में आपको कोई कठिनाई अनुभव न हो—उसको आवश्यक कार्य कहते हैं। जैसे, आप विचार करके देखिए, अगर आप में करने की रुचि है और उसकी सामर्थ्य है, तो उसको पूरा करने में आपको क्या उलझन होगी? हाँ! एक बात है अगर आप भोग करेंगे, तो आपसे आवश्यक कार्य पूरा नहीं होगा। भोग से क्या होता है कि मनुष्य असमर्थता की ओर और पराधीनता की ओर उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है, उत्तरोत्तर! लेकिन आवश्यक कर्त्तव्य में, स्वभाव से कार्य के अन्त में विश्राम से अभिन्न होता है। विश्राम हमें अपने प्रेमास्पद से मिला देता है। लेकिन विश्राम की एक बड़ी भारी विचित्रता है कि यदि हमें विश्राम प्राप्त हो जाए तो हम अपने में अपने उस जीवन को पा सकते हैं, जिसका कभी नाश नहीं होता, जिसमें जड़ता नहीं है, अपितु चेतना है और जो रस-रूप है। यह विश्राम उसकी प्राप्ति का उपाय है।

आप अपने जीवन को देखकर बताइए कि जब कोई काम आप करते हैं तो उसका आरम्भ न करने की स्थिति से होता है कि करने की स्थिति से?

श्रोता—न करने से।

स्वामी जी—अच्छा! उसका अन्त किसमें होता है?

श्रोता—न करने में।

तो विश्राम कार्य के आरम्भ से पूर्व भी है और कार्य के अन्त में भी है। जो चीज आदि और अन्त में हो, वह रहती मध्य में भी है, ऐसा विचारशीलों का मत है। अतः विश्राम हम सबको स्वभाव से नित्य प्राप्त

है और विश्राम में जीवन है। पराधीन रह करके विश्राम प्राप्त नहीं होता। अगर आप मेरे किसी संकल्प को पूरा करते हैं तो आपको पराधीनता का अनुभव होता है क्या?

श्रोता—नहीं।

और जब आप अपने संकल्प को पूरा करते हैं तो स्वाधीनता का अनुभव होता है क्या?

श्रोता—नहीं।

तो पराधीनता कब तक रहती है जब तक हमारा अपना कोई संकल्प है। और पराधीनता का नाश कब होता है कि जब हम किसी दूसरे के उस संकल्प को जिसको पूरा करने में हम असमर्थ नहीं हैं अथवा जो हमारे ज्ञान के विरुद्ध नहीं है, पूरा करते हैं। तो, सामर्थ्य और ज्ञान के अनुसार दूसरों के संकल्प को पूरा करना, यह सेवा कहलाती है। इसी को आवश्यक कार्य कहते हैं। और इसी का अन्त विश्राम है। इस विश्राम में अलौकिक, अनुपम, अद्वितीय, रसरूप, चिन्मय जीवन है। अलौकिक जीवन विश्राम में है और किसी में नहीं है। देखिए, कोई कितना भी गतिशील हो, गति का उद्गम और अन्त स्थिरता में होता है। ऐसा नहीं होता कि गति से गति पैदा हो। होता है क्या? कार्य के अन्त में स्वभाव से विश्राम प्राप्त होता है। हम जब शान्त होते हैं तो हम स्वाधीन भी होते हैं, अमर भी होते हैं। अमर होते हैं, तो रस-रूप जीवन भी मिलता है। यह सब एक के बाद एक है ही। इस दृष्टि से यदि हम और आप विचार करें तो हमें विश्राम के लिए आवश्यक कार्य करना चाहिए। अगर उस कार्य के पीछे भगवत्-सम्बन्ध है तो भगवत्-प्रेम मिलेगा। यदि हमने भगवत्-सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया और केवल कर्त्तव्य-बुद्धि से कार्य किया, तो करने के राग की निवृत्ति होकर स्वाधीनता मिलेगी और अगर पर-पीड़ा से पीड़ित होकर कार्य किया, तो विश्राम मिलेगा।

विश्राम, स्वाधीनता और प्रेम—यह तीनों जीवन के मौलिक तत्त्व हैं। विश्राम का भी कभी नाश नहीं होता। स्वाधीनता का भी कभी नाश नहीं होता, और प्रेम का भी कभी नाश नहीं होता। अगर यह बात आपको अपना सत्य मालूम हो, जीवन का सत्य मालूम हो, तो आपके हृदय में विश्राम, स्वाधीनता और प्रेम की माँग होनी चाहिए। और उस माँग की पूर्ति के लिए हमें-आपको आवश्यक श्रम करना चाहिए। लेकिन हम अचाह होकर श्रम करें। किसी कामना को लेकर श्रम न करें। निष्काम होकर श्रम करें। कर्त्तव्य-बुद्धि से श्रम करें। भगवत्-नाते श्रम करें। इस तरह से जब आप आवश्यक कार्य करते हैं, तो भगवत्-नाते किया हुआ कार्य भगवान की 'पूजा' कहलाता है और विश्राम के लिए किया हुआ कार्य 'कर्त्तव्य' कहलाता है और स्वाधीनता के लिए किया हुआ कार्य 'साधन' कहलाता है। तो कर्त्तव्य-पालन करें, पूजा करें और साधन करें। साधन का अर्थ ही है—असाधन-रहित प्रवृत्ति। पूजा का अर्थ ही है—भगवत्-सम्बन्ध से ओत-प्रोत प्रवृत्ति। कर्त्तव्य का अर्थ ही यह है कि जिसके अन्त में स्वतः चिर-विश्राम अर्थात् योग की प्राप्ति हो। योग का पूर्व पक्ष कर्त्तव्य है, उत्तर पक्ष योग है। प्रेम का पूर्व पक्ष पूजा है, उत्तर पक्ष प्रेम है। अगर यह बात आपको ठीक लगे तो आप भगवत्-नाते कर्त्तव्य करें, जगत् के नाते से कर्त्तव्य करें, अथवा आत्मा के नाते कर्त्तव्य करें।

ऐसा सोचिए कि जीवन का सत्य क्या होगा? या तो सभी अपने हैं या अपना कोई नहीं है। लेकिन शरीर अपना है संसार अपना नहीं है—यह भूल होगी। या संसार का मालिक कोई और है और शरीर का मालिक मैं हूँ—यह भूल होगी। क्योंकि शरीर और संसार स्वरूप से

अविभाज्य हैं, एक हैं। शरीर सर्वकाल में संसार में रहता है। संसार से अलग होकर रह ही नहीं सकता। संसार से अलग उसका अस्तित्व ही नहीं है। अगर यह बात आपके अनुभव में है कि शरीर और संसार अभिन्न हैं, तो फिर आप सभी को अपना मानकर काम करें, आपको प्रेम प्राप्त होगा। यदि संसार को भगवान् मान करके काम करेंगे, तो भी प्रेम प्राप्त होगा। और संसार एक इकाई है, इस भाव से काम करेंगे तो भी प्रेम प्राप्त होगा। यह बात अलग है कि यदि आप जगत् के अस्तित्व को मानेंगे तो आपको विश्व-प्रेम प्राप्त होगा, अपने अस्तित्व को मानेंगे तो आत्म-रति प्राप्त होगी और प्रभु के अस्तित्व को मानेंगे तो प्रभु-प्रेम प्राप्त होगा। और किसी का भी अस्तित्व माने बिना आप रह सकते हैं क्या? बोलना भाई जरा! या तो आप संसार के अस्तित्व को मानेंगे या कहेंगे मैं है या कहेंगे परमात्मा है; अथवा यों कहिए कि जिसका अस्तित्व है वही परमात्मा है। अब जगत् कहाँ रहा! अगर तुम जगत् के अस्तित्व को मानते हो तो जगत् रहा कि परमात्मा रहा?

श्रोता—परमात्मा।

अच्छा! आप अगर अपने अस्तित्व को मानते हो तो "मैं" रहा कि परमात्मा रहा? तो जिसका अस्तित्व है, उसी का नाम परमात्मा है। अस्तित्व माने जिसका कभी नाश होता ही नहीं। इस तरह से आपने कभी सोचा होता तो आपको बड़ा आनन्द मालूम होता कि "अरे जगत् नहीं है परमात्मा है।" "मैं नहीं हूँ, परमात्मा है। परमात्मा ही परमात्मा है और कुछ है ही नहीं, हो सकता ही नहीं, कभी होगा नहीं।" अब बताओ, परमात्मा से दूरी कैसे पैदा करोगे। परन्तु यदि आप परमात्मा के

अस्तित्व को ही नहीं मानते हैं तो परमात्मा की प्राप्ति होगी? अच्छा, एक बात और सोचिए! क्या अनेक स्वतन्त्र अस्तित्व हो सकते हैं? अनेक स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं हो सकते। इसलिए आप देखेंगे कि संसार में जो वस्तु जैसी दिखती है, वैसी है नहीं। वैसी है क्या? वैसी रहती है क्या? तो जो न हो और न रहे उसको अस्तित्वहीन कहते हैं। इसी बात को हमारे महापुरुषों ने, तत्त्व-वेत्ताओं ने, ब्रह्मवित् पुरुषों ने कह दिया—"ब्रह्म है", "ब्रह्म है।" यह कह दिया। उससे भिन्न कुछ है नहीं, हो सकता नहीं, कभी होगा नहीं।

एक बात तो बताइए! जब तक आप ऐसा सोचते हैं कि अमुक वस्तु के द्वारा मुझे आराम मिलेगा, तब तक कभी भी आपको आराम मिलता है क्या? अमुक वस्तु से मुझे आराम मिलेगा—ऐसा सोचते हैं, परन्तु आराम तो मिलता नहीं! तो जो अपने में नहीं है उससे मुझे क्या आराम मिलेगा! जो अपना नहीं है, उससे मुझे आराम क्या मिलेगा! मिलता है क्या?

श्रोता—नहीं।

इसलिए आप विश्राम के लिए काम करो। विश्राम अपने लिए है, कार्य जगत् के लिए है। देखिए! यहाँ एक बात बड़ी गम्भीर और विचारणीय है। विश्राम और आलस्य इन दोनों में बड़ा भेद है। आलसी पुरुष जो होता है, वह उत्तरोत्तर अकर्मण्यता में आबद्ध होता जाता है। और जो अकर्मण्य होता है वह व्यर्थ-चिन्तन में आबद्ध हो जाता है। व्यर्थ-चिन्तन उसी में ज्यादा होता है जो अकर्मण्य हो। जो अपने कर्त्तव्य में लगा है उसके जीवन में व्यर्थ-चिन्तन होता नहीं। और जब व्यर्थ-चिन्तन नहीं होता है, तब अपने आप सार्थक-चिन्तन उदित होता

है। चाहे वह जिज्ञासा का रूप धारण करे, चाहे प्रियता का रूप धारण करे, भगवत्-लालसा का रूप धारण करे अथवा तत्त्व-जिज्ञासा का रूप धारण करले। कब? जब व्यर्थ-चिन्तन नहीं होता है तब! और व्यर्थ-चिन्तन कब नहीं होता है? जब आप श्रमी होते हैं, संयमी होते हैं, विवेकी होते हैं, प्रेमी होते हैं। तब जीवन में अकर्मण्यता नहीं रहती। श्रमी, संयमी, विवेकी और प्रेमी—जब ये चारों बातें आ जाती हैं तब निरभिमानता भी आ जाती है। और जब निरभिमानता आ जाती है, तब समता भी आ जाती है। और जब समता आ जाती है प्रसन्नता भी आ जाती है। समता है तो प्रसन्नता भी है।

तो, मैं आपसे यह निवेदन कर रहा था कि हमें अकर्मण्य नहीं होना चाहिए। जो कर सकते हैं, जो करना चाहिए वह करके, करने के राग से रहित होकर विश्राम को प्राप्त करें। देखो! हमारा शरीर से तादात्म्य कब होता है? जब हम कुछ करते हैं। क्यों भाई? जब मैं बोलता हूँ तो वाणी से तादात्म्य होता है कि नहीं? जब आप सुनते हैं तो कानों से तादात्म्य होता है या नहीं। जब आप सोचते हैं तो मस्तिष्क से तादात्म्य होता है कि नहीं? जब देखते हैं तो आँख से तादात्म्य होता है या नहीं इसलिए सेवा का महत्त्व बहुत बड़ा है। मानव सेवा संघ की प्रणाली में तो यहाँ तक कहा है कि अगर आप कुछ करने की सोचते ही हैं तो सेवा करने की सोचिए। अगर आपके दिमाग में आता है कि हमें कुछ करना है तो भाई, सेवा कीजिए। नहीं तो अचाह हो जाइए, अकिंचन हो जाइए, शरणागत हो जाइए। अगर परमात्मा का अस्तित्व मानते हैं तो शरणागत हो जाइए। अपना अस्तित्व मानते हैं तो अचाह और अकिंचन हो जाइए और जगत् का अस्तित्व मानते हैं तो सेवा कीजिए।

जगत् का अस्तित्व मानकर अगर आप सेवा नहीं करेंगे तो विश्राम नहीं मिलेगा। अपना अस्तित्व मानकर अगर आप अचाह, और अकिंचन नहीं होंगे तो विश्राम नहीं मिलेगा। परमात्मा का अस्तित्व मानकर अगर आप शरणागत नहीं होंगे तो विश्राम नहीं मिलेगा। और जब तक विश्राम नहीं मिलेगा तब तक स्वाधीनता और प्रेम का उदय नहीं होगा।

3

(अ)

"मिले हुए" को अपना मानना और जो कुछ नहीं मिला है, उसकी कामना में फँसा हुआ व्यक्ति न संसार के प्रति अपना कर्त्तव्य पालन कर सकता है, न निज स्वरूप का बोध पाता है और न भगवान का भक्त होता है। परन्तु शान्ति, मुक्ति और भक्ति की माँग है। साधक के जीवन का सबसे पहला व्रत यह होना चाहिए कि "मिला हुआ" अपना नहीं है, अपने लिए नहीं है। मिला हुआ जगत् की सेवा के लिए है। अपने लिए तो केवल परमात्मा है जो उत्पत्ति-विनाश से परे है।

प्रवचन :

इसलिए सबसे बड़ा व्रत साधक का होना चाहिए कि मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य मेरे लिए नहीं है, मेरी नहीं है। किसी की हो पर तुम्हारी नहीं है, तुम्हारे लिए नहीं है! साधक का जो साध्य है, जिसमें किसी प्रकार का अभाव नहीं है, जिसमें किसी प्रकार की अशान्ति, नीरसता और पराधीनता नहीं है, साधक का ऐसा जो साध्य है वह किसी भी वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य से प्राप्त नहीं होता। वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य से भोग होता है अथवा सेवा होती है। पर साधक का जो साध्य है उसकी प्राप्ति इससे नहीं होती। तो सेवा होती है कब? जब इस सत्य को स्वीकार करें कि मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य अपने लिए नहीं है। यह कोई आखिरी बात नहीं है, पहली बात है। यहाँ कोई कह सकता है कि भाई, यह बात तो बड़ी कठिन है, बड़ी मुश्किल है। अगर यह कठिन है तो और कोई उपाय ही नहीं है। यह कठिन नहीं है। यह तो हम भ्रमवश कहते हैं कि मिला हुआ हमारा है, हमारे लिए है। वास्तव में हमारा है नहीं, हमारे लिए है नहीं। क्यों? मिला है, मौजूद नहीं है; बदल रहा है। जो वस्तु जब से मिलती है तभी से बदलती रहती है, ह्रास आरम्भ हो जाता है। उत्पत्ति-काल से ही विनाश आरम्भ हो जाता है।

इसलिए, वस्तु-योग्यता-सामर्थ्य की स्वतन्त्र स्थिति नहीं है। तो जिसकी स्वतन्त्र स्थिति नहीं है, वह अपने लिए हो ही नहीं सकती। जरा गौर करना भैया! जिसकी स्वतन्त्र स्थिति नहीं है वह अपने लिए हो ही नहीं सकता; क्योंकि हमारी तो स्वतन्त्र स्थिति है। आज तक किसी भी भाई को, किसी भी बहन को जैसे अपने शरीर की उत्पत्ति का, परिवर्तन

का, विनाश का अनुभव होता है, वैसे किसी को "अपनी" उत्पत्ति, परिवर्तन और विनाश का अनुभव नहीं होता है। क्यों? क्योंकि "मैं" और "है"—ये अनुत्पन्न हुए तत्त्व हैं। ये प्रकृति के कार्य नहीं हैं। ये सृष्टि की वस्तु नहीं हैं, यह सृष्टि से परे हैं। 'मैं' भी और 'है' भी। "मैं" का स्वरूप है—उदारता, स्वाधीनता और प्रेम। यह "मैं" का स्वरूप है। 'मैं' माने उदार। 'मैं' माने स्वाधीन। 'मैं' माने प्रेम। उदारता से 'मैं' जगत् के लिए, प्रेम से प्रभु के लिए और स्वाधीनता से अपने लिए उपयोगी होता है। यह "मैं" का स्वरूप है—हमारी बोलचाल की भाषा में। शास्त्रीय भाषा हमको आती नहीं, मालूम नहीं।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि साधक को सबसे पहला व्रत यह लेना चाहिए कि जो कुछ मेरे पास है वह जगत् का है अथवा प्रभु का है।

श्रोता—महाराज जी! यह सब तो उदात्त गुण हैं?

स्वामी जी—गुण नहीं है; स्वरूप है उदारता। देखिए, उदारता रूपी गुण तो वृक्ष में भी होता है। प्रकृति के जो गुण हैं—जैसे ममतायुक्त उदारता आदि तो ये तो प्राणी-मात्र में होती है, और पशु-पक्षी में भी, लेकिन उदारता जो स्वरूप है वह साधक का है। यह उदारता, स्वाधीनता और प्रेम जो है यह साधक का अपना स्वरूप है और प्रभु की यह महिमा है; हमारे विश्वास के अनुसार, हमारी भाषा में।

तो, मैं यह निवेदन कर रहा था कि उदारता कब आती है जीवन में? विश्वविद्यालय की डिग्री से नहीं आती। तब आती है जब मनुष्य इस सत्य को स्वीकार करता है कि मिली हुई वस्तु सामर्थ्य, योग्यता मेरी नहीं है, मेरे लिए नहीं है। तब उसमें ताकत आती है यह कहने की कि जगत् के लिए है; अर्थात् मुझे जो सामग्री मिली है वह जगत् के लिए

है। इस प्रकार उसमें उदारता आती है। और परमात्मा अपने लिए है, तो उसमें प्रेम आता है। और मुझे परमात्मा और जगत् से कुछ नहीं चाहिए, तब उसमें स्वाधीनता आती है। परमात्मा के मानने का अर्थ यह नहीं है कि हमें उससे कुछ चाहिए। जगत् के प्रति उदार होने का अर्थ यह नहीं है कि हमें उससे कुछ चाहिए। इस पर सोचिए गम्भीरता से। उदार को जगत् से कुछ नहीं चाहिए, प्रेमी को प्रभु से कुछ नहीं चाहिए। तब उसे स्वाधीनता मिलती है। चाहने वाले को स्वाधीनता नहीं मिलती। चाहने वाला हमेशा ही पराधीन रहता है।

तो वास्तव में जिसे कुछ नहीं चाहिए, वही उदार है, वही प्रेमी है। मानव का अपना निज-स्वरूप है और ब्रह्म की यह महिमा है। कहा जाता है—सुना होगा आपने ईश्वरवादियों से कि 'परमात्मा परम उदार हैं, परम स्वतन्त्र हैं, परम प्रेम की निधि हैं।' इस दृष्टि से मानव की परमात्मा के साथ जातीय एकता है, नित्य सम्बन्ध है, आत्मीयता है। हमसे गलती क्या होती है कि हम अपनी रुचि-पूर्ति के लिए जीते हैं, माँग-पूर्ति के लिए नहीं जीते। और जब रुचि-पूर्ति के लिए जीते हैं तो जो हमारी रुचि-पूर्ति में सहायक होता है वह ज्यादा प्यारा लगता है, जो बाधक होता है वह अप्रिय लगता है। और ऐसे कोई बिरले ही बचे होंगे जिनमें यह बात निकल गई हो, सर्वांश में कि कोई पर्सनलपन न हो किसी के साथ, नहीं तो पर्सनलपन जोड़ लेते हैं। अरे और क्या बताएँ। हम तो जिन घरों से भिक्षा माँगने जाते थे, तो कहते थे "स्वामी जी हैं" बोले "स्वामी जी नहीं हैं।" वे समझते थे कि यह साधु तो स्वामी जी हैं, और कोई साधु स्वामी जी नहीं है। बच्चे कहते, छोटे-छोटे। सीख जाते हैं देख-देख कर, कि अपने स्वामी जी हैं, हमारे सामने वाले बगीचे में रहते हैं, स्वामी जी को रोटी दे दो। तो ऐसा कोई बिरला बचा होगा

कि जिसने यह तय किया हो कि मैं पर्सनलपन किसी से नहीं जोड़ूँगा। कोई मीठा बोलता है तो इसीलिए प्यारा लगता है। कोई मान देता है तो प्यारा लगता है। कोई सुविधा देता है तो प्यारा लगता है। बढ़िया-बढ़िया सर्टिफिकेट रखते हैं अपने भीतर हम लोग किसी के लिए कुछ, किसी के लिए कुछ। यह इसलिए रखते हैं कि अभी तक हम निर्विकल्प नहीं हुए। और निर्विकल्प इसलिए नहीं हुए कि हमने मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य को अपने लिए माना है। और जब तक हम अपने लिए मानते रहेंगे, निर्विकल्प हो नहीं सकते। और यह जो मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य है, यह धोखा जरूर देगी एक दिन। सदा तुम्हारे साथ नहीं रह सकती। बिल्कुल धोखा देगी। जब हम किसी साधक से सुनते हैं कि मुझे तो चलने से शान्ति मिलती है तो मैं कहता हूँ कि काँटा लग जाय तब? मोच आ जाय तब? वह भी शान्ति है जो मिले और छिन जाय? कोई कहता है कि हम तो बड़ा अच्छा प्रवचन करते हैं। तो हमको बड़ा मजा आता है। यदि गला बैठ जाय तो? मजा आता है? वह शान्ति है क्या, वह मजा है क्या! जो छिन जाय वह भी मजा!!

तो मैं यह निवेदन कर रहा था आप महानुभावों से, कि जीवन के सत्य को स्वीकार करो। जब तक सत्य को स्वीकार नहीं करोगे तब तक साधक संज्ञा नहीं बनेगी, प्राणी संज्ञा रहेगी। और भाई किसी के साथ भलाई करना, किसी के साथ बुराई करना—यह तो आप प्राणी-मात्र में देखते हैं। और यह भी देखते हैं कि किसी के साथ भलाई की और बुराई किसी के साथ नहीं की—ऐसा भी देखते हैं। लेकिन अगर आपको भलाई का भास होता है कि मैंने भलाई की, तो असत् का संग आ गया। क्योंकि सत्संग में तो यह बताया गया था कि जिस वस्तु के

द्वारा आपने भलाई की, जिस योग्यता और सामर्थ्य द्वारा आपने भलाई की, वह आपकी थी नहीं, है नहीं, हो सकती नहीं। क्या भलाई की? क्या राय है? परन्तु ऐसा लोगों को लगता है कि हमने भलाई की। तो यह भी साधक के लिए कलंक है कि उसने भलाई की। और बुराई करने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। अत: जब तक हम अपने सत्य को स्वीकार नहीं करेंगे, कितना ही सत्कार्य करलें, कितनी ही सत्-चर्चा करलें, कितना ही सत्-चिन्तन करलें, सही अर्थों में हमारी साधक संज्ञा सिद्ध नहीं होगी। सिद्ध संज्ञा तो जाने दो, साधक संज्ञा ही सिद्ध नहीं होगी। वैसे तो सत्-चर्चा, सत्-चिन्तन और सत्कार्य—ये करने वाली बातें हैं, सहायक हैं। लेकिन भाई, किस बात के लिए सहायक हैं, कि हमने सत् को स्वीकार किया या नहीं!

मैं आपसे पूछता हूँ, विचार तो कीजिए धीरज से कि जब मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य ही मेरी नहीं तो मैंने किसकी सेवा की? अच्छा, जब यह सब कुछ मेरा नहीं तो मुझे संसार से क्या चाहिए? क्या राय है? यानी अगर मिली हुई शरीर-रूपी वस्तु मेरी नहीं है, योग्यता मेरी नहीं है, सामर्थ्य मेरी नहीं है तो न मैंने किसी की सेवा की, न मुझे किसी से कुछ चाहिए। यही तो इसका गूढ़ार्थ निकलता है। और देखो, कभी-कभी तो मुझे बड़ी हँसी आती है, कभी दु:ख भी होता है। लोग कहते हैं—हमें कुछ नहीं चाहिए। क्रोध में तो हम कह देते हैं लेकिन कभी ईमानदारी से सोचा कि कुछ नहीं चाहिए। अरे बाबा! जिसे कुछ नहीं चाहिए वह तो अज्ञातशत्रु है, उसकी महिमा का तो वारापार नहीं है। क्रोध में तो हम कह देते हैं कि हमको कुछ नहीं चाहिए।

मैं आपसे बड़ी नम्रता से निवेदन करना चाहता हूँ कि मानव-सेवा-संघ की प्रणाली के अनुसार मानव-सेवा-संघ संस्था साधकों की है, किसी व्यक्ति की नहीं है। और साधक वही है जो सत्य को स्वीकार करे। बहुत गम्भीरता से सोचना चाहिए। साधक वही है जो सत्य को स्वीकार करे। जो सत्य को स्वीकार नहीं करता, वह साधक नहीं है। सत्कार्य करने पर भी साधक नहीं है, सत्चर्चा करने पर भी साधक नहीं है, सत्चिन्तन करने पर भी साधक नहीं है। क्योंकि जब तक आंशिक असत् रहेगा तब तक सर्वांश में साधक सिद्ध नहीं होंगे। और साधक सिद्ध नहीं होंगे तो साधन-निष्ठ कैसे होंगे? साधक ही न साधन-निष्ठ होता है, कोई प्राणी साधन-निष्ठ होता है क्या? प्राणी कोई साधन-निष्ठ नहीं होता, साधक साधन-निष्ठ होता है।

इसलिए महानुभाव, अगर यह आपको जँच जाय, रुच जाय, पसन्द आ जाय, तो जरा इस पर अपने द्वारा अपने सम्बन्ध में विचार कर लीजिए। मैं अपने द्वारा अपने सम्बन्ध में कर लूँ, आप भी अपने द्वारा अपने सम्बन्ध में कर लीजिए। क्या सचमुच मैंने ईमानदारी से इस सत्य को स्वीकार कर लिया कि संसार में मेरा कुछ नहीं है? बहुत साधारण बात है, पहली बात है। और जब यह स्वीकार कर लिया कि मेरा कुछ नहीं है तो अचाह हो गए और जब अचाह हो गए तब आ-हा-हा-! तब चित्त शुद्ध और शान्त हो गया। जब चित्त शुद्ध और शान्त हो गया, तब आवश्यक संकल्प पूरे होकर मिटते जा रहे हैं, अनावश्यक पैदा ही नहीं होते। जिसके आवश्यक संकल्प पूरे हो-होकर मिट रहे हैं और अनावश्यक पैदा नहीं होते तब समझो कि चित्त शुद्ध हो गया, नहीं तो मानसिक रोग है। मानसिक रोग एक प्रकार का थोड़े ही होता है, अनन्त प्रकार का होता है, अब अपने-अपने द्वारा

अपनी-अपनी दशा देखें कि हमारे आवश्यक संकल्प अपने आप पूरे हो जाते हैं कि नहीं और अनावश्यक नाश हो गए कि नहीं। जिसके आवश्यक संकल्प पूरे होते हैं, उसका लेना भी देना हो जाता है। जैसे, हर एक शरीर-धारी को भूख लगती है। तो सबसे बढ़िया भोजन वह करता है जिसमें खिलाने वाले को हर्ष होता है। कोई हर्षपूर्वक हमको खिलाता है वह बढ़िया भोजन होता है। और हर्षपूर्वक कब खिलाता है? जब कोई हममें देखता है—क्या? स्वाधीनता, जब स्वाधीनता देखता है हममें। स्वाधीन मानव को आदरपूर्वक भोजन मिलता है, पराधीन को नहीं।

आ-हा-हा एक समय था जब हममें एक बाहरी धारणा बन गयी थी—भ्रमात्मक। वह क्या बन गयी थी कि जो साधु बिल्कुल जंगल में रहता है, कम सामान रखता है, पैदल चलता है, माँग कर खाता है वह महान विरक्त होता है—यह धारणा बन गई थी हमारी। यह भी भ्रमात्मक धारणा थी बाहरी दृष्टि से। इसका पता हमको कैसे चला। क्योंकि हमारी तो धारणा ही थी। हमको बचपन से ही दूसरों के काम आने में मजा आता था। था वह अपना ही भोग, वह महात्मापन नहीं था। बचपन की आदत थी। जब हमारे गाँव में चिट्ठी-रसा (डाकिया) आए तो हम उसके पीछे-पीछे घूमते रहते, क्योंकि निरक्षर-भट्टाचार्य हम ही थे थोड़े से पढ़े-लिखे वहाँ। बचपन की, बहुत बचपन की बात है, छोटी उम्र की। तो क्यों डोलते थे कि किसी को चिट्ठी आए और वह कहे—सुना देना लाला जरा! बड़ा मजा आता था लाला को। यह आदत थी हमारी बचपन की। पहले जन्म की कोई कमाई रही होगी, इस जन्म में तो की नहीं। और उस आदत के अनुसार जब बाबाजी बन गए तो विरक्त बाबा लोगों को खिलाने का शौक पैदा हो गया। तो हमारे परिचित थे एक फतेहगढ़ के, गार्ड थे। वह आए तो हमने कहा—देखो! भोजन कराते हो महात्माओं को तो विरक्तों के लिए ले

चलो बनाकर। हमने कहा देखो भाई! रोटी-दाल, चावल, सब्जी, दही सब ले चलो। और भैया वैसे तो वे लोग बैठकर खाएँगे नहीं, चलो उस रास्ते पर चलो जिधर से वे लौटकर आते हैं। ऋषिकेश में, हरिद्वार में विरक्तों की जगह बनी हुई है। इलाहाबाद में भी बनी हुई है; मकान नहीं, एरिया (area)। तो जिस एरिया में वे रहते थे, तो जब आने लगे, थोड़ी दूर आबादी रह गई। वह गार्ड हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। भिक्षा देने लगा तो महात्मा लोग बोले—हम नहीं लेंगे। हमने कहा महाराज! आखिर तो भिक्षा लेंगे ही थोड़ा-थोड़ा ही ले लो। तब तक उनमें से एक साधु कहता है कि "हमारी वहाँ लस्सी रखी होगी।" अरे! हमने कहा कि कोपीनधारियों को लस्सी की याद रहती है। (श्रोताओं में हास्य की लहर)। यह हँसी की बात नहीं, दुःख की बात है। मैंने कहा—"दही हमारे साथ है कृपानाथ, आप ले लो।" तो मैं यह बात उन महात्माओं के विरोध में नहीं कह रहा हूँ। मैं तो इस उदाहरण से आपको यह समझाना चाहता हूँ कि बाहरी रूपरेखा से आप महात्मा नहीं हो जाते। नंगे रहिए तो क्या और झंगा पहनिए तो क्या? जब तक आपने इस सत्य को स्वीकार ही नहीं किया कि 'मेरा करके संसार में कुछ नहीं है'—तब तक आप अचाह हो नहीं सकते। और जब तक अचाह नहीं हो सकते, तब तक आप उदार भी नहीं हो सकते, प्रेमी भी नहीं हो सकते, स्वाधीन भी नहीं हो सकते। और जब तक उदार नहीं हैं, स्वाधीन नहीं हैं, प्रेमी नहीं हैं, तब तक आप महात्मा नहीं हैं चाहे कितना ही बढ़िया व्याख्यान हम दे लें। व्याख्यान देने से महात्मा नहीं हो जाते।

तो, मैं आपसे बड़ी नम्रता के साथ यह निवेदन करना चाहता हूँ कि आज बड़ी गम्भीरतापूर्वक हर भाई को, हर बहन को इस बात का विचार करना चाहिए कि क्या सचमुच संसार में मेरा करके कुछ है! यह विचार करना चाहिए और अगर आपको यह अपने ही ज्ञान से मालूम

हो कि कुछ नहीं है। कभी-कभी लगे कि शायद है। जैसे—लगे कि शरीर तो हमारा ही है। तो हम पूछेंगे कब तक? सदा के लिए है? क्या राय है? मिला हुआ शरीर किसी के पास सदा के लिए है?

श्रोता—नहीं।

तो जो सदा के लिए नहीं है वह अपने लिए नहीं है। जो सदैव नहीं है, सो अपना नहीं है। जो अपने में नहीं हैं, सो अपना नहीं है। हाँ "कोई" है—हम सबका अपना, सबका है। उसी को मैंने भगवान करके, परमात्मा करके स्वीकार किया है। जो सभी का अपना है, जो सदा के लिए अपना है, जिससे कभी वियोग हो ही नहीं सकता। तो वह जो हमारा अपना है, वह सृष्टि का आधार हो सकता है। सृष्टि का प्रकाशक हो सकता है। किन्तु सृष्टि की उत्पन्न हुई वस्तु नहीं हो सकता! आ-हा-हा-हा-! परमात्मा उसे नहीं कहते जो सृष्टि से उत्पन्न हो। परमात्मा में देह-देही विभाजन नहीं होता। सृष्टि कहते हैं किसको? जिसका कोई आधार हो। परमात्मा का कोई आधार नहीं है। वह तो स्वयं ही सर्वाधार है। उसका कोई आधार नहीं है। वह सर्व का आधार है, वही सर्व का प्रकाशक है। सर्व का साक्षी है। इसलिए मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि सत्संग तो बहुत करते ही रहते हैं हम लोग दिन-रात, अभी कहेंगे कि सत्संग ही हो रहा है। लेकिन भैया, अपनी करके हम लोग वस्तु को मान लेते हैं। आ-हा-हा-! तब कोई जब रुचि-पूर्ति करता है तो कितना प्यारा लगता है और जो रुचि में बाधा डालता है वह दुश्मन मालूम होता है।

इसलिए, हम साधक हैं। हम अपना भ्रम मिटाने के लिए बोल रहें हैं, आपको समझा नहीं रहे हैं, स्वयं समझ रहे हैं कि भैया, हमारा करके कुछ नहीं है। हमें मान लेना चाहिए यह। तब हमें क्या हक है कि हम किसी को कहें कि तुम यहाँ से चले जाओ! बिल्कुल हक नहीं

है, हमें कोई हक नहीं है। हाँ, अगर आपको यह लगता है कि यहाँ साधक नहीं हैं, असाधक लोग हैं और आप हमारा तिरस्कार करना चाहते हैं तो आप कीजिए। आप स्वाधीन हैं। हम क्यों कहें कि मत कीजिए। हम तो नहीं कहते कि मत कीजिए। करिए भाई साहब तिरस्कार! लेकिन दोस्त इस बात को याद रखना कि अगर तुम सत्य को नहीं मानोगे तो यदि यहाँ शान्ति नहीं है तो कहीं शान्ति नहीं है। शान्ति है सत्य को स्वीकार करने में। शान्ति परिस्थिति-परिवर्तन में नहीं है। फिर भी न जँचे तो भाई मत मानो।

तो, मैं यह निवेदन कर रहा था आप महानुभावों से कि साधक को अपने स्वधर्म अर्थात् सत्य को स्वीकार करने वाली बात को अवश्य मानना चाहिए। और उसके मानने में आप पराधीन नहीं हैं, असमर्थ नहीं हैं। मानने मात्र से ही आपका काम बन जाएगा। आप विचार करके देखिए, कोई आकर के पैर छूता है। अगर मैं इस बात को जानता हूँ कि पैर मेरा नहीं है तो मुझे मान मालूम होगा क्या? क्यों जी? और यदि मैंने मान लिया कि पैर मेरा है तो, मान में फसूँगा कि नहीं? ऐसा ही मान लीजिए कि किसी ने पाँच जूते लगा दिए! भाई, दोनों बातें सोच लो। अगर इस बात का मुझे पूरा अनुभव है कि शरीर मेरा नहीं है, और किसी काल में नहीं है, तो मेरा अपमान होगा क्या? बोलो!

श्रोता—नहीं होगा।

तो हमको यह जो सम्मान सताता है, अपमान सताता है, इसके मूल में हमारी भूल है कि दूसरे लोग हैं?

श्रोता—हमारी भूल है।

अगर हम अपने साथ भूल न करें तो संसार की मजाल है कि हमको दुखी कर सके! कभी नहीं कर सकता। परन्तु हम अपनी भूल

तो मिटाते नहीं, फिर कहते हैं कि इन्होंने हमारा अपमान कर दिया, उन्होंने हमारा अपमान कर दिया। यह कहते रहते हैं। एक महात्मा से किसी ने आकर कहा कि अमुक आदमी तुम्हारी बुराई कर रहा था। महात्मा बोले—'अच्छा, तुम मेरी बात सुनो। अगर वह शरीर की बुराई कर रहा था तो मैं इसकी कौन-सी स्तुति करता हूँ। मैं भी कहता हूँ कि शरीर निन्दनीय है, रोगों का घर है। और अगर वह आत्मा की बुराई कर रहा था तो मेरी क्यों कर रहा था, अपनी ही कर रहा था। यह समझ में आया न? क्योंकि आत्मा तो दो हैं नहीं, अलग-अलग हैं नहीं। तो शरीर की बुराई कर रहा था तो मैं भी तो कहता हूँ कि शरीर निन्दनीय है, विकारों का घर है। कोई बाकायदा बुराई करता है, कोई बेकायदा करता है। और आत्मा की बुराई करता है तो अपनी ही बुराई करता है, मेरी क्यों करेगा? इसलिए तुम इस भ्रम में मत पड़ो कि मेरी कोई बुराई कर रहा था। मेरी कोई बुराई नहीं कर रहा था।"

तो, मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि ये बातें कब आती हैं जीवन में। जब हम सत्य को स्वीकार करते हैं। और सत्य क्या है? कि अपना करके संसार में कुछ नहीं है। अपने को जगत् के प्रति उदार होना है, प्रभु के प्रति प्रेमी होना है। जिसके प्रति उदार होना है, उससे भी कुछ नहीं चाहिए। और जिसके प्रति प्रेमी होना है, उससे भी कुछ नहीं चाहिए। यह साधक का स्वधर्म है, परम पुरुषार्थ है। अगर यह बात जँच जाय, रुच जाय, पसन्द आ जाय तो थोड़ा मनन कीजिए इस पर। और जीवन में उतार कर देखिए कि आपको कितना आराम मिलता है। महाराज! जिस वक्त मुझे मालूम हो जाय कि मेरा करके कुछ नहीं है और यह बात जीवन में उतर जाय तो बताओ मृत्यु का भय आएगा मेरे पास? निन्दा और स्तुति आएगी? सुख-दुःख आएगा?

हानि-लाभ आएगा? संयोग-वियोग आएगा? कोई विकार नहीं आएगा। लेकिन अगर मैं सत्य को स्वीकार नहीं करूँ तो मैं निर्विकार हो सकता हूँ क्या? अगर हम सत्य को स्वीकार नहीं करते हैं तो निर्विकार हो सकते हैं क्या? कभी नहीं हो सकते। इसलिए साधक उसको कहते हैं जो सत्य को स्वीकार करे।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि साधक के लिए सबसे आवश्यक, मूल्यवान, अनिवार्य क्या है? यही सत्य है कि 'मेरा कुछ नहीं है'। जब मेरा कुछ नहीं है तो मुझे कुछ नहीं चाहिए—यह बात अपने आप आ जाएगी। जब ये दोनों बातें आ गईं तो यह बात भी आ जाएगी अपने आप कि "प्रभु अपने हैं, अपने में हैं और अभी हैं।" यह निर्विवाद सत्य है।

3

(ब)

मनुष्य के जीवन में ईश्वर की आवश्यकता क्यों होती है? ईश्वर के बिना अन्य किसी उपाय से संयोग की दासता और वियोग के भय का नाश नहीं होता। मनुष्य की बनावट ही ऐसी है कि वह दासता और भय को पसन्द नहीं करता, अतः उसके जीवन में इस बात की माँग पैदा हो जाती है कि मुझे संयोग-वियोग से रहित नित्य-योग, तत्त्व-बोध और परम प्रेम से परिपूर्ण जीवन चाहिए।

प्रस्तुत प्रवचन में मानव जीवन की मौलिक माँग की पूर्ति के बहुत ही युक्ति-युक्त एवं स्वाभाविक साधनों का विवेचन किया गया है जिसके अनुसार मानव-मात्र स्वाधीनतापूर्वक योग-वित्, तत्त्व-वित् और भगवत् भक्त होकर सदा-सदा के लिए संयोग की दासता और वियोग के भय से मुक्त हो सकता है।

श्री महाराज जी के सिद्धान्त के अनुसार जीवन की माँग की तीव्र जागृति में माँग की पूर्ति स्वतः हो जाती है।

प्रवचन :

संयोग-जनित जो सुख होता है उसमें वियोग का भय रहता ही है। एक बार डॉक्टर श्रीमाली जी (कालूलाल श्रीमाली) जो आजकल हिन्दू विश्वविद्यालय के वाइस चान्सलर हैं, उस समय उदयपुर में ट्रेनिंग कॉलेज के प्रिन्सिपल थे। वे अमेरिका से मनोविज्ञान की बड़ी अच्छी डिग्री लेकर आए थे। ऐसा मुझे बताया गया। और लक्ष्मी लाल जी जोशी डी० पी० आई० थे। मैं उनके यहाँ ठहरा हुआ था। तो उनको एक विनोद सूझा। उन्होंने कहा कि आज श्रीमाली जी को बुलाते हैं। वे तो बहुत पढ़े-लिखे हैं, आप बिना पढ़े हैं। तो दोनों की बातचीत कराएँगे। हमने कहा कि अच्छा साहब, बुलाइयेगा। वैसे तो आप समझते हैं कि प्रिन्सिपल और डी०पी०आई० एक समान पोजीशन के आदमी होते हैं। आपस में मेल-मुलाकात होती ही है। तो वे आ गए। कमरे में बैठे हुए थे, भोजन से पहले। भोजन पर बुलाया था—कि आज आप हमारे यहाँ भोजन कीजिए। तो उन्होंने यह प्रश्न रखा हमारे सामने कि "जीवन में ईश्वर की कोई आवश्यकता मालूम नहीं पड़ती हमें।" यह नहीं कहा कि ईश्वर नहीं है। उन्होंने कहा कि "जीवन में ईश्वर की कोई आवश्यकता मालूम नहीं पड़ती"—यह प्रश्न रखा। तो मैंने कहा कि 'मुझे तो जीवन में ईश्वर ही की आवश्यकता मालूम होती है।' क्योंकि मैं तो दुःख से आगे बढ़ा था और वे सुखी थे। बोले 'कैसे?' हमने कहा संयोग की दासता और वियोग का भय किसी प्रकार मिट सकता है क्या? किसी परिस्थिति के आश्रय से, किसी योग्यता के आश्रय से, किसी सामर्थ्य के आश्रय से संयोग की दासता

और वियोग का भय मिट सकता है क्या? कौन कहेगा मिट सकता है? लोक से अतीत, सृष्टि से परे, ईश्वर की बात कही जाती है। बल्कि ईश्वर की बात के पहले एक और बात बीच में की जाती है कि—'यह' से परे 'मैं' और 'मैं' से परे 'है'। यानी अध्यात्म जीवन के अन्त में ईश्वरवाद आता है। एक भौतिक जीवन, एक आध्यात्मिक जीवन, एक आस्तिक जीवन। यानी आध्यात्मिक जीवन के अन्त में ईश्वरवाद आता है। तो भौतिक जीवन है—विश्व के साथ अभिन्नता करके उसकी सेवा में रत होकर आत्म-ख्याति पाना। उसके बाद आध्यात्मिक जीवन—अचाह होकर अपने में सन्तुष्ट होना। और उसके बाद आस्तिक जीवन—प्रेमी होकर प्रेमास्पद को पाना।

तो, मैंने कहा कि मुझे तो ईश्वर ही की आवश्यकता मालूम होती है, वैसे अध्यात्म-जीवन से भी संयोग की दासता और वियोग का भय मिटता है। परन्तु इसमें भी तो एक दृश्य से अतीत के जीवन की बात हुई! उसका नाम 'मैं' रख लिया। अब, जब ईश्वर मेरी आवश्यकता है तो मैं तो ईश्वर को ही स्वीकार करूँगा न! यह मैं नहीं कह सकता हूँ कि उन्होंने मेरी बात मान ली थी उस समय। यह तो उन्होंने सुना, चुप हो गए। वाद-विवाद तो कुछ था नहीं। हार-जीत कुछ थी ही नहीं, कुछ सीखना-सिखाना तो था नहीं। एक मैत्रीभाव से बातचीत हो रही थी। फिर हम लोगों ने भोजन किया। बाद में उन्होंने हमें अपने कॉलेज में बुलाया। जब कॉलेज में बुलाया तो वे तो चूँकि प्रिन्सिपल थे ट्रेनिंग कॉलेज के। उन्होंने अपने साथियों से, विद्यार्थियों से यह कहा था कि 'आप लोग स्वामी जी से जीवन की समस्याओं पर बातचीत कीजिए। स्वामी जी ने जीवन का अध्ययन किया है।' तो उनको कुछ अच्छा लगा तभी तो बुलाया मुझे, नहीं तो क्यों बुलाते!

तो, मैं यह निवेदन कर रहा था कि आप कल्पना करें, किसी भी दृश्य की, किसी भी परिस्थिति की, क्या उसमें स्थिति सिद्ध होगी? हमको बड़े-बड़े मनोराज्य हुए हैं। आजकल तो कोई साधक ऐसा कहने को राजी है नहीं, होते तो सबको होंगे। पर हमको हुए हैं। तो किसी भी मनोराज्य से ऐसा नहीं लगता कि 'अच्छा, जब ऐसा हो जाएगा, तो कोई अभाव नहीं रहेगा।' तो, या तो यह मानो कि हम अभाव में पीड़ित रहने के लिए पैदा हुए हैं संसार में। परन्तु यह मानव संज्ञा तो हुई नहीं। यह तो भोगी संज्ञा हुई। जबकि हमारे सामने भोग के साथ-साथ योग का भी प्रश्न है। योग संसार से सम्बन्ध टूटने से होता है और भोग संसार से सम्बन्ध जोड़ने से होता है। तो संसार का सम्बन्ध तोड़ने में जीवन है या संसार से सम्बन्ध जोड़ने में जीवन है—ये दोनों बातें सामने रखें तो योग की माँग आ जाएगी। अब योग से योग की माँग पूरी होती है, इस बात में तो आस्था ही हेतु है, विश्वास ही हेतु है। कैसे पूरी होती है? भोग की रुचि के नाश होने से। या तो भोग की रुचि का नाश करके योग का अनुभव करो या एक साधक की वाणी में विश्वास करो। योग की माँग क्यों पूरी हो सकती है? योग वस्तु के द्वारा नहीं होता। वस्तुओं का उसमें सहयोग नहीं है, व्यक्ति का उसमें सहयोग नहीं है, परिस्थिति का उसमें सहयोग नहीं है। बल्कि भोग का बीज जो वासना है, उसके त्याग से योग की प्राप्ति होती है। वासनाओं के त्याग से योग की प्राप्ति होती है—यह योग-प्राप्ति का एक उपाय बताया गया। यदि कहो कि वासना के त्याग से नहीं होती तो त्याग करके देखो। न हो तब कहो कि नहीं होती है।

अब कोई कहे कि वासना का त्याग बड़ा कठिन है तो मैं कहता हूँ कि वासना की पूर्ति क्या आसान है? क्या राय है? वह तो सम्भव

ही नहीं है। सभी वासनाएँ हमारी पूरी हो जाएँ, यह तो सम्भव ही नहीं है। वासना की पूर्ति सम्भव नहीं है और वासना की निवृत्ति कठिन है। तो असम्भव की अपेक्षा कठिन ज्यादा सुगम पड़ी कि नहीं! एक तरफ तो यह निर्णय हुआ कि यह तो असम्भव है कि सभी वासनाओं की पूर्ति हो जाय। यह सर्वथा असम्भव है, सम्भव ही नहीं है। लेकिन वासनाओं के नाश से योग की प्राप्ति होती है, यह सम्भव है। तो योग की माँग में यह ताकत है कि भोग की वासना छूट जाएगी। हमें वह जीवन मिल सकता है, जिसमें दुःख का प्रवेश नहीं है। हमें वह जीवन मिल सकता है, जिसमें अभाव नहीं है। हमें वह जीवन मिल सकता है, जिसमें नीरसता और जड़ता नहीं है, जिसमें पराधीनता और आसक्ति नहीं है। वह जीवन हमें मिल सकता है। अगर इस बात में हमारी आस्था हो जाए, तो यह आस्था उस जीवन की माँग से भी हो सकती है और दुःख के प्रभाव से भी हो सकती है।

सुख रहेगा नहीं। क्यों? अपने लिए नहीं है—यों! इसमें एक बड़ा भारी विज्ञान है। सुख क्यों नहीं रहता? क्योंकि अपने लिए नहीं है। क्यों आता है? दूसरों की सेवा कराने के लिए आता है। इसलिए मानव-सेवा-संघ ने इस बात पर बहुत जोर दिया है कि भाई, देखो! जिस अंश में तुम सुखी हो उस अंश में अगर सेवा नहीं करोगे तो सुख चला भी जाएगा और एक भयंकर दुःख दे जाएगा। अगर सुख-काल में सेवा करते रहोगे तो दुःख आएगा ही नहीं। क्योंकि जिसने वस्तु का सुख भोगा है उसी को न हानि का दुःख होगा! जिसने व्यक्ति का सुख भोगा है उसी को न वियोग का दुःख होगा! और जिसने सेवा-भाव से सब काम किया है उसको क्यों दुःख होगा? क्या राय है? कभी नहीं होगा। इसलिए सुख अपने लिए नहीं है। यह बात अगर किसी तरह

समझ में आ जाती और हम स्वीकार कर लेते तो जिस अंश में हम सुखी होते उस अंश में सेवा करते रहते, सुख बाँटते रहते। और जैसे-जैसे आप सुख बाँटते जाते हैं वैसे-वैसे पर-पीड़ा से हृदय करुणित होता जाता है। क्योंकि सुख इतना कम है और दुःख इतना अधिक है कि उसकी (दुःख की) निवृत्ति तो होती ही नहीं कभी। होती है क्या? सुख है थोड़ी मात्रा में और दुःख है ज्यादा मात्रा में। निवृत्ति इसलिए होती नहीं। और हर सुख के भोगी को विवश होकर दुःख भोगना पड़ता है। भोगना पड़ता है उसे। अगर हम सुख भोगना पसन्द भी करें तो विवश होकर दुःख भोगना पड़ेगा। देखिए, सुख के भोग के आरम्भ में भी दुःख होता है। जैसे—अभी किसी को भूख लगी है तो पहले भूख लगने का दुःख होगा या पहले भोजन का सुख मिलेगा? पहले दुःख हुआ न! तो भूख का दुःख हुआ और फिर कहीं रुचिकर भोजन मिल गया। और खिलाने वाले में बड़ा प्यार हुआ और कहीं दावत के रूप में मिल गया, बिना पैसे खर्च किए तो और भी अच्छा लगता है। तो इस तरह से भोजन करने में हमने सुख भोगा, शरीर की सेवा नहीं की कि भाई, भूख की निवृत्ति हो जाय, शरीर का हित हो। संयम के साथ, विचार के साथ भोजन नहीं किया, सुख-भाव को लेकर भोजन किया। तो एक तो खाते-खाते खाने की शक्ति का ही ह्रास हो जाएगा और फिर भोग-सामग्री का भी विनाश हो जाएगा। और अन्त में किसी न किसी प्रकार का रोग आ जाएगा। अब आप देखिए कि सुख भोगने का परिणाम क्या हुआ। कितना दुःख हुआ। आरम्भ में दुःख था, फिर अन्त में दुःख हो गया, परिणाम में दुःख हो गया। अर्थात् दुःख ही दुःख रहा।

तो हर सुख का भोग एक भयंकर दुःख में आबद्ध करता है—यह बात अगर समझ में आ जाय हमारे और सुख-भोग से अरुचि हो जाय और जिसको सर्व-दुःखों की निवृत्ति कहते हैं अथवा जिसको परमानन्द की प्राप्ति कहते हैं, उसकी माँग जग जाय। यानी दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति की माँग हमारी माँग हो जाय, तो हम बड़ी सुगमतापूर्वक उस जीवन को प्राप्त करलें। क्योंकि वह जीवन, जहाँ दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति है, वह किसी परिस्थिति से सम्बन्ध नहीं रखता कि आप ग्रेजुएट हैं, अथवा बे-पढ़े हैं, आप पैसे वाले हैं कि गरीब हैं, आप उच्च वर्ण में पैदा हुए हैं कि नीच वर्ण में पैदा हुए हैं। आपकी परिस्थिति कैसी है—इससे सम्बन्ध नहीं है उसका। वह तो सभी परिस्थितियों से अतीत है। सभी परिस्थितियों से अतीत जो होता है, उसकी प्राप्ति कैसे होती है? परिस्थिति से तादात्म्य टूटने से, परिस्थिति की कामना छूटने से। परिस्थिति से तादात्म्य कैसे टूटेगा? परिस्थिति के सदुपयोग करने से। सदुपयोग क्या करोगे? सुख में सेवा और दुःख में त्याग अपनाएँगे। यानी सेवा और त्याग से प्रत्येक परिस्थिति का सदुपयोग हो जाएगा। और किसी प्रकार से परिस्थिति का सदुपयोग हो ही नहीं सकता। सेवा करो तब भी हो जाएगा, त्याग करो तब भी हो जाएगा। सेवा किस अंश में करें? जिस अंश में तुम सुखी हो। त्याग किस अंश में करें? जिस अंश में तुम दुखी हो। यानी अचाह होने से और दूसरों के काम आने से। अगर बिल्कुल अपनी बोलचाल की भाषा में बोलें तो दूसरों के काम आ जाओ और अचाह हो जाओ। आपका परिस्थितियों से अतीत के जीवन में प्रवेश हो जाएगा। अब हम यह नहीं कहते हैं कि हमारे काम आ जाओ। पति बनकर पत्नी के काम आओ। लेकिन फिर पत्नी से अपने लिए आशा मत करो। अचाह हो जाओ। पिता बनकर पुत्र के काम आओ, लेकिन अपने लिए अचाह हो जाओ, पुत्र से आशा

मत करो। भाई बनकर भाई के काम आओ, भाई से आशा मत करो। व्यक्ति बनकर समाज के काम आओ, समाज से आशा मत करो। शरीर बनकर विश्व के काम आओ, विश्व से आशा मत करो और जीव होकर प्रभु के काम आओ और प्रभु से आशा मत करो।

दूसरों के काम आओ और अचाह हो जाओ। यह बात आपको कैसी मालूम होती है?

श्रोता—बहुत अच्छी।

तो अब सिद्धान्त तो मिल गया। और ओषधि का भी पता चल गया, रोग का भी पता चल गया। अब रहा आरोग्य। तो आरोग्य कैसे प्राप्त होगा? जब पथ्य-पूर्वक ओषधि का सेवन करेंगे तो आरोग्य प्राप्त हो जाएगा। भलाई का फल नहीं चाहिए, बुराई करनी नहीं है—यह पथ्य हो गया। हमें अचाह होना है। असली ओषधि है—अचाह होना। काम आना और अचाह होना। प्रवृत्ति काल में दूसरों के काम आएँ, निवृत्ति काल में अचाह हो जाएँ। तो प्रवृत्ति से तो विद्यमान राग की निवृत्ति होगी और अचाह होने से नवीन राग पैदा नहीं होगा। अतः हम सब राग-रहित हो जाएँगे, और राग-रहित होने से योगवित् हो सकते हैं, आत्मवित् हो सकते हैं, ब्रह्मवित् हो सकते हैं। योग का आनन्द मिल सकता है, आत्मा का आनन्द मिल सकता है, परमात्मा का आनन्द मिल सकता है—यह जीवन का सत्य है। इसलिए काम आओ। काम आओ और कुछ न चाहो—यही जीवन का ध्रुव सत्य है, अखण्ड सत्य है। इस सत्य को स्वीकार करना ही होगा। अचाह होने से आपको स्वाधीनता मिलेगी, निर्विकारता मिलेगी, जीवन-मुक्ति मिलेगी और काम आने से आपको अचाह होने की शक्ति मिलेगी। काम लेने से नवीन चाह पैदा होती है।

बहुत दुःख के साथ यह कहना पड़ता है आजकल के साधु-समाज को देखकर क्योंकि हम तो उसी फिरके के आदमी हैं भाई। जब अकेले में साधु-साधु में बात होती है तो उस समय ब्रह्मज्ञान नहीं छँटता। जब उनके सामने कोई गृहस्थी आते हैं तो उस समय ब्रह्मज्ञान छाँटते हैं। साधु-साधु में जब बात होती है तो कहेंगे—महाराज! कहाँ से पधारे, कहाँ से आए, अरे भाई उधर कैसा है, भिक्षा की छाली है कि नहीं, जगह ठीक है कि नहीं, जल कैसा है? इत्यादि। हमारे ही मन में यह संकल्प उठा था बहुत दिन पहले, कि हमको ऐसी जगह चाहिए जहाँ का जल अच्छा हो। तो पता लगाते-लगाते हमको पता चला कि चम्बल का जल बड़ा अच्छा है। परन्तु जिस बाबाजी ने हमें यह बात बताई उसने कहा कि वहाँ का भोजन तो घोड़े का दाना है। यानी वहाँ के लोग गरीब आदमी हैं, बाजरे की रोटी और कड़ेरी का साग खाते हैं। या गरमी में अरहर की दाल और बाजरे की रोटी खाते हैं कि जौं की रोटी खाते हैं; ऐसा कुछ बताया। यदि उस दिन ही पता चल जाता तो हम बहुत खुश हो जाते, क्योंकि बाजरे की रोटी तो हमें बहुत ही अच्छी लगती है, हमने खूब खाई है। तो उसने कहा कि बाजरे की रोटी और अरहर की दाल मिलती है। कोई बात नहीं। उस साल हमें बड़ी विरक्ति चढ़ी थी—पैदल चलते थे, कपड़ा पास नहीं रखते थे, कोई साथी भी नहीं था। इटावा में जाकर पैर में चोट लग गई और चलना बन्द हो गया। भगवान् के सिखाने के अनेक ढंग हैं। तो चलना बन्द हो गया। इत्तिफाक से जहाँ मैं ठहरा था वहीं पी०डब्ल्यू०डी० के एक ओवरसियर भी ठहरे हुए थे। उनका मकान था किराये का। हमने पूछा—'कहाँ जाते हैं आप'? तो उन्होंने बताया कि ऊदी ग्राम जाना पड़ता है। वहाँ हमारा डाक बँगला है, पी०डब्ल्यू०डी० का। हमने पूछा कहाँ है?

बोले—चम्बल के किनारे है। हमने कहा—सुनते हैं कि चम्बल का जल बड़ा बढ़िया है। बोले—'आप पियें तो मँगवा दूँ।' मैंने कहा—यहाँ क्या पियेंगे यार! बोले—तो चलिए हमारे डाक बँगले में ठहर जाइए। हमने कहा—डाक बँगले में तो ठहर जाएँ आपके, लेकिन चीफ इन्जीनियर आएँ तो निकालोगे तो नहीं? बोले—सो तो महाराज, हमारे बस की बात नहीं है। तो मैंने कहा—डाक बँगले में क्या ठहरें यार, वहीं कहीं हमारे लिए गुफा बनवा दो। पूछा—'कहाँ बना दें?' मैंने कहा—किनारे पर ही सबसे ऊँची जगह हो, क्योंकि यह तो सोचा नहीं था कि वहाँ से फिर किसी और जगह जाएँगे, हटेगे-बढ़ेंगे कि क्या करेंगे। तो उसने बनवा दी गुफा। और उधर महीने दो-महीने में पैर चलने लायक हो गया। तो उसी बीच में दो आदमी उनसे मिलने आ गए, अवारी गाँव के। अब देखो, सारी परिस्थिति बन रही है अपने आप। वे हमको ले गए वहाँ। बड़ा अच्छा लगा। कई साल तक आते जाते रहे। बड़ा अच्छा स्वास्थ्य रहा।

तो मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि जब मनुष्य खोज में लगता है कि मुझे तो वही जीवन चाहिए जिसको पाकर कुछ और पाना शेष न हो, तो जीवन की माँग ही जीवन से अभिन्न कर देती है। परमात्मा की माँग परमात्मा से मिला देती है। अत्यन्त दुःख-निवृत्ति की माँग अत्यन्त दुःख-निवृत्ति करा देती है। निजानन्द की माँग निजानन्द से अभिन्न कर देती है। तो हमारा पुरुषार्थ क्या रहा? कि हम अपनी वास्तविक माँग का ठीक-ठीक अनुभव करें, उससे निराश न हों। यह सबके लिए सुलभ है। यानी जरूरत को महसूस करना और उससे निराश न होना—यह तो सबको सुलभ है। किसी परिस्थिति द्वारा जरूरत को पूरा करना तो सबके लिए सुलभ है नहीं। ये जो आपने

कहा कि हमारी आसक्ति क्यों नहीं मिटती है—तो इसलिए नहीं मिटती है कि हमने वास्तविक आवश्यकता का अनुभव नहीं किया या नहीं करते और उसमें आस्था नहीं रखते कि यह पूरी हो जाएगी। अव्वल तो अनुभव नहीं करते और अनुभव कर भी लें तो फिर 'अरे भाई! हम साधारण आदमी की कैसे पूरी हो जाएगी। बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों की होती होगी। कभी-कभी जन्म-जन्मान्तर में होती होगी'—बहुत से बहाने हैं। ये सब बहाने ही हैं—'हमारे ऐसे संस्कार कहाँ? हमारे इतने पुण्य कहाँ हैं? हमारे जीवन में इतना तप कहाँ है? हमारे जीवन में इतना त्याग कहाँ है' इस प्रकार के बहाने ढूँढ़ते हैं। हम कहते हैं, परमात्मा तप और त्याग की सीमा में मिलें, तब न! माँग अनुभव करो, त्याग अपने आप आ जाएगा। माँग अनुभव करने से काम का त्याग हो ही जाता है। और काम का त्याग होने से संसार का सम्बन्ध टूट ही जाता है और संसार का सम्बन्ध टूटने से दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति हो जाती है, जीवन-मुक्ति मिल ही जाती है, भगवत्-भक्ति मिल ही जाती है। ऐसा है। इसलिए हमें और आपको थोड़ी-थोड़ी देर के बाद अपने जीवन का अध्ययन करते हुए, अपनी वर्तमान दशा को देखते हुए, 'हमें क्या चाहिए'—यह बात अवश्य अनुभव करनी चाहिए—अपने द्वारा, अपने ढंग से। यह नहीं है कि सबको हौआ पकड़ा दो कि परमात्मा ही चाहिए। अरे भाई! परमात्मा शब्द की जरूरत न हो तो किसलिए कहें कि चाहिए? परन्तु हमें जो चाहिए वह है परमात्मा ही। क्योंकि संसार में बाप और बेटा एक से नहीं देखे गए। देखें हैं क्या?

श्रोता—नहीं।

दो सहोदर भाई, दो सहोदर बहनें, पति-पत्नी, पिता-पुत्र—यानी घनिष्ठ-से-घनिष्ठ सम्बन्ध में भी विषमता रहती है। एकसी हालत नहीं रहती। बाप कैसा है तो बेटा कैसा ही है, बेटा कैसा है तो बाप कैसा ही

है। लेकिन उस जीवन में, जिसमें कि विषमता नहीं है, वह संसार से सम्बन्ध टूटने से प्राप्त होता है। केवल संसार का सम्बन्ध तोड़ने से—और कुछ नहीं। और संसार का सम्बन्ध टूटता है ज्ञान से और सेवा से। जिनसे राग है उनकी सेवा करो और बाकी ज्ञानपूर्वक अचाह हो जाओ। संसार का सम्बन्ध बल से तो टूटता नहीं है, ज्यादा पढ़ने-लिखने से भी टूटता नहीं है। निज-ज्ञान से टूटता है या सेवा करने से टूटता है। हमने जो देखा है, प्रैक्टीकल रूप से, तो हमें ऐसा लगता है। और भाई, उस जीवन की माँग तो महत्-पुरुषों के सम्पर्क से ज्यादा सबल होती है। क्योंकि हमको भी यह बात किसी के सम्पर्क से ही पैदा हुई थी कि सबसे बड़ा जो सुख है वह उसी को मिलता है जो साधु हो जाता है। हमने 'साधु होना' शब्द सुना था, त्याग-वैराग्य-अनुराग ये सब नहीं सुना था उस वक्त। तो साधुओं के पास जाने लगे। एक साधु मिल गए। उन्होंने कहा भजन किया करो। हमने कहा भजन क्या होता है? तो कहा, राम-राम कहो। हमने सुन रखे थे आर्य-समाज के लैक्चर। हमने कहा राम-नाम में तो हमारा विश्वास नहीं है। तो वे महात्मा नाराज नहीं हुए। नहीं तो डाँट देते, जैसे हमारा स्वभाव है। बोले—अच्छा! क्या भैया, तुम्हारा ईश्वर में भी विश्वास नहीं है? तो ईश्वर शब्द तो सुना था हमने। उसमें तो आस्था थी। हमने कहा ईश्वर में तो है। 'तो फिर क्या बात है भाई! कोई चिन्ता नहीं। तुम ईश्वर को मानते हो।' हाँ मानता हूँ। 'तो उसकी शरणागति स्वीकार कर लो। यह नहीं कहा उन्होंने कि नाम लो कि ध्यान करो कि मन्त्र जपो। नहीं तो हम शायद इन्कार कर देते। तुम उसके हो जाओ, बस। शरणागति का मतलब होता है उनका हो जाना। 'हे प्रभु मैं तेरा हूँ' यह पहला स्टेज है शरणागति का। 'तुम मेरे हो'—यह आखिरी स्टेज है। फल है—तुम्हीं हो। शरणागति का फल है—तुम्हीं हो। पहली स्टेज में मनुष्य का भय नाश होता है, दूसरे स्टेज

में प्रेम उदय होता है। प्रेम ने प्रीतम के सिवा किसी और को देखा ही नहीं। तो शरणागति का फल है कि प्रभु ही हैं। और कुछ किसी काल में है नहीं, हो सकता नहीं, होगा नहीं। प्रभु ही हैं। 'है' करके प्रभु ही हैं। तो उससे काम चल जाता है भैया।

लेकिन भाई, खुद की जानो नहीं, दूसरे की मानो नहीं। जो जानो उसका आदर न करो, जो सुनो उस पर विश्वास न करो; जो कर सको उससे अपने को बचाते रहो—तो काम बनेगा?

श्रोता—जी, नहीं बनेगा।

जो कर सकते हो उसे पूरी शक्ति लगाकर करना पड़ेगा, ईमानदारी से। जो जानते हो उसका आदर करना पड़ेगा। जो मानते हो उसमें विश्वास करना पड़ेगा। और ये तीनों प्रकार की शक्तियाँ हैं आपके पास। करने की है, जानने की है और मानने की है। इन्हीं शक्तियों के द्वारा हम सबको वह जीवन कि जिसकी प्राप्ति के बाद और कुछ पाना शेष नहीं रहता, मिल सकता है। यानी देखिए, जानने की शक्ति बताई ज्ञान, मानने की विश्वास और करने की परिस्थिति के अनुसार। तो किसी अंश में बल है कि नहीं सभी के पास? और विश्वास? और ज्ञान? तो बल के सदुपयोग से, ज्ञान के आदर से और विश्वास से भाई, वह जीवन मिल सकता है। इसलिए हम सबको यह जीवन मिल सकता है। मानव-सेवा-संघ की सबसे बड़ी देन यही है कि उसने यह कहा है कि जो सबसे ऊँचा जीवन है वह सबको मिल सकता है, उससे निराश नहीं होना चाहिए। उससे भिन्न क्या मिल सकता है? पता लगाते रहो। हम तो समझते हैं कुछ भी नहीं मिल सकता। जिसको सबसे ऊँचा जीवन नहीं चाहिए, उसको तो कुछ मिल नहीं सकता। क्यों? सुख आएगा दुःख दे जाएगा। दुःख आएगा पराधीन कर जाएगा। तो अभाव से पीड़ित रहना, पराधीनता में आबद्ध रहना,

नीरसता से पीड़ित रहना—यह तो मिलना नहीं हुआ न! अगर आप सबसे ऊँचे जीवन की आवश्यकता अनुभव करें भाई! बड़ी सुन्दर बात है यह, हमारी समझ से साधक के लिए, सबसे ऊँचा जीवन! तो सबसे ऊँचा जीवन कौन-सा होता है? जिसका कभी नाश न हो और जो सभी के लिए उपयोगी हो। तो योग का भी नाश नहीं होता, बोध का भी नाश नहीं होता, प्रेम का भी नाश नहीं होता। तो योग, बोध, प्रेम चाहिए। लेकिन मिला क्या है? बोलो—भोग, मोह और आसक्ति। हम फँसे किसमें हैं?—भोग में, मोह में और आसक्ति में। चाहिए क्या?—योग, बोध और प्रेम।

तो भोग, मोह और आसक्ति की निवृत्ति और योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति हो सकती है। कैसे हो सकती है? कि योग की माँग से। योग की माँग से भोग की रुचि नाश होती है। भोग की रुचि नाश होने से; भोग-वासनाओं के नाश होने से योग प्राप्त होता है। और जब योग प्राप्त होता है तो उसमें बोध और प्रेम रहता ही है। जैसे भोग में मोह और आसक्ति रहती है। पहले आसक्ति थोड़े ही प्राप्त होती है, पहले मोह थोड़े ही प्राप्त होता है। पहले भोग प्राप्त होता है। क्या राय है? तो भोग का परिणाम है मोह और आसक्ति, कि मोह और आसक्ति कोई अलग, स्वतन्त्र चीज है।

श्रोता—परिणाम है भोग का।

तो जैसे भोग का परिणाम मोह और आसक्ति है वैसे योग का परिणाम बोध और प्रेम है, ऐसा नियम है। इसलिए सबको योग प्राप्त करना चाहिए।

4

(अ)

मानव-जीवन पर विचार करने से ऐसा लगता है कि हमारा सम्बन्ध संसार से भी है और परमात्मा से भी है। शरीर की आवश्यकताएँ संसार की सहायता से पूरी होती हैं और अपने में चिन्मय-रसरूप जीवन की जो माँग है, उसकी पूर्ति परमात्मा से होती है। इस दृष्टि से मनुष्य को संसार और परमात्मा दोनों ही के प्रति साधनयुक्त दृष्टि रखनी चाहिए।

प्रस्तुत सन्तवाणी में यह बताया गया कि यदि साधक शरीर छोड़ दे संसार की मर्जी पर, अर्थात् संसार की सेवा करते हुए, संसार से कुछ लेने का संकल्प न रखे तो शरीर की सारी आवश्यकताएँ समष्टि शक्ति के द्वारा पूरी हो जाएँगी। इस प्रकार अपने को परमात्मा की जाति का मानकर उसी की शरणागति स्वीकार करके अपना सब संकल्प छोड़कर अपने को परमात्मा की मर्जी के अधीन कर दे तो इससे चिन्मय-रसरूप जीवन मिल जाएगा।

प्रवचन :

अगर हम शरीर को जगत् की मर्जी पर छोड़ दें और अपने को प्रभु की मर्जी पर तो जीवन की जितनी समस्याएँ हैं वे सब हल हो सकती हैं। हमसे भूल यह होती है कि हम शरीर को जगत् की मर्जी पर नहीं छोड़ते, अपनी मर्जी पर रखते हैं और अपने को प्रभु मर्जी पर नहीं छोड़ते। अगर हम शरीर को संसार की मर्जी पर छोड़ दें तो शरीर की जितनी आवश्यकताएँ हैं, उनका चिन्तन हमको नहीं होगा और अपने को अगर प्रभु की मर्जी पर छोड़ दें, तो किसी प्रकार का भय और प्रलोभन नहीं रहेगा। परन्तु सही अर्थ में हम इस बात को स्वीकार नहीं करते कि जगत् उदार है और प्रभु करुणा-सागर हैं। अगर हमें प्रभु की करुणा में और जगत् की उदारता में विश्वास हो जाएगा तो हम बड़ी सुगमतापूर्वक जीवन को सार्थक बना सकते हैं। मेरा ऐसा विश्वास है कि मनुष्य जितना अच्छा नहीं होता संसार उसको उससे ज्यादा अच्छा समझता है और मनुष्य जितना बुरा हो जाता है उससे कम बुरा समझता है। और प्रभु सदैव पतित से पतित को भी अपनाने के लिए लालायित रहते हैं। अगर यह बात आप लोगों की समझ में आ जाए, इसमें आस्था हो जाए तो इसका अनुभव करके देखिए।

आप विचार कीजिए, सृष्टि का आधार और प्रकाशक कोई एक है और वह सभी को अपना मानता है। परन्तु उसने मानव को यह स्वाधीनता दी है कि मानव विवेक-विरोधी कर्म न करे, विवेक-विरोधी सम्बन्ध न रखे, और विवेक-विरोधी विश्वास न रखे। विवेक का प्रकाश दिया है मानव को। अन्य किसी प्राणी को दिया है कि नहीं दिया, सुनते

तो यह हैं कि नहीं दिया, किन्तु मानव को दिया है। वैसे तो अगर वह चाहे कि आप बुराई न करें तो क्या कोई बुराई कर सकता है? कोई झूठ बोलना चाहे और प्रकृति का विधान उससे बोलने की शक्ति छीन ले तो झूठ बोल सकेगा?

श्रोता—नहीं।

लेकिन ऐसा तो नहीं देखने में आता। हाँ, स्वयं झूठ नहीं सुनना चाहता। स्वयं दूसरे से सहयोग चाहता है कि समाज मेरी जरूरत को पूरा करे। भूख लगने पर मुझको रोटी दे ही दे। काम के बदले में दे दे अथवा माँगने से दे दे। उदार बनके दे दे या परिश्रम के बदले में दे दे। तो जब हम यह जानते हैं कि हम समाज से शारीरिक आवश्यकता के लिए आशा रखते हैं तो हमारे हृदय में पर-पीड़ा नहीं होनी चाहिए क्या?—होनी चाहिए। जिसके हृदय में पर-पीड़ा होती है, उसको जीवन में सुख-भोग की रुचि नहीं रहती। यह जीवन का सत्य है। आज हम एक शरीर की जरूरत के लिए परेशान रहते हैं। भूख लगने पर रोटी मिलनी ही चाहिए, प्यास लगने पर पानी मिलना ही चाहिए, शीत लगने पर वस्त्र मिलना ही चाहिए। यानी जो जीवन की ऐसी जरूरतें मालूम होती हैं उनको हम पूरा करने के लिए लालायित रहते हैं। लेकिन कहीं समाज हमारी आवश्यकता अनुभव करता है तो वहाँ हमको वैराग्य आता है। क्या सच में यह वैराग्य है? देखो! दुनियाँ में बड़ा आदमी कौन होता है? जो दूसरे की जरूरत को अपनी जरूरत मानता है, जिसके सभी संकल्प प्रभु के संकल्प में अथवा जगत् के संकल्प में विलीन हो गए हैं, वह दुनियाँ का बड़ा आदमी है। क्योंकि उसका अपना संकल्प नहीं है। जिसका अपना कोई संकल्प नहीं है वह प्रत्येक परिस्थिति में चिरशान्ति में वास करता है। और अपना संकल्प रख कर कभी कोई भी शान्ति नहीं पाता। अगर यह बात आपको जँचती हो, रुचती हो तो अनुभव करके देखिए।

हम अपना कोई संकल्प नहीं रखेंगे, अगर यह सामर्थ्य आप में नहीं है तो आप कभी भी, किसी भी प्रकार से शान्ति नहीं पा सकते। क्यों नहीं पा सकते? क्या कारण है? क्योंकि अपने संकल्प की पूर्ति के फेर में ही तो हमने जीवन का बहुत बड़ा समय बिताया है; और न जाने कितने जन्मों से भटक रहे हैं। तो अगर आप सजग मानव हैं, तो अपना संकल्प मत रखिए।

श्रोता—महाराज साधन-रूपी संकल्प भी न रखें?

स्वामी जी—देखिए, साधन-रूपी संकल्प नहीं होता। संकल्प होता है वह जो वस्तु से सम्बन्ध जोड़ दे। संकल्प होता है वह कि जो व्यक्ति से सम्बन्ध जोड़ दे। संकल्प होता है वह जो परिस्थिति से सम्बन्ध जोड़ दे। साधन की तो जीवन में माँग होती है। साधन क्या है, जरा सोचिए। साधन क्या तत्त्व है? साधन उसे कहते हैं, कि जिसके अपना लेने पर साध्य से दूरी, भेद और भिन्नता न रहे। उसको साधन कहते हैं। साधन साधक की साध्य से दूरी नहीं रहने देता, भेद नहीं रहने देता, भिन्नता नहीं रहने देता। उसको कहते हैं साधन। और वह साधन जो है वह श्रम-साध्य उपाय से उदय नहीं होता। वह साधन जीवन के सत्य को स्वीकार करने से स्वतः उदय होता है। जैसे, कल्पना करो, अगर आप किसी न किसी नाते सभी को अपना मान लें तो जीवन में उदारता आ जाएगी कि नहीं? अगर आप प्रभु को अपना मान लें तो प्रियता आ जाएगी कि नहीं? अगर आप अपना करके कुछ न मानें तो स्वाधीनता आ जाएगी कि नहीं? इसको साधन कहते हैं। उदारता साधन है, स्वाधीनता साधन है, प्रियता साधन है।

आप विचार करके देखिए, समाज में आदर कौन पाता है? जो आदर के योग्य हो जाता है। और आप जानते हैं जो आदर के योग्य हो जाता है उसमें आदर की वासना नहीं रहती। यह बड़ी भारी कसौटी

है। समाज किसको आदर देता है? जो आदर के योग्य है। आदर के योग्य कौन है? जरा सोचिए तो सही। जिसमें छः बातें हों—योग्य हो, ईमानदार हो, परिश्रमी हो, उदार हो, स्वाधीन हो और प्रेमी हो। जिसमें ये छः बातें होती हैं वह अपनी दृष्टि में आदर के योग्य हो जाता है। जो अपनी दृष्टि में आदर के योग्य हो जाता है वह सब की दृष्टि में आदर के योग्य हो जाता है। आप ही बताइए, योग्य व्यक्ति किसी को बुरा लगता है क्या? नहीं। परिश्रमी किसी को बुरा लगता है क्या? ईमानदार किसी को बुरा लगता है क्या? योग्यता, ईमानदारी और परिश्रम से मनुष्य संसार के काम आता है, उदारता, स्वाधीनता और प्रेम से अपने और प्रभु के काम आता है।

योग्यता का अर्थ यह नहीं है कि हमारे पास विद्यालय, महाविद्यालय अथवा विश्वविद्यालय की डिग्रियाँ हों। योग्यता का अर्थ है कि समाज के किसी भी कार्य के लिए हम उपयोगी हो जाएँ। चाहे वह झाड़ू लगाने का कार्य ही क्यों न हो, कपड़ा धोने का कार्य ही क्यों न हो अथवा रोटी पकाने का कार्य ही क्यों न हो! समाज के किसी भी कार्य के लिए उपयोगी हो जाने का अर्थ है योग्यता।

श्रोता—लेकिन अगर उसमें कार्य-कुशलता नहीं तो बेकार है।

स्वामी जी—सुन तो लो बम्बूनाथ! पहले योग्यता सुनलो, योग्यता! जो किसी न किसी कार्य के योग्य हो। उसके बाद आता है उसमें परिश्रम और उसके बाद आती है ईमानदारी। तो अगर ईमानदार है, योग्य है और परिश्रमी है तो कार्य-कुशल हो ही जाएगा। गलती क्या होती है, कार्यकुशल क्यों नहीं होता है कि योग्यता तो है, लेकिन कार्य करने में लापरवाही है, पूरा मन नहीं लगाते। जब आप पूरा मन नहीं लगाते तो क्यों नहीं लगाते? क्योंकि आपको यह विश्वास नहीं है कि इस काम के बदले में मुझको विश्राम मिलेगा। यह विश्वास ही

आपने खो दिया है। अगर आपके अन्दर यह विश्वास हो जाए कि मैं सही काम करूँगा तो मुझे विश्राम मिलेगा और विश्राम मिलेगा तो जीवन मिलेगा और जीवन मिलेगा तो स्वाधीनता और प्रेम भी मिलेगा, तो आप पूरी लगन से कार्य करेंगे। यही कारण है इसका, योग्यता की कमी इसका कारण नहीं है।

तो काम किया जाता है आराम के लिए और आराम होता है अपने लिए। क्यों? विश्राम में जीवन है। विश्राम में ज्ञान का प्रकाश और प्रेम का रस है। इसलिए हमको विश्राम चाहिए। विश्राम किसी परिस्थिति से नहीं मिलता; परिश्रम से मिलता है। अतः हमारा जो परिश्रम हो वह पवित्र भाव से हो, विधिवत् हो और लक्ष्य पर दृष्टि रखकर हो तो कार्य-कुशलता अपने आप आ जाएगी। अगर हमारे भाव में पवित्रता नहीं है, अगर हम विधिवत् कार्य नहीं करते हैं। अगर हम अपने लक्ष्य को भूल जाते हैं तो कार्य-कुशलता कैसे आएगी भाई? कार्य-कुशलता कब नहीं आती , जब सुख-लोलुपता होती है और सुख-लोलुपता में एक आलस्य का सुख भी होता है। भोगों का सुख तो होता ही है, एक आलस्य का सुख भी होता है। एक ममता का सुख होता है। और जब किसी व्यक्ति की व्यक्तिगत ममता कुछ नहीं रहती या तो सभी उसके अपने हैं अथवा कोई अपना नहीं है तो उसका भाव पवित्र हो जाता है। उसमें कार्य-कुशलता आ जाती है। वह विधि से काम करता है, क्योंकि अपना सबको प्यारा लगता है न? क्या राय है? बोलिए?

श्रोता—प्यारा लगता है।

अच्छा, अपने प्यारे का काम करने में क्या असावधानी करते देखा है हमने किसी को?

श्रोता—नहीं देखा।

तो हम सभी को अपना नहीं मानते, इसलिए सही काम करना नहीं आता। अथवा हम विवेक-पूर्वक अपना करके किसी भी काल में कुछ है ही नहीं, यह भी नहीं मानते। नहीं तो अचाह न हो जाते! स्वाधीन न हो जाते! अथवा सर्व-समर्थ प्रभु अपने हैं, यह भी नहीं मान पाते। नहीं तो अखण्ड स्मृति न जग जाती! क्यों भैया! अपने की अपने को याद आएगी कि नहीं? अपना अपने को प्यारा लगेगा कि नहीं? क्या राय है?

श्रोता—लगेगा।

तो प्रभु जिसको प्रिय हैं, प्रभु की स्मृति जिसका जीवन है, मैं आपसे पूछता हूँ कि उसके जीवन में कभी नीरसता आएगी क्या? और जब नीरसता नहीं रही तो काम की उत्पत्ति होगी क्या? और जब काम की उत्पत्ति नहीं होगी तो विकारों का जन्म होगा क्या? विकारों का जन्म भी नहीं होगा।

इसलिए अगर जीवन में प्रभु का विश्वास हो किसी को, न हो तो मैं नहीं कहता कि करो। विश्वास करना तो आता ही है मनुष्य को। किसी न किसी में वह विश्वास करता ही है। लेकिन जो प्रभु में विश्वास करता है, उसके जीवन में अन्य विश्वास नहीं रहता। जब अन्य विश्वास नहीं रहता तो अन्य सम्बन्ध कैसे रहेगा? और जब अन्य सम्बन्ध नहीं रहेगा तो अन्य चिन्तन कैसे रहेगा? और जब अन्य चिन्तन नहीं रहेगा तो मानसिक रोग कैसे होंगे? इसलिए अगर आप प्रभु में विश्वास करते हैं तो अन्य सभी विश्वासों को छोड़ दीजिए। विश्वास का काम है सम्बन्ध जोड़ना। अगर हम प्रभु में विश्वास करेंगे तो हमारा प्रभु से सम्बन्ध हो जाएगा और सम्बन्ध का काम है सोई हुई स्मृति को जगा देना। सम्बन्ध स्मृति को जगा देता है। आज हमारे और परमात्मा के बीच में जो दूरी, भेद, भिन्नता है वह क्यों है?—विस्मृति से। अगर स्मृति जाग्रत हो जाए तो दूरी का भी नाश हो जाय, भेद भी नाश हो जाय, भिन्नता भी नाश हो जाय।

देखिए ! भगवद्-स्मृति कोई शरीर-धर्म नहीं है कि शरीर के द्वारा भगवद्-स्मरण कर पाएँगे। अपना शरीर बलवान होगा तो स्मृति जगेगी कि बड़े पढ़े-लिखे होंगे तो स्मृति जगेगी कि समाज में कोई ऊँचा स्थान होगा तो जगेगी। ऐसा नहीं है। स्मृति है स्वधर्म और वह केवल आत्मीय सम्बन्ध से जाग्रत होती है। आत्मीय सम्बन्ध के सिवा स्मृति कभी जाग्रत नहीं होती। जो प्रभु से सम्बन्ध जोड़ते हैं वे सबसे पहले क्या मानते हैं? यह जो कुछ है, सारी सृष्टि, प्रभु की है—ऐसा मानते हैं। जब मनुष्य यह मान लेता है कि जो कुछ है प्रभु का है, तो उसमें संसार ममता रहेगी क्या?

श्रोता—नहीं।

और ममता का नाश हो जाने पर कामना उत्पन्न होगी क्या?

श्रोता—नहीं।

तो सब कुछ प्रभु का है—ऐसा जब मान लेता है आदमी, तो वह ममता से रहित हो जाता है, कामना से रहित हो जाता है। और जो ममता और कामना से रहित हो जाता है—उसे निर्विकारता और शान्ति नहीं मिलेगी? और जब निर्विकारता और शान्ति जीवन में आ जाएगी तो चित्त शुद्ध और शान्त नहीं होगा? और जब चित्त शुद्ध और शान्त हो जाएगा, तब उसको क्या होगा? जब चित्त शुद्ध और शान्त हो जाता है तो वह परमात्मा जो कहीं दूर मालूम होता था, वह सर्वत्र मालूम होने लगता है तब वह कहता है कि जो कुछ है इसमें सत्ता रूप से परमात्मा ही हैं। जब उसे यह मालूम हो जाता है कि सत्ता रूप से केवल परमात्मा ही हैं और परमात्मा है उसका अपना प्रिय। तो जब प्रेम की वृद्धि होती है तब सब कुछ तो खो जाता है, केवल परमात्मा रह जाता है अर्थात् प्रीति और प्रीतम का नित्य विहार रह जाता है। प्रेम और

प्रेमास्पद का नित्य-विहार रह जाता है। उसी विहार को वैष्णव मत के अनुसार राधा और कृष्ण का विहार कहा जाता है, सीता-राम का विहार कहा जाता है, गौरी-शंकर का विहार कहा जाता है। वह विहार रह जाता है। यह किसका जीवन है? जिसने ईमानदारी से अपने द्वारा इस सत्य को स्वीकार किया कि, प्रभु मेरे अपने हैं और सब कुछ प्रभु का है, सब में प्रभु हैं, केवल प्रभु हैं। उसकी दशा यह हो जाती है।

तो मुझे यह निवेदन करना था कि जिसने यह स्वीकार किया कि सभी के होने से प्रभु मेरे हैं और सब कुछ प्रभु का है। तो प्रभु के नाते सबके प्रति सद्भाव और सहयोग होगा कि नहीं? जो सभी को अपना मानेगा प्रभु के नाते से, तो उसके हृदय में सबके प्रति सद्भाव होगा और सहयोग होगा। यथाशक्ति सहयोग शरीर-धर्म है और सद्भाव हृदय यानी मन का धर्म है। तन और मन उसका सेवा में लग जाएगा। क्योंकि उसके मन में तो सबके प्रति सद्भाव जग जाएगा और सभी को यथाशक्ति सहयोग देगा। तो जो सभी के प्रति सद्भाव और सहयोग देता है वह राग-रहित हो जाता है। और जब राग-रहित हो जाता है तब सभी में उसे अपना प्रभु ही नजर आता है। वह कल्पना नहीं करता, भावना नहीं करता—

'दर दीवार दर्पन भयो, जित देखूँ तित तोय।
कंकर पत्थर ठीकरी, भयी आरसी मोय॥

जब सब में उसको प्रभु नजर आता है तो उसकी दृष्टि प्रभु पर रहेगी कि सब पर रहेगी? प्रभु पर रहेगी। तो उसमें अगाध-प्रियता का उदय होता है। जब अगाध-प्रियता का उदय हो जाता है तो प्रभु और प्रभु की प्रियता रह जाती है, शेष सब कुछ समाप्त हो जाता है।

देखिए, सृष्टि कोई ऐसी ठोस वस्तु नहीं है। यह बड़ी गम्भीर बात है, विचार करने की बात है। सृष्टि कोई ऐसी ठोस वस्तु नहीं है कि जिसको आप उठाकर कहीं रख दें या उसको पकड़ लें, या उसको प्राप्त

कर लें। एक ऐसा अजीब खेल है सृष्टि का कि इसकी स्थिति है ही नहीं। यह बात समझ में आती है? सृष्टि की स्वतन्त्र स्थिति नहीं है। अगर आप इस सत्य को अनुभव कर लेते कि सृष्टि की स्वतन्त्र स्थिति नहीं है तो अकिंचन और अचाह हो जाते—मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए। और जब अकिंचन और अचाह हो जाते हैं तो चित्त शुद्ध और शान्त हो जाता है। देखो! चित्त की शान्ति, मेरा कुछ नहीं है—इस बात से होती है। यह चित्त-शुद्धि का सबसे बड़ा उपाय है और यह जीवन का सत्य है। क्यों सत्य है? कि मेरा किसी वस्तु पर स्वतन्त्र अधिकार है क्या? सभी कामनाएँ पूरी होते देखी हैं क्या? तो जो आदमी केवल इतना मान लेता है कि संसार में पर्सनल कुछ नहीं है, व्यक्तिगत कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए—उसका चित्त हो जाता है शुद्ध और शान्त। जब चित्त शुद्ध और शान्त हो जाता है तो विकार उत्पन्न नहीं होते और जब शान्त हो जाता है तो जहाँ लगना चाहिए, वहाँ सदा के लिए लग जाता है।

अच्छा हम कैसे समझें कि हमारा चित्त परमात्मा में लग गया। कैसे समझें? जब तक लगता और हटता हुआ मालूम हो तब तक परमात्मा में नहीं लगा। जब तक मालूम हो कि चित्त लग गया और फिर मालूम हो कि हट गया तो लगा ही नहीं। जब चित्त परमात्मा में लगता है तो लगने और हटने का प्रश्न ही नहीं रहता। यह सदा के लिए हल हो जाता है। और जब परमात्मा में चित्त लग जाता है तो उससे नित्य योग, उसका बोध और प्रेम प्राप्त हो जाता है। परमात्मा में चित्त लगने मात्र से योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति हो जाती है। परन्तु भाई, इस बात को अनुभव करके देखो। कैसे अनुभव होगा? परमात्मा में चित्त कब लगेगा? जब हम यह मान लेंगे कि परमात्मा अपना है, अपने में है, अभी है। सब कुछ उन्हीं का है, मुझे उनसे कुछ नहीं

चाहिए। क्यों नहीं चाहिए? कि जब परमात्मा ही अपना है तो अपने को चाहिए क्या? अरे भाई, मालिक जिसका अपना हो उसको मिल्कियत में से भी कुछ चाहिए क्या? क्या राय है? जब मालिक हमारा अपना है तो उस मालिक की मिल्कियत से हमें क्या मतलब। जरा सोचिए! मिल्कियत तो उसके पीछे-पीछे दौड़ेगी। मालिक को जो पसन्द कर लेगा, मिल्कियत उसके पीछे दौड़ेगी। उसे मिल्कियत से क्या मतलब। तो परमात्मा में चित्त लग जाता है, परमात्मा को अपना मानने से, और सब कुछ प्रभु का है—यह मानने से, और मुझे उनसे कुछ नहीं चाहिए—यह मानने से। मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, सब कुछ प्रभु का है—यह मानने से परमात्मा में मन लग जाता है। और जब परमात्मा में मन लग जाता है तब मन अमन हो जाता है। अमन यानी मन नहीं रहता, यह तो हिन्दी का अर्थ हुआ। उर्दू में अमन कहते हैं, जहाँ बहार हो या आनन्द हो। उर्दू में अमन माने मौज, बहार, आनन्द और हिन्दी में अमन का अर्थ होता है बेमन का, मन-रहित। तो मन-रहित है तो वहाँ चिर-शान्ति है वहाँ जीवन-मुक्ति है। कोई रोक ही नहीं सकता। और जहाँ आनन्द है वहाँ आनन्द है ही। इसलिए भाई, परमात्मा को अपना मानना बहुत बड़ी चीज है।

अब करें क्या फिर? प्रश्न होगा कि परमात्मा को तो अपना मान लिया, अब क्या करें। तो उसका अर्थ होगा कि सभी के प्रति सद्भाव रखें और सहयोग दें। किसे सहयोग दें? जिसे हमारे सहयोग की आवश्यकता है, उसे सहयोग देते रहें यथाशक्ति। और सभी के प्रति सद्भाव रखें। न संसार से कुछ चाहें, न परमात्मा से कुछ चाहें। क्योंकि 'अपने' से कुछ चाहने की बात रहती नहीं। अपने को अपने की

चिन्ता स्वत: रहती है। आप जिसे अपना मानते हैं उसकी जरूरत को भूलते हैं क्या? आपकी धर्मपत्नी बीमार हैं, उनकी दवा की विस्मृति होती है क्या आपको? नहीं होती ना! तो परमात्मा इतने कम समझ हैं कि हम उन्हें अपना मानेंगे या उनके हैं ही और उन्हें हमारी जरूरत का ध्यान नहीं होगा? जी! अत: जो सच्चे ईश्वरवादी हैं वे प्राप्त परिस्थिति का भगवत्-नाते सदुपयोग करते रहते हैं, चाहते-वाहते कुछ नहीं। वे यह नहीं चाहते कि भूख लगी है तो हमको रोटी मिलनी ही चाहिए। वे कहते हैं कि भाई! क्या यह हो सकता है कि मेरे लिए रोटी आवश्यक हो और न मिले? और क्या रोटी खाना मेरे जीवन का लक्ष्य है? सारी जिन्दगी खाते-खाते हो गई, खाने से छुट्टी मिली क्या? खाने से कोई मौत से बचा क्या? खाना मृत्यु को रोक सका क्या? खाना मृत्यु को नहीं रोक सकता, खाने से खाने की रुचि पूरी नहीं होती। इसलिए प्रभु अपने हैं, उनसे मुझे कुछ नहीं चाहिए। उनके नाते सभी के प्रति सद्भाव और सहयोग रखना है।

अब जैसे, आजकल लोग कहते हैं कि साहब, काम नहीं मिलता, बेकारी बढ़ी हुई है। हम कहते हैं कि सही काम नहीं करते यह शिकायत ज्यादा है या काम नहीं मिलता यह शिकायत ज्यादा है? हमको तो मजदूर भी सही नहीं मिलते आजकल, ऐसी कठिनाई पड़ गई है। जिस किसी साधक को रखना चाहते हैं, उसी का दिमाग टेढ़ा हो जाता है। तो काम लोग करना नहीं चाहते और कहते हैं काम नहीं मिलता। काम करना नहीं चाहते, वरना काम करने वालों को काम नहीं मिलेगा? एक हमारे मित्र थे उन बेचारों का अब शरीर नहीं रहा। वे कहते थे—स्वामी जी, एक आदमी मेरे पास आया और कहा कि मुझे

सर्विस चाहिए। यह सोहन लाल सौंधी ने सुनाया था मुझे। तो उन्होंने कहा मेरे पास काम तो है नहीं। तो बोले—भाई हम तो 50 रु० प्रतिमाह से ज्यादा नहीं दे सकते। वह बोला—साहब मैं यह थोड़े ही कह रहा हूँ कि आप 50 रु० दीजिए। आप काम दीजिए और आपकी जो मरजी हो सो दीजिए। वही आदमी बाद में उनके यहाँ मैनेजर हो गया और 400 रु० पाने लगा। क्यों? वह सही काम करता गया, उसकी मार्केट वैल्यू बढ़ती गई। आज सेवा के नाम पर हमारी मार्केट वैल्यू नहीं बढ़ती उसका कारण क्या है? हम सही सेवा नहीं करते। जब काम करने से मार्केट वैल्यू बढ़ जाती है, समाज में स्थान मिल जाता है तो सेवा करने वाले सेवक के तो पीछे-पीछे समाज को दौड़ना चाहिए। लेकिन हम सही सेवा करते ही नहीं।

इसीलिए, मेरा निवेदन था कि आप मानव हैं और मानव होने के नाते आपके हृदय में पर-पीड़ा रहनी चाहिए। देखो, पशु में और मनुष्य में फर्क क्या है? पशु अपने दुःख से दुखी होता है, अपने सुख से सुखी होता है। आप देखें, चाहे जब देख लें। लेकिन मनुष्य पर-पीड़ा से पीड़ित होता है, पर-सुख से सुखी होता है। यह मनुष्य का पहला कदम है। यह पहली बात है। यह आखिरी बात नहीं। यदि हमारे हृदय में पर-पीड़ा रहने लगेगी, तब क्या होगा? तब हमें व्यक्तिगत दुःख से दुखी नहीं होना पड़ेगा। आप देखिए, संस्था में हानि होती है। लेकिन ईमानदारी से सोचो, संस्था में जो लोग ठीक ईमानदारी से काम करते हैं उनको वैसा ही लोभ और मोह सताता है जैसा संसार-वालों को सताता है? भाई ..... साहब से पूछो, आपने बहुत संस्थाओं में काम किया है, संस्था में हानि होती है या नहीं कभी? अच्छा, लोभ सताता है क्या? कभी नहीं सताता। लोभ नहीं सताता। आगे से सजग होकर सावधानी बरतते हैं। और परिवार में? तो मैं आपसे कहता हूँ कि जो

समाज की सेवा नहीं कर सकता वह व्यक्तिगत दुःख से बच सकता है क्या? क्या राय है? आपने सुना होगा, जिस वक्त बँगला देश में जुल्म हो रहे थे, उस वक्त विनोबा जी के मुख से एक वाक्य निकला—"मैं क्या बताऊँ, मैंने आज रोटी बड़े दुःख से खाई है।" बंगालियों के दुःख से वे दुखी हो रहे थे। उन्हें अपने दुःख से दुखी होना पड़ेगा क्या? आज हम इस सत्य को भूल गए और दूसरों के दुःख से दुखी नहीं होते। तब प्रकृति क्या विधान बनाती है कि हमें फिर व्यक्तिगत दुःख से दुखी होना पड़ता है। तो मैं आपसे पूछता हूँ कि व्यक्तिगत दुःख से दुखी होना साधन-रूप दुःख है कि दूसरों के दुःख से दुखी होना साधन-रूप दुःख है?

श्रोता—दूसरों के दुःख से दुखी होना।

इसीलिए मैंने आपसे निवेदन किया कि मनुष्य को सोचना चाहिए कि भाई एक दिन ऐसा था जबकि हम इतने असमर्थ थे कि अपने मुँह की मक्खी नहीं उड़ा सकते थे। समाज की उदारता से हम कुछ करने के लायक हुए। तो जिस वक्त करने के लायक हुए उस समय हमें अपने सुख की चिन्ता करनी चाहिए कि समाज के हित की चिन्ता करनी चाहिए? समाज के हित की चिन्ता करनी चाहिए।

इसीलिए मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि मनुष्य के विकास का पहला कदम है कि भाई, हमें दूसरों के दुःख से दुखी होना चाहिए। तब उसके हृदय में करुणा का रस प्रवाहित होता है। और जब दूसरों के सुख से सुखी, प्रसन्न होता है तो प्रसन्नता का रस बहता है। करुणा और प्रसन्नता हमारी निजी-निधि होनी चाहिए। करुणा का रस जब तक नहीं आएगा, सुख-भोग की रुचि मिटेगी नहीं। प्रसन्नता का रस जब तक नहीं आएगा, तब तक कामनाएँ नाश होंगी नहीं। इसलिए हम सब का हृदय करुणा और प्रसन्नता से भरना चाहिए। वह तभी

होगा जब हम दूसरों के दुःख से दुखी हो सकें अथवा दूसरों के सुख से प्रसन्न हो सकें। तो यह पहला कदम है। आखिरी कदम क्या है? भोग की रुचि और काम का जब नाश हो जाता है तब जीवन-मुक्ति का आनन्द आता है। भोग की रुचि नाश हुई तो योग प्राप्त हो गया, काम नाश हुआ तो राम प्राप्त हो गया। फिर क्या होता है कि जब योग और बोध प्राप्त हो जाता है, तब स्वतः प्रेम और प्रेमास्पद का नित्य-विहार होने लगता है। इसी विहार की माँग मनुष्य की अपनी माँग है। हमारा अस्तित्व प्रेम से भिन्न कुछ न रह जाए। हमारा अस्तित्व बोध और योग से भिन्न कुछ न रह जाए। भोग-मोह-आसक्ति की अत्यन्त निवृत्ति हो जाए। और योग-बोध-प्रेम की प्राप्ति हो जाए। इस माँग को सामने रखना चाहिए, इस माँग को हमें भूलना नहीं चाहिए। दिन में कई बार—मुझे योग, बोध और प्रेम चाहिए। मुझे योग, बोध और प्रेम चाहिए। मेरे सामने समस्या होनी चाहिए—भोग, मोह और आसक्ति की निवृत्ति और योग, बोध, प्रेम की प्राप्ति की। यह माँग पूरी हो सकती है। परन्तु कब? जबकि हम सत्य को स्वीकार करें। सत्य क्या है? पर-पीड़ा से पीड़ित होना सत्य है। अचाह होना सत्य है। भगवान का आश्रय लेकर शरणागत होना सत्य है। तो जहाँ से हमको पसन्द आए—चाहे शरणागति से आरम्भ करें, चाहे अचाह से, चाहे पर-पीड़ा से—तीनों का परिणाम एक होगा कि हमें योग-बोध-प्रेम की प्राप्ति हो जाएगी। और हम सदा-सदा के लिए, चिरशान्ति, जीवन-मुक्ति और भगवत्-भक्ति पाकर कृत-कृत्य हो जाएँगे। यह निर्विवाद सत्य है।

4

(ब)

मानव सत्य को स्वीकार करने में स्वाधीन है, परन्तु वह प्रमादवश दृश्य के पराधीनता-जनित सुख को पसन्द करता है। दुःख और अभाव में आबद्ध रहता है, फिर भी सत्य को स्वीकार नहीं करता।

सत्संग के द्वारा प्रमाद का नाश करना अनिवार्य है। दृश्य के सहयोग से मिलने वाले सुख को नापसन्द कर देने से नित्य-योग की प्राप्ति होती है। शरीर की एकता संसार से है और मनुष्य की एकता अविनाशी तत्त्व से है। इस सत्य को स्वीकार करके शरीर और संसार से सम्बन्ध तोड़ देने पर योग-बोध और प्रेम की अभिव्यक्ति हो जाती है। यह मानव जीवन की पूर्णता है।

प्रवचन :

मानव-जीवन बड़े ही महत्त्व की वस्तु है। कारण कि इस जीवन में हमें सत्य को स्वीकार करने की स्वाधीनता है। सत्य को स्वीकार करने मात्र से असाधन का नाश और साधन की अभिव्यक्ति होती है, अर्थात् साधन और जीवन में अभिन्नता होती है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि फिर हम क्यों नहीं शीघ्रातिशीघ्र साधन-निष्ठ होकर साध्य से अभिन्न हो जाते? तो मुझे ऐसा लगता है कि परिस्थिति के आश्रय को लेकर जो हम सुख भोगते हैं, उसका प्रलोभन हमें सत्य को स्वीकार नहीं करने देता। परिस्थिति का सहयोग कह दो, चाहे दार्शनिक भाषा में दृश्य का सहयोग कह दो। दृश्य के सहयोग से जो हम सुख का भोग करते हैं, यही हमारा एक ऐसा प्रमाद है कि जो हमें सत्य को स्वीकार नहीं करने देता। यद्यपि सुख के भोगी को भयंकर दुःख भोगना ही पड़ता है और जब तक वह सुख का भोग करता रहेगा, तब तक उसे अनन्त काल तक दुःख ही भोगना पड़ेगा। केवल जड़ता में लय होने मात्र से दुःख की मात्रा कुछ घटेगी, पर मिटेगी नहीं। अगर यह वैधानिक तथ्य हम स्वीकार कर लें कि भाई, भयंकर दुःख से बचना हो तो सुख का भोग मत करो। और जिसके जीवन में सुख-भोग का प्रलोभन नहीं रहता, उसका दृश्य से सम्बन्ध टूट जाता है—अपने लिए। यह बात आपकी समझ में आई कि नहीं? यह भाषा समझ में आई आपके?

श्रोता—आई।

दृश्य से सम्बन्ध टूट जाता है तो इसका मतलब क्या हुआ कि फिर उसकी दृष्टि अपने उद्गम में विलीन हो जाती है। जब साधक की

दृष्टि दृश्य से विमुख होकर अपने उद्गम में विलीन हो जाती है तब वह अपने में सन्तुष्ट होकर एक अविनाशी जीवन से अभिन्न होता है। अगर यह बात आपको अपनी बात मालूम हो, ठीक बात मालूम हो, पसन्द आती हो, तो हमें यह प्रयास करना चाहिए कि हमारी दृष्टि बिना दृश्य के स्थिर हो जाय। हमारा चित्त बिना आधार के शान्त हो जाय। अगर ये दो बातें आपको पसन्द आ जाएँ तो आप 'राज योग' की प्राप्ति कर सकते हैं।

"राज योग" में यही दो बातें प्रधान हैं कि दृष्टि बिना दृश्य के स्थिर हो जाय, चित्त बिना आधार के शान्त हो जाय। तब क्या होता है कि प्राण बिना निरोध के सम हो जाता है अर्थात् योग प्राप्त हो जाता है। इसी को "राज योग" कहते हैं। "राज योग" में प्राणों पर दबाव नहीं डाला जाता, शरीर पर दबाव नहीं डाला जाता बल्कि मन का सुधार किया जाता है, अपनी रुचि को बदला जाता है। मन के सुधार का अर्थ क्या है? मन कोई बिगड़ता थोड़े ही है। मन रुचि के अधीन रहता है। अगर हम अपनी रुचि बदल दें तो मन बदल जाता है। वह रुचि हमारी क्या है कि दृश्य के आश्रय से प्रतीत होने वाला सुख हम से छोड़ा नहीं जाता अथवा वह हमको नापसन्द नहीं होता। अगर दृश्य के आश्रय से उत्पन्न होने वाला सुख हमें नापसन्द हो जाए तो हम बड़ी सुगमतापूर्वक योगवित् हो जाएँ और योगवित् होने से आत्मवित् होने की सामर्थ्य आ जाए। और आत्मवित् होने से ब्रह्मवित् हो जाएँ। इन तीनों में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि योगवित् आत्मवित् हो ही जाएगा। पर एक सावधानी रखनी पड़ेगी कि योग का जो बाह्य रूप है, बाह्य फल है—भिन्न-भिन्न प्रकार की शक्तियों का प्रादुर्भाव होना। साधक अगर उन शक्तियों का भोग नहीं करेगा तो आत्मवित् हो जाएगा।

योग तो वास्तव में एक प्रकार से भौतिक-विज्ञान है। योग का जो बाह्य रूप है, वह भौतिक-विज्ञान है। भौतिक-विज्ञान की चरम सीमा योग में ही जाकर होती है—जैसे कि अलौकिक शक्तियों का प्राप्त हो जाना, कामना-पूर्ति की सामर्थ्य का आ जाना, इत्यादि। यद्यपि योग का जो उत्तर पक्ष है वह कामना-निवृत्ति की प्रेरणा देता है। पूर्व पक्ष जो है वह कामना-पूर्ति की, दिव्य शक्तियों के उपयोग की प्रेरणा देता है। यानी वे शक्तियाँ इससे (योग से) प्राप्त होती हैं। परन्तु हमें अपने लिए किसी प्रकार के दृश्य का सहयोग नहीं चाहिए। अगर यह बात दृढ़ता के साथ हम पसन्द कर लें तो वियोग का भय भी जाता रहेगा और नित्य-योग भी प्राप्त हो जाएगा। यह योग का उत्तर पक्ष है—नित्ययोग का प्राप्त हो जाना। योग से मिली हुई शक्तियों का भोग करना—यह योग का पूर्व पक्ष है, उत्तर पक्ष नहीं है। यह पहली चीज है, आखिरी चीज नहीं है। इसलिए योग अनेक प्रकार से बताया गया है। देखिए! जब तक योग का आश्रय मनुष्य नहीं लेता तब तक भौतिक उन्नति भी नहीं होती। अर्थात् भोगी को भी योग चाहिए और विवेकी को भी योग चाहिए और प्रेमी को भी योग चाहिए। बिना योग के उच्च कोटि का भोग भी सिद्ध नहीं होता और बिना योग के विवेक में भी दृढ़ता नहीं आती और बिना योग के प्रेम भी स्थाई नहीं होता—ऐसा विधान मालूम होता है मुझको।

तो मैं आपसे यह नम्र-निवेदन कर रहा था कि भाई, भोग के लिए योग का उपयोग मत करो। अगर हम भोग के लिए योग का उपयोग नहीं करेंगे तो बोध और प्रेम की प्राप्ति हो जाएगी, अपने आप। क्योंकि जिससे दूरी नहीं रहती, उससे भेद भी नहीं रहता और जिससे भेद नहीं रहता उससे भिन्नता भी नहीं रहती। तो जो वास्तविक जीवन है या

मानव का जो चरम लक्ष्य है, उससे दूरी न रहे, उससे भेद न रहे, उससे भिन्नता न रहे। अथवा यों कहो कि जिससे हमारी दूरी हो ही नहीं सकती, भेद और भिन्नता हो ही नहीं सकती, वही हमारा आपका अपना है और वही वास्तविक जीवन है। तो आप किसी दृश्य के साथ यह बात नहीं लगा सकते। यानी ऐसा कोई दृश्य आपको नहीं मिलेगा, जिससे किसी न किसी अंश में आपकी दूरी न रहे, भेद और भिन्नता न रहे। क्या राय है? यह बात समझ में आती है? कोई दृश्य ऐसा हो सकता है, जिससे सर्वांश में दूरी, भेद और भिन्नता का नाश हो जाय?

श्रोता—नहीं हो सकता।

अब देखिए, आप जो यह कह रहे हैं तो आप अपने अनुभव के आधार पर कह रहे हैं, सीख करके नहीं बोल रहे हैं। यह किसी प्रमाण के आधार पर नहीं बोल रहे हैं। फिर अपने अनुभव का आप अनादर न करें।

जिससे हमारी कभी किसी अंश में भी दूरी रहती है, उससे सदा के लिए दूरी हो जाती है। अलग कौन होता है? जो अलग है। मिलता कौन है? जो मिला है। अगर यह बात आपको अपनी बात जँच जाय, यह रहस्य आपको स्पष्ट हो जाए कि जो अलग है वही अलग होगा तो संयोग में वियोग का दर्शन हो जाए। परन्तु जब हम इस बात को स्वीकार नहीं करते, तब क्या होता है? किसी प्रिय-जन का शरीर छूट गया, अब लोग दुखी हो रहे हैं। अरे भाई! सोचो तो सही, उस प्रिय-जन का शरीर तुमसे अलग था कि नहीं? गहरी नींद में नित्य हम एक-दूसरे से अलग होते हैं कि नहीं? अलग होते हैं। तो जो अलग है वही तो अलग होगा। जो अलग नहीं है वही तो मिलेगा। दृश्य से अतीत जो स्वतःसिद्ध तत्त्व है, वह कभी किसी से अलग नहीं है। अतः उसी की प्राप्ति होगी। और समस्त दृश्य चूँकि भिन्न है, इसलिए अलग होगा। अभिन्न नहीं है, इसलिए अलग होगा।

देखिए, भिन्नता भी कई प्रकार की होती है। आप विचार करके देखो, कारण की एकता होते हुए भी कार्य में भिन्नता हो जाती है। जैसे—प्रकाश के बिना रूप नहीं बनता और प्रकाश के बिना आँख नहीं देखती। लेकिन आँख का देखना और रूप का बनना इन दोनों में भिन्नता मालूम होती है कि नहीं! लेकिन कारण की भिन्नता है क्या?

श्रोता—नहीं।

जैसे आकाश के बिना शब्द नहीं बनता और आकाश के बिना आपका कान सुन भी नहीं सकता। यह नियम है। तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि संसार में एक तो भिन्नता इस प्रकार की है कि कारण की तो एकता है, लेकिन कार्य में भिन्नता है। क्योंकि आकाश ही कारण है शब्द का और स्रोत का। जल ही कारण है रस और रसना का। इस प्रकार आप देखेंगे कि सृष्टि में जो भिन्नता है वह कारण की एकता को लेकर है, कारण की एकता होने पर भी कार्य में भिन्नता है। और हमारे और आपके जीवन में जो भिन्नता है, जैसे कि मालूम नहीं होता कि हमारा जीवन कहाँ है, कब मिलेगा, हमसे अलग है—यह विस्मृति की भिन्नता है। यह भूल-जनित भिन्नता है। भूल-जनित जो भिन्नता होती है, वह भूल-रहित होने पर सदा के लिए मिट जाती है। विस्मृति से जो भिन्नता है, जो दूरी है, वह स्मृति से मिट जाती है। तो हमें जो चाहिए हमारा जो अपना है, उसके और हमारे बीच में विस्मृति की भिन्नता है, भूल-जनित भिन्नता है। स्वरूप से भिन्नता नहीं है। हमें जो चाहिए, वह हम में ही है। हम उसी में हैं। स्वरूप से हम एक-दूसरे से अलग नहीं हैं। चाहे आप एक का नाम "जीव" और दूसरे का नाम 'ब्रह्म' रख लीजिए, हमें इसमें कोई आपत्ति नहीं है, इनमें स्वरूप से भिन्नता नहीं है, विस्मृति की भिन्नता है, भूल-जनित भिन्नता है। जब हम दृश्य से विमुख हो जाते हैं, तो वह जो भूल-जनित भिन्नता है, वह नाश हो जाती है। वह जो विस्मृति-जन्य भिन्नता है वह नाश हो जाती है।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि अगर आपको यह बात समझ में आ जाए कि मानव-जीवन की सबसे बड़ी विशेषता इसी बात में है कि वह अनन्त परमात्मा से अभिन्न हो सकता है और जगत् से सर्वदा ही भिन्न है। परन्तु हम प्रमादवश स्वयं आँख से तद्रूप होकर रूप का भोग करते हैं। कान से तद्रूप होकर शब्द का भोग करते हैं, त्वचा से तद्रूप होकर स्पर्श का भोग करते हैं, रसना से तद्रूप होकर रस का भोग करते हैं और नासिका से तद्रूप होकर गंध का भोग करते हैं। तो यह जो भोग है—भोग, भोगने की शक्ति और भोक्ता—इन तीनों में कारण की एकता है, कार्य की भिन्नता है। हममें और परमात्मा में केवल—प्रमाद कहें, विस्मृति कहें, विमुखता कहें—इसकी भिन्नता है। अगर यह बात आपको जँचे, रुचे तो इस पर थोड़ा मनन कीजिए। अब इस सम्बन्ध में किसी भाई को सन्देह उठे तो प्रश्न कीजिए। उस पर विचार किया जाए। क्योंकि परस्पर में विचार-विनिमय करने से भी सत्य का बोध होता है।

मैं यह निवेदन कर रहा था कि हम और आप साधक हैं। साध्य से हमारी जातीय एकता है, नित्य सम्बन्ध है, आत्मीय सम्बन्ध है। और किसी से न हमारी जातीय एकता है, न नित्य सम्बन्ध है, न आत्मीय सम्बन्ध है। साध्य किसे कहते हैं? जो सभी का आराध्य है। तो सभी का आराध्य है, वही साध्य है। सभी का आराध्य कौन है? कि जिसे पाकर फिर और कुछ पाना शेष नहीं रहता, वही सभी का आराध्य है। हम और हमारा आराध्य एक जाति के हैं। हमारा और आराध्य का नित्य सम्बन्ध है। हमारा और आराध्य का आत्मीय सम्बन्ध है। लेकिन हमारी और दृश्य की न जातीय एकता है, न नित्य सम्बन्ध है, न आत्मीय सम्बन्ध है।

आप यदि स्थूल दृष्टि से भी सोचें तब भी आपको यह बात माननी पड़ेगी कि दृश्य के परिवर्तन का अनुभव तो आपको होता है, लेकिन कभी किसी को अपने परिवर्तन का अनुभव नहीं होता। हम अपने में जो परिवर्तन का आरोप करते हैं वह दृश्य से तद्रूप होकर करते हैं। अगर हम दृश्य से तद्रूप न हों तो अपने में परिवर्तन का आरोप कोई कर ही नहीं सकता है। आप नहीं कह सकते कि जिस दृश्य को आप एक बार देख लेते हैं, दुबारा देखने का अवसर आते ही, उसमें परिवर्तन नहीं हो जाता! कोई वैज्ञानिक सिद्ध कर सकता है? कोई नहीं सिद्ध कर सकता है। समस्त वैज्ञानिकों को यह बात माननी पड़ती है कि दृश्य की अनुभूति एक बार होती है दुबारा होती नहीं। लेकिन हम उस अनुभूति की सत्यता को पकड़ लेते हैं, उसकी सुख-रूपता को पकड़ लेते हैं। इसलिए हमें मालूम होता है कि यह वही वस्तु है जिसके द्वारा कल हमको सुख मिला था। हालाँकि उस वस्तु में परिवर्तन का प्रवाह चल रहा है, भोगने की शक्ति का भी ह्रास हो रहा है, भोग्य वस्तु में भी सतत विनाश हो रहा है। भोगने की शक्ति का ह्रास और भोग्य वस्तु का विनाश, तो इससे क्या सिद्ध हुआ कि न तो भोग्य-वस्तु की स्थिति है, न भोगने की शक्ति में ही नित्यता है। जब भोगने की शक्ति में ही नित्यता नहीं है, भोग्य वस्तु में ही नित्यता नहीं है तो भोग के आधार पर हमें कैसे वह जीवन मिल सकता है कि जिसमें अभाव, अशान्ति, पराधीनता, नीरसता नहीं है। मानना पड़ेगा कि नहीं मिल सकता।

भोग के आश्रय को लेकर अविनाशी, स्वाधीन, रस-रूप और चिन्मय जीवन नहीं मिल सकता। अतः हमें योग की तीव्र आवश्यकता अनुभव करनी चाहिए। और इस बात में दृढ़ आस्था करनी चाहिए कि हमें योग की प्राप्ति हो सकती है। क्यों? योग कहते ही उसको हैं जो

नित्य-प्राप्त हो। उसी को योग कहते हैं। आप कहेंगे कि नित्य-प्राप्त है फिर हम उसकी क्यों आवश्यकता अनुभव करें। वह तो प्राप्त है ही। लेकिन आपने जो भोग से तादात्म्य कर लिया है, भोग से जो ममता कर ली है, भोग की कामना कर ली है, इस कारण आपके सामने प्रश्न है कि योग की आवश्यकता अनुभव करें। अगर भोग की ममता, कामना और तादात्म्य तोड़ दें, तो आपकी योग से दूरी कभी हुई नहीं।

अत: आज मौलिक प्रश्न हमारे सामने भोग की रुचि के नाश का है, और कोई मौलिक प्रश्न नहीं है। इस भोग की रुचि को नाश करने के लिए ही हमें मिले हुए शरीर के द्वारा परिवार की, समाज की, संसार की सेवा करनी है। भोग नहीं करना है, सेवा करनी है। सेवा क्या है? सेवा में दूसरे का हित निहित होता है। भोग में अपना सुख निहित होता है। तो हम अपने सुख के लिए मिली हुई वस्तु-रूपी शरीर का, योग्यता का, सामर्थ्य का उपयोग न करें। अपितु परहित में मिले हुए शरीर का, योग्यता का, सामर्थ्य का उपयोग करें। यह मिले हुए दृश्य का, प्रतीत होने वाले दृश्य का, परस्पर एक सहयोग है—निर्वाह है। इससे शरीर और संसार का परस्पर निर्वाह सिद्ध हो जाएगा। अगर इस नीति को आप मानेंगे तब तो ठीक और अगर सेवा के फल में भी आपको अपना ही सुख चाहिए, तो फिर बात नहीं बनेगी। अत: सेवा और त्याग से आपको प्रेम तत्त्व की प्राप्ति होगी और प्रेम तत्त्व की प्राप्ति से ही आपके जीवन में पूर्णता होगी। यह निर्विवाद सत्य है।

5

(अ)

प्रवचन :

मनुष्य के जीवन की समस्याओं पर विचार करने से ऐसा लगता है कि एक बड़ी समस्या यह भी है हमारे सामने कि मौजूद परमात्मा दूर मालूम होता है और जिस जगत् से हमारा किसी भी काल में सम्बन्ध नहीं हुआ वह मिला हुआ मालूम होता है, समीप मालूम होता है। यह एक साधक के जीवन की समस्या है। जिसका वास्तव में अस्तित्व नहीं है, वह प्राप्त मालूम होता है और जिसका नित्य अस्तित्व है वह दूर मालूम होता है। यह भाषा आप लोगों की समझ में आती है? यह एक साधक के जीवन की समस्या है। आप विचार करके देखिए कि परमात्मा उसे नहीं कहा गया जो सर्व देश में, सर्व काल में, सर्वत्र और सभी का न हो। इसका क्या अर्थ निकला कि जो अपना है, अभी है, अपने में है वह अप्राप्त मालूम होता है और जो किसी भी काल में अपना नहीं है, जिसकी स्वतन्त्र स्थिति भी नहीं है वह मालूम होता है कि हमको प्राप्त हो गया।

आप लोगों में कोई भाई, कोई बहन इस समस्या का अनुभव करते हैं कि नहीं करते, यह तो आप लोग ही जानें। यह जो समस्या है कि मौजूद परमात्मा अप्राप्त और अप्राप्त संसार प्राप्त, ऐसा जो हमको लगता है, इसका एक कारण है और वह कारण यह है कि हमने अपनी ही भूल से जो अपना है उसे अपना मानना बन्द कर दिया और जो अपना नहीं है उसे अपना मान लिया। अपना क्या नहीं है? इस प्रश्न को सामने रखा जाए तो साफ मालूम होता है कि जो सदैव हमारे साथ

नहीं रह सकता अथवा सदैव हम जिसके साथ नहीं रह सकते, वह अपना नहीं है। आप बताइए, जिन मिले हुए व्यक्तियों से, जिन मिली हुई वस्तुओं से, परिस्थितियों से हम अपनी ममता जोड़ते हैं, क्या यह सत्य है कि वे सदैव हमारे साथ रह सकती हैं? अथवा हम उनके साथ रह सकते हैं? सदैव का अर्थ यहाँ लेना चाहिए कि अखण्ड रूप से रह सकते हैं क्या? हमें बचपन की एक घटना याद आ गई। हम अपने मित्र के साथ बैठे बात कर रहे थे। तीन प्राणी थे—हम थे, हमारे मित्र थे और उनकी धर्मपत्नी थीं। ऐसे ही परस्पर स्नेह की बातें हो रही थीं। और यह बात मेरे मुँह से निकल कर फैल गई थी कि मैं साधु हो जाऊँगा। तो उन मित्र की धर्मपत्नी ने यह कहा कि जब आप साधु हो जाएँगे तो इस मुहब्बत को, इस प्रेम को कौन निभाएगा, जो हमारे और आपके बीच में है? कुटुम्बियों में आपस में मुहब्बत ही तो होती है। चाहे पति-पत्नी के बीच की बात हो, चाहे पिता-पुत्र के बीच की बात हो, चाहे भाई-भाई के बीच की बात हो। मुहब्बत होती है आपस में। एक-दूसरे को अपना मानते हैं। एक-दूसरे को प्यारा लगता है। तो उन्होंने कहा कि इस मुहब्बत को कौन निभाएगा। बिल्कुल बहुत छोटी उम्र की बात है यह मेरी। याद मुझको अब तक है। तो मैंने उनसे यह कहा कि देखिए, अभी हम और आप बात कर रहे हैं, अच्छा लग रहा है। यह अच्छा लगना सदा रह सकता है क्या? अभी-अभी हम सबको नींद सताएगी। और हम तीनों ही कहने लगेंगे एक-दूसरे से कि, "कल बात करेंगे, अब सो जाएँ।"

तो क्या यह समस्या नहीं है कि जो अच्छा लगता है वह हमेशा नहीं रहता। क्या राय है आपकी?

श्रोता—नहीं रहता।

अच्छा लगता है पर रहता नहीं। जब नहीं रहता तब क्या होता है? चित्त दुखी हो जाता है, निराश हो जाता है, अनेक प्रकार की मानसिक पीड़ाएँ होने लगती हैं। क्या बताएँ! हमारा इतना पुराना साथी चला गया; बड़े परिश्रम से वस्तु प्राप्त की थी, चली गई। इस तरह की एक व्यथा हृदय में जगती है। इस व्यथा की निवृत्ति हो जाए इसके लिए उपाय क्या है? इस पर जब विचार करते हैं तो ऐसा लगता है कि भाई, अगर वस्तु है तो उसका सदुपयोग करो। अगर कोई व्यक्ति है, साथी है तो उसकी सेवा करो। इसमें कोई हानि नहीं है। वस्तु का सदुपयोग भी कर सकते हैं, वस्तु का उपार्जन भी कर सकते हैं। व्यक्ति की सेवा भी कर सकते हैं। यह तो ठीक है। पर भाई मेरे, अगर जँच जाए बात तो उसे अपना मत मानो! न वस्तु को, न व्यक्ति को! वस्तु में अपना शरीर भी आता है। जिसके साथ सदैव नहीं रह सकते, जो हमारे साथ सदैव नहीं रह सकता उसे हम अपना न मानें। उसकी सेवा करें, जब तक सम्भव है। केवल इतनी ही बात से हम में एक दैवी-शक्ति आएगी और उसके आने से निर्विकारता भी प्राप्त होगी और निष्काम तथा असंग होने की सामर्थ्य आ जाएगी। मिली हुई वस्तु को, मिले हुए व्यक्तियों को बुरा न समझें। उनके साथ दुर्व्यवहार न करें, सद्व्यवहार करें। मिली हुई वस्तु को बुरा न समझें। उसका दुरुपयोग न करें, सदुपयोग करें। तब क्या होगा? तब हमें निर्ममता प्राप्त होगी। और जब निर्ममता प्राप्त होगी तब वस्तुओं के संग्रह की तो रुचि जाती रहेगी। और व्यक्तियों के साथ मोह का नाश हो जाएगा। मोह नहीं रहेगा। अर्थात् हमें निर्लोभता और निर्मोहता प्राप्त होगी।

जीवन का विज्ञान हमें यह प्रत्यक्ष करके दिखा देता है कि अगर हमारे जीवन में निर्लोभता आ जाय तो दरिद्रता नहीं रहती। और निर्मोहता आ जाय तो भय नहीं रहता। अब देखिए, यह जीवन की बात है। यह अनुभव करके देखने की बात है कि सही अर्थ में अगर हम

निर्लोभ हो जाएँ तो हम दरिद्र नहीं रह सकते, और सही अर्थ में अगर निर्मोही हो जाए तो भय नहीं रह सकता! अभय होने के लिए निर्मोही होना बहुत आवश्यक है। दरिद्रता मिटाने के लिए निर्लोभी होना बहुत आवश्यक है। आप कहेंगे, दरिद्रता मिटने का अर्थ क्या है? दरिद्रता मिटने का अर्थ यह है कि आवश्यक कार्य पूरा हो जाएगा, आवश्यक वस्तु अवश्य मिल जाएगी। इसका अर्थ यह नहीं है कि आप करोड़पति हो जाएँगे। या कि आपके पास बहुत सी सम्पत्ति हो जाएगी। और भय आपको कोई नहीं रहेगा। जिसके जीवन में मोह नहीं रहता उसके जीवन में भय नहीं रहता। निर्भयता जब प्राप्त होती है तो उसमें एक बड़ा अलौकिक रस मालूम होता है। बड़ी अपूर्व प्रसन्नता मालूम होती है। भयभीत जीवन में सदैव ही खिन्नता, नीरसता और अभाव रहता है। भय-रहित जीवन में अभाव नहीं रहता, नीरसता नहीं रहती, खिन्नता नहीं रहती—ऐसा मेरा विश्वास और अनुभव है। इसलिए भाई, कड़ा हृदय करके धीरज के साथ सोचें। बहुत बुरा लगता है। प्राण-प्यारी पत्नी हो और हम यह मानें कि यह मेरी नहीं है यानी उसका पति माने कि मेरी नहीं है। तो यह कोई आसान बात नहीं है। क्या राय है? प्राण-प्यारा बेटा हो और पिता कहे कि मेरा नहीं है। बड़ा ही स्नेही, उदार पिता हो, पुत्र कहे कि तुम मेरे नहीं हो। आज्ञाकारी मित्र हो और मित्र कहे कि तुम मेरे नहीं हो। बड़ा कठिन लगता है। लगता है बड़ा कठिन पर है सत्य। यह कठिन मालूम होता है जरूर, पर सत्य है। अब यदि हम इस सत्य को मान लेते हैं, तो फिर ये अनेक ममताएँ मिट करके कहाँ जाएँ? गुरुवाणी से हमने सुना है, वेदवाणी से हमने सुना है कि वह जो इन्द्रियों की सीमा में न आने वाला, बुद्धि की सीमा में न आने वाला परमात्मा है। मन-वाणी को अगम-अगोचर, अविगत, अकथ, अपार जो बुद्धि से परे परमात्मा है भाई! केवल उसको, अपना मान लो। अगर हम केवल परमात्मा को अपना मान लें और सब प्रकार से उसी के

होकर रहें और उन्हीं के नाते सबके प्रति सद्भाव रखें तो यह निर्विवाद सत्य है कि हमारा उन्हीं में नित्य-वास रहेगा।

अगर यह बात आप भाई-बहनों को जँचती हो, रुचती हो और पसन्द आती हो, तो काल्पनिक ममताओं को तोड़कर वास्तविक आत्मीयता को अपनाकर हम प्रभु को अपना मान लें। अब देखिए, यह ऐसी बात नहीं है कि जिसे हम और आप पूरा नहीं कर सकते। क्या राय है? किसी भाई को, किसी बहन को इसके सम्बन्ध में कोई तर्क हो तो करो। परमात्मा को अपना मानने में हम लोगों को क्या कठिनाई मालूम होती है? और प्रिय-जनों की सेवा करते हुए, वस्तुओं का सदुपयोग करते हुए, उनको अपना न मानने में क्या कठिनाई मालूम होती है? ये दोनों बातें आपको ही करनी होंगी। यह शरीर-धर्म नहीं है, यह स्वधर्म है। स्वधर्म अर्थात् जीवन का सत्य है। यह जीवन का सत्य कि प्रिय-जनों की सेवा करेंगे, पर उनको अपना नहीं मानेंगे और जिसे देखा नहीं है उसे अपना मानेंगे। बड़े साहस की बात है। क्या राय है? किसी के मन में कोई बात उठती हो तो बोलो भाई ! क्योंकि बातचीत करने से ज्यादा समझ में आता है। यानी सेवा करें और अपना न मानें और दिखाई न दें और उसे अपना मानें ! अगर यह कार्यक्रम आप पूरा कर सकते हैं तो वह अनदेखा, जो देखने में नहीं आता, वह सदा के लिए अनदेखा नहीं रहेगा। जो दूर मालूम होता था वह प्राप्त मालूम होगा, मिला हुआ मालूम होगा। उसे न दिखने वाले प्रभु से दूरी नहीं रहेगी भेद भी नहीं रहेगा, भिन्नता भी नहीं रहेगी। दूरी मिट जाती है तो उसका नाम योग हो जाता है। भेद मिट जाता है तो उसका नाम बोध हो जाता है और भिन्नता मिट जाए तो उसका नाम प्रेम हो जाता है। अर्थात् हम सभी को योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति होगी।

श्रोता—दूरी, भेद, भिन्नता से पहले यह वाक्य निकला था कि न दिखने वाला, न दिखने वाला नहीं रहेगा। इसका क्या अर्थ है?

स्वामी जी—हाँ। जो वाक्य निकला था वह यह था कि न दिखने वाला, न दिखने वाला नहीं रहेगा, दिख जाएगा। पर इन्द्रियगोचर होकर नहीं। प्रीति होकर तुम उससे अभिन्न हो जाओगे। योग होकर तुम उससे अभिन्न हो जाओगे। बोध होकर तुम उससे अभिन्न हो जाओगे। यानी जो आज दिखाई नहीं देता है, मालूम नहीं पड़ता है, इस तरह का रहेगा नहीं। वह नित्य प्राप्त हो जाएगा। अब आ गया समझ में?

श्रोता—हाँ जी, आ गया।

नित्य-प्राप्त हो जाएगा। और परमात्मा कहते ही उसको हैं जो नित्य-प्राप्त हो। जो कभी मिले और कभी अलग हो जाए, उसका नाम परमात्मा नहीं होता। किसी को मिले, किसी को न मिले उसका नाम परमात्मा नहीं होता। कहीं हो और कहीं न हो उसका नाम परमात्मा नहीं होता। परमात्मा उसी का नाम है जो सभी का हो, सदैव हो, सर्वत्र हो। तो, जो सभी का है वह अपना नहीं है क्या? सदैव है तो अभी नहीं है क्या? सर्वत्र है तो अपने में नहीं है क्या? पर हम उसे अपना नहीं मानते इसलिए उससे दूरी अनुभव कर रहे हैं। और मिले हुए शरीर को, मिले हुए साथियों को, मिले हुए सामान को हम अपना मानते हैं। इसलिए उनकी समीपता का अनुभव कर रहे हैं, उनकी प्राप्ति अनुभव कर रहे हैं। वास्तव में इनकी प्राप्ति है नहीं। शरीर हम सबको प्राप्त दिखता है। कैसे कौतूहल की बात है, आश्चर्य की बात है। लोग कहते हैं कि अभी तो मौजूद है, छूटेगा तब छूट जाएगा। अरे बाबा! छूटा है, मौजूद दिखता है, है नहीं। क्योंकि 'मैं' का और 'यह' का कभी सम्बन्ध

हुआ नहीं। ममता के कारण 'मैं' का और 'यह' का सम्बन्ध मालूम होता है। और परमात्मा से कभी दूरी हुई नहीं, आत्मीयता के अभाव से दूरी मालूम होती है। अगर यह बात अपको जँचे, रुचे तो अनुभव करके देख लें। न जँचे तो तुम्हारी मर्जी।

तो ये दो बातें इतनी अधिक आवश्यक हैं हृदय की शान्ति के लिए, दुःख की अत्यन्त निवृत्ति के लिए, नीरसता और अभाव के मिटाने के लिए कि अगर मिले हुए को अपना न मानें और प्रभु को अपना मानें। मैं यह नहीं कहता हूँ कि आपको जो कुछ मिला हुआ है उसको यमुना में फेंक दो। यहाँ तो यमुना है गंगा तो है नहीं। मैं यह नहीं कहता। मैं ऐसा भी नहीं कहता कि उसका उपयोग मत करो। ऐसा भी नहीं कहता हूँ कि उसकी हिफाजत मत करो। पर भाई, यह जरूर कहता हूँ कि अपना मत मानो। देखभाल करो, सदुपयोग करो पर उसकी निन्दा मत करो। यह नहीं कहता हूँ कि निन्दा करो। पर अपना मत मानो। और केवल प्रभु को अपना मानो। अगर यह बात आपको अपनी बात मालूम हो तो मानो। मेरी बात मालूम हो तो मत मानिएगा। अपनी बात मालूम हो तो मानो। और भाई सद्पुरुषों की बात मालूम हो तो भी मानो और वेदवाणी मालूम हो तो भी मानो। अपनी मालूम हो, वेद-वाणी मालूम हो, गुरुवाणी मालूम हो तो मान लो। और ये तीनों बातें न मालूम हों तो मत मानो।

तो वेद-वाणी से भी यह बात हमने सुनी है, गुरु-वाणी से भी यह बात सुनी है और जीवन में अनुभव करके भी देखा है कि अपना अगर कोई हो सकता है तो केवल परमात्मा ही हो सकता है और कोई अपना नहीं हो सकता। और वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का अगर कोई उपयोग हो सकता है तो केवल सेवा हो सकती है। नहीं तो भोग करोगे तो मोह

और आसक्ति में आबद्ध हो जाओगे। और ज्ञान का कोई भी प्रभाव हो सकता है तो यही हो सकता है कि **मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए।** इसी को मानव-सेवा-संघ की प्रणाली में "सत्संग" कहते हैं। जो इस सत्य को स्वीकार कर लेगा वह सत्संगी हो जाएगा। सत्संगी हो जाएगा तो साधनिष्ठ हो जाएगा। उसे योग प्राप्त हो जाएगा। योग माने साधन। बोध प्राप्त हो जाएगा। बोध माने साधन। प्रेम प्राप्त हो जाएगा। प्रेम माने साधन। तीनों को इकट्ठा कर दो तो इसका नाम होगा साधना। और साधना जो होती है, इसमें अब कुछ लोगों का मतभेद होगा। साधना जो होती है उसमें सत्ता साध्य की ही होती है, साधक की नहीं होती। इस पर जरा गौर करना। साधना जो होती है उसमें सत्ता साध्य की ही होती है। यानी साध्य का ही एक रूप है जिसे साधना कहते हैं और उसी साधना से हम साधकों की अभिन्नता होती है। अत: साधना में सत्ता साध्य की होती है इस दृष्टि से हम सबका जीवन एक उस अलौकिक तत्त्व को प्राप्त कर सकता है, जहाँ केवल अद्वैत है और कुछ नहीं। अद्वैत माने और कोई नहीं है और कुछ नहीं है, केवल अद्वैत। अद्वैत शब्द का अर्थ हमारे गुरु महाराज प्रेम बताया करते थे। अद्वैत शब्द का अर्थ सन्त लोग बोध बताया करते हैं और योगी लोग योग बताया करते हैं। योग में अद्वैत है, बोध में अद्वैत है, प्रेम में अद्वैत है।

यह बात अगर आपको जँचती हो, रुचती हो तो देखो। कितना सुगम साधन है, कितना सुगम उपाय है। उपाय इतना सुगम है भैया, अपना न मानकर सदुपयोग नहीं कर सकते? सेवा नहीं कर सकते? क्या राय है? आप जाकर बड़े-बड़े जनरल मैनेजरों को देखो। वे जानते हैं कि फैक्टरी उनकी नही है लेकिन फैक्टरी की सेवा करते हैं कि नहीं।

श्रोता—जी ! करते हैं।

तो हमको-आपको जहाँ-जहाँ मैनेजमेन्ट मिला है, काम करने को मिला है तो काम तो कर सकते हैं भाई, बिना अपना माने भी। सेवा भी कर सकते हैं, अपना बिना माने भी। हाँ प्रभु के नाते से करो, आत्मा के नाते से करो, जगत् के नाते से करो। जगत् एक इकाई है, उसमें सब आ गया। आत्मा एक इकाई है, उसमें सब आ गया। परमात्मा एक इकाई है, उसमें सब आ गया। अब आप परमात्मा के मानने वाले हो तो परमात्मा के नाते सेवा करो और आत्मा को मानने वाले हो तो आत्मा के नाते सेवा करो और जगत् के मानने वाले हो तो जगत् के नाते सेवा करो। तो आपको मिलेगा क्या? सेवक को क्या मिलता है—प्रेम। जिसकी तुम सेवा करोगे उसका तुम्हें प्रेम मिलेगा। तुम्हें मिलेगा विश्व-प्रेम, आत्म-रति और प्रभु-प्रेम। यानी तुमको जो मिलेगा वह प्रेम ही मिलेगा और कुछ तुम्हें मिलने वाला नहीं। वह प्रेम आपको मिल सकता है। उसी प्रेम का जो विवेकात्मक रूप है वह बोध कहलाता है। और कोई चीज थोड़े ही है, वह प्रेम ही है। जैसे अपने में (अपनी चीज में) अपना प्रेम होता है कि नहीं होता है? और अपने में (स्वयं में) अपना प्रेम होता है कि नहीं होता है? बोलो। "अपने" में अपना प्रेम होता है और अपने में 'अपना' प्रेम होता है। अगर परमात्मा को अपना मानोगे तो भी प्रेम ही मिलेगा, और अपने को आत्मा मानोगे तो भी प्रेम ही मिलेगा और अपने को जगत् मानोगे तो भी प्रेम ही मिलेगा।

क्या आप शरीर को संसार की सीमा के बाहर ले जा सकते हैं, किसी दशा में भी? देखो ! शरीर और संसार का इतना अविभाज्य सम्बन्ध है कि संसार से ही तो शरीर की उत्पत्ति हुई। विचार करके देखो ! खुराक खाई। खुराक कहाँ से आई? भूमि से आई, जल से आई, वायु से आई, आकाश से आई—प्राकृतिक पदार्थ इन्हीं से बनते हैं

सब। क्या राय है? तो इन पंचभूतों से ही खुराक बनी। खुराक से ही रज-वीर्य बना, रज-वीर्य से ही तुम्हारा यह शरीर का पिंड बना। तो स्थित भी रहा संसार में ही, और लय हुआ तब ____। तो उत्पत्ति से पूर्व शरीर संसार में था उत्पत्ति के बाद भी संसार में है। और लय होने पर भी संसार में है। तो अगर आप शरीर को अपना कह सकते हैं तो विश्व को अपना क्यों नहीं कह सकते? कोई आप को कहे, यह अँगुली हमारी है, लाइए इसे तोड़ दें। पसन्द करोगे? तो इसलिए विश्व भी आपका स्वरूप है, आत्मा भी आपका स्वरूप है और परमात्मा भी आपका स्वरूप है। चाहे परमात्मा के नाते सभी की सेवा करो, चाहे आत्मा के नाते सभी की सेवा करो, चाहे विश्व के नाते सभी की सेवा करो। करना है अगर कुछ तो केवल सेवा करना है और मिलना है अगर कुछ तो केवल प्रेम मिलना है। अगर कोई मिलने वाला तत्त्व है तो वह प्रेम है और करने वाला तत्त्व है तो सेवा है अथवा तीसरी चीज त्याग है—अचाह होना, मेरा कुछ नहीं। तो सेवा-त्याग-प्रेम ही तो मनुष्य का पुरुषार्थ है? क्या राय है? कि और कुछ पुरुषार्थ है। जी! और कोई पुरुषार्थ नहीं। रोज आप लोग प्रार्थना करते हो—सभी का जीवन सेवा, त्याग, प्रेम से परिपूर्ण हो जाए। तो सेवा करना था कि ममता का भार रखना था अपने ऊपर। क्या राय है?

एक बड़ी ही दुखद घटना सुनाते हैं हम आपको, और जिस पर बीती है, उसी की कही हुई सुनाते हैं। सन्' 59 में ही उनसे हमारी भेंट हुई थी। हार्ट (हृदय) का जब मुझको अटैक हुआ था, उसके पहले या उसके आसपास ही भेंट हुई थी। उन्होंने ही मेरी चिकित्सा शुरू की थी। डॉक्टर की फीस वे ही दिया करती थीं। वीणा बहन नाम था उनका। सीता राम सोढ़ानी उनके पति थे। तो महाराज, उनका इकलौता लड़का था जो किसी भयंकर रोग से पीड़ित था। उन्होंने पूरी शक्ति

लगा कर तन, मन, धन से उसकी खूब सेवा की। और सुना तो मैंने यहाँ तक था कि उन्होंने दूसरा बच्चा पैदा नहीं किया क्योंकि दूसरा अच्छा बच्चा पैदा हो जाएगा तो इस बीमार बच्चे से मन हट जाएगा। अब आप सोच सकते हैं कि कितनी आदर्श माँ थीं। तो महाराज, बड़ी गहरी ममता थी उस लड़के के भीतर उनकी। तो वे हमको सुनाने लगीं। डॉक्टर बैठे हुए थे, हर तरह की चिकित्सा हो चुकी थी। हार्ट ठीक चल रहा था, होश में था बालक। वह अपनी माँ को 'बा' कहता था। तो कहने लगा—'बा' ! 'अब तुम मुझे जाने दो।' यानी उनकी ममता इतनी गहरे पकड़े हुई थी कि उस लड़के को मरने में भयंकर कष्ट हो रहा था। 'बा मुझको जाने दो', 'बा मुझको जाने दो'—वे कहती जाती थीं, आँसू गिरते जाते थे। मेरा भी हृदय भर आया सुनकर। तो माँ ने कड़ा हृदय करके कहा—'बेटा ! अगर तुमको जाने में आनन्द है तो अब तुम जाओ।' तो मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि कोई भी सम्बन्धी, आपका प्रिय-जन कितना ही प्रिय हो, अगर आप उसकी ममता नहीं तोड़ेंगे तो स्वयं तो दुखी रहेंगे ही, उसे भी दुःख होगा। इसलिए ममता तोड़नी चाहिए जीवित रहते हुए ही। और न रहने पर भी न तोड़ना तो बड़ी भारी गलती है।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि दो बातें साधक के जीवन की समस्याएँ मालूम हुईं मुझे कि केवल प्रभु को ही अपना मानें। वे चाहे जो हों, चाहे कुछ करें। मिलें चाहे न मिलें, कुछ परवाह नहीं। या तो हम अपना मानेंगे तो केवल प्रभु को ही अपना मानेंगे और किसी को अपना मानेंगे नहीं। यह बात अगर आपको जँच जाए, रुच जाए तो आपका दुखी हृदय पीड़ित हृदय शान्त हो सकता है। और आप अलौकिक जीवन के साथ अभिन्न हो सकते हैं, जो जीवन कभी भी, किसी भी महामानव को मिला है। जिसमें केवल रस है, न सुख है न

दुख है। केवल रस है। और अगर इस सत्य को नहीं मानेंगे तो सुख भोगेंगे अपनी मर्जी से और दुख भोगना पड़ेगा बेबसी से। साधक के जीवन की यह बड़ी भारी समस्या है कि क्या हम केवल सुख-दुःख भोगने के लिए ही पैदा हुए हैं? सुख-दुःख का उपयोग करने के लिए पैदा हुए हैं। अगर हमारे जीवन में दुःख आया है तो वह त्याग की प्रेरणा देता है। सुख आया है तो वह सेवा की प्रेरणा देता है। तीसरी चीज किसी भाई के जीवन में, किसी बहन के जीवन में है नहीं। या तो वह सुख अनुभव करेगा या वह दुःख अनुभव करेगा। तो सेवा करो अथवा त्याग करो, आपको प्रेम प्राप्त होगा। प्रेम दो ही चीजों से प्राप्त होता है—सेवा से और त्याग से। और किसी प्रकार प्रेम प्राप्त नहीं होता। यह जो आप चिन्तन करते रहते हैं, बड़ी गम्भीर बात है, चिन्तन करते-करते चिन्तन की आसक्ति प्राप्त होती है, प्रेम प्राप्त नहीं होता। अभ्यास करते-करते जिस तरह का हम अभ्यास करते हैं, उसके बिना करे हम रह नहीं सकते। करने से उसमें आसक्ति होती है, प्रेम नहीं होता। प्रेम तभी प्राप्त होता है—सेवा करो या त्याग करो। भाई ! सेवा करो या त्याग करो। त्याग माने अचाह होना। सेवा माने सभी के लिए उपयोगी होना, सभी में सद्भाव रखना।

तो सारांश क्या निकला? कि अगर आप प्रभु-विश्वासी हैं तो आपको यह व्रत लेना पड़ेगा—'अब मैं सब प्रकार से प्रभु का होकर ही रहूँगा। उन्हीं के नाते सभी के प्रति सद्भाव रखूँगा, तो सतगुरु-वाणी सुनने को मिलेगी कि 'बेटा ! तुम्हारा प्रभु में ही नित्य वास रहेगा।' 'प्रभु ही में नित्य वास रहेगा।' तुम अगर प्रीति बनोगे, प्रीति तुम्हारा स्वरूप होगा, तो वे प्रीतम होंगे ! और तुम अगर प्रीतम होगे तो वे प्रीति होंगे ! आप विचार करके देखो, यह ब्रज-भूमि है। यहाँ

राधा-कृष्ण का प्रेम बहुत प्रसिद्ध है। आपने रासलीला में भी देखा होगा, पोथी में भी पढ़ा होगा, सुना भी है। राधा कृष्ण की प्रेमी है, लेकिन क्या कृष्ण राधा के प्रेमी नहीं हैं? क्या राय है? आप जाकर देखिए, रास देखने वाले तो यहाँ बहुत हैं, बहुत देखते हैं। जाकर देखना कि जब राधा-कृष्ण का संवाद चलता है तो राधा कृष्ण की ओर देखती हैं, सखियों या सखाओं की ओर नहीं देखती हैं और कृष्ण राधा की ओर देखते हैं किसी और की ओर नहीं देखते। तो हमारे मन पर इसका यही असर पड़ा कि प्रेम तो इन दोनों में है। इसमें चाहे तुम शरणागत होकर राधा तत्त्व से अभिन्न हो जाओ, चाहे तुम असंग होकर कृष्ण-तत्त्व से अभिन्न हो जाओ। कृष्ण-तत्त्व से अभिन्न हो जाओगे तो राधा तुमको प्यारी लगेंगी। राधा-तत्त्व से अभिन्न हो जाओगे तो कृष्ण तुमको प्यारे लगेंगे। यह जीवन का सत्य है।

5

(ब)

प्रवचन :

हमारा साध्य क्या है? इस पर सोचिए जरा ! वह विवेक के आदर के पूर्व प्राप्त होगा नहीं। जब हम अपने साध्य को ही भूल जाते हैं और सुख, सुविधा, सम्मान को पसन्द कर लेते हैं या उसकी आवश्यकता का अनुभव करते हैं—सुख की, सुविधा की, सम्मान की—तब विवेक का अनादर कर बैठते हैं, सुख के लिए, सुविधा के लिए, सम्मान के लिए। अगर हमें अपने साध्य की विस्मृति न हो और हमारे जीवन में जो साधक-भाव है वह सजग बना रहे तो विवेक का आदर होने में कोई बल थोड़े ही लगाना पड़ता है ! तो साध्य की विस्मृति होना, यानी हम अपने साध्य को भूल जाते हैं, यही इसका कारण है।

अब सोचिए, साध्य किसे कहते हैं? साध्य उसे कहते हैं जिसकी प्राप्ति में विकल्प न हो, सन्देह न हो, निराशा न हो, उसको साध्य कहते हैं। जिसकी प्राप्ति में विकल्प है, सन्देह है वह साध्य नहीं कहलाता। अब सोचिए किस चीज की प्राप्ति में विकल्प नहीं होता। जो सदा हो और सभी के लिए हो, उसकी प्राप्ति में विकल्प नहीं होता। उत्पन्न हुई वस्तुओं में कोई वस्तु ऐसी है क्या, जो सदा के लिए हो अथवा सभी के लिए हो?

श्रोता—नहीं।

तो इसका मतलब यह हुआ कि हमारा साध्य कोई वस्तु नहीं हो सकता, कोई व्यक्ति नहीं हो सकता, कोई परिस्थिति नहीं हो सकती, कोई अवस्था नहीं हो सकती। क्योंकि, यह तो सबके लिए होती नहीं

और सदा के लिए रहती नहीं। जो वस्तु आपको प्राप्त है वह बहुतों को प्राप्त नहीं है, और जो बहुतों को प्राप्त है वह आपको प्राप्त नहीं है। और सदा के लिए भी आपको कोई वस्तु प्राप्त नहीं है। अतः हम इस सत्य को स्वीकार करें कि हमें वह नहीं चाहिए जो सभी के लिए और सदा के लिए नहीं है। अब इसके अतिरिक्त हमारी जितनी कामनाएँ हैं, उनको हम छोड़ दें—इसी बात पर कि उनकी पूर्ति सदा के लिए सम्भव नहीं है और सभी के लिए सम्भव नहीं है। कामना-पूर्ति कोई भी ऐसी नहीं है जो सदा के लिए हो और सभी के लिए हो। अतएव, हमें निष्काम होना ही पड़ेगा।

अब, निष्काम होने में कठिनाई क्या होती है, कि हम निर्मम नहीं होते। अगर हम निर्मम हो जाएँ, तो निष्काम होने की शक्ति आ जाए। और निष्काम हो जाएँ तो असंग होने की शक्ति आ जाए। और जब ये तीनों चीजें—निर्ममता, निष्कामता और असंगता आ जाती हैं तो निर्विकारता, शान्ति और स्वाधीनता भी प्राप्त हो जाती है। अब निर्विकारता, शान्ति और स्वाधीनता किसी वस्तु के आश्रित हैं क्या? कि अमुक वस्तु प्राप्त करने में हमें निर्विकारता, शान्ति और स्वाधीनता प्राप्त हो जाएगी? जी !

श्रोता—नहीं है।

किसी परिस्थिति के आश्रित हैं क्या? किसी अवस्था के आश्रित हैं क्या? तो जो चीज किसी वस्तु के आश्रित नहीं, किसी व्यक्ति के आश्रित नहीं, किसी परिस्थिति और अवस्था के आश्रित नहीं उस चीज की प्राप्ति में किसी वस्तु की अपेक्षा होती है क्या? किसी व्यक्ति की अपेक्षा होती है क्या? किसी परिस्थिति-विशेष की आवश्यकता होती है क्या?

श्रोता—नहीं होती।

अगर यह बात मालूम है तो फिर हमारे जीवन में अप्राप्त वस्तु का, अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन नहीं रहना चाहिए। किन्तु जब अपनी दशा देखते हैं तब मालूम होता है कि हम अप्राप्त वस्तु का, अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन करते हैं तो अपने विवेक का अनादर करना हुआ कि नहीं? जब एक ओर हम यह जानते हैं कि हमें जो चाहिए वह वस्तु के आश्रित नहीं है, व्यक्ति के आश्रित नहीं है, किसी परिस्थिति के आश्रित नहीं है। और सारी सृष्टि में वस्तु, व्यक्ति और परिस्थिति के सिवाय क्या दिखाई देता है आपको?

तो हमें जो चाहिए वह सृष्टि के आश्रित नहीं है। अब, यह बात अगर आपको जँच जाए, रुच जाए, पसन्द आ जाए तो हमारी दृष्टि में अपने लिए सृष्टि का आकर्षण रह सकता है क्या?

श्रोता—नहीं रह सकता।

और जब सृष्टि का आकर्षण नहीं रहता तब इन्द्रियाँ अविषय हो सकती हैं कि नहीं? जब इन्द्रियाँ अविषय होती हैं तब मन निर्विकल्प हो सकता है कि नहीं? और जब मन निर्विकल्प होता है तब बुद्धि सम हो सकती है कि नहीं? अब इन्द्रियों का अविषय होना, मन का निर्विकल्प होना, बुद्धि का सम होना—ये हमारे-आपके लिए सम्भव है या नहीं?

श्रोता—सम्भव है।

स्वामी जी—जब ये सम्भव है तो फिर हमें इसको प्राप्त करना चाहिए।

श्रोता—जरा कठिन बात है।

स्वामी जी—क्या कठिन बात है?

श्रोता—अभ्यास करने पर भी वृत्ति ..... ।

स्वामी जी—देखिए ! अभ्यास वस्तु के आश्रित होगा कि बिना वस्तु के।

श्रोता—वस्तु के।

स्वामी जी—तब यह तो हमारा प्रमाद है न। जिस बात को हम भूल जाते हैं उसका अभ्यास क्या करेंगे? यानी आप ज्ञान से अनुभव कर रहे हैं कि हमें जो चाहिए वह किसी वस्तु के, व्यक्ति के, परिस्थिति के आश्रित नहीं है। यह बात ज्ञान से जानते हैं या अभ्यास से?

श्रोता—ज्ञान से।

तो जो बात ज्ञान से सिद्ध है उसमें अभ्यास की अपेक्षा नहीं और जो बात विश्वास से साध्य है उसके लिए भी अभ्यास अपेक्षित नहीं। अभ्यास तो किया जाता है सही काम करने के लिए ! जैसे, रोटी कैसे पकानी चाहिए, उसके लिए अभ्यास होगा। लेकिन जो बात ज्ञान के द्वारा सिद्ध है, विश्वास के द्वारा साध्य है, उस के लिए अभ्यास की कहाँ अपेक्षा है? ज्ञान क्या शरीर-धर्म है? विश्वास क्या शरीर-धर्म है? बोलो भाई?

श्रोता—नहीं है।

जो शरीर-धर्म नहीं है उसके लिए शरीर की क्या अपेक्षा होगी? और शरीर के बिना आप अभ्यास कैसे करेंगे?

तो अब यह देखना चाहिए आपको कि अपने ज्ञान से क्या सत्य मालूम होता है? आपको अपने विश्वास से क्या साध्य मालूम होता है? यह जो विश्वास का तत्त्व है आप में, यह ज्ञान का जो तत्त्व है आपमें .... । अभ्यास तो सामर्थ्य के तत्त्व से न होगा? जो चीज ज्ञान से साध्य है वह चीज सामर्थ्य से साध्य होगी?

श्रोता—नहीं।

स्वामी जी—आप हमारे कहने से नहीं-नहीं कहते जाते हैं कि ऐसा वास्तव में अनुभव करते हैं? विचार करके देखो, जो बात ज्ञान से सिद्ध है, जो बात विश्वास से साध्य है उसके लिए अभ्यास की अपेक्षा नहीं होगी। अभ्यास की किसके लिए जरूरत है? जो शरीर से साध्य है, जो योग्यता से साध्य है, जो सामर्थ्य से साध्य है, उसके लिए अभ्यास चाहिए। पर यह बात ठहरती नहीं। क्यों नहीं ठहरती? क्योंकि हम अपने द्वारा अपने सत्य को स्वीकार नहीं करते। इसलिए नहीं ठहरती। हमारा सत्य क्या है? अगर हमें किसी परिस्थिति विशेष की आवश्यकता अनुभव होती है कि शरीर स्वस्थ जो जाए, आवश्यक वस्तु मिल जाए, तो इससे क्या होगा? कल्पना करो कि शरीर स्वस्थ हो गया तो क्या आपको निर्विकारता प्राप्त होगी? आवश्यक वस्तु के मिलने से क्या आपको चिरशान्ति प्राप्त होगी? क्या आपको स्वाधीनता प्राप्त होगी?

श्रोता—नहीं होगी।

जब इस बात को आप जानते हैं कि निर्विकारता, शान्ति, स्वाधीनता ये आवश्यक वस्तु की प्राप्ति से, शरीर के स्वस्थ होने से सम्भव नहीं है। हाँ! एक बात कह सकते हैं आप कि शरीर स्वस्थ हो और आपके पास आवश्यक वस्तु हो, तो उसके द्वारा पर-सेवा आप कर सकते हैं। लेकिन निर्विकारता और शान्ति प्राप्त कर सकते हैं क्या? स्वाधीनता प्राप्त कर सकते हैं क्या? यदि आपका शरीर स्वस्थ है तो किसी निर्बल के काम आ सकते हैं। अगर आपके पास आवश्यक वस्तु है तो जिसको वस्तु का अभाव हो उसके साथ सहयोग रख सकते हैं। क्या राय है? तो आवश्यक वस्तु, सामर्थ्य और योग्यता ये सेवा के लिए चाहिए कि निर्विकारता, शान्ति और स्वाधीनता के लिए चाहिए !

अब आप सोचिए कि जो भी वस्तु आपको प्राप्त है, जो भी योग्यता आपको प्राप्त है, जो भी सामर्थ्य प्राप्त है उसके द्वारा सेवा करते हैं कि भोग करते हैं?

श्रोता—सेवा होती नहीं।

श्री स्वामी जी—यह हम नहीं पूछते। आप करते क्या हैं?

श्रोता—भोग ही करते हैं।

अब देखिए, साफ मालूम हो गया कि हमें जो सेवा-सामग्री प्राप्त है, उसके द्वारा सेवा करते नहीं, उसके द्वारा करते हैं भोग। जब हम सेवा-सामग्री को भोग-सामग्री बना देते हैं तो उसी का परिणाम यह होता है कि हम मोह में और आसक्ति में आबद्ध हो जाते हैं। मोह में आबद्ध होने से और आसक्ति में आबद्ध होने से चैन मिलता है क्या? तो अपनी दशा के अध्ययन से हम इस बात का ठीक-ठीक अनुभव कर सकते हैं कि हमारे पास जो कुछ है वह सेवा-सामग्री है। जब सेवा-सामग्री है तो हमारा जीवन समाज के काम आना चाहिए। जब हमारा जीवन समाज के काम आएगा तो समाज की सामर्थ्य क्या हमारे काम नहीं आएगी?

श्रोता—आएगी।

क्या काम आएगी? सोचिए जरा ! शरीर को बनाए रखने में सहायता करेगी। क्या समाज में कोई ऐसी शक्ति है जो हमारे और **अपके** शरीर को नाश न होने दे?

श्रोता—नहीं है।

तात्पर्य क्या निकला कि अगर आप समाज की सेवा करेंगे तो समाज आपके शरीर की यथा-शक्ति सेवा करेगा। लेकिन न तो आप में यह सामर्थ्य है कि आप समाज के सारे दुःख का नाश कर सकें और न समाज में यह सामर्थ्य है कि आपके शरीर को अमर बना सके।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि फिर भी हम सोचें कि हम सेवा के बदले में शरीर को अमर बनाना चाहते हैं, सेवा के बदले में हम सर्व-दुःखों की निवृत्ति करना चाहते हैं, यह हो सकता है क्या?

श्रोता—नहीं हो सकता।

लेकिन एक बात है कि सेवा के द्वारा हम भोग की रुचि का नाश कर सकते हैं कि नहीं? सेवा के द्वारा सुख-भोग की रुचि का नाश हो सकता है कि नहीं? जब भोग की रुचि का नाश होगा तब आपको स्वतः योग प्राप्त होगा। जैसे भोग की रुचि, मोह और आसक्ति में आबद्ध करती है, वैसे ही योग हमें बोध और प्रेम से अभिन्न करता है। अगर यह बात आपको अपनी बात मालूम हो, आपना सत्य मालूम हो कि भाई, सेवा से भोग की रुचि का नाश होगा और भोग की रुचि के नाश होने से हमको योग प्राप्त होगा और योग प्राप्त होने से बोध और प्रेम प्राप्त होगा, तो इसे स्वीकार कीजिए। इसी को कर्मयोग कहते हैं। इसी को कर्त्तव्य-पथ कहते हैं। ऐसे ही विचार के द्वारा भोग की रुचि का नाश होगा और उसके द्वारा भी योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति होगी। इसी प्रकार शरणागति द्वारा भी भोग की रुचि का नाश होगा और उसके द्वारा भी योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति होगी।

तो, तीन पथ हुए। कर्त्तव्य-पथ से भी योग, बोध, प्रेम की प्राप्ति हो सकती है, विचार-पथ से भी योग, बोध, प्रेम की प्राप्ति हो सकती है और विश्वास-पथ से भी योग, बोध, प्रेम की प्राप्ति हो सकती है। अब आपको कौन-सा पथ अभीष्ट है, यह आप स्वयं निर्णय करेंगे। वैसे तो तीनों रहेंगे। कर्त्तव्य-पथ में भी विचार रहेगा, विश्वास रहेगा। विचार-पथ में भी विश्वास और कर्त्तव्य रहेगा, और विश्वास-पथ में भी कर्त्तव्य रहेगा, विचार रहेगा। अब यह आरम्भ की बात है कि आपने सेवा के द्वारा भोग की रुचि का नाश करने का प्रयास किया या विचार के द्वारा या विश्वास के द्वारा अथवा तीनों के द्वारा। इसमें आप स्वाधीन

हैं। क्योंकि तीनों का जो फल है वह एक है, तीन फल नहीं हैं। कर्त्तव्य-पथ से जिस योग की प्राप्ति होती है, उसी योग की प्राप्ति विचार-पथ से होती है। उसी योग की प्राप्ति विश्वास-पथ से होती है। योग एक मौलिक तत्त्व है।

योग का अर्थ क्या है? जो सदा है, सर्वदा है, सर्वत्र है, उसके साथ मिलना, उसके साथ मिलन का नाम योग होता है। और कभी है, कभी नहीं है, कहीं है, कहीं नहीं है—उसके साथ मिलने से भोग होता है। जो कहीं है कहीं नहीं है वह तो आपके जानने में आता है। लेकिन जो सदैव है, सर्वत्र है वह आपके जानने में नहीं आता, वह सुनने में आता है। कोई कहता है परमात्मा सदैव है, सर्वत्र है, सभी का है, समर्थ है और अद्वितीय है। तो यह जो विश्वास है आपका कि परमात्मा सभी का होने से अपना है, सदैव होने से अभी है, सर्वत्र होने से अपने में है, समर्थ है और अद्वितीय है। इस विश्वास का प्रभाव आपके जीवन पर क्या पड़ा? क्या आपने परमात्मा से भिन्न को अपना मानना बन्द कर दिया?

श्रोता—नहीं किया।

तो इसका अर्थ क्या हुआ कि आपने विश्वास का अनादर कर दिया। अच्छा, जो सदा के लिए नहीं है क्या उसको आपने नापसन्द कर दिया? नहीं, तो आपने विचार का अनादर कर दिया और जो दूसरों के लिए है उसको आपने दूसरों की सेवा में लगा दिया?

श्रोता—नहीं।

तो यह कर्त्तव्य-पथ का अनादर कर दिया। आप स्वयं अपनी मर्जी से ही कर्त्तव्य-पथ का अनादर करते हैं। अपनी मर्जी से ही विचार-पथ का अनादर करते हैं। अपनी मर्जी से ही विश्वास-पथ का अनादर करते हैं। कोई दूसरा आपसे अनादर कराता हो, ऐसा मैं नहीं मानता हूँ।

तो सबसे पहली बात क्या हुई? कि हम सत्पथ का अनादर नहीं करेंगे। यानी कर्त्तव्य से अपने को नहीं बचाएँगे, विचार से अपने को वंचित नहीं रखेंगे, विश्वास से अपने को रहित नहीं करेंगे। यही तो सत्पथ है—तीनों दृष्टियों से। अगर यह बात आपको जँच जाए, रुच जाए, पसन्द कर लें कि मैं कर्त्तव्य-पथ का अनादर नहीं करूँगा, विचार-पथ का अनादर नहीं करूँगा, विश्वास-पथ का अनादर नहीं करूँगा, अर्थात् सत्पथ का अनादर नहीं करूँगा। अब मैं आपसे क्या निवेदन करूँ? मन, वाणी, कर्म से बुराई-रहित होने पर कर्त्तव्य-पथ सिद्ध हो जाता है। **मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, मुझे अपने लिए कुछ नहीं करना है**—इस बात के मानने से विचार-पथ सिद्ध हो जाता है। प्रभु से भिन्न कोई और अपना है नहीं, हो सकता नहीं, होगा नहीं—इस बात को मानने से विश्वास-पथ सिद्ध हो जाता है। अब आप किस पथ से सिद्धि पाना चाहते हैं—इसका निर्णय आप स्वयं कर लीजिए। आपके करने वाली बात को दूसरा कोई नहीं कर सकता। दूसरा आपके सत्य का समर्थन कर सकता है, कोई नया सत्य आपके सामने नहीं रख सकता। तो मन, वाणी, कर्म से बुराई-रहित होने का व्रत आपको धर्मात्मा बना देगा, कर्त्तव्य-निष्ठ बना देगा। ज्ञान-पूर्वक निर्मम निष्काम होने का व्रत आपको ज्ञानयोगी बना देगा और श्रद्धा-विश्वास पूर्वक प्रभु के अस्तित्व को, महत्त्व को स्वीकार करने का व्रत आपको विश्वास-पथ का साधक बना देगा। और तीनों साथ लेकर चलो तो बहुत अच्छा। क्योंकि जीवन तो एक है, तुम भी एक हो। साधक भी एक। साध्य भी एक। साधना का ही यह विस्तार है।

धर्मात्मा होकर, जीवन-मुक्त होकर, प्रेमी होकर आपको वही जीवन मिलेगा जो किसी भी ऋषि-मुनि, पीर-पैगम्बर को मिला है।

लेकिन भाई, धर्मात्मा होना पड़ेगा, जीवन-मुक्त होना पड़ेगा, भगवद्-भक्त होना पड़ेगा। अगर धर्मात्मा होने से इन्कार करो, मुक्त होने से इन्कार करो, भक्त होने से इन्कार करो, तो कैसे प्राप्त होगा? तो आप पहले सोचिए कि आपने क्या तय किया है तीनों में से। कि धर्मात्मा होकर ही रहूँगा, मैं जीवन-मुक्त होकर ही रहूँगा, मैं भगवद्भक्त होकर ही रहूँगा ! इसमें कठिनाई कुछ नहीं है। बुराई छोड़ दी तो धर्मात्मा हो गए। मेरा कुछ नहीं है—यह जान लिया तो जीवन मुक्त हो गए। प्रभु अपने हैं—यह मान लिया तो भक्त हो गए। कठिनाई कुछ नहीं है। तीनों सुलभ हैं, तीनों सम्भव हैं। तो जिस प्रभु ने हमें यह स्वाधीनता दी है कि हम धर्मात्मा होकर, जीवन-मुक्त होकर, भगवद्-भक्त होकर उस जीवन को प्राप्त कर सकते हैं जो कभी भी, किसी भी ऋषि-मुनि, पीर-पैगम्बर को मिला है, उस प्रभु की महिमा गाओ।

6

(अ)

जीवन का सत्य क्या है? स्मृति और प्रियता में जीवन है। स्मृति और प्रियता की आवश्यकता अनुभव करने मात्र से भोग की रुचि का नाश होता है जिसके होने से योग की प्राप्ति होती है, योग से बोध और बोध से प्रेम मिलता है।

भोग की रुचि का नाश तथा योग, बोध प्रेम की अभिव्यक्ति सत्संग से सिद्ध होती है। सत्संग मनुष्य का स्वधर्म है। स्वधर्म-पालन से जीवन पूर्ण होता है।

प्रवचन :

योग-बोध-प्रेम की प्राप्ति ही मानव-मात्र का अपना लक्ष्य है। देखिए, यहाँ एक बड़ी गम्भीर बात है। भौतिक विज्ञानी हो, भौतिक वादी हो—अगर ईमानदार है तो योग से इन्कार नहीं कर सकता। और ऐसे ही कोई अध्यात्मवादी हो, तो बोध से इन्कार कर सकता है क्या? और ऐसे ही आस्थावान हो तो प्रेम से इन्कार कर सकता है क्या? अथवा यों कहिए कि योग से, बोध से, प्रेम से कोई इन्कार नहीं कर सकता। प्रेमास्पद को हम नहीं मानेंगे। पर प्रेम तो अपने को चाहिए, क्योंकि प्रेम में रस है। आत्मा को नहीं मानेंगे। लेकिन बोध तो हमको चाहिए, क्योंकि बोध में जीवन है। और भाई, हम संसार से ऊपर किसी वस्तु को नहीं मानेंगे। पर योग को तो मानना ही पड़ेगा, क्योंकि सामर्थ्य चाहिए, शान्ति चाहिए। योग जो है यह सामर्थ्य और शान्ति का प्रतीक है। बोध जो है यह जीवन का प्रतीक है। प्रेम जो है वह रस का प्रतीक है। अब बताइए शान्ति की माँग, अमर जीवन की माँग, रस-रूप जीवन की माँग किसको न होगी ! कौन इन्कार करेगा ! इसलिए मैं आपसे यह निवेदन करता हूँ कि मानव किसी भी सम्प्रदाय अथवा मत को मानने वाला हो, मानव होने के नाते जो जीवन का सत्य है वह सबको ही अभीष्ट होता है।

सभी को योग चाहिए, सभी को बोध चाहिए, सभी को प्रेम चाहिए। योग के बिना सामर्थ्य और शान्ति नहीं मिलती। बोध के बिना अमरत्व प्राप्त नहीं होता। प्रेम के बिना रस-रूप जीवन की अभिव्यक्ति नहीं होती। तो शान्ति और शक्ति भी चाहिए, अमरत्व भी चाहिए, रस-रूप जीवन भी चाहिए। क्या यह माँग किसी मत विशेष से सम्बन्ध

रखती है? क्या यह माँग किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्बन्ध रखती है? क्या यह माँग किसी व्यक्ति-विशेष से सम्बन्ध रखती है? अथवा मानवमात्र से सम्बन्ध रखती है?

श्रोता—मानवमात्र से।

तो जो चीज मानव-मात्र से सम्बन्ध रखती है उससे हमें कभी निराश होना चाहिए क्या? उससे तो कभी निराश नहीं होना चाहिए? जो चीज मानवमात्र से सम्बन्ध रखती है उससे कभी किसी को निराश नहीं होना चाहिए। अतः योग से, बोध से, प्रेम से कभी किसी को निराश नहीं होना चाहिए।

जब हम योग-बोध-प्रेम से निराश नहीं होते, तो योग की माँग से भी बोध और प्रेम प्राप्त होता है। बोध की माँग से भी योग और प्रेम प्राप्त होता है, उसे प्रेम की माँग से भी योग और बोध प्राप्त होता है। यह भी बड़ी विलक्षणता है। अब आप स्वतन्त्र हैं इस बात में कि चाहे केवल योग की आवश्यकता अनुभव करें अथवा केवल बोध की आवश्यकता अनुभव करें, अथवा केवल प्रेम की आवश्यकता अनुभव करें। प्रेम से भी दूरी, भेद, भिन्नता नहीं रहती। बोध से भी दूरी, भेद, भिन्नता नहीं रहती। तीनों की एक साथ आवश्यकता अनुभव करें तो भी कोई बात नहीं। तीन में से किसी एक की आवश्यकता अनुभव करें तो भी कोई बात नहीं। क्योंकि इन तीनों में एकत्व है। जहाँ वास्तविक योग है वहाँ बोध और प्रेम भी है। जहाँ वास्तविक बोध है, वहाँ प्रेम और योग भी है। जहाँ वास्तविक प्रेम है वहाँ योग और बोध भी है। अगर यह सत्य आपको जँचता हो, रुचता हो, पसन्द आता हो तो इस पर मनन किया जाए, विचार किया जाए और जल्दी-से-जल्दी इस वास्तविक आवश्यकता को अनुभव किया जाए। आवश्यकता अनुभव करने में तो कोई कठिनाई होती नहीं कभी किसी को। पूरी होगी कि नहीं, यह बात अलग है।

तो, आवश्यकता अनुभव करने में कभी किसी को कठिनाई नहीं होती। लेकिन मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि कामना के सम्बन्ध में यह कहना बिल्कुल यथार्थ है कि सभी कामनाएँ पूरी नहीं होतीं और हर कामना-पूर्ति का सुख नवीन कामना को जन्म देता है, अथवा जो कामना-पूर्ति में रमण करता है उसे कामना-पूर्ति का अभाव सहना ही पड़ता है। यह तो कह सकते हैं, सब कह सकते हैं, डंके की चोट कह सकते हैं। लेकिन कोई यह नहीं कह सकता कि माँग के पूरे होने से अभाव रह सकता है। क्यों? क्योंकि माँग उससे हमारा सम्बन्ध जोड़ देती है, उससे अभिन्न कर देती है, जो सदा ही सब प्रकार से पूर्ण है। जो अभाव और पराधीनता से रहित है। नीरसता से रहित है। यानी माँग उस अविनाशी-अनन्त तत्त्व से सम्बन्ध जोड़ती है, कामना इस परिवर्तनशील, गतिशील, अभावरूप दृश्य से सम्बन्ध जोड़ती है। कामना जो है वह हमारा दृश्य से सम्बन्ध जोड़ देती है और माँग हमारा उस अनन्त से सम्बन्ध जोड़ देती है जो कभी भी दृश्य नहीं है अथवा समस्त दृश्य का प्रकाशक और आधार है। यह दृश्य भी उसी के आश्रय से प्रतीत होता है। अगर उसका आश्रय न हो तो दृश्य की प्रतीति नहीं हो सकती।

इसलिए हमारे गुरुदेव ने बड़ी सुन्दर बात बताई हमको ! कहा कि बेटा देखो, प्रेम की तीन श्रेणियाँ हैं। पहली श्रेणी उन्होंने बताई कि यह जो कुछ है उन्हीं का है। 'उन्हीं का' शब्द बड़ा प्यारा लगता है। इस शब्द का हमारे यहाँ हिन्दू नारी बहुत प्रयोग करती हैं। 'उन्हीं का है', 'वे ही हैं'। हमारे पास चिट्ठियाँ आती हैं लड़कियों की। लिखती हैं—'इन्होंने' ऐसा कहा, 'उन्होंने' ऐसा कहा। इसका अर्थ है कि उनके पति ने कहा। तो यह सब कुछ जो दिखाई दे रहा है, उन्हीं का है।

उन्हीं का माने 'अपने' का है। इतनी बात मानने का परिणाम यह होता है कि जिनका यह जो कुछ है, उनसे मेरा नित्य सम्बन्ध नहीं हो जाता क्या? क्या राय है?

श्रोता—हो जाता है।

अच्छा, यह बात सिखाई नहीं गई, यह नहीं कहा गया कि हो जाता है। कह दिया गया कि यह सब उन्हीं का है। गुरु उसे नहीं कहते जो हर चीज सिखाता फिरे। गुरु एक ऐसे सत्य का बोध करा देता है जिसको अपनाने से सब कुछ अपने आप आ जाता है। तो महाराज ! यह सब कुछ उन्हीं का है—इसका अर्थ क्या हुआ कि मेरा नहीं है, किसी गैर का नहीं है। अगर यह बात आप मान लेते हैं कि मेरा नहीं है, किसी गैर का नहीं है तो यह जो कुछ है वह प्यारा लगता है कि अप्रिय लगता है? अच्छा, इसके प्रभाव से मुक्त होते हैं कि इसमें आबद्ध होते हैं? बोलो भाई ! देखो, मेरा नहीं है—इसके मानने से तो इसके प्रभाव से मुक्त होते हैं, और किसी गैर का नहीं है—इससे इसके प्रति सद्भाव और प्रियता उदय होती है। तो यह मनुष्य का अपना जीवन है कि वह दृश्य के प्रभाव से भी मुक्त हो और दृश्य के प्रति सद्भाव और सहयोग भी रखे। पहली बात है यह। यह मत कह देना कि बड़ी कठिन बात है, आखिरी बात है। यह सबसे पहली बात बताई हमें महाराज ने !

दूसरी बात बताई—कहा कि भाई देखो, यह जो कुछ जिसका है—अहा-हा-वह भी इसमें है। वह इसमें 'भी' है, इसमें 'ही' नहीं है। यहाँ जरा गम्भीरता से सोचना पड़ेगा। कहना पड़ेगा कि वह भी इसमें है, अर्थात् इसमें भी है। अब विचार कर देखो, अपना कहीं दिखाई देता हो, अपना कहीं भासता हो, हृदय में प्यार उमड़ता है कि नहीं? अवश्य

उमड़ता है। तो हृदय में प्यार जग जाता है। अरे ! हमारी परम्परा में, जिसमें मैं शिष्य रहा हूँ, उसमें एक महात्मा थे। वह हर किसी को 'नारायण' करके सम्बोधन करते थे—'आओ नारायण'। कोई आर्य समाजी आए तो, आओ आर्य-समाजी नारायण। कोई सनातनी आए तो—आओ सनातनी नारायण। आओ जैनी नारायण। आओ हिन्दू नारायण। आओ मुसलमान नारायण। आओ ईसाई नारायण। इस तरह कह कर सम्बोधन करते थे। उनकी बड़ी भारी निष्ठा इस बात में थी कि 'निज-प्रभु-मय देखहिं जगत।' 'निज-प्रभु-मय देखें जगत, केहि सन करें विरोध।' उसके हृदय में विरोध नहीं रहता। समता की गंगा लहराती है। उदारता की गंगा लहराती है। प्रियता की गंगा लहराती है। विरोध नहीं रहता। जहाँ विरोध नहीं है वहाँ समता है, उदारता है, प्रियता है। तो मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि जब इस सद्भाव से प्रीति का प्रभाव और बढ़ता है, और बढ़ता है, तब आखिरी बात महाराज ने कही कि भैया देखो, फिर वे ही हैं, सब नहीं हैं। उसी जीवन का नाम है 'ज्ञान-विज्ञान तृप्तात्मा'—हमारी राय में। उसी जीवन का नाम है—राधा और कृष्ण का विहार। उसी जीवन का नाम है—'सीता-राम का विहार' 'गौरी-शंकर का विहार।' अगर यह बात आपको जँचती हो, रुचती हो तो इस गुरु-वाक्य पर ध्यान दो कि 'सब कुछ उन्हीं का है। वे सबमें भी हैं, सबसे परे भी हैं। वास्तव में वे ही हैं और कुछ है ही नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं।' उन्हीं से हमारा 'मैं' योग होकर, बोध होकर, प्रेम होकर अभिन्न हो सकता है। यह जीवन का सत्य है। अगर आप चाहें तो इस सत्य को स्वीकार कर बड़ी सुगमतापूर्वक साधन निष्ठ हो जाएँ।

अब जो चर्चा आपकी सेवा में निवेदन की, इस चर्चा में किसी को किसी प्रकार का विकल्प उठता हो, सन्देह होता हो तो उसे प्रकट करो। बुद्धि-जन्य जो सन्देह होगा, उसका बुद्धि-जन्य समाधान भी हो जाएगा। किसी ने एक बार हमसे कहा—"तुम परमात्मा को सिद्ध कर सकते हो?" हमने कहा कि अगर परमात्मा के न होने की आप दस दलीलें करेंगे, तो उसके होने की हम ग्यारहवीं कर देंगे। क्योंकि सन्देह अगर आप करेंगे, सन्देह तो बुद्धि-जन्य ही होता है। तो निस्सन्देहता के लिए भी बुद्धि काम करती है। इसमें कोई विकल्प नहीं है मुझे। तो, मैं आपसे यह निवेदन कर रहा था कि क्या आज हम और आप इस मानवीय सत्य का आदर करेंगे? इसे अपनायेंगे? यदि अपनायेंगे, आदर करेंगे तो आप जानते हैं। मानव—आ ! हा !! हा !!! मानव उसे नहीं कहते जो जगत् और जगदाधार को प्यारा न लगे। 'सर्व-प्रिय' मानव का ही नाम है। मानव जगत् को भी प्यारा लगता है, क्योंकि उदार होता है, स्वाधीन होता है और परमात्मा को भी प्यारा लगता है, क्योंकि प्रेमी होता है। इसलिए मानव माने जो सभी को प्यारा लगे ऐसा जीवन जो सभी के लिए प्रिय है, मानव-मात्र को अभीष्ट है और मिल सकता है। यह बात मुझे प्रेरणा हुई, मैंने आपकी सेवा में निवेदन कर दी। अब कोई संकल्प-विकल्प करो, सन्देह करो !

श्रोता—सन्देह तो नहीं है, एक बात खुलासा करानी है कि आपने कहा उदारता भी अविनाशी तत्त्व है, स्वाधीनता भी अविनाशी तत्त्व है, प्रेम भी अविनाशी तत्त्व है और मानव भी अविनाशी तत्त्व है तो अविनाशी तत्त्व तो परमात्मा ही है। ये चार-पाँच होते हैं क्या?

स्वामी जी—पाँच नहीं होते। ये तीन गुण मानव में होते हैं, मानव में यह ईश्वर-प्रदत्त होते हैं; परमात्मा में स्वरूपजन्य होते हैं। मानव उदार है तो हमारे प्रभु परम उदार हैं। मानव स्वतन्त्र है तो प्रभु परम-स्वतन्त्र हैं, मानव प्रेमी है तो प्रभु प्रेम के भण्डार हैं। जैसे देखो न,

एक लहर में जो जल होता है तो सागर में भी तो जल ही होता है। सागर में कोई ऐसी चीज नहीं होती जो लहर में नहीं है। लेकिन लहर में जहाज नहीं चलता, सागर में चलता है। इतना फर्क है। मानव में और परमात्मा में कोई अगर भेद स्थापित करे तो—'स्वरूप की एकता, गुणों की भिन्नता'—ऐसा है। और किसी के मन में कोई बात उठती हो? लहर और सागर में जल ही जल है। जल न लहर है, न सागर है। ऐसे ही सत्ता रूप में परमात्मा ही परमात्मा है। चाहे उसको ईश्वर कहो, चाहे मत कहो। पर ऐसी बात आजकल लोग बरदाश्त नहीं करेंगे, ईश्वरवादियों की तो छाती फट जाएगी। परमात्मा को परमात्मा न कहने से भी परमात्मा ही प्राप्त होता है।

देखो ! दुनियाँ का सबसे बड़ा आदमी वह होता है जो अपनी दृष्टि में जैसा है वैसा ठीक-ठाक अनुभव कर ले। दूसरों की दृष्टि में अच्छा कहलाना कोई विशेष महत्त्व की बात नहीं है। क्यों नहीं है? कि यह तो आप जानते ही हैं कि सर्वांश में तो कोई बुरा होता नहीं कभी। और ऐसा देखा गया है कि जो कोई अपने को आदर देता है, सम्मान देता है, प्यार देता है, सुविधा देता है—वह हमें बहुत अच्छा मालूम होता है। लेकिन हम अपनी दृष्टि में कैसे हैं, यह देखने की बात है? जैसे साधक की दृष्टि से क्या सही अर्थ में हम स्वाधीन हैं?—यह देखना चाहिए। प्रेमी हैं? उदार हैं? अगर अपनी दृष्टि में हम उदार है, स्वाधीन हैं, प्रेमी हैं तो संसार की दृष्टि में कुछ भी हों, कोई चिन्ता की बात नहीं है। लेकिन हम अपनी दृष्टि में हों अनुदार, पराधीन, आसक्ति में आबद्ध ! क्योंकि प्रेम नहीं होगा तो आसक्ति होगी, यह नियम है। स्वाधीन नहीं होंगे तो पराधीन होंगे। ऐसा नहीं हो सकता है कि स्वाधीन नहीं हैं तो पराधीन न हों। पराधीन होंगे ही। उदार नहीं होंगे तो अनुदार होंगे, स्वार्थ भाव में डूबे होंगे। स्वार्थभाव, आसक्ति में आबद्ध, पराधीन, यह जरूर होंगे।

तो हम अपनी दृष्टि में कैसे हैं, इस पर विचार करना चाहिए। यह नहीं सोचना चाहिए कि हम तो बहुत बुरे हैं। देखकर एकदम से घबरा न जाएँ कि अरे ! हम तो बड़े मलीन हैं। ऐसा न करें। क्योंकि, घबराएगा तो सुपर ईगो जो होता है। (Super-ego) सुपर ईगो अंग्रेजी में कहते हैं। क्या कहेंगे उसे हिन्दी में? साइक्लाजी का टर्म है। इसकी हिन्दी क्या है?

श्रोता—ठीक मालूम नहीं।

कोई बात नहीं। उसका अर्थ यह है कि मनुष्य अपनी दृष्टि में अच्छा रहना चाहता है। अत: तत्काल ही अपने को क्षमा कर देता है कि 'ऐसा नहीं था ऐसा था।' 'इतना नहीं, यह था' इत्यादि। अब समझ में आया कि नहीं? भाषा समझ में आई आप लोगों के? तो पहले अपनी तस्वीर देखनी चाहिए। देखो ! उदार, स्वाधीन और प्रेमी होने के लिए बहुत-सा समय नहीं चाहिए। बहुत-सी सामर्थ्य नहीं चाहिए। कोई परिस्थिति-विशेष नहीं चाहिए। क्योंकि, अगर इसके लिए समय चाहिए, सामर्थ्य चाहिए, परिस्थिति-विशेष चाहिए, तो उसमें फिर सबका हक नहीं होगा। इसीलिए मानव-सेवा-संघ के सिद्धान्त में यह बात बताई गई कि मानव होने के नाते जो जीवन आपको मिल सकता है वह सभी मानवों को मिल सकता है। यह बात समझ में आती है आप लोगों के?

श्रोता—जी।

मिल सकता है मानव होने के नाते। और सामर्थ्य के नाते, योग्यता के नाते, परिस्थिति के नाते हो तो वह सबको नहीं मिल सकता। तो मानव होने के नाते यह तीन ही बातें मिल सकती हैं हमको। हर भाई, हर बहन उदार हो सकती है, स्वाधीन हो सकती है, प्रेमी हो सकती हैं।

यह उदारता, स्वाधीनता, प्रेम जो है यह मानवमात्र की अपनी निधि है। इससे किसी का नाम नहीं कट सकता। भाई, जिस किसी को भाषा समझ में न आए तो टोक देना। सूक्ष्म बात है जरा। तो, यह निधि है मनुष्य मात्र की अपनी कि हर भाई को, हर बहन को उदार होना चाहिए। हर भाई को, हर बहन को स्वाधीन होना चाहिए, प्रेमी होना चाहिए। क्यों? हो सकता है यों। ऐसा नहीं कि हो नहीं सकता। उदार भी हो सकता है, स्वाधीन भी हो सकता है, प्रेमी भी हो सकता है। एक बार मेरे दिल में यह ख्याल पैदा हुआ कि ये सारे लक्षण तो परमात्मा में हैं—परम उदार, परम स्वतन्त्र, परम प्रेम के भण्डार। तो मनुष्य की जो जातीय एकता है वह परमात्मा के साथ है। मनुष्य परमात्मा की जाति का है। शरीर संसार की जाति का है। आत्मा ब्रह्म की जाति का है। ऐसा यदि अलग-अलग कहें तो आत्मा-ब्रह्म दो चीज नहीं हैं। मनुष्य और परमात्मा की जाति एक है। शरीर और संसार की जाति एक है। तो आत्मा-ब्रह्म, मनुष्य और परमात्मा, यह जो शब्दावली है इसमें थोड़ा सोचना पड़ेगा। वह तो दार्शनिक भाषा है कि तत्त्व एक ही है। वही आत्मारूप से, वही ब्रह्म-रूप से है। और यह 'मानव' शब्द जो है। तत्त्व में तो कोई माँग नहीं होती न ! तत्त्व में माँग नहीं होती और मानव में तो माँग होती है। मानव उदार होना चाहता है, क्योंकि उदारता से उसे रस मिलता है। स्वाधीन होना चाहता है, क्योंकि स्वाधीनता से रस मिलता है। और प्रेमी होना चाहता है, क्योंकि प्रेम से उसे रस मिलता है। तो यह मानव शब्द जो है यह परमात्मा की जाति से मिलता है। और आत्मा शब्द जो है वह ब्रह्म की जाति से मिलता है। और शरीर शब्द जो है वह संसार की जाति से मिलता है अगर आप ब्रह्मवित् होना चाहते हैं तो पहले आपको आत्मवित् होना पड़ेगा, ऐस नियम है।

तो, मानव की जातीय एकता परमात्मा के साथ है। जिसके साथ हमारी जातीय एकता होती है, उसी के साथ नित्य-सम्बन्ध भी होता है और जिसके साथ नित्य-सम्बन्ध होता है, वह अपना होता है। ये तीन बातें जो बताई गईं, आपके सामने रखीं मानव-सेवा-संघ की प्रणाली में कि हे मानव! तुम प्रभु की जाति के हो। उनसे ही तुम्हारा नित्य सम्बन्ध है, वही तुम्हारे अपने हैं। आत्मीयता, नित्य सम्बन्ध और जातीयता। यह वैष्णव-धर्म का सार सर्वस्व है। वैष्णव-धर्म जो है उसका यह सार-सर्वस्व है। क्योंकि वे भगवान के साथ दास्य भाव से, सख्य भाव से, वात्सल्य भाव से, मधुर भाव से, सम्बन्ध जोड़ते हैं। 'मैं प्रभु का नित्य सखा हूँ।' 'मैं प्रभु का नित्य दास हूँ।' 'मैं प्रभु की नित्य प्रिया हूँ।' इस प्रकार का जो नित्य-सम्बन्ध स्वीकार किया जाता है—यह असल में वैष्णव धर्म है। आपने बल्लभ-सम्प्रदाय के लोगों से सुना होगा। वे कहते हैं कि पहले शरणागति ले लो। फिर ब्रह्म-सम्बन्ध ले लो। सुना होगा आप लोगों ने। ब्रह्म-सम्बन्ध होता है बल्लभ-सम्प्रदाय में। तो परमात्मा और मनुष्य इन दोनों में जातीय एकता है। इसीलिए वहाँ सेवा की प्रधानता है। बल्लभ सम्प्रदाय में सेवा की प्रधानता है, उपासना की प्रधानता नहीं है, चिन्तन की प्रधानता नहीं है। सेवा की प्रधानता है कि तुम भगवान को किस-किस प्रकार से, कैसी-कैसी सेवा करते हो, कैसे खिलाते हो, कैसे पिलाते हो आदि। असल में यह बल्लभ-सम्प्रदाय का सार-सर्वस्व है। एक बार हम नाथद्वारा में ठहरे हुए थे। तो वहाँ लोगों ने 'शरणागति तत्त्व' किताब पढ़ी तो यह कह दिया कि इस पर अगर गोस्वामी जी का नाम लिख दिया जाए कि बल्लभ-कुल के गोस्वामी जी ने लिखी है, तो आज लाखों की संख्या में बिक जाए। क्योंकि उस सम्प्रदाय का बहुत प्रचार है उधर।

तो, मैं यह निवेदन कर रहा था कि मनुष्य की जातीय एकता है—परमात्मा के साथ। और आत्मा की जातीय एकता है ब्रह्म के साथ। और शरीर की जातीय एकता है संसार के साथ। इसलिए शरीर के द्वारा आप किसी-न-किसी सत्-कार्य को ही कर सकते हैं, परमात्मा को, ब्रह्म को नहीं पकड़ सकते। यह शरीर ब्रह्म-प्राप्ति का साधन नहीं है। यह शरीर संसार की सेवा का साधन है। तो, वह कब होगी? जब आप उदार हों। उदार कब होंगे? जब प्रभु के नाते सबको अपना मानें, और उदार होने के लिए कोई विशेष योग्यता नहीं चाहिए। परमात्मा के नाते सभी अपने हैं, यह बात अगर आपको जँच जाए तो आप उदार हो सकते हैं। ऐसे ही अगर आप इस बात को मानें कि मेरा और संसार का कोई सम्बन्ध ही नहीं है तो आप स्वाधीन हो सकते हैं। और प्रभु से मेरा नित्य-सम्बन्ध है, आत्मीय-सम्बन्ध है—तो आप प्रेमी हो सकते हैं। मूल में सत्य तो तीन ही बातें हैं—संसार से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, प्रभु से मेरा नित्य-सम्बन्ध है; और शरीर और संसार में अविभाज्य सम्बन्ध है। मेरा सम्बन्ध नहीं है, लेकिन शरीर और संसार का अविभाज्य सम्बन्ध है। अगर यह सत्य आदमी मान लेता है तो, शरीर के द्वारा संसार के काम आता है। कैसे?—बुराई-रहित होकर। और कोई उपाय नहीं है काम आने का। मन से, वाणी से, कर्म से जो बुराई-रहित होगा, वह अपने आप संसार के काम आ जाएगा। संसार को जो **चाहिए**, वह यही एक चीज चाहिए, कि उसको ऐसा साथी चाहिए **जिसमें** बुराई न हो।

बुराई का अर्थ क्या है? जो सुख का लोलुप न हो। सुख-लोलुप को कहते हैं बुरा। बुराई का मूल है सुख-लोलुपता। मनुष्य अपनी सुख-लोलुपता से प्रेरित होकर ही दुराचार करता है, व्यभिचार

करता है, चोरी करता है, बदमाशी करता है, संग्रह करता है। यानी जितने दोष पैदा होते हैं, सब सुख-लोलुपता से पैदा होते हैं। और यह सुख-लोलुपता जो है यह पशुता है, यह मानवता नहीं है। जैसे एक पशु अपने सुख के लिए ही जीता है। वह नहीं जानता, दूसरे का हित किसे कहते हैं। अपने सुख के लिए जीता है या अपनी सीमा के भीतर जो उसको सुख के साधन मालूम देते हैं, जैसे माता-पिता, भाई-बहिन। भाई-बहिन का मालूम नहीं, माता-पिता का सम्बन्ध तो रहता है पशुओं में। भाई का रहता है या नहीं हमें नहीं मालूम। हाँ शहद की मक्खी वगैरह में जाति का भाव रहता है। वे जाति भर के लिए संग्रह करती हैं, अपने लिए नहीं। अतएव बुराई का मूल है सुख-लोलुपता और सुख-लोलुपता क्या है? इसको जरा अच्छे दृष्टि-कोण से देखा जाए तो सुख-लोलुपता का अर्थ है—पराधीनता को सहन करना। किसी प्रकार की भी अगर हम पराधीनता सहन करते हैं तो यह सुख-लोलुपता है। और पराधीनता को सहन कौन करता है, जो सभी के लिए उदार नहीं होता, जो स्वाधीन नहीं होता, जो प्रेमी नहीं होता।

6

(ब)

प्राय: सभी साधकों का यह अनुभव है कि जब वे शान्त रहना चाहते हैं तो उनके मन में उठने वाला व्यर्थ चिन्तन उनको बाधा पहुँचाता है। इस व्यर्थ चिन्तन का नाश करना साधक मात्र के लिए अनिवार्य है। प्रस्तुत प्रवचन में इस मनोवैज्ञानिक तथ्य पर प्रकाश डाला गया है कि व्यर्थ चिन्तन को किसी सार्थक चिन्तन से दबाकर उसका नाश नहीं किया जा सकता।

जीवन में जब रस घटता है तब व्यर्थ चिन्तन बढ़ता है। उदारता, स्वाधीनता और प्रेम के रस से व्यर्थ चिन्तन का नाश होता है।

(1) किसी न किसी नाते सभी को अपना मानना।

(2) शरीर एवं संसार से सम्बन्ध तोड़कर अकिंचन अचाह एवं अप्रयत्न होना।

(3) प्रभु को अपना मानकर प्रेम से अभिन्न होना, नीरसता के नाश के उपाय हैं।

(4) प्रेम रस की मधुरता में व्यर्थ चिन्तन सदा के लिए मिट जाता है।

प्रवचन :

अनुदार पुरुष ही पराधीनता पसन्द करता है। सुख-लोलुपता कहो, पराधीनता कहो एक ही बात है। जैसे बोलने से जो रस मिलेगा वह मुझे चाहिए, इसलिए मैं ऐसी वाणी चाहता हूँ कि बोलने की शक्ति का कभी ह्रास न हो। पर ऐसा है नहीं। शरीर द्वारा जितना जो कुछ हो सकता है उसमें शक्तिहीनता अवश्य ही आती है। इसलिए शरीर द्वारा अपने सुख का सम्पादन मत करो, अपनी रुचि की पूर्ति मत करो, अपितु समाज की माँग पूरी करो। समाज की माँग है कि हम मन से, कर्म से, वाणी से बुराई-रहित हों, जिससे कि हम भले हो जाएँ। भले होने से हमसे भलाई होने लगेगी। यही समाज की माँग है। देखिए, भलाई करके कोई भला नहीं होता, भला होकर के भलाई करता है। यह एक वैज्ञानिक तथ्य है। पहले हम भले होंगे, पीछे हमसे भलाई होगी। तो हम अपनी दृष्टि में भले हैं या नहीं, इस बात को सामने रखना चाहिए। हम अपनी दृष्टि में स्वाधीन हैं या नहीं, इस बात को अपने सामने रखना चाहिए। हम अपनी दृष्टि में प्रेमी हैं कि नहीं, इस बात को अपने सामने रखना चाहिए। अब किसी को कोई तर्क उठता हो, तो इसी सम्बन्ध में बात कर सकते हैं।

हम अपनी दृष्टि में प्रेमी हैं कि नहीं, भले हैं कि नहीं, स्वाधीन हैं कि नहीं!

श्रोता—महाराज जी ! हमारी दृष्टि इतनी ऊँची नहीं है।

स्वामी जी—ऊँची-नीची से काम नहीं बनेगा। आप वाचिक ज्ञान भूल जाओ। मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि आपके पास दृष्टि है। है न? परमात्मा में भी आस्था आप ही करते हो, परमात्मा थोड़े ही कहता है कि मैं आस्था देता हूँ अपनी तुम्हें। और सन्त में श्रद्धा आप ही करते हो और धर्म में आस्था भी आप ही करते हो। बात

ऊँची और नीची दृष्टि की नहीं है। हम अपनी दृष्टि में कैसे हैं, इस बात को देखना चाहिए। दो ही बातें हो सकती हैं। या तो उदार होंगे अथवा अनुदार होंगे। स्वाधीन होंगे या पराधीन होंगे। प्रेमी होंगे अथवा आसक्ति में आबद्ध होंगे। इसमें तो संशय की कोई बात ही नहीं है। अगर हम प्रेमी नहीं हैं तो आसक्त हैं। आसक्ति प्रेम का दूषित रूप है। अन्तर इतना होता है कि प्रेम में तो प्रिय को रस देने की बात होती है और आसक्ति में अपने में सुख लेने की बात होती है। इसलिए, आपने देखा होगा कि जो लोग भले हो जाते हैं, उनके द्वारा भलाई होने लगती है। भलाई होने पर समाज की ओर से उनके प्रति जो सम्मान आता है, आदर आता है, सुविधा आती है उसका वे भोग करने लगते हैं। जिससे वे फिर पराधीन हो जाते हैं। यह गम्भीर बात है कि भला होकर ही मनुष्य पराधीन होता है, बुरा होकर पराधीन नहीं होता।

श्रोता—भला होकर ही पराधीन होता है?

स्वामी जी—तुम जब भले हो जाओगे, तो तुम से भलाई होगी। लोग कहेंगे कि अमुक साहब बड़े अच्छे आदमी हैं। किसी नालायक को कोई अच्छा आदमी कहता है क्या? तो भले होना यह पहली बात है। भले होते हैं बुराई छोड़ने से। बुराई छोड़ने से जब भले हो जाते हैं तो हमसे भलाई स्वत: होने लगती है। परन्तु जब भलाई का सुख भोगने लगते हैं तो फिर पराधीन हो जाते हैं। इसलिए तीनों चीजें चाहिए जीवन में। हम अपनी दृष्टि में भले भी हों, स्वाधीन भी हों और प्रेमी भी हों। भले कहो चाहे उदार कहो, एक ही बात है।

तो, मैं आपसे यह निवेदन कर रहा था कि इस बात को बड़ी ही गम्भीरता से, धीरज के साथ हर भाई को हर बहन को देखना चाहिए कि हम अपनी दृष्टि में कैसे हैं? अब जैसे, मान लीजिए, यह शरीर छूटने वाला है, छूटते तो सभी शरीर हैं। पर इसके लक्षण ऐसे हैं कि जल्दी छूट जाएगा। तो अब आप लोगों को जो भय होता है, वह क्यों

होता है? उसके मूल में कोई आसक्ति है। आसक्ति क्यों है? क्योंकि हमने सुख लिया है, दिया नहीं है। अरे भाई? स्वामी जी नहीं रहेंगे तो संस्था नहीं चलेगी? क्यों भाई, क्यों नहीं चलेगी? जब तुम संस्था के साधक हो तो इतना इन्तजाम कौन करेगा, यह सब इतना कौन करेगा? ऐसा सोचने का मतलब है कि तुम सही साधक नहीं हो। नहीं तो संस्था कैसे बिगड़ जाएगी। अगर एक भी साधक रहेगा तो संस्था रहेगी और साधक नहीं है तो बिगड़ी ही है। मानव-सेवा-संघ माने साधकों का संघ। मानव-सेवा-संघ कोई व्यक्तियों का संघ थोड़े ही है अथवा किसी वर्ग का, किसी मत और सम्प्रदाय का संघ थोड़े ही है।

साधक कौन होता है? जो भला हो, स्वाधीन हो, प्रेमी हो, अथवा भले होने के लिए, स्वाधीन होने के लिए, प्रेमी होने के लिए अथक प्रयत्नशील हो। अथक प्रयत्नशील हो इस बात के लिए कि मैं किसी तरह से भला हो जाऊँ, जल्दी से जल्दी स्वाधीन हो जाऊँ, प्रेमी हो जाऊँ। तो बिल्कुल साफ रास्ता दिखाई देता है कि भाई, की हुई बुराई को दुहराओ मत, जानी हुई बुराई करो मत, लो ! हो गए भले। जिस बुराई को कर चुके हो, उसको तो दुहराओ मत और आगे करो मत। जिस बुराई को बुराई करके जानते हो, उसको करो मत। जानी हुई बुराई मत करो, की हुई बुराई मत दुहराओ, भले हो जाओगे। और भाई, भले हो जाओगे तो स्वाधीन भी हो सकते हो। बहुत आसान है स्वाधीन होना भी। कैसे? कि भाई देखो, अपना वही है जो अपने में है और अपने से भिन्न जो कुछ है वह अपना नहीं है। अगर परमात्मा अपना है तो अपने में ही होना चाहिए। अमर जीवन अगर अपना है तो हमको अमर होना चाहिए। अगर शान्त जीवन अपना है तो अपने में शान्ति होनी चाहिए। अपना वही है जो अपने में है। अपने से भिन्न की आवश्यकता अनुभव मत करो, स्वाधीन हो गए। और प्रेमी कौन हो सकता है? जो स्वाधीन हो सकता है वही आगे चलकर प्रेमी हो सकता

है। यानी उदार व्यक्ति ही स्वाधीन होता है, स्वाधीन ही प्रेमी होता है। कैसे? अपने में हैं—श्री हरि। अपने में अपने हरि हैं, इसलिए वे अपने को प्यारे लगने लगते हैं। तो स्वाधीन भी हम हो सकते हैं, प्रेमी भी हो सकते हैं। उदार भी हो सकते हैं। हो तीनों सकते हैं। इसमें यह नहीं है कि नंगे रहोगे या कि हिमालय की कन्दरा में घुसोगे तब होगे। यानी हम जो परिस्थिति बदलने की सोचते हैं तो ये तीनों चीजें परिस्थिति के अधीन नहीं हैं। परिस्थिति तो अपनी सुविधा के लिए बनती है।

श्रोता—स्वामी जी, मूल प्रश्न तो यह उठा था कि अपने द्वारा अपने को देखा जाए। यह बात थोड़ी और साफ कीजिए। क्योंकि यदि व्यक्ति ऐसा ही समर्थ होता तो फिर शास्त्र और गुरु की आवश्यकता नहीं होती?

स्वामी जी—मैं आपसे पूछता हूँ कि शास्त्र से अगर व्यक्ति समर्थ होता है तो शास्त्रों की आज कमी है क्या? या गुरुओं की कमी है? मैं कहता हूँ आप जाकर देख लो। एक बात सोचो। शास्त्र और गुरु तब फल देता है जब उसमें श्रद्धा हो। शास्त्र में श्रद्धा हो, गुरु की वाणी में श्रद्धा हो, तब तो वह फलित होती है। अगर शास्त्र में श्रद्धा न हो, तो वह फल देता है क्या? तो श्रद्धा तुम करोगे या शास्त्र तुम्हें श्रद्धा देगा? नहीं आया समझ में? डरो मत मेरे नजदीक आओ। इस साल कुम्भ में, मैं गणेशानन्द जी के यहाँ ठहरा था। बड़े अच्छे विद्वान हैं वे। वेदान्त के बड़े प्रखर विद्वान हैं और वेदान्त की ही चर्चा होती है उनके यहाँ रात-दिन। तो मैंने उनसे पूछा कि ये जो बात आप कहते हैं कि शास्त्र में लिखा है कि जीव और ब्रह्म एक है—यह आपकी आस्था है या आपका बोध? तो बोले—आस्था। फिर उन्होंने स्पष्ट रूप से खुल्लम-खुल्ला कहा कि शास्त्र-अध्ययन का अधिकारी वही है जिसको

शास्त्र में विकल्प-रहित आस्था हो। मैं आपसे कहता हूँ कि अपने को देखने का मतलब यह है कि अगर प्रेम नहीं है तो मान ही लो कि आसक्ति है। अगर स्वाधीन नहीं है तो मान ही लो कि पराधीनता है। अगर उदारता नहीं है तो मान ही लो कि स्वार्थ भाव है। मनुष्य अपनी दृष्टि में उदार हुए बिना, स्वाधीन हुए बिना, प्रेमी हुए बिना, आदर के योग्य होता है क्या? बोलो?

श्रोता—महाराज जी देख नहीं पाते।

स्वामी जी—देखते नहीं हैं कि देख नहीं पाते ! मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि जिस ज्ञान से उदारता, स्वाधीनता और प्रेम की प्राप्ति होती है वह ज्ञान मनुष्य में मौजूद है। अरे भाई ! स्वाधीन होगा अचाह होने से कि लंगोटी लगा कर घूमने से? अच्छा, उदार होगा सभी को अपना मानने से कि हिमालय की कन्दरा में घुसने से? प्रेमी होगा प्रभु को अपना मानने से। अगर परमात्मा को अपना मानेगा तो प्रेमी हो ही जाएगा। अचाह होगा तो स्वाधीन हो ही जाएगा। सभी को अपना मानेगा तो उदार हो ही जाएगा।

श्रोता—ऐसा लगता है महाराज जी, यह जो ज्ञान है अपने को जानने का, यह प्रखर नहीं होता, जब तक कि गुरु की कृपा न हो।

स्वामी जी—यह सब बहाने बाजी है। हम उसका आदर नहीं करते वरना ज्ञान क्या प्रखर होगा ! ज्ञान क्या उसे कहते हैं जो कभी घटे और कभी बढ़े? जो कभी रहे, कभी भूल जाए?

श्रोता—यह तो अबकी दृष्टि है महाराज जी।

स्वामी जी—पहले की भी दृष्टि यही है। अब देखिए, आप अपने सम्बन्ध में अपने द्वारा विचार करने के सत्य को ठुकराते चले जा रहे हैं।

श्रोता—नहीं महाराज जी ! ऐसा नहीं है।

स्वामी जी—वह तो मैं जानता हूँ। मेरे कहने से तो नहीं कर रहे। विचार करो। मैं आपसे पूछता हूँ भलाई करना बस में है कि बुराई छोड़ना। कामना को पूरा करना एक बात है और अचाह होना? अच्छा, संसार पर अधिकार जमाना एक चीज है, लेकिन परमात्मा को अपना मानना? तो क्या उसका नाम भी परमात्मा होगा जो सभी का न हो। बोलो?

श्रोता—यह तो ठीक है।

स्वामी जी—जब यह ठीक है तो परमात्मा को अपना मानने से तो हम प्रेमी होते हैं ! अचाह होने से हम स्वाधीन होते हैं और सभी को अपना मानने से उदार होते हैं। विचार करके देखो कि हिन्दुस्तान का आदमी हिन्दुस्तान से बाहर अपना भाई मालूम होता है कि नहीं। वही आदमी हिन्दुस्तान में भाई मालूम होता है क्या? बोलो? आदमी तो वही है।

गाँधी जी की एक बात याद आ गई। जिसके साथ घटित हुई उसी ने बताई हमको। इन्दौर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रेसीडेन्ट चुन लिए गए थे गाँधी जी। हिन्दी साहित्य के, हिन्दी भाषा के सम्बन्ध में था वह सम्मेलन। तो लेने गए लोग उनको। गाँधी जी थर्ड क्लास में चलते थे। गाँधी जी बैठे थे, साथ में एक मुसलमान भी बैठा था। वह कुछ दुर्व्यवहार कर रहा था। यानी अच्छा व्यवहार नहीं कर रहा था वह मुसलमान। तो वह सज्जन कहने लगे कि मेरे मन में आया कि उसको पीट दूँ। उसके मन में ही आई थी यह बात कि पीट दूँ, तुरन्त ही बाद गाँधी जी बोल उठे 'अरे भाई, वह नहीं समझता है कि तुम

उसके भाई हो, पर तुम तो जानते हो कि वह तुम्हारा भाई है।' समझे आप ! तो वे कहने लगे कि—मुझे बड़ी लज्जा लगी। मैंने कहा—'बापू, मैं तो पीटना ही चाहता था, आपकी बात न सुनता अगर।' यहाँ लोग सेवा के लिए न जाने क्या-क्या कठिनाई बताते हैं, भागे-भागे फिरते हैं। एक बार गाँधी जी कहीं जा रहे थे ट्रेन में। तो एक आदमी पान खाए और पीक करता जाए। गाँधी जी अखबार पढ़ रहे थे। तो पन्ना फाड़ें पाँछे और फेंक दें। कई बार उसने ऐसा किया, गाँधी जी भी ऐसा करते रहे। परन्तु उससे कुछ नहीं कहा उन्होंने कि तुम गन्दा क्यों कर रहे हो ! समझाने की कोशिश नहीं की उसे। बुरा-भला भी नहीं कहा उसे। और जब वह स्टेशन आ गया जहाँ उन्हें उतरना था; बनारस की बात है या और कहीं की। तो प्लेटफार्म से 'महात्मा गाँधी की जय', 'महात्मा गाँधी जी की जय' की जो आवाज लगी तो पीक थूकने वाले को बड़ी लज्जा लगी कि यह महात्मा गाँधी थे ! उस आदमी ने क्षमा-याचना के स्वर में कहा कि मैंने बड़ी गलती की है साहब। उन्होंने कहा 'भाई, नहीं-नहीं, कोई गलती नहीं की है। तुम्हारी आदत थी गन्दगी करने की और मेरी आदत थी साफ करने की।' तो अपनी दृष्टि में जो आदमी अच्छा होता है न, उससे अच्छाई स्वतः होती रहती है। अब हम अपनी दृष्टि में बने रहते हैं कुछ-के-कुछ और दूसरों की दृष्टि में अच्छे कहलाना चाहते हैं, थोड़ी सी अच्छाई के आधार पर। सर्वांश में अच्छे नहीं रहना चाहते। इसलिए यह बात कठिन मालूम होती है। अतएव हमें देखना चाहिए कि हम अपनी दृष्टि में उदार हो पाए या नहीं। यानी भले हो पाए या नहीं। बुराई हमने मन, वाणी, कर्म से छोड़ दी या नहीं। और जब तक अचाह नहीं होंगे, जब तक भगवान को अपना नहीं

मानेंगे, जब तक हम संसार से सम्बन्ध नहीं तोड़ेंगे, तब तक अच्छे होंगे क्या ?

श्रोता—नहीं होंगे।

स्वामी जी—कोई उपाय नहीं है, किसी के पास उपाय नहीं है।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि मनुष्य अपनी दृष्टि में कैसा है, इस बात पर उसे मनन करना चाहिए, चिन्तन करना चाहिए, अध्ययन करना चाहिए। क्या कारण है कि भगवान मौजूद है और प्यारा नहीं लगता ? और संसार की स्थिति नहीं है, प्रतीति है, प्राप्ति नहीं है और वह अच्छा लगता है, प्यारा लगता है। यानी जो नहीं है वह प्यारा लगता है, जो है वह अप्राप्त लगता है। क्या कारण है ? बोलो ? हमने सही अर्थ में परमात्मा के अस्तित्व को, महत्त्व को, अपनत्व को स्वीकार नहीं किया। इसलिए परमात्मा प्यारा नहीं लगता। और सही अर्थ में हमने—संसार की स्थिति नहीं है—इस बात का ठीक-ठीक अनुभव नहीं किया। हमें धर्मात्मा होना अनिवार्य है, इस बात को हमने स्वीकार नहीं किया। इसलिए बुराई नहीं छोड़ी। नहीं तो धर्मात्मा होने में समय थोड़े ही लगता है। जो बुराई हम कर चुके हैं। जानते हैं कि यह हमने की। यह हमने की—तो मानव-सेवा-संघ कहता है कि भाई, की हुई बुराई को न दुहराओ तो निर्दोष हो जाओगे। यह उपाय बताया। तो अब तक मैंने चाहे कितने ही पाप किए हैं, कितनी बुराइयाँ की हैं, इस क्षण से कोई बुराई नहीं करूँगा—धर्मात्मा हो गए। अब तक मैंने कितनी ही इच्छाओं की पूर्ति की है। अब मैं इच्छा-पूर्ति का सुख नहीं चाहता हूँ—स्वाधीन हो गए। अब तक मैंने परमात्मा के नाम पर बहुत सी बातें की हैं, लेकिन परमात्मा को अपना नहीं माना है, मैं आज से उन्हें अपना

मानूँगा—लो साहब प्रेमी हो गए। देखिए प्रेम तो अपने के साथ ही होता है न ! क्या राय है? हमको दर्शन दे दें, हमको मिल जाएँ, हमारी सद्गति कर दें। यह तो हमारे हाथ में नहीं है न। यह तो परमात्मा का कर्त्तव्य हम सोच रहे हैं। परमात्मा हमको शान्ति दें, हमें मुक्ति दें, हमें अपनी भक्ति दें, यह तो परमात्मा का कर्त्तव्य हुआ। लेकिन किसी और को अपना नहीं मानेंगे हम परमात्मा के सिवाय, इसमें भी हम पराधीन हैं क्या? बोलो भाई?

श्रोता—महाराज जी, कठिनाई यह मालूम होती है कि सर्वांश में आदमी अपने दोष देख नहीं पाता। मैं अपने बारे में कहता हूँ।

स्वामी जी—देखिए, आप विषयान्तर में चले गए, कितनी बार आवश्यकता होगी देखने की ! गुरु का मिलन एक बार।

श्रोता—आवश्यकता तो नहीं हुई न महाराज जी।

स्वामी जी—मैं आपसे निवेदन करता हूँ, आप विषयान्तर में चले गए। मैं क्या कह रहा हूँ, आप अपनी दृष्टि में, वर्तमान में कैसे हैं, यह बताओ हमको। गुरु को जाने दो। भैया ! देखो तुम बहुत गलती करते हो। तुम मानव-सेवा-संघ की हत्या कर रहे हो। मैं आपसे निवेदन कर रहा हूँ कि गुरु के बिना मेरा उद्धार होगा कि नहीं होगा—यह सब हमारा विषय ही नहीं है। हम कहते हैं कि गुरु के द्वारा उद्धार नहीं होगा तो गुरु किसके द्वारा प्राप्त करोगे? क्या अपने द्वारा? अपने द्वारा कैसे प्राप्त करोगे? क्या अपने द्वारा? अपने द्वारा कैसे प्राप्त कर लोगे, तुम गुरु से ज्यादा जानते हो क्या? आप इस बात को भूल जाते हो कि मनुष्य का निर्माण जिस अनन्त ने किया है उसने मनुष्य को साधन-सामग्री देकर भेजा है। आप भूल जाते हैं यह बात और गुरु की महिमा बीच में ले आते हैं।

मैं यह निवेदन कर रहा हूँ कि मान लीजिए आज हमारे हृदय में उदारता नहीं है, मान लो थोड़ी देर के लिए। स्वार्थ-भाव है, सुख-लोलुपता है। तो क्यों है? इसलिए है कि हमने सभी को अपना नहीं माना। अथवा इसलिए है कि हम स्वाधीन नहीं हुए, अथवा हम प्रेमी नहीं हुए। स्वाधीन होकर भी मनुष्य उदार और प्रेमी होता है और प्रेमी होकर भी उदार और स्वाधीन होता है। अगर हम स्वाधीन हो जाते तो उदार भी हो जाते और अगर स्वाधीन हो जाते तो प्रेमी भी हो जाते। अब मैं आपसे पूछता हूँ कि स्वाधीन होने के लिए हमें अपनी पराधीनताओं को ही तो देखना पड़ेगा। या कि कहेंगे कि हमें नहीं मालूम और इसके लिए गुरु की तलाश करेंगे? बाहर से किसी को बुलाएँगे कि हमारा निरीक्षण करो, हममें क्या-क्या पराधीनता है? दूसरे से पूछने जाएँगे? दूसरे सिखाएँगे हमको कि क्या-क्या पराधीनता है? बोलो भाई? कामना-पूर्ति का सुख हमको अच्छा लगता है—यही तो पराधीनता है। अच्छा, सभी कामनाएँ पूरी होंगी नहीं, यह बात आप नहीं जानते हो क्या? कौन नहीं जानता है? इसलिए कामना का त्याग होगा स्वाधीनता के लिए और स्वाधीन होने से उदार और प्रेमी होंगे। तो इस तरह से देखने से मनुष्य को सबसे पहले निष्काम होने की प्रेरणा अपने आप मिलती है कि नहीं?

श्रोता—जी।

स्वामी जी—गुरु और ग्रन्थ इसका समर्थन कर देंगे। मनुष्य के सत्य का समर्थन गुरु करता है, ग्रन्थ करता है। अच्छा, किसी ने कहा कि महाराज ! हम तो बड़े अशान्त हैं, क्या करें? अच्छा, तो अचाह हो जाओ—यह कह दिया किसी सन्त ने और उसने मान लिया श्रद्धा करके

कि अचाह होने से शान्ति मिलती है। अचाह हो जाएगा, शान्ति मिल जाएगी। इसमें क्या बात है? वह तो आपकी बनावट के अनुसार अगर आपको गुरु की जरूरत है तो गुरु मिल जाएगा। भीतरी गुरु की जरूरत है तो भीतर मिल जाएगा, बाहरी गुरु की जरूरत है तो बाहर मिल जाएगा। वह तो सिद्धान्त ही है कि प्रत्येक साधक के साथ जगत् की उदारता, प्रभु की कृपालुता, और सन्तों की सद्भावना रहती ही है। तो आप उस सत्य को जो नजदीक है उसको लम्बा क्यों कर रहे हो?

इसलिए, देखो भाई, स्वाधीन होना चाहते हो कि नहीं। अब शरीर को बनाए रखने का संकल्प रख कर कोई स्वाधीन हो पाएगा क्या? और यह चाहें कि वस्तु सुरक्षित रहे तो कोई स्वाधीन हो पाएगा? बिना अचाह हुए स्वाधीन होने का कोई उपाय है?

श्रोता—नहीं।

स्वामी जी—अच्छा आप अचाह न होना चाहें तो कोई अचाह कर देगा आपको? यह बात ठीक है अगर, तो आपको मानना चाहिए कि बिना स्वाधीन हुए न हम उदार हो सकते हैं न हम प्रेमी हो सकते हैं। यह है दर्शन। अच्छा, विज्ञान क्या है कि शरीर की भाँति सभी को अपना मानो तो आपमें उदार होने की क्षमता आ जाएगी। तो विज्ञान से चलो, चाहे दर्शन से चलो अथवा आस्था से चलो। हमारे प्रभु परम उदार हैं, इसलिए प्रभु के नाते सभी अपने हैं, तो उदारता आएगी। यह जो दार्शनिक दृष्टिकोण अलग-अलग हैं सभी के, यह तो गुरु-परम्परा के हैं। किसी का गुरु कुछ बताएगा, किसी का गुरु कुछ बताएगा। लेकिन अपने द्वारा जब आप स्वाधीन होने की बात सोचेंगे तो स्वीकार करेंगे कि अब तक पराधीनता में फँस कर मैंने अनेक दुःख उठाए, अब मैं

पराधीनता को पसन्द नहीं करूँगा। मोह क्या है?—पराधीनता। आसक्ति क्या है? पराधीनता। तो उस पराधीनता में फँस करके दुःख नहीं उठाया है क्या हमने?

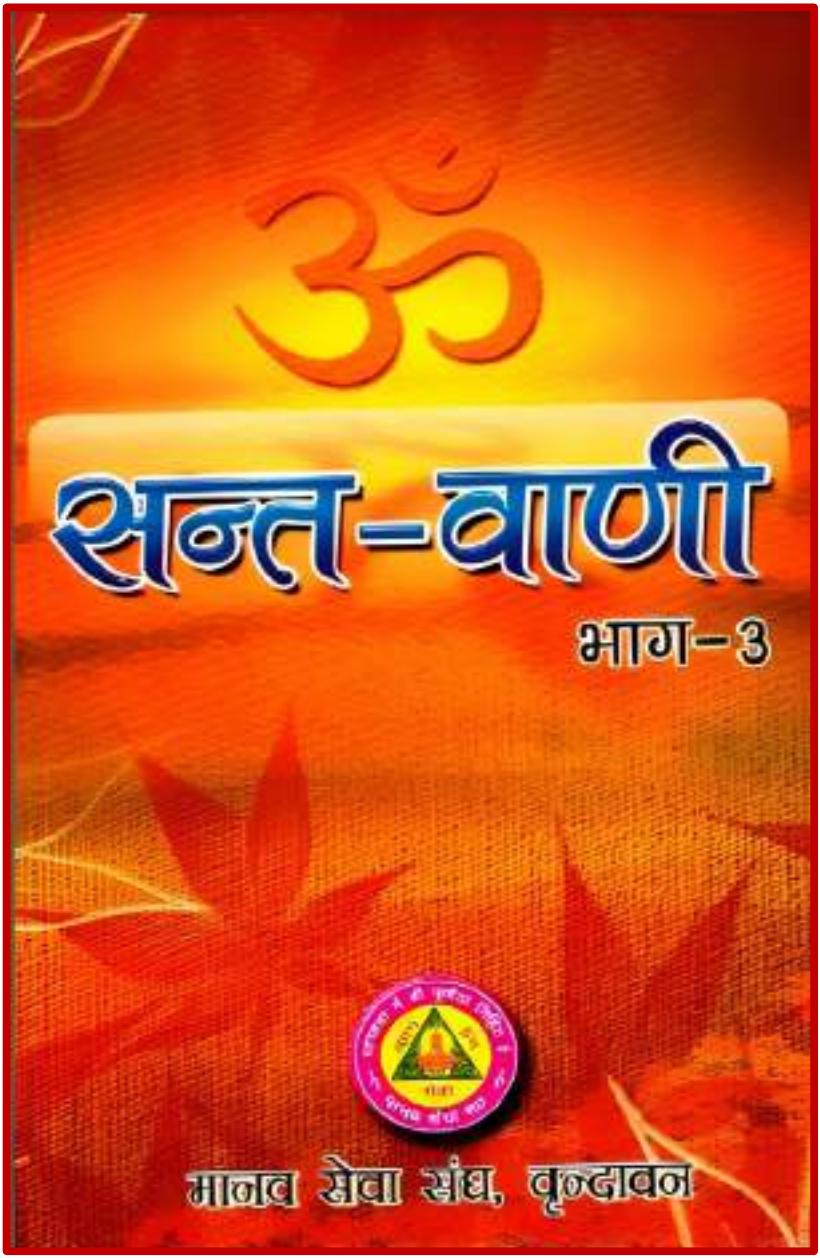
हम क्या बताएँ, एक घटना सुनाते हैं आपको। हमारे सामने बीती हुई घटना है। किला-घाट है फतहगढ़ में एक जगह गंगा किनारे। वहाँ एक 'मात-गंगे' नाम के साधु रहते हैं। वह मिलिट्री एरिया है। उन्होंने वहाँ एक पेड़ लगाया। गायों की सेवा करते थे, तो उनकी गायें ऐसी थीं कि हुकुम करें कि एक-एक खेत में से एक-एक ग्रास लो। अनेकों बार काश्तकारों ने पीटा। तो खद्दीपुर रियासत वाले राजा ने कहा कि तुम गायों को हमारे यहाँ छोड़ दो। फिर वहाँ आकर के बैठ गए। बहुत अच्छी स्थिति के आदमी थे। 'मात-गंगे' उनका नाम पड़ गया था, उनको 'गंगे-गंगे' कहा करते थे। भण्डारा एक बार किया तो कहा कि गंगा को न्योत आना। गंगा जी को निमन्त्रण दे दिया तो पानी की धारा आ गई वहाँ पास में। ऐसे साधु थे। गायें उनके हुकुम पर चलती थीं। जिसका भी नाम लेकर बुलाएँ वही आती थी। तो उन्होंने एक पेड़ लगा दिया वहाँ, सब छोड़-छाड़कर आखिर में। हवन करते रहते थे और जप-तप करते रहते थे। जो कुछ भी उनकी साधना थी। तो हुआ क्या कि वह पेड़ मिलिट्री ने कटवा दिया। इतनी तकलीफ हुई उस आदमी को, इतनी तकलीफ हुई कि उसके पास एक बन्दरिया का बच्चा था पाला हुआ। उससे अपने शरीर को कटवाया छेड़-छेड़ कर खूब और अन्त में आग लगा कर मर गया वह साधु। उस पेड़ की आसक्ति का इतना गहरा दुःख हुआ कि वह बाबाजी बेचारा आग लगाकर मर गया, अपने शरीर में। हाँ! तो मैं यह निवेदन कर रहा था

कि आसक्ति हीरा-जवाहरात में ही होती हो, सो नहीं। छोटी-छोटी चीजों में हो जाती है। वासना बड़ी-चीजों की हो ऐसा नहीं है। छोटी-छोटी चीजों की हो जाती है। इसलिए अगर आप अपनी दृष्टि में पराधीन हैं, मान लो कोई भाई, कोई साधक, चाहे वह रोटी के अधीन हो, चाहे लंगोटी के अधीन हो, चाहे वह एक गिलास पानी के अधीन हो, चाहे वह अपने शरीर के अधीन हो। अगर पराधीन है तो उसे सोचना चाहिए कि भाई जल्दी-से-जल्दी स्वाधीन हो जाओ। क्योंकि शरीर से तो स्वाधीन होंगे नहीं, स्वाधीन होंगे अपने ही द्वारा। **मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए,** तब स्वाधीन होंगे। बोले, मेरा कुछ नहीं है तो शरीर किसका है? तो संसार का है। तो संसार की मर्जी पर उसे छोड़ दो। तुम किसके हो? बोले, परमात्मा के हैं। तो अपने को परमात्मा की मर्जी पर छोड़ दो अगर इतना भी आप नहीं कर सकते तो स्वाधीन कैसे होंगे !

तो अपनी दृष्टि में हम कैसे हैं? हमारा वर्तमान कैसा है? हमारी मौजूदा वस्तुस्थिति कैसी है? मौजूदा हालत कैसी है? वर्तमान स्थिति कैसी है? यह देखना चाहिए। अगर हम, किसी एक अंश में भी पराधीनता का अनुभव करते हैं, तो हमें विचार करना चाहिए भाई, प्राण-पखेरू का पता नहीं कब उड़ जाएँ पराधीनता को साथ लेकर मरना नहीं है। आदमी को अनुदार होकर मरना नहीं चाहिए, आदमी को पराधीन होकर मरना नहीं चाहिए, आदमी को आसक्ति में आबद्ध होकर मरना नहीं चाहिए। मरने से पहले जल्दी-से-जल्दी हमारे जीवन में उदारता, स्वाधीनता और प्रेम आ जाए, तो इसका मतलब है कि अभी आ जाए; क्योंकि मरने का कोई समय तो निश्चित है नहीं। जी?

अभी आ जाए। अभी उदार हो जाएँ, अभी हम स्वाधीन हो जाएँ, अभी हम प्रेमी हो जाएँ। तो इतनी सजगता के साथ जब हम अपनी दशा का अनुभव करेंगे, मनन करेंगे तो हमको सफलता अवश्य मिलेगी।

.....


ॐ
सन्त-वाणी
भाग-3
मानव सेवा संघ, वृन्दावन

अनुक्रमणिका

क्रमांक	*पृष्ठ संख्या*
1. निवेदन	iv
2. अनुक्रमणिका	v
3. प्रार्थना	vi
4. भूमिका	vii-viii
5. प्रवचन (कैसेट संख्या 7 अ-ब)	1-18
6. प्रवचन (कैसेट संख्या 8 अ-ब)	19-37
7. प्रवचन (कैसेट संख्या 9 अ-ब)	38-54
8. प्रवचन (कैसेट संख्या 10 अ-ब)	55-75
9. प्रवचन (कैसेट संख्या 11 अ-ब)	76-92
10. प्रवचन (कैसेट संख्या 12 अ-ब)	93-108
11. उपसंहार	109-110
12. प्रवचन सूत्र	111-112

भूमिका

श्री महाराज जी के द्वारा अमूर्त सत्य को मूर्त शब्दों में प्रकाशित करने की लीला का संवरण हो चुकने के बाद, संत-प्रेमी, संघ-प्रेमी, और सत्संग-प्रेमी भाई-बहनों में यह संकल्प जोर पकड़ने लगा कि संतवाणी को सुरक्षित एवं सुलभ बनाये रखने का प्रयास होना चाहिए। श्री स्वामीजी महाराज जब तक सशरीर विद्यमान थे, कुछ प्रेमीजनों ने उनकी विशेष स्वीकृति लेकर उनके कुछ प्रवचनों को टेप में रिकार्ड कर लिया था। विशेष स्वीकृति लेने का अर्थ यह है कि सामान्यत: प्रवचनों को टेप रिकार्डिंग करके रखना श्री महाराज जी ने साधकों के लिए विशेष हितकर नहीं माना था। प्रेमीजनों के विशेष आग्रह पर वे कभी-कभी स्वीकृति देते थे। ऐसी दशा में उनके प्रवचनों की Arranged Recording कभी नहीं हो सकी। जब जैसा बन पड़ा Record कर लिया गया। उनके ब्रह्मलीन हो जाने के बाद उनके ही स्वर में जीवनोपयोगी अनमोल वचनों को सुनकर जीवनदायी प्रेरणा लेने के लिए उनके चुने हुए टेप रिकार्डेड प्रवचनों के Cassettes तैयार कराये गये। बारह कैसेट्स का एक सेट तैयार हुआ। श्री महाराज जी की अमृतवाणी का यह सेट सत्संग-प्रेमियों के द्वारा बहुत पसन्द किया गया। साधकों के साधनयुक्त जीवन के निर्माण का यह एक आधार बन गया। संघ की शाखाओं द्वारा संचालित सत्संग की बैठकों में श्री महाराज जी के वचनों से सजीवता आ गयी। मानव-जीवन पर प्रयुक्त गूढ़ दार्शनिक तथ्यों की सरल अभिव्यक्ति श्री महाराज जी की ही प्रेम-पूर्ण सशक्त ध्वनि में सुनकर प्रेमीजनों के हृदतंत्री के तार स्पन्दित हो उठते हैं। यह तथ्य आज श्री महाराज जी के साकार विग्रह के लुप्त हो जाने की स्थिति में अत्यधिक अलभ्य उपलब्धि मालूम हो रही है।

जिस समय रिकार्डेड प्रवचनों के कैसेट्स बनाये जा रहे थे, उस समय यह विचार भी आया कि कैसेट्स में जो वचन हैं, वे इतने गूढ़ हैं कि उनका अध्ययन, मनन, पठन, पाठन बारम्बार करते रहने पर ही उनको हृदयंगम किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त जो सत्संग-प्रेमी टेप रिकार्डिंग मशीन तथा कैसेट्स अपने पास नहीं रख पायेंगे, उनके लिए भी ये अनमोल प्रवचन सुलभ होने चाहिएँ। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये पूरे सेट के प्रवचनों को पुस्तकाकार प्रकाशित किया जा रहा है। सन्तवाणी भाग 2 (दो) में कैसेट्स संख्या 1 से 6 तक के प्रवचन प्रकाशित हो चुके हैं। प्रस्तुत संग्रह संतवाणी

भाग (3) में कैसेट्स संख्या 7 से 12 तक के प्रवचन प्रकाशित किये जा रहे हैं। सन्तवाणी माला का यह तीसरा पुष्प आपकी सेवा में प्रस्तुत है। इस संग्रह में प्रवचन बिलकुल कैसेट में भरे हुए प्रवचन के अनुरूप हैं। कैसट्स सुनते समय भी जिन-जिन वाक्यों पर आप विशेष रूप से विचार करना, अध्ययन तथा मनन करना चाहें, उन वाक्यों को इस संग्रह में रेखांकित करके सरलता से कर सकते हैं। सत्संग-प्रेमी भाई-बहनों की सेवा में सप्रेम समर्पित सन्तवाणी माला का तीसरा पुष्प सब प्रकार से आपके लिए हितकारी हो, इसी सद्भावना के साथ—

विनीता :
देवकी

वृन्दावन
18-6-83

7

(अ)

ईश्वर जीवन तत्त्व है,समस्त उत्पत्ति का आधार एवम् समस्त प्रतीति का प्रकाशक है। आत्मीय सम्बन्ध की स्वीकृति से उदित प्रियता ही ईश्वर प्राप्ति की मूल साधना है। भक्त के जीवन में भगवान के प्रति प्रियता की वृद्धि जब होने लगती है तो उसकी मधुरता में भक्त का सम्पूर्ण अहम् ही रूपान्तरित होकर प्रेमास्पद से अभिन्न हो जाता है, यही भगवत् मिलन है।

1. भगवान का जो अवतार होता है, वह भक्तों के मन की बात पूरी करने के लिए होता है।
2. भगवत्-चरित्र की कथायें श्रुति को समझाने की एक विधि हैं, कृष्ण चरित्र की विविध लीलाओं से प्रकट होता है कि श्री कृष्ण में यह चमत्कार है कि वे अपने प्रेमियों के मन को अपनी ओर खींच लेते हैं।

प्रवचन :

तीन प्रकार की लीलायें आपको देखने को मिलेंगी। कुछ वन की, कुछ ब्रज की और कुछ निकुंज की। बहुत से लोग सन्देह करते हैं कि न्याय और प्रेम एक साथ कैसे हो सकता है? हो सकता है। कृष्ण चरित्र में एक बड़ा सुन्दर चित्रण इस बात का है। पूतना के साथ श्री कृष्ण ने न्याय भी किया है और प्रेम भी किया है। आपने सुना ही होगा कि पूतना माँ का वेश बनाकर गयी। मैया यशोदा ने अपने लाला को खिला-पिलाकर सुला दिया था और उन्हें छोड़कर काम में लग गई। इधर पूतना कपट की माँ बनकर यशोदा के पास आयी और उसने यशोदा से कहा-"अरी यशोदा ! तू बड़ी बावरी है, हाय-हाय तूने लाला अकेला सुला दिया है, मैं तेरे लाला को गोद में ले लूँ?" तो प्रेमी लोग बड़े भोले होते हैं। यशोदा ने कहा-"हाँ-हाँ ले लो, तुम्हारा ही लाला है, मेरा क्या है।" पूतना ने गोद में ले लिया। अब देखिए कृष्ण न्याय भी करते हैं और प्रेम भी! न्याय इस बात का कि वह श्रीकृष्ण को मारना चाहती है तो उसने विष लगा हुआ स्तनाग्र श्रीकृष्ण के मुख में दे दिया। छोटा-सा नन्हा-सा बालक जब पीने लगा तो विष तो पी ही गया, उसके प्राण को भी पी गया। ये तो न्याय हो गया। और प्रेम यह है कि उसे गौलोक दे दिया। जो गति यशोदा को दी, वही पूतना को दी-यह प्रेम है।

ये कथायें जो होती हैं—श्रुति के ज्ञान को समझाने का बड़ा सुन्दर ढंग है। पुराण और कुछ नहीं हैं, जो श्रुति का ज्ञान है, उसे समझाने की एक विधि है। आप उसको चरित्र मानो, बड़ी सुन्दर बात है, कथानक मानो अथवा आपकी जो मरजी हो सो मानें। तो श्रीकृष्ण ने सारे ब्रजवासियों के मन को अपनी ओर खींच लिया। क्योंकि जब पूतना के प्राण खिंचे तो वह श्रीकृष्ण को लेकर उड़ी। और इस घटना के घटते ही सारे ब्रजवासी एकदम आकुल, व्याकुल हो गये और सबका मन श्रीकृष्ण में लग गया । श्रीकृष्ण में यही तो चमत्कार है कि वह सबके मन को स्वयं खींचते हैं-यह नहीं कि मन को लगाना पड़े। वे अपने आप खींच लेते हैं, किन्तु कब? जब उन्हें कोई अपना मान ले तब। बिना अपना माने प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश ही नहीं होता और अपना मानने के लिए, आपने अनेक बार श्रवण भी किया है, सोचा भी है समझा भी है कि निर्ममता और निष्कामता आवश्यक होती है। तो समस्त ब्रजवासी श्रीकृष्ण को अपना मानते हैं और उनके पास जो कुछ भी है उसे वे श्रीकृष्ण का ही जानते हैं, किसी और का नहीं। एक बात। दूसरी बात है कि ब्रज के रस में सख्य, वात्सल्य और मधुर-तीन प्रकार के भाव हैं; और मधुर में भी परकीया भाव है, स्वकीया भाव नहीं है।

सख्य-रस की दृष्टि से श्रीकृष्ण अपने सखाओं के साथ बछड़ा चराने के लिए गये और वहाँ जाकर वन-भोजन होने लगा। प्रत्येक सखा अपनी-अपनी मैया से कहता है कि मैया तुम मुझको अमुक पकवान बना दो, मैं कन्हैया को खिलाऊँगा। मन में उसके यही बात है। कन्हैया भी अपनी मैया से कहता है कि मैया, मैं सखाओं को खिलाऊँगा। अपने-अपने खाने का संकल्प किसी में नहीं है। श्रीकृष्ण सोचते हैं-हम सखाओं को खिलायेंगे और सखा सोचते हैं कि हम श्रीकृष्ण को खिलायेंगे। अपने खाने का संकल्प किसी सखा के मन में नहीं है। प्रेमी में अपना संकल्प रहता ही नहीं। प्रेमी का अपना कोई संकल्प नहीं होता; न उसे भोग चाहिए न मोक्ष। क्योंकि जब ममता, कामना और तादात्मय नहीं रहता तब बन्धन ही नहीं रहता, तो मोक्ष क्यों चाहिए? तो सभी सखा-लोग भोजन की सामग्री ले-लेकर अपने-अपने घर से आये और वन-भोजन होने लगा। वह उसके मुख में देता है, वह उसके मुख में देता है। सखा कहते हैं-"दादा, ले खा-हमारी मैया ने ये भेजा है।" वे कहते हैं-"नहीं भैया तू खा, मेरी मैया ने ये भेजा है।" अब यह पता ही नहीं चलता कि कौन किसको खिलाता है। अब यह दृश्य, जब बूढ़े बाबा ब्रह्मा ने देखा तो उन्हें भ्रम हो गया । यह भ्रम होना मानव-जीवन का एक अंग ही रहा है-और यह भ्रम हो गया कि यह कैसा ब्रह्म है कि ग्वाल-बालों के साथ झूठा दही-भात खा रहा है। यह भ्रम हो गया। इस प्रेम के साम्राज्य में प्रिय को एक चीज नहीं भाती-विस्मृति। वन-भोजन हो रहा है, सख्य-रस का बड़ा आनन्द हो रहा है, सभी मुग्ध हो रहे हैं-पता ही नहीं देह-गेह का। इधर गायें सोचती थीं कि हाय! कन्हैया मेरा बछड़ा होता तो कितना अच्छा होता! ब्रजवासी सोचते थे कि न जाने मैया यशोदा को कितना रस मिलता होगा! कहीं यह कन्हैया हमारा लाला होता तो कितना अच्छा होता!!

भगवान का जो चरित्र होता है, उसमें ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों का चित्रण होता है। प्रधानता माधुर्य की होती है, पर माधुर्य को सुरक्षित रखने के लिए ऐश्वर्य की अपेक्षा होती है। तो श्रीकृष्ण ने सोचा कि बड़ा अच्छा अवसर है। इधर सखाओं के मन में वन-भोजन करते-करते बछड़ों की स्मृति हो आई कि "अरे दादा! अपने बछड़े कहाँ हैं। बछड़े तो देखें।" श्रीकृष्ण ने कहा—'बड़ा अच्छा है, जो मुझे जरा सी देर भी भूलता है वह मुझसे दूर हो जाता है।' यह विस्मृति जो उत्पन्न होती है, यह कैसे उत्पन्न होती है? अन्य सम्बन्ध से होती है। भगवान् के चरित्र में पूरा-पूरा दर्शन है। सखाओं का बछड़ों से भी सम्बन्ध था और श्रीकृष्ण से भी, तभी न बछड़ों की स्मृति हुई! अब जब बछड़ों की स्मृति हुई तो श्रीकृष्ण की विस्मृति हो गई। अल्प-से-अल्प काल

भी श्रीकृष्ण को विस्मृति सहन नहीं होती। तो उन्होंने कहा-"ठहरो, तुम लोग भोजन करो, मैं अभी तुम्हारे बछड़ों को ढूँढ़कर लाता हूँ।" वे बछड़ा ढूँढने के लिए चले। इधर बूढ़े बाबा ब्रह्मा ने उन सखाओं को बछड़ों सहित हरण कर लिया। यह कथा आती है न! अपहरण कर लिया तो एक बरस तक सब सोते ही रहे— बछड़े और सखा, मोह निद्रा में। इधर श्रीकृष्ण ने कहा—बड़ी अच्छी बात है, गायों के मन की बात पूरी हो, ग्वाल-बालों के मन की बात पूरी हो। श्रीकृष्ण स्वयं सखाओं के और बछड़ों के रूप में ज्यों-के-त्यों अभिव्यक्त हो गये। एक बरस तक गायें श्रीकृष्ण को अपने बछड़े के रूप में दूध पिलाती रहीं। सारे ब्रजवासियों के वात्सल्य-भाव-उपासना की पूर्ति हुई। भगवान का जो अवतार होता है वह भक्तों के मन की बात पूरी करने के लिए होता है। यह सख्य-रस का तथ्य है। इधर बूढ़े बाबा ब्रह्मा का अभिमान भगवान के ऐश्वर्य का दर्शन देखकर चूर-चूर हो गया। माधुर्य और ऐश्वर्य दोनों साथ ही रहते हैं भगवान में।

एक बार-वात्सल्य भाव की बात है। कुछ ब्रज गोपियाँ मैया यशोदा के पास उलाहना देने आईं। उन्होंने कहा-"देखो यशोदा! हम तेरा गाँव छोड़ देंगी।" बोली-क्यों गाँव छोड़ दोगी? कि तेरा लाला कन्हैया हमें बहुत तंग करता है। बोली-क्या तंग करता है? कि दूध, दही, माखन खाय-सो-खाय वह तो फैलाता है। मोर, बन्दरों को लुटाता है, ग्वाल-बालों को खिलाता है। हम तेरे गाँव में नहीं रहेंगी। तेरा लाला बहुत ढीठ हो गया है। मैया यशोदा ने कहा-अरी भटु! तुम इतनी परेशान क्यों होती हो! लाला तो मेरा छोटा सा है न! तुम दूध, दही छींके पर रख दिया करो, ऊँचे पर टाँग दिया करो। गोपियों ने कहा-अरी यशोदा, जब हम छींके पर रख देती हैं तो तेरा लाला सखाओं के कंधों पर खड़ा होकर लकुट से मटकी तोड़ देता है। यशोदा ने कहा-अंधेरे में राम-कोठरी में रख दिया करो न! गोपियाँ बोलीं--हम अंधेरे में तो रख दें। परन्तु यशोदा, तेरे लाला के मुख पर इतना प्रकाश है कि अंधेरा ही नहीं रहता। अब मैया बड़े संकट में। सोचने लगीं-शायद लाला भूखा रहता है और इसलिए भूखा रहता है कि मेरा माखन अच्छा नहीं है। और मेरा माखन इसलिए अच्छा नहीं है कि मुझमें प्रीति की कमी है। मैया को बड़ी वेदना हुई। अब वह बड़े धर्म-संकट में पड़ी। इधर कन्हैया का प्रेम, उधर निकटवर्ती सखियों का प्रेम। मैया कहने लगी-देखो, यदि लाला ने तुम्हारी एक मटकी तोड़ी हो तो एक-एक की नौ-नौ मटकी लेना, पर गाँव छोड़कर मत जाओ। जब मैया यशोदा की उदारताभरी वाणी सुनी तो सब गोपियाँ कहने लगीं-अरी यशोदा! तू चिन्ता मत कर, जैसो तेरी लाला वैसो ही हमारो लालो। बहिन तू

बिलकुल चिन्ता न कर। दूध, दही, माखन, गैया, बछड़ा सब कुछ कन्हैया का है। देखिए, ब्रजवासियों में ममता की गंध भी नहीं है। इधर तो गोपियों की समस्या का निपटारा हुआ और उधर मैया स्वयं सोचने लगी कि लाला अगर भूखा नहीं रहता तो क्यों इनके घर जाता। भूखा जरूर रहता है। सचमुच कन्हैया प्रेम का बड़ा भूखा है। और यह ऐसी भूख नहीं है जो कभी पूरी हो जाय। क्यों? जब प्रेम की कभी पूर्ति नहीं होती तो प्रेमरस के भोगी की कैसे पूर्ति हो सकती है? तो अब मैया सोचने लगी कि मेरे माखन में कोई दोष है, कोई कमी है। इसलिए लाला भूखा रहता है। तो अपनी सहचरी, सखियों से कहने लगी कि सुनो! कल मैं पूजा करूँगी, अपने हाथ से गैया दुहूँगी। अपने हाथ से दूध गरम करूँगी। अपने ही हाथ से दही जमाऊँगी। अपने ही हाथ से माखन निकालूँगी। मैया यशोदा ने देखा कि सबसे अच्छी गाय कौन-सी है। कौन-सी गाय ऐसी है जो कन्हैया को बहुत प्यारी लगती है। तो अपने ही हाथ से दूध दुहा, गरम किया, दही जमाया और माखन निकालने लगी।

देखिए, प्रेमी के हृदय में जब प्रीति की वृद्धि होती है तो उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति में प्रीति आ जाती है। प्रीति कोई ऐसी चीज नहीं है कि आप जब सब काम-धन्धा छोड़ देंगे तब प्रेम करेंगे। ऐसी बात नहीं है। अपने प्रिय के नाते की हुई प्रत्येक प्रवृत्ति प्रीति ही है। जब कन्हैया के लिए माखन निकालना प्रिय है तो गाय दुहना भी प्रिय है। दूध गरम करना भी प्रिय है। दही जमाना-दही मथना आदि सब प्रेम-स्वरूप ही हैं। तो जैसे-जैसे यशोदा कन्हैया का काम करती जाती हैं वैसे-वैसे हृदय में प्रीति भी बढ़ती जाती है साथ-साथ। आपने कभी जीवन में अनुभव किया है अथवा नहीं। हम अपने किसी प्रिय के लिए जब कोई काम करते हैं तब जैसे-जैसे काम पूरा होता जाता है या काम में प्रवृत्ति होती जाती है, वैसे-वैसे साथ ही साथ प्रीति भी बढ़ती जाती है। ऐसा नहीं है कि कार्य करने से प्रीति में क्षति आती हो। कार्य करने से प्रीति में और वृद्धि होती है। तो अब मैया यशोदा के हृदय में इतनी प्रीति बढ़ी कि कन्हैया की नींद खुल गई। सो नहीं सका और वह आकर मैया के पास खड़ा हो गया। बोला-"मैया मोय माखन दे दो।" अब मैया को बिलकुल विश्वास हो गया कि हाय, मेरा लाला इतना भूखा है कि उसे नींद तक नहीं आई। मैया अत्यन्त व्याकुल हो गई, अधीर हो गई। इधर मक्खन तैयार नहीं है, दे कहाँ से। तो कन्हैया ने, जैसा कि बच्चों का स्वभाव होता है, मथानी की रस्सी पकड़ ली। अब मथानी भी बन्द हो गई। कन्हैया बोला-"मैया, मोय माखन दे दो।" कन्हैया आखिर छोटा बच्चा है। जब माधुर्य का प्रदर्शन प्रभु की लीला में होता है तो ऐश्वर्य नहीं दिखाते। तो मैया ने बलपूर्वक दही मथना आरम्भ

किया तो दही के छींटे उड़-उड़कर कन्हैया के मुख पर पड़ते हुए बड़े ही सुन्दर मालूम होते हैं। अब मैया इधर तो कन्हैया के रूप पर मोहित हुई जा रही हैं, उधर कन्हैया की भूख से व्याकुल है और कन्हैया ने ऐसे संकट में डाल दिया है कि माखन निकाल ही नहीं पाती। जब देखा कन्हैया ने कि माखन है ही नहीं तो अत्यन्त आकुल होकर कहा कि "तो मैया तू मोय अपनो दूध ही पिला दे।" स्तन काम का प्रतीक है। उस ब्रह्म में स्तन-पान की कामना पैदा हो गई। यह प्रेम की महिमा है कि ब्रह्म में जीव-भाव की अभिव्यक्ति होती है प्रेम से। जैसे ज्ञान जीव को ब्रह्म-भाव प्रदान करता है तो प्रेम ब्रह्म में जीव-भाव की अभिव्यक्ति करता है। लेकिन जीव होता नहीं ब्रह्म कभी। यह मत सोच लेना कभी कि ब्रह्म हो जाता है।

तो इस प्रकार अनेक चरित्र दिन-रात होते रहते हैं ब्रज में। किन्तु उन सभी चरित्रों में आपको दो या तीन बातें ही मिलेंगी-मुख्य रूप से। कन्हैया अपना है, सबकुछ कन्हैया का है और हमें (ब्रजवासियों को) कुछ नहीं चाहिए। कन्हैया का प्यार ही सबका जीवन है। इस प्रकार अनेक लीलायें दिन-रात होती रहती हैं। जो बात कन्हैया के मन में आती है वही बात गोपियाँ कहती हैं, और जो बात गोपियों के मन में आती हैं वही बात कन्हैया करते हैं। इस प्रकार इन दोनों के बीच नित्य-विहार चलता है प्रेम का। यहाँ एक बात विचार करने की है कि प्रकट रूप से कन्हैया किसी गोपी का पति नहीं है और अन्तरदृष्टि से सभी का पति है। क्यों?—परकीया भाव में अपने पर अधिकार होता है, अपना अधिकार कुछ नहीं होता है। ये मधुर-भाव के दो विभाग हैं—एक स्वकीया भाव और दूसरा परकीया भाव। यदि प्रकट रूप से विवाहादि हो जाय तो स्वकीया भाव और विवाह न हो और पति-भाव हो जाय—तो यह परकीया भाव। तो परकीया भाव में अपने पर सब अधिकार हैं, पर अपना कोई अधिकार नहीं। यहाँ तक कि कोई गोपी प्रकट रूप में मिल भी नहीं सकती। आपने देखा होगा कि अनेक ऐसे चरित्र होते रहते हैं ब्रज में-जिनमें कभी तो श्रीकृष्ण गोदनहारी बनकर आते हैं। कभी ये देवांगना बनकर आते हैं। कभी कुछ बनकर आते हैं। कभी वैद्य बनकर आते हैं। कभी मालिन बनकर आते हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार के अभिनय करते हैं, बहाने करते हैं कि किसी प्रकार श्री किशोरी जी से भेंट हो जाती।

तो एक बार वे देवांगना बनकर किशोरी जी से मिलने गये और जाकर कहने लगे कि हमने सुना है कि तुम उस नन्द-नन्दन को, जो बड़ा धूर्त है, प्रेम करती हो। वह तो बिलकुल प्रेम के लायक नहीं है। किशोरी जी ने कहा कि मैं तो उनसे प्रेम नहीं करती हूँ। प्रेम करना तो वे ही जानते हैं। मुझमें प्रेम

कहाँ है। देखिए, प्रेमियों को अपने में कोई विशेषता नहीं दिखाई देती। कभी भी किन्ही विशेष गुणों का भास नहीं होता। तो किशोरी जी ने कहा कि मुझमें तो प्रेम की गन्ध भी नहीं है। प्रेम करना तो वे ही जानते हैं। श्यामसुन्दर बोले कि यह बात नहीं मानते। हम यह तो मानने को राजी हैं कि आप उनको प्रेम करती हैं। पर यह बात हम बिलकुल मानने को राजी नहीं कि वे आपको प्रेम करते हैं। क्योंकि वे प्रेम करते होते तो उस दिन तुमको अकेला छोड़कर क्यों चले जाते? तो किशोरी जी ने कहा कि—ये तो हमारे प्यारे ने ऐसा सोचा कि अगर मैं सब गोपियों से अलग हो गया और इनसे अलग नहीं हुआ तो गोपियों के मन में मेरे प्रति कहीं, बुरी भावना न बन जाय। इसलिए मेरे प्यारे ने मेरा त्याग किया। बोले-तो जब तुम जानती हो कि तुम्हारा त्याग किया तो तुम उस दिन बेचैन क्यों थीं? बोलीं-ये तो एक सम्मोहिनी शक्ति है, श्यामसुन्दर में। मेरी सखी देवांगिने, मैं तुझे क्या बताऊँ! इसमें तो मेरा बस नहीं रहता। देवांगना ने कहा-कि हमने तो सुना है कि तुम देखने को दो हो, पर तुम दोनों में एक ही प्राण है, एक ही मन है। श्री किशोरी जी ने कहा-हे देवांगिने, अगर इस बात को देखना चाहती है तो तू मेरी सखी बनकर रह। देवांगना ने कहा—किशोरी जी सखी क्या-आप दासी बनाकर रखो, पर यह बात तो आपको प्रत्यक्ष रूप से दिखानी पड़ेगी कि आप दो होकर भी एक कैसे हो। किशोरी जी ने कहा-हे ललिते! यह देवांगना बातें तो बड़ी पंडितों की-सी करती है, पर है निपट गंवारी। यह कुछ जानती ही नहीं है। अरे हम तो एक हैं ही। दो मालूम होते हैं, पर हैं एक ही। देवांगना ने कहा कि—यदि आप एक हैं तो फिर क्यों नहीं अपने प्यारे के दर्शन कराती हैं? यदि अपने प्यारे के दर्शन कराओ तो हम जानें कि आप एक हैं। अब जैसे ही श्री किशोरी जी के हृदय में यह संकल्प उत्पन्न हुआ, तत्काल ही वह जो बना हुआ वेश था श्यामसुन्दर का, वह रह नहीं सका। वे प्रगट हो गये। किशोरी जी ने कहा-हे ललिते, बता वह देवांगना कहाँ है। बुला उसको। ललिता ने कहा कि- हे किशोरी जी! उस देवांगना में से ही ये देवा निकले हैं (हास्य की ध्वनि)। तो कहने का तात्पर्य यह है कि प्रेम में नित्य-मिलन और नित्य-वियोग है। वियोग भी नित्य है, मिलन भी नित्य है। इस प्रकार के अनेक चरित्र दिन-रात ब्रज में होते हैं। गोपियों के मन की बात श्रीकृष्ण करते हैं और श्रीकृष्ण के मन की बात गोपियाँ करती रहती हैं।

एक बार की बात है-श्यामसुन्दर और श्री राधारानी कहीं खेल रहे थे। बालक थे न छोटे-छोटे! खेल रहे थे। खेलते-खेलते श्रीकृष्ण ने किशोरी जी की अंगूठी चुरा ली और चले गये। यह चरित्र है, आपने सुना होगा। तो

सखियों ने देखा कि श्यामसुन्दर आये थे, कहीं कुछ ले न गये हों। तो उन्होंने किशोरी जी से कहा कि-हे किशोरी जी! आपकी कोई चीज तो नहीं चुरा ले गये श्यामसुन्दर? किशोरी जी ने कहा कि—उनको क्या कमी है, वे भला क्यों चुराने लगे। सखियों ने कहा-नहीं-नहीं! दिखाओं हमें-और उनका (किशोरी का) सब शृंगार देखने लगीं। बोलीं-दिखाओ, मुँदरिया (अंगूठी) कहाँ है? बोलीं-मैया ने नायं पहिनाई होगी। सखियाँ बोलीं-नांय-नांय से बात नांय। श्यामसुन्दर बड़े चोर हैं-वे ही चुरा ले गये होंगे। मैया ने नहीं पहनायी हो, यह बात नहीं हो सकती। किशोरी जी बोलीं-अरे सखी, उनसे मत कहो, मैया भूल गई होगी पहिनावो-कोई बात नांय। बोलीं-नहीं किशोरी जी, देखो यह हो ही नहीं सकता। श्यामसुन्दर बड़े चोर हैं, वे ही चुरा ले गये होंगे। श्यामसुन्दर के पास गईं। कहने लगीं, लाला! दे दो। बोले-क्या? अरे जो लाये हो सो दे दो। कहा-हम तो कुछ नहीं लाये। गोपियाँ-हम यह बात नहीं मानेंगी कि कुछ नहीं लाये। तो काहेकू पूछ रही हो कि दे दो? अच्छा-अपनी नंगाझोली दो। नंगाझोली में मुँदरिया निकल आई। इसमें दार्शनिक रहस्य क्या है कि यह जो मुंदरी है-यह मन का प्रतीक है। तो वह किशोरी जी के मन को चुरा ले गये। अब गोपियों ने कहा—देखो किशोरी जी, ये चोर हैं कि नहीं? तुम्हारी मुँदरिया चुराकर ले गये थे।

अब इधर इनके मन में क्या बात आई कि उन्होंने कहा कि किशोरी जी! चलो श्यामसुन्दर की चोरी करेंगे। तो कहा कि—कैसे चोरी करोगी? चलो देखती हैं। जब वे सो रहे होंगे तो उनका तब उठा लायेंगी सब सामान। अब गोपियों के मन में यह बात आती है। श्यामसुन्दर कदमवृक्ष के नीचे सो जाते हैं। अब राधारानी अपनी सखियों के सहित जब गईं तो देखा कि श्यामसुन्दर गहरी नींद में सो रहे हैं। गोपियों ने कहा कि—किशोरी जी, आप उनका सब शृंगार चुरा लो। तो एकदम किशोरी जी आकुल हुईं-देखो सखी कितने अच्छे लगते हैं, मत चुराओ। अरे प्यारी जी! उनको क्या कमी है। उनकी मैया और दे देंगी, आप चुरा लो। उनका सारा शृंगार चुरा लिया और चली आईं। अब श्यामसुन्दर की नींद खुली, देखा तो वंशी नहीं है, अमुक चीज नहीं है, अमुक नहीं है। सब चीजों का नाम लेते जाते और कहते जाते कि यह भी नहीं है-यह भी नहीं हैं। सोचने लगे, मुझ चोर के घर में कौन चोर आयेगा, जो सब ले गया। कोई नहीं ले सकता सिवाय गोपियों के-और कोई नहीं चुरा सकता। सारा शृंगार चुराया यानी स्वरूप की प्राप्ति। जब वह मन चुरा लेते हैं तब अपना स्वरूप प्रदान करते हैं। इसमें दार्शनिक रहस्य है। श्यामसुन्दर आये। हे सखी, हमारी लकुटिया दे दो, हमारी वंशी दे दो, हमारा

ये दे दो। बोलीं-लाला वा दिन तुम मुँदरिया चुरा ले गये, अब काये को आये हो-जाओ। जाओ तुम्हारो कछू काम नाँय। बोल-चाल में कहते हैं न कि हमें कुछ नहीं चाहिए। बोले-ना सखी, दे दो। तो बोलीं-जाओ यहाँ तुम्हारा कछू नाँय। तो श्यामसुन्दर ने कहा-अच्छा! अगर हम नन्द के लाला हैं तो तुमसे जरूर ले लेंगे। अब यहां एक बड़ा रहस्य है। श्यामसुन्दर ने एक विरहणी सखी का वेश बनाया। अब अत्यन्त व्याकुल हैं। और बड़ा विलाप किया कि हे श्यामसुन्दर! अब इस विरहणी सखी की दशा देखो। किसी गोपी ने जब देखा तो बड़ी आकुल हो गयी और कहने लगी-अरे! तू क्यों बावरी हो गयी है, क्यों उसके पीछे पड़ी है। यानी विरोध किया कृष्ण-प्रेम का। तो श्याम-विरहणी सखी कहती है कि मेरा तो कोई अपराध नहीं है। मैं तो जल भरने गयी थी। मेरे पाँव में कांटा लग गया। न जाने सखी कहाँ से वे नन्द के लाला आये, मोरे पैर के कांटे को निकाल गये, पर मेरे मन में कांटा चुभा गये। तो श्याम-विरहणी सखी को अत्यन्त व्याकुल देखकर ललिता जी ने कहा कि—हे किशोरी जी, आपके पास तो प्यारे का सारा शृंगार है। तो आप उसको धारण करके इसे दर्शन दें, ताकि उसका हृदय शान्त हो जाय। किशोरी जी ने वैसा ही किया। उसे दर्शन दिया। श्याम-विरहणी का हृदय शान्त हुआ। कहने लगीं-"हे प्यारीजी! यह लकुट मेरी है। यह वंशी मेरी है। यह मुकुट मेरा है।" तात्पर्य क्या है? जिसको प्राप्त करना होता है उसके स्वभाव का अनुसरण किये बिना आप प्राप्त नहीं कर सकते उसे। यहां तक तो मैंने उसके दर्शन का वर्णन किया।

आप जानते हैं। प्रभु में ऐश्वर्य है, सौन्दर्य है, माधुर्य है। तो आपको भी उसी को प्राप्त करना होगा। निर्ममता से उदित सौन्दर्य, निष्कामता से प्रकट ऐश्वर्य और आत्मीयता से जागृत माधुर्य प्राप्त करने पर ही पूर्ण प्राप्ति होगी।

7

(ब)

1. प्रेम के पथ में बड़ा रहस्य है, प्यारे का मन प्यारी के पास और प्यारी का मन प्यारे के पास रहता है।

2. प्रेम में नित्य मिलन है और नित्य योग है।

3. प्रिय के मन की बात पूरी करना ही तो प्रेम है, गोपियों के मन की बात श्रीकृष्ण, और श्रीकृष्ण के मन की बात गोपियाँ करती रहती हैं।

4. प्रीति और प्रियतम में भेद नहीं है, प्रीति में ही प्रियतम का और प्रियतम में ही प्रीति का नित्य वास है।

प्रवचन :

इस प्रकार दिन-रात ब्रज में नित-नव-रस की वर्षा होती रहती है। एक बार मेरे मन में यह बात आयी कि श्रीकृष्ण के प्रेम की प्राप्ति का उपाय क्या है? तो मुझे एक ऐसा चरित्र सुनने को मिला, बहुत ही ऐसी दशा में कि अकस्मात एक आदमी ने कहा कि तुम अमुक जगह चले जाओ। मैंने सोचा, वहाँ का रास्ता जानता नहीं, साथ में भी कोई है नहीं। किन्तु दैवयोग से पहुँच गया। वहाँ एक बड़ा ही सुन्दर श्रीकृष्ण-चरित्र देखा। श्री किशोरी जी अपनी सखियों के साथ और श्यामसुन्दर अपने सखाओं के साथ वन-विहार कर रहे हैं। श्री किशोरी जी कहती हैं-हे प्यारे! यह वन कितना सुन्दर है। श्यामसुन्दर कहते हैं-हे श्री किशोरी जी! यह आप ही से सुन्दर है। बोली "नहीं-नहीं। हे प्यारे! इसमें आपही का सौन्दर्य है।" अब आप देखिये कि दृष्टि में प्रभु हैं, दोनों ही ऐसी बातें करते हैं। ऐसा वन-विहार करते-करते किशोरी जी के मन में एक बात आयी कि हे प्यारे! आओ हम खेल खेलें। क्या खेलोगी? बोलीं हम छिपेंगे और तुम ढूँढ़ना। किशोरी जी छिप गईं और श्यामसुन्दर ढूँढ़ने लगे। जब नहीं ढूँढ़ पाये तो अत्यन्त व्याकुल होकर, अधीर होकर बैठ गये। "हाय ललिते! प्यारी न जाने कहाँ चली गईं। अब मुझको प्यारी के बिना एक पल भी चैन नहीं है।" बड़े व्याकुल। ललिता जी ने कहा, "हे प्यारे! आपकी प्यारी को रास बहुत प्रिय है। आओ हम-तुम मिलकर रास करेंगे। शायद प्यारी आ जायँ। दोनों ने मिलकर रास किया। अब प्रयत्न चल रहा है। फिर भी प्यारी जू नहीं आईं। अब तो श्यामसुन्दर बहुत व्याकुल हो गये। कहने लगे-"हे ललिते! अब तो मुझसे प्यारी जू का वियोग किसी प्रकार भी सहन नहीं होता।" ललिता जी विवेक-शक्ति हैं। उन्होंने कहा-"हे प्यारे! आप अधीर न हों, मैं अभी आपकी प्यारी जू को लाती हूँ।"

देखिये, इस प्रेम के पथ में बड़ा रहस्य है। प्यारी के पास प्यारे का मन और प्यारे के पास प्यारी का मन! और वह जो सखी है न, उसके पास दोनों का मन। वह दोनों का मन लिए रहती है। इसीलिए जो ये प्रेमी होते हैं न, प्रिया-प्रीतम दोनों को लाड़ लड़ाते हैं। ललिता जी ने कहा कि हे प्यारे! आप अधीर न हों, मैं अभी आपकी प्यारी को लाती हूँ। और जाकर एक स्थान पर मूक होकर बैठ गयीं। मूक-सत्संग करने लगीं। देखती हैं कि किशोरी जी वहाँ मौजूद हैं। अप्रयत्न हो गयीं, अहंकृति नाश हो गयी, प्रयत्न नाश हो गया। देहाभिमान गल गया; अब दूरी कैसी! अब जब प्यारी जू प्रकट हो गईं तो ललिता जी ने कहा-"हे प्यारी जी! आप शीघ्र ही पधारो।" किशोरी जी बोलीं-"क्या सखी, क्या कहा?" ललिता जी ने कहा-"आपके प्यारे आपके

वियोग में बड़े ही अधीर हैं।" बोलीं-"हे ललिते! मेरे प्यारे मेरे वियोग में अधीर हैं। हाय, हाय ललिते! मैं तो वैसे ही प्यारे के वियोग में बेचैन थी और तू कहती है कि मेरे प्यारे मेरे वियोग में अधीर हैं। अब मुझमें तो बिलकुल सामर्थ्य नहीं है। तू जा और प्यारे से कह कि वे ही मुझे दर्शन दें।" अब ललिता जी श्यामसुन्दर के पास आयीं, कहने लगीं-"हे प्यारे! मुझे आपकी प्यारी मिल गयीं, मैंने कहा आपके प्यारे आपके वियोग में बड़े दु:खी हैं, आप चलो। तो आपकी प्यारी ने कहा कि एक तो मैं वैसे ही प्यारे के वियोग में दु:खी हूँ। हाय! मेरे प्यारे मेरे वियोग में दु:खी हैं। अब मुझमें तो बिलकुल सामर्थ्य नहीं हैं। तो हे प्यारे ! आप ही चलकर उन्हें दर्शन दें।" श्यामसुन्दर कहने लगे—हे ललिते! तुम तो जानती ही हो कि मैं प्यारी के वियोग में दु:खी हूँ। हाय! मेरी प्यारी और मेरे वियोग में अधीर है। अब मुझमें तो बिलकुल सामर्थ्य नहीं है। तुम जाकर उनसे कहो कि वे ही दर्शन दें।" ललिता जी इधर से उधर आयीं, वहाँ देखती हैं कि प्यारी वहाँ नहीं हैं। उधर देखती हैं कि प्यारे नहीं हैं। यह देख ललिता जी अप्रयत्न होकर मूर्छित हो गयीं। अब यह कुछ पता नहीं चलता कि प्यारी से प्यारे मिले कि प्यारे से प्यारी मिलीं। दोनों का मिलन हो गया। अब दोनों ने जब ललिता जी को देखा मूर्छित दशा में, तो श्यामसुन्दर ने कहा-हे किशोरी जी! ललिता जी कितनी दु:खी हैं। आप शीघ्र ही कृपा करो। उन्होंने कहा-हे प्यारे! आप ही कृपा करो। किन्तु ललिता जी प्रकट हो गयीं और कृपा किसने की, वही जानें। खेल समाप्त हो गया। श्यामसुन्दर ने कहा-हे प्यारी, आप कहाँ छिप गई थीं। मैं तो आपको बिलकुल ढूँढ़ नहीं पाया। बोलीं—"हे प्यारे! मैं तो आपमें ही छिपी थी।" प्रीति और प्रीतम में भेद नहीं है, दूरी नहीं है। प्रीति में ही प्रीतम का निवास है, प्रियतम में ही प्रीति विद्यमान है। इस प्रकार नित-नव-रस की लीला ब्रज में होती रहती है।

आप जानते हैं, प्रीति की वृद्धि वियोग से होती है। जब श्यामसुन्दर ने देखा कि मिलन में जो प्रीति है वह तो है ही, पर उससे और बढ़नी चाहिए। क्योंकि प्रीति की कभी-पूर्ति तो होती नहीं।

तो श्यामसुन्दर कहने लगे-"मैया! हम तो मथुरा जायेंगे। हमारे काका-अंक्रूर जी आये हैं न, हमारे मामा ने यज्ञ किया है, हम यज्ञ देखने के लिए मथुरा जायेंगे।" अब मैया यशोदा ने जब सुना कि कन्हैया मथुरा जायगा तो अत्यन्त अधीर हो गयीं कि हाय! हाय! क्या ब्रज में कोई ऐसा नहीं है जो जाते हुए कन्हैया को रोक सके। प्रेमियों को अपने गुण का भास होता ही नहीं। कन्हैया कहने लगा-"अरी मैया! हमने तुम्हारा बहुत दही खाया, दूध खाया, माखन खाया, हम तो अब जायेंगे। अब बाबा! अपनी गैया सम्हाल लो। हम

तो जायेंगे।" नन्द ने जब यह सुना तो अधीर होकर कहने लगे-"हाय लाला तू जाएगो। ये सारी गैयाँ तो तेरी हैं। हमारी कहाँ हैं लाला!" यह समाचार जब सखाओं ने सुना, गोपियों ने सुना, तो जिसने भी सुना, एक दम बेचैन, अधीर हो गया। गोपियाँ तो रथ के सामने आकर लेट गयीं। पहियों के साथ लिपट गयीं। श्यामसुन्दर ने कहा-अरे सखी! हम आयेंगे-परसों आयेंगे, परसों। इसी नाम से ब्रज में परसों (पलसों) नामक एक गाँव है! 'परसों की पिया जो आवन कहीं, कब आयेगी बेरिन परसों।' यानी ब्रज में कोई परसों शब्द नहीं कहता। पल्ला-दिन कहते हैं। उनको परसों शब्द कहने में डर लगता है। तो गोपियाँ जहाँ की तहाँ खड़ी रह गयीं।

श्यामसुन्दर मथुरा चले गये। बड़े आदमी हो गये, मथुराधीश बन गये। नन्दराय जी जब लौटे कन्हैया को पहुँचाकर और मैया यशोदा ने देखा कि नन्दराय जी आ गये हैं और लाला नहीं हैं, तो यशोदा जी को बड़ा आश्चर्य हुआ कि लाला के बिना यह प्राण सहित कैसे आ गये। नन्द जी कहने लगे—"यशोदे, तुम ठीक सोचती हो। रामावतार में जब हमारे लाला वन गये थे, तब महाराजा दशरथ ने प्राणों का परित्याग कर दिया था। मुझे भी लाला के वियोग में प्राणों का त्याग करना चाहिए था। परन्तु तुम नहीं जानती यशोदा, जब हमारे लाला वन से लौटे, तब उन्होंने महाराजा दशरथ के न रहने का दुःख अनुभव किया था। ऐसे ही जब कभी लाला ब्रज में आये और उसे मेरे न रहने का दुःख हो तो वह मुझे असह्य होगा। ये अभागे प्राण केवल इसीलिए नहीं निकले कि जब लाला ब्रज में आये तो उसे मेरे वियोग का दुःख न हो। हमें भले ही उनके वियोग का दुःख हो, पर उन्हें हमारे वियोग का दुःख न हो।" प्रेमियों के मन में यही बात रहती है। जब किसी बुद्धिमान मानव (उद्धव जी) ने गोपियों से कहा कि अरी गोपियों! तुम बड़ी बावरी हो। दिन-रात प्यारे श्यामसुन्दर के लिए अधीर रहती हो, बेचैन रहती हो, व्याकुल रहती हो। अरी बावरी, मथुरा कुछ दूर है-चली क्यों नहीं जातीं? गोपियों ने कहा कि भैया, तुम बिलकुल ठीक कहते हो। हम भली-भाँति जानती हैं कि मथुरा बहुत दूर नहीं है और यह बात भी ठीक ही है कि प्यारे श्यामसुन्दर आ जायँ तो बड़ा ही आनन्द हो। परन्तु भैया, एक बात तो बताओ। यदि उनके मन में अलग रहने की है तो हम कैसे जायें! गोपियां बेमन की हो गयीं। उनके मन में अलग रहने की है, इसलिए हम नहीं जातीं। क्यों? प्रिय के मन की बात पूरा करना ही तो प्रेम है। अपने मन की बात पूरी करना प्रेम थोड़े ही है।

उधर क्या दशा है! अरे भैया उद्धव! अत्यन्त व्याकुल हैं श्यामसुन्दर। तो कैसे व्याकुल हैं महाराज, क्या बात है? बड़े ब्रह्मनिष्ठ सखा हैं उद्धवजी

श्रीकृष्ण के। तो कृष्ण से पूछा उद्धव जी ने-कि महाराज कैसी बेचैनी है, कैसी उदासीनता है। तो जैसे-जैसे उद्धव जी पूछते जाते हैं वैसे-वैसे श्यामसुन्दर और व्याकुल होते जाते हैं। कहने लगे-"भैया उद्धव! मुझे ब्रज की बड़ी याद आती है।" क्या महाराज! यहां कौन-सा कष्ट है? कौन-सी सेवा नहीं होती? बोले, भैया! जब से मैंने ब्रज छोड़ा है किसी ने मुझे कनुआ कहके नहीं बुलाया, किसी ने गुंजों की माला नहीं पहिनाई, किसी ने दूध की छाछ नहीं दी। भैया उद्धव, मुझे ब्रज की बड़ी याद आती है। तू जा और मैया से कहना कि मैया-तुम ऐसी निष्ठुर क्यों हो गई हो। और उद्धव जी एक बात और है, गोपियाँ मेरे वियोग में बड़ी दुःखी हैं तो तुम उन्हें तत्त्व-साक्षात्कार करा आओ, ज्ञान का उपदेश करा आओ, योग की दीक्षा दे आओ। उद्धव जी ने कहा-जैसी आज्ञा हो महाराज। आप जैसी आज्ञा देंगे, वैसा ही करूँगा। मैं अभी जाता हूँ। बोले-भैया! ऐसे मत जाना। तुम मेरे ही वस्त्र पहनकर जाना, मेरे ही रथ को ले जाना। नहीं तो तेरी ओर कोई देखेगा भी नहीं। चलते समय कुब्जा ने कहा-"हे उद्धव जी! राधा जी से प्रार्थना कर देना कि मैं तो किसी लायक थी नहीं, इन्होंने स्वयं सुधारा है। अपने लायक बनाया है। जैसी इन्होंने कृपा की है; वे क्यों खीजती हैं। वे भी मुझ पर कृपा करें।" आप कहेंगे बात तो ठीक है। इस सम्बन्ध में बड़ी रहस्यमयी बात है। एक बार श्री किशोरी जी से उनकी सखी ने पूछा कि हे प्यारी जी, जब प्यारे चन्द्रावली के यहाँ जाते हैं तब आप क्यों बिगड़ती हैं? कहा-मैं इसलिए नहीं बिगड़ती कि वे चन्द्रावली के क्यों जाते हैं। तू सच बता वहाँ प्यारे को रस मिलेगा क्या?

उद्धव जी ब्रज में आये, यहाँ की दशा क्या है? अगर गोपियों की दृष्टि कहीं वन पर पड़ती है तो एकदम व्याकुल होती हैं—"मधुवन तुम व्यर्थ ही हरे हो, वृक्ष तुम व्यर्थ ही सूखे हो, यमुना तुम वृथा ही बहती हो। मुकुन्द बिना कुंज किस काम के।" सारा ब्रज उन्हें नीरस लगता है। प्रिय वियोग में कहीं रस नहीं है। सब ओर से चित हट गया है और प्रिय के वियोग में व्याकुल हैं। अगर उनके शरीर को शीतल वायु लग जाती है तो चौंकती हैं, "अरे वायु! क्या तू श्री श्यामसुन्दर से स्पर्श करके आयी है जो शीतल है!" कोई पथिक उधर मथुरा को जाता हुआ दिखता है तो कहती हैं कि कन्हैया से यह कहना, कन्हैया से यह कहना। आता हुआ दिखता है तो कहती हैं-बता, कन्हैया कैसा है? उद्धव जी आये तो लोगों ने रास्ता छोड़ दिया। कौन बात करे, किसे फुर्सत है। लेकिन ब्रजवासियों ने देखा कि वही रथ आ रहा है जिसमें दादा गये थे। तो क्या दादा आ गये! सखाओं की दृष्टि पड़ी। अब देखिए यहाँ एक बड़ा रहस्य है। जैसे-जैसे भाव ऊँचा होता जाता है वैसे-वैसे.....। ये नहीं है कि

दास्य भाव स्वयं सख्य भाव में बदलता है। सख्य स्वयं वात्सल्य में, वात्सल्य स्वयं मधुर भाव में। ये प्रीति की श्रेणियाँ हैं। इनमें कोई ऊँची-नीची बात नहीं है। सख्य-रस से कोई ऊँचा रस नहीं। तो पहले-पहले सखाओं की दृष्टि गई तो बड़े हर्षित होकर बोले-अरे! रथ आ गया। मालूम होता है हमारे दादा आ गये। हमारे दादा आ गये। गये नन्द बाबा के पास। बोले-बाबा! बाबा! आज वही रथ आ रहा है जिसमें दादा गये थे। बाबा जैसे जाग पड़े हों। देखने लगे चौंककर। जैसे-जैसे रथ करीब आता जाता है वैसे-वैसे प्रसन्नता बढ़ती जाती है। किन्तु जब रथ बिलकुल नजदीक आया तो देखा ये उद्धव जी हैं। तो जितनी गहरी आशा होती है निराशा होने पर उतनी गहरी व्याकुलता भी होती है। सब ज्यों-के-त्यों ठगे से रह गये। अरे भैया उद्धव! खूब आये। बड़े आनन्द की बात है। कहो भैया! हमारे लाला अच्छे तो हैं। कभी उन्हें हमारी भी याद आती है क्या? कभी वह ब्रज में आयेगा क्या? उद्धव जी ने कहा-आप निराश न हों, आपके सखा जरूर ब्रज में आयेंगे! निस्सन्देह रहें, आप अधीर न हों। उद्धव जी बोले-हमें नन्द जी के पास ले चलो। सखा लोग नन्द जी के पास लेकर आये। नन्द जी ने देखा-दौड़े आये। कहा-भैया उद्धव, हमारो लाला अच्छा तो है न! अरे भैया, लाला तो हमें बिलकुल भूल गयो। उद्धव ने कहा-"नहीं बाबा! आपको लाला बहुत अच्छो है और बाबा जरूर आयगो। उसने आपको जुहार कहा है और कहा है कि मैया से कह देना कि मेरे खिलौना कोई गोपी चुरा न ले जाय।" बात क्या है? सारा दिन अखण्ड प्रतीक्षा में कि कन्हैया आता होगा। मैया दूध के झाग रखती है, दही जमाती है, माखन रखती है। सारा दिन प्रतीक्षा करती है, सारी रात प्रतीक्षा करती है। पता ही नहीं चलता कि कब दिन बीत गया और कब रात हुई। क्यों? क्योंकि उनका मन कन्हैया के पास है। जब उद्धव जी गोपियों के सामने गये और उन्होंने कहा कि श्रीकृष्ण ने आपको एक पत्र भेजा है तो गोपियों ने कहा-हम कैसे पढ़ें! आँसुओं से गल जायगा। हृदय से लगायें तो जल जायगा। तुम्हीं बताओ इस पत्र में क्या लिखा है। उद्धव जी ने कहा-तुम नहीं जानतीं, वे पूर्ण, परात्पर, सच्चिदानन्दघन हैं। निर्विशेष ब्रह्म हैं। सर्वत्र हैं, सर्वदा हैं, सब में हैं। तुम इतनी क्यों व्याकुल रहती हो? गोपियों ने कहा-"अरे उद्धव! तुम बावरे हुए हो। तुम योग करने की बात कहते हो। यदि हमारे पास हमारा मन होता तो हम योग करतीं। यदि हमारे मन में किसी और के लिए ठौर होता तो तत्त्व विचार करतीं।" अखण्ड प्रतीक्षा, बे-मन का जीवन। मन में किसी और के लिए ठौर ही नहीं।

उद्धव जी सिखाने आये थे, सीखकर गये। तत्त्ववित् होकर आये थे, प्रेमवित् होकर गये। श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए आये थे, बुराई करते हुए गये-हे कृष्ण! तुम बड़े निष्ठुर हो, तुम बड़े धूर्त हो, तुम्हें शीघ्र-से-शीघ्र ब्रज में जाना चाहिए। और यहाँ तक कहने लगे कि हे विधाता! यदि मेरा कहीं जन्म हो तो इसी ब्रज में हो और यहाँ की लता-पत्रादिक मुझे बना देना, जो गोपियों के पद-पंकज की रज मेरे ऊपर पड़े।

इसी प्रकार वियोग में मिलन, मिलन में वियोग, नित्य ही प्रेमियों के जीवन में रहता है। आपने सुना ही होगा, परकीया भाव क्या है? उसका ठीक चित्रण कब होता है? एक बार नारद जी को एक विनोद सूझा और उन्होंने श्री रुक्मिणी जी से कहा कि हे रुक्मिणी जी तुम श्री श्यामसुन्दर को इतना प्रेम करती हो और वे जब देखो तब राधे-राधे ही रटते रहते हैं। रुक्मिणी जी ने कहा-बात तो ठीक है, नारद बाबा! एक बार हम प्राणनाथ की चरणसेवा कर रहीं थीं। प्राणनाथ को दूध दिया पीने को तो क्या देखती हूँ कि मुख में छाले पड़ गये हैं। हमने पूछा, क्या बात हुई महाराज! तो प्राणनाथ कहने लगे कि मालूम होता है कि राधा को किसी ने गरम दूध दे दिया पीने को इसलिए छाले पड़ गये। यह कहावत है ना कि-"इश्क में तासीर है, पर दर्द कामिल चाहिए।"

आप यह जानते हैं कि किसी स्त्री के मन में अगर यह बात आ जाय कि मेरे पति को कोई और प्रेम करता है या मेरे पति किसी और को प्रेम करते हैं तो यह बात उसे सुहाती नहीं, अच्छी नहीं लगती। रुक्मिणी जी का चित्त उदास हो गया। पर यह है प्रेम का भोग ही। तो जब रुक्मिणी जी का चित्त उदास हो गया तो प्रेम में शिथिलता आ गयी, क्योंकि वहाँ अपना अधिकार आ जाता है। रुक्मिणी जी का चित्त इधर उदास हुआ उधर श्यामसुन्दर के मन में पीड़ा आरम्भ हुई। अब श्यामसुन्दर के सिर में पीड़ा होने लगी तो उदास हो गये। रुक्मिणी जी ने देखा कि प्राणनाथ आज बड़े उदास हैं तो बोलीं कि हे प्राणनाथ! आज क्या बात है, आज आप कैसे उदास हो गये? जब पूछती हैं तो और अधीर होते हैं-"कुछ बात नहीं है रुक्मिणी जी।" कुछ तो है महाराज? आज आपका चित्त प्रसन्न नहीं है। "कुछ बात नहीं है रुक्मिणी जी, सिर में पीड़ा हो रही है!" अब प्राणनाथ की सिर की पीड़ा सुनकर रुक्मिणी जी बड़ी आकुल हो गईं, व्याकुल हो गयीं। है तो प्रेम ही न! कहिये महाराज, कोई उपचार? जो उपचार की बात सुनी तो श्यामसुन्दर और अधीर हो गये। और कहने लगे-अरे रुक्मिणी जी! इस द्वारिकापुरी में उपचार कहाँ? रुक्मिणी कहने लगीं-महाराज! जिस द्वारिकापुरी

में अष्टसिद्धि, नव-निधि वास करती हैं, वहाँ उपचार नहीं हो सकता? बोले—रुक्मिणी जी यहाँ वह औषधि ही नहीं मिलेगी। बोलीं-आप बताओ तो सही, कौन-सी ऐसी औषधि है।-कि औषधि तो कुछ नहीं। यदि हमारा कोई प्रेमी होता और अपने चरण की रज लगा देता तो पीड़ा दूर हो जाती। रुक्मिणी जी सोचने लगीं-प्रेमी तो हम भी हैं, चरण भी हैं और रज भी है। पर ये हमारे पति हैं, हम इनकी पत्नी हैं, भला पत्नी पति के सिर पर अपनी चरण रज लगाये तो नर्क भोगना पड़ेगा। तो महाराज रुक्मिणी जी का साहस नहीं हुआ। अब पीड़ा तो हो ही रही है। इतने में नारद बाब आये। नारद बाबा ने पूछा- रुक्मिणी जी आप उदास कैसे हैं? कि "दण्डवत् महाराज, उदास क्या हैं, प्राणनाथ के सिर में बड़ी पीड़ा हो रही है।" ये भी तो भक्त हैं। वे गये श्यामसुन्दर के पास। कहा-महाराज आज कैसी उदासी छायी है। बोले-"कुछ नहीं-बाबा, दण्डवत्, आओ विराजो। उदासी क्या छायी है बाबा, आज सिर में बड़ी पीड़ा हो रही है।" ब्रह्मर्षि जी बोले कोई उपचार नहीं है? बोले—"उपचार तो है बाबा, पर दवाई नहीं मिलती।" तो बोले, कौन-सी ऐसी दवाई है? श्यामसुन्दर बोले कि दवाई तो और कुछ नहीं, कोई हमारा प्रेमी होता और अपने चरणों की रज लगा देता तो सिर की पीड़ा दूर हो जाती। नारद बाबा सोचने लगे-प्रेमी तो हम भी हैं, चरण की रज भी है, पर हमारा दास्य-भाव है। ये स्वामी हैं, हम दास हैं। भला दास स्वामी के मस्तक पर चरण रज लगाये तो नरक भोगना पड़ेगा। नारद बाबा का भी साहस नहीं हुआ।

और आप जानते हैं जब प्रेमी पर आपत्ति आती है तो प्रेमियों की ओर दौड़ते हैं। नारद बाबा दौड़े-दौड़े ब्रज में आये। अब यहाँ देखते हैं कि सब प्रेम-समाधि में डूबे हुए हैं। किसी को तन-मन की सुध तो है नहीं। तो वहाँ कोई दण्डवत् ही न करे। कोई पूछे ही नहीं-कहाँ ते आयो, कौन बाबा है। क्योंकि बेमन के लोग कैसे सोचें? नारद बाबा सोचने लगे, क्या उपाय करें? यह नियम है न कि जो जैसा है उसको उसकी रुचि की बात कहो तो उसमें चेत आता है। तो नारद बाबा बड़े जोर-जोर से "श्रीकृष्ण-श्रीकृष्ण" कहने लगे। तो अपने प्यारे के नाम की भनक जब ब्रज-गोपियों के कान में पड़ी तो प्यारे की हर चीज अपने को प्यारी होती है। प्यारे का नाम भी तो उनको अत्यन्त प्रिय है। तो प्रिय के नाम की भनक जब ब्रज-गोपियों के कान में पड़ी तो पलक ऊपर को उठ गया। देखती हैं कि ब्रह्मर्षि श्री नारद बाबा खड़े हैं। तो आप जानते हैं प्रेमियों को। प्रेमियों के मिलन के समान तो और कोई सुख नहीं है। तो नारद बाबा को खड़ा हुआ देख-दण्डवत् बाबा, दण्डवत् बाबा।

अरे बाबा! कहाँ से आये हो। बाबा दण्डवत्। क्योंकि सब जानती हैं कि ये विचरते रहते हैं। अब बाबा बोले ही नांय। अरे बाबा! तू सुने नांय ! बताये नांय ! तेरे कान नांय बाबा! जब संकल्प पूरा नहीं होता तो और चेतना आती है। पूछने लगीं-कहाँ ते आयो है बाबा ! बता बाबा! तो बोले-आवत तो मैं द्वारिकापुरी ते हूँ। तो जो प्यारे के धाम की बात सुनी तो और चेत हो गया और चारों ओर से यही आवाज आने लगी-हमारे प्यारे अच्छे तो हैं? हमारे प्यारे अच्छे तो हैं? अब बाबा—बोले ही नांय। प्रेम में बड़ा अनन्य चिन्तन बना रहता है। अरे बाबा तू सुने नांय, बोले नांय। बता! हमारे प्यारे अच्छे तो हैं। नारद जी बोले-अच्छे, तो हैं पर उनके सिर में पीड़ा हो रही है। अब जो गोपियों ने सुना कि श्यामसुन्दर के सिर में पीड़ा हो रही है तो एकदम व्याकुल होकर कहने लगीं- "हाय! हाय!! उस द्वारिकापुरी में कोई उपचार करने वाला नहीं है। यदि वे ब्रज में होते तो उनकी मैया उपचार करती। अपने प्रेम पर भरोसा नहीं है। अपनी योग्यता पर भरोसा नहीं है। अरी गोपियों, उपचार करने वाले तो वे ही बड़े चतुर वैद्य हैं, पर औषधि ही नहीं मिलती। अरे बाबा! कौन सी ऐसी औषधि है जो नहीं मिल रही? जल्दी बता बाबा। औषधि तो यह है गोपियों! यदि कोई उनका प्रेमी होता और अपनी चरण की रज दे देता तो उनके सिर की पीड़ा दूर हो जाती । अरे बाबा, जा जल्दी जा, जितनी चाहे उतनी लेजा। "अरे गोपियों! तुम बावरी हुई हो। तुम नहीं जानती हो कि श्यामसुन्दर पूर्ण ब्रह्म, सच्चिदानन्दघन हैं। भला तुम उनके मस्तक पर अपनी चरण रज लगा करके नर्क को भोगोगी।" बोलीं-बाबा, तुम नांय जानो, हम तो भली-भाँति जानती हैं। हम भली-भाँति जानती हैं कि वे पूर्ण ब्रह्म सच्चिदानन्दघन हैं। पर बाबा तू नांय जाने। तो बोले-क्या बात हम नांय जानें? तुम ये नांय जानो कि हम एक जन्म नहीं अनेक जन्मों तक नर्क की यातना सह सकती हैं, पर प्यारे की पीड़ा नहीं रह सकतीं। यह है गोपी-प्रेम! गोपी-प्रेम।

तात्पर्य कहने का यह था कि यह गोपी-प्रेम हम सबका अपना प्रेम है, यह मनुष्यमात्र को प्राप्त हो सकता है। जैसा कि आरम्भ में निवेदन किया था कि इस प्रेम में तीन बातें हैं-वे अपने हैं, मुझे उनसे कुछ चाहिए नहीं, अपने पास अपना कुछ नहीं है, उनकी आत्मीयता में ही अगाध प्रियता है। यह प्रेम मनुष्यमात्र को प्राप्त हो सकता है। इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है।

8

(अ)

1. बल है संसार के लिये,
2. ज्ञान है अपने लिये,
3. विश्वास है भगवान के लिये।

यह मानव जीवन का सत्य है। शरीर का बल संसार के हित में लगा देने से राग की निवृत्ति हो जाती है। ज्ञान के प्रकाश में निर्मम और निष्काम हो जाने से देहातीत होने की सामर्थ्य आती है। आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक ईश्वर को अपना मान लेने से भक्ति की अभिव्यक्ति हो जाती है।

सर्वसमर्थ प्रभु की आत्मीयता से अनाथपन का दु:ख सदा के लिए मिट जाता है। मनुष्य अनाथ नहीं है। जो प्रभु-विश्वासी नहीं है, जो कर्तव्य-विश्वासी नहीं है, और जो आत्म-विश्वासी नहीं है, वही अनाथ है।

जीवनदाता ने मानव को यह स्वाधीनता दी है कि मनुष्य जब चाहे तब धर्मात्मा होकर, जीवन-मुक्त होकर और भगवत्-भक्त होकर कृत-कृत्य हो सकता है।

प्रवचन :

किसी नाते से मानिये साहब, पर सभी को अपना अवश्य मानिये। यह तो मानने की चीज है। ये जानने की चीज नहीं है, कि सभी अपने हैं कि नहीं। यह मानने की चीज है। अथवा, परमात्मा को अपना मानिये अथवा इस बात को जानिये कि मेरा करके कुछ नहीं है। यह जीवन का सत्य है। यह कल्पना नहीं है। मेरा करके कुछ नहीं है, मेरा कोई नहीं है। उसमें कोई आपत्ति नहीं है। लेकिन कोई है और कोई नहीं है! यह मेरा क्यों है, क्योंकि यह मेरे मजहब का है। यह मेरा क्यों है, क्योंकि मेरे इज्म का है। यह मेरा क्यों है, क्योंकि मेरे परिवार का है। यह बड़ी भारी भूल है। मैं आपसे क्या बताऊँ। इस भूल से मानवता समाप्त हो गयी। मानवता को मिटाने वाली और कोई चीज नहीं है, यही भूल है। या तो आप यह मानते कि मेरा करके कोई नहीं है,-तो आप असंग होकर अपने में संतुष्ट रहते, कोई बात नहीं थी। लेकिन कोई मेरा है और कोई मेरा नहीं है, यह बड़ी भारी भूल है। इस भूल को बिना मिटाए, कभी भी, कोई भी साधक मेरे जानते साधन-निष्ठ नहीं हो सकता। और चाहे वह कुछ हो जाय, साधननिष्ठ नहीं हो सकता। जब साधननिष्ठ नहीं हो सकता तो जीवन की सार्थकता ही समाप्त हो गई, जीवन ही असफल हो गया।

इसलिए, क्या आज हम और आप इस सत्य पर विचार करने के लिए राजी हैं-कि **प्रभु अपने हैं, अपना कुछ नहीं है, अथवा सभी अपने हैं**। अगर इस सत्य को स्वीकार नहीं कर सकते, तो आप धर्मात्मा भी नहीं हो सकते, जीवन-मुक्त भी नहीं हो सकते-भक्त भी नहीं हो सकते और चाहे कुछ हो जायँ। क्या राय है?

श्रोता-सत्य है स्वामी जी।

अगर इस सत्य को नहीं मानते तो आप धर्मात्मा नहीं हो सकते, जीवन-मुक्त नहीं हो सकते, भक्त नहीं हो सकते। धर्मात्मा नहीं हो सकते तो जगत के काम नहीं आ सकते, जीवन-मुक्त नहीं हो सकते तो अपने काम के नहीं रहे और भगवत्-भक्त नहीं हो सकते तो प्रभु के काम नहीं आ सकते। तो उस भाई की बात पर मुझे ख्याल आया कि बिचारा कितना भोला है। अरे भाई सोचो, विचार करो धीरज से कि सीमित प्यार और सीमित उदारता क्या पशु-पक्षियों में नहीं है। क्या राय है?

श्रोता-है।

तो मैंने कहा कि वह भाई अगर मेरा प्रेमी होता तो यह सोचता कि कोई बात नहीं है, स्वामी जी का शरीर नहीं रहेगा तो उनका प्यारा-प्यारा जो

"मानव सेवा संघ" है, ऐसा मान लो थोड़ी देर के लिए कल्पना कर लो, मैं तो भगवान का मानता हूँ अपना नहीं मानता हूँ। भगवद्नाते ही "मानव सेवा संघ" की सेवा करता हूँ। तो अब वह काम हम करेंगे, क्योंकि अपने प्यारे का लगाया हुआ पौधा है, सींचेंगे इसको। तो वह सही अर्थ में मेरा प्रेमी हो जाता। ऐसे ही जो प्रभु का भक्त है, मान लो थोड़ी देर के लिए, व्यक्ति को हटा दो, तो क्या यह हो सकता है कि निर्वैर न हो और परमात्मा की प्राप्ति हो जाय। समता न हो और परमात्मा की प्राप्ति हो जाय! उदारता न हो और परमात्मा की प्राप्ति हो जाए। यह हो सकता है कभी?

श्रोता-नहीं हो सकता।

स्वामी जी-कभी हो ही नहीं सकता।

इसीलिए मेरा नम्र निवेदन है कि तीन बातें आपकी सेवा में निवेदन की और तीन ही आपके पास शक्तियाँ हैं-बल है, ज्ञान है और विश्वास है। तो बल है संसार के लिए। बल से आपको शान्ति नहीं मिलेगी। बल से आपको मुक्ति नहीं मिलेगी। और ज्ञान है अपने लिए तथा विश्वास है परमात्मा के लिए। क्योंकि बिना विश्वास के आप परमात्मा से सम्बन्ध नहीं जोड़ सकते। और बिना ज्ञान के आप न शान्ति पा सकते हैं, न मुक्ति पा सकते हैं और न ही निर्विकारता पा सकते हैं। और बल संसार के लिए है। अब हमसे बड़ी भारी भूल यह होती है कि हम मिले हुए बल को अपने लिए मानते हैं। सेवा करते हैं, तो उसके बदले में हमें मान और भोग मिलना ही चाहिए। बड़ी भारी वीकनेस (निर्बलता) है यह। यह निर्बलता किसमें नहीं है, इसे तो प्रभु जाने या वो जाने, हमें तो मालूम नहीं। हमने अपने जीवन में इस वीकनेस का अनुभव किया है और इस बात को देखा है कि जो आदमी सेवा के बदले में भी व्यक्तिगत सम्मान चाहता है, भोग चाहता है, उससे सेवा बनेगी नहीं। क्योंकि सेवा का फल तो त्याग है और त्याग का फल प्रेम है। अगर आपने ठीक सेवा की है किसी की, तो आपमें त्याग का बल आना चाहिए। और जब ठीक त्याग का बल आ गया है, तो प्रेम का उदय होना चाहिए। इसीलिए मैं हमेशा लोगों से कहता हूँ कि भाई, हमें बल के द्वारा सेवा करनी है और सेवा के द्वारा त्याग को प्राप्त करना है। सेवा का फल है त्याग। त्याग के द्वारा बोध भी प्राप्त होता है और प्रेम भी प्राप्त होता है। जो प्रभु-विश्वासी हैं, उन्हें प्रेम प्राप्त होता है और जो अध्यात्मवादी हैं, उन्हें बोध प्राप्त होता है। और जब तक आपको बोध और प्रेम की प्राप्ति नहीं होती, तब तक जीवन में पूर्णता होती है क्या?

श्रोता-नहीं होती।

स्वामी जी-कभी नहीं होती।

इसीलिए मेरा यह निवेदन था कि भाई! मान लीजिए, थोड़ी देर के लिए कि आपको मानव सेवा संघ अपना संघ नहीं मालूम होता और उसका प्रवर्तक अपना मालूम होता है। यह वही दशा होगी कि जिन्हें परमात्मा अपना मालूम हो और सृष्टि अपनी न मालूम हो। क्या राय है?

श्रोता-ठीक है।

तो हम अपने साथियों से, अपनी बालिकाओं से खास तौर से कहते हैं कि अगर यह बात तुमको पसन्द है कि पिताजी तुमको अच्छे लगते हैं, तो भाई! पिताजी की व्यथा में तुम हाथ बटाओ। जो दूसरे की व्यथा में हाथ बटाता है, पंडित जी, मैं आपको बड़ी ईमानदारी से कहता हूँ कि उसको अपनी व्यथा से व्यथित नहीं होना पड़ता और जो दूसरे की व्यथा में हाथ नहीं बटायेगा, वह बच नहीं सकता कि अपनी व्यथा से व्यथित न हो।

पंडित जी-गहरा दर्शन है।

बहुत ईमानदारी की बात है। अगर आप चाहते हैं कि हम व्यक्तिगत दुःख से दुःखी न हों तो दूसरों के दुःख से दुःखी हो जाइये, क्योंकि दुःखी होना जरूरी है। क्यों जरूरी है? कि दुःख के प्रभाव से ही सुख का प्रलोभन नाश होता है। हमने सुना था, मालूम नहीं कहां तक ठीक है-पंडित लेखराम का लड़का बीमार था और उनके पास खबर आई कि तीन सौ आदमी ईसाई होने जा रहे हैं, या मुसलमान होने जा रहे हैं, ठीक मालूम नहीं।

श्रोता-मुसलमान होने जा रहे थे।

तो मुसलमान होने की बात थी। पत्नी ने कहा कि लड़का बीमार है, आप कहाँ जा रहे हैं? उन्होंने कहा "मेरे तीन सौ लड़के बीमार हैं। एक लड़के के लिए तीन सौ को कैसे छोड़ दें?" तो उनके दिल में दर्द था एक। हम नहीं कहते कि वही दर्द हमारे दिल में भी हो, लेकिन दर्द तो हो!

तो, जो आदमी दुःख से बचना चाहता है, कठिनाई से बचना चाहता है, वह न शांति पाता है और न दुःखहारी हरि को पाता है। हमें जो मिलना है वो दो ही चीजें मिलनी हैं-शान्ति और प्रभु। तीसरी चीज तो मिलनी है नहीं। आप चाहें कि आपको सुख, सुविधा, सम्मान सदैव मिलता रहे। तो महाराज कितनी ही सुख-सुविधा-सम्मान की तैयारी करो, वह सुरक्षित नहीं रहता है, क्योंकि यह रहने वाली चीज नहीं है। न सुख रहने वाली चीज है, न सुविधा रहने वाली चीज है और न सम्मान रहने वाली चीज है। हाँ, यह दूसरों को देने वाली चीज है। अगर आपमें हिम्मत है, बहादुरी है, तो दूसरों को सुख दीजिए,

सुविधा दीजिए, सम्मान दीजिए। लेकिन आप स्वयं सुख-सुविधा-सम्मान का भोग करना चाहें, यह सम्भव नहीं होगा, यानी मिलेगा नहीं। कितना ही आप प्रयास करें, आपको मिलेगा नहीं, यदि मिल भी जाएगा तो रहेगा नहीं। तो सुख, सुविधा हमें नहीं चाहिए, परन्तु यदि सम्भव हो सके तो हम दूसरों को सुख दें, दूसरों को सुविधा दें, दूसरों को सम्मान दें। ये देने की चीजें हैं, लेने की चीज नहीं हैं। और हमसे बड़ी भारी गलती यही हो जाती है कि हम देने वाली चीज को लेने लगते हैं। दुःख का प्रभाव लेने की चीज है। अगर आपको संसार से कुछ लेना है, तो इस दुःखी संसार के दुःख से आप दुःखी हो जाइये।

तो मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि रोज हम पाठ करते हैं-'बिन सत्संग विवेक न होई, राम कृपा बिनु सुलभ न सोई।' और 'भक्ति स्वतन्त्र सकल गुण खानी, बिन सत्संग न पावहि प्राणी।' तो भैया, यह पाठ ही करते रहोगे कि सत्य को स्वीकार भी करोगे! बिना सत्संग के विवेक नहीं होगा, विवेक के बिना मोह नहीं मिटेगा, बिना मोह के मिटे अनुराग नहीं होगा, बिना सत्संग के भक्ति नहीं मिलेगी। तो वह कौन-सा सत्संग है कि जिसके बिना भक्ति नहीं मिलेगी? वह यही सत्संग है कि सुख-सुविधा की दासता से हम मुक्त हों। अगर आपके पास बल है तो-क्योंकि यह सब बल से सम्बन्ध रखते हैं-सुख भी, पंडित जी, बल से ही सम्बन्ध रखता है। भोग्य पदार्थ हो, भोगने की शक्ति हो तब भोग सिद्ध होगा। सम्मान भी बल से सम्बन्धित है, किसी के काम आओ तो सम्मान मिले। जिसके आप काम आयेंगे वही आपको सम्मान देगा और उसी के द्वारा आपको सुविधा मिलेंगी। तो ये बल के साधन हैं-सुख-सुविधा-सम्मान। जिसके पास बल होगा उसको सुख मिलेगा, सुविधा मिलेगी, सम्मान मिलेगा। हमारे पास बल नहीं है, हमको नहीं मिलते। अगर हम आज आगरा डाक्टर को दिखाने जाना चाहें तो हमारे पास साधन नहीं हैं। परन्तु जिनको बल प्राप्त है, जिन्होंने बल का सम्पादन कर लिया है, वे जा सकते हैं। लेकिन उस बल के द्वारा जीवन की समस्या हल नहीं हो सकती। इसलिए जो लोग निर्बल हैं, उन्हें यह सोचना चाहिए कि उनके लिए यह सुलभ है कि वे अचाह हो जायँ। एक बलवान के लिए यह सुलभ नहीं है कि वह अचाह हो जाये, क्योंकि वह सुविधा क्यों छोड़ेगा!

इसीलिए मैं आपसे निवेदन कर रहा था कि 'मानव सेवा संघ' की प्रणाली में यह बात बताई गई है कि हम चाहे जिस परिस्थिति में हों, सत्य को स्वीकार करने में कोई पराधीनता नहीं है। अब, जैसे कि मान लो थोड़ी देर के लिए यह शरीर है, निर्बल हो रहा है। अगर यह सत्य मेरे जीवन में उतर जाय

कि "शरीर मेरे लिए नहीं है," तो उसकी चिन्ता समाज को होगी कि मुझको? मुझको चिन्ता हो और समाज को उपेक्षा हो तो? तो इसका मतलब क्या है? इसमें समाज का दोष नहीं है। यह सब मेरी ही भूल है कि मैंने कहीं न कहीं शरीर को अपने लिए माना होगा। "मानव सेवा संघ" बड़े डंके की चोट यह बात कहता है कि भैया, शरीर तो लोकहित के लिए है, पर-सेवा के लिए है। अगर शरीर के द्वारा तुम बैठकर ध्यान करो तो भी इसी भाव से करो कि लोक-हित हो। जप करो तो इसी भाव से करो कि लोक-हित हो। तीर्थ-यात्रा करो तो इसी भाव से करो कि लोक-हित हो। शरीर के द्वारा होने वाली प्रत्येक प्रवृत्ति लोक-हित के लिए है, अपने लिए नहीं है। और जब से इस सत्य को मानव ने ठुकराया है तब से मानव समाज में अनेक संघर्ष पैदा हो गये और पैदा होते रहेंगे, कोई रोक नहीं सकता। शरीर का बल, योग्यता का बल, सम्पत्ति का बल-यह सब शरीर ही से सम्बन्धित हैं, शरीर की ही जाति के हैं। वस्तु है, योग्यता है, सामर्थ्य है, सम्पत्ति है-ये सब शरीर की जाति के ही हैं। शरीर कह दो चाहे वस्तु कह दो, शरीर कह दो चाहे योग्यता कह दो, शरीर कह दो चाहे सामर्थ्य कह दो। क्या राय है पंडित जी?

पंडित जी-सत्य है।

तो यह लोक-हित के लिए हैं। और भैया, सबसे बड़ा लोक-हित यही है कि आप किसी को कष्ट न दो। किसी को कष्ट मत दो, किसी का बुरा मत चाहो, किसी को बुरा मत समझो। किसी का बुरा मत सोचो। किसी का बुरा सोचना-इससे भी नीची श्रेणी कोई हो सकती है क्या? सभी को सुख दो यह तो बाद की बात है, पर किसी को दुःख न दो, किसी का बुरा न चाहो, किसी को बुरा न समझो-यह तो आप कर सकते हैं। अगर तुम इस बात को ही पूरा कर लो तो सेवा करने वालों की सूची में तुम्हारा एक नम्बर नाम हो जायेगा।

तो वह सबसे बड़ा सेवा करने वाला है जो किसी को किसी प्रकार से दुःख नहीं देता। किसी का बुरा नहीं चाहता। अब बताओ इस सेवा से भी हम वंचित हो जायँ?

श्रोता-नहीं।

यह सेवा तो जब चाहो तब कर सकते हो। अच्छा, सेवा का तो भाव न हो और आप कहो कि हम शारीरिक बल के द्वारा हिमालय की कन्दरा में बैठकर ब्रह्म-प्राप्ति कर लेंगे। आप जाकर कर लें, और करके आ जायँ और मुझसे कहें तो मैं मान लूँगा। पर मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मैंने भी उत्तराखण्ड की यात्रायें बहुत की हैं, बहुत घूमा हूँ। मैंने उत्तराखण्ड के

त्यागी-वैरागियों का मन निवृत्ति में नहीं देखा है, मन निवृत्ति में नहीं देखा है। उन्हें मनीआर्डर का ध्यान आता है, तारीख का ध्यान आता है, चिट्ठी का ध्यान आता है और जब कभी वे उत्तराखण्डवासी तपस्वी नीचे (मैदान) में आते हैं तो उनको हर्ष होता है कि यहाँ तो साग भी खाने को मिल गया, वहाँ तो केवल नमक ही मिलता था। यह बात मैं उन विचारों के तिरस्कार की दृष्टि से नहीं कहता हूँ। बुद्धिमान वह है जो दूसरों से सीखे। तो मैंने सीखा है कि उत्तराखण्ड में बैठने मात्र से भगवत्-प्राप्ति नहीं होती। यह मैं उत्तराखण्ड का खण्डन नहीं कर रहा हूँ, यह मत समझियेगा। मेरे मन में उत्तराखण्ड के प्रति बड़ी श्रद्धा है। मुझे जाने को मिलता है तो मैं गंगा किनारे जाता हूँ, जमुना किनारे जाता हूँ। ऐसी बात नहीं है कि मैं अश्रद्धा करता हूँ। लेकिन मैं आपसे निवेदन करना चाहता हूँ कि शारीरिक बल के द्वारा आप सत्य को नहीं पा सकते।

सत्य को पाने के लिए तो आपको ज्ञान का प्रकाश मिला है। चाहे यहाँ बैठकर ज्ञान का आदर करो भाई, चाहे गंगा किनारे बैठकर ज्ञान का आदर करो और चाहे उत्तराखण्ड में बैठकर करो। अगर आप अपने ज्ञान का आदर नहीं करेंगे, तो आपको सत्य नहीं मिल सकता। और ज्ञान ही हमको यह प्रेरणा देता है कि बल अपने लिए नहीं है। ज्ञान ही हमको यह प्रेरणा देता है कि वस्तु अपने लिए नहीं है। ज्ञान ही हमको यह प्रेरणा देता है कि योग्यता अपने लिए नहीं है। मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य जो है वह दूसरों के लिए है। और जितना आप दूसरों के लिए इसका व्यय करेंगे उतना ही दूसरे लोग आपके शरीर की देखभाल करेंगे। यदि आपको वस्तु नहीं मिलती है तो इसका अर्थ यह है कि आपने बल दूसरों की सेवा में लगाया नहीं। नहीं तो संसार नहीं भूलता है भाई मेरे! संसार कभी नहीं भूलता है आपके किये को। मैं संसार को बिगड़ा हुआ कभी नहीं मानता हूँ पण्डित जी। मैं तो अपने को ही बिगड़ा हुआ मानता हूँ। 'हम न बिगड़ते तो दुनिया न बिगड़ती।' यानी दुनिया में बुराई दिखाई नहीं देती। हमारी ही बुराई दुनिया में दिखाई देती है, ऐसा मैं मानता हूँ। इसलिए भैया, तुम्हें अगर सुविधा नहीं मिली है तो इसमें किसी और का दोष नहीं है। तुमने बल का उपयोग दूसरों की सेवा में नहीं किया-भोग में किया, सुविधा में किया, सम्मान में किया। नहीं तो यह हो नहीं सकता कि समाज आपकी जरूरत को अनुभव न करे। मैं क्या बताऊँ आपको, संसार तो समाज से भी बड़ी चीज है न! तो दैवी-शक्तियाँ उसकी मदद के लिए तत्पर हो जाती हैं। हमारे गुरु ने, जिस दिन हम कपड़ा रंगकर घर से चले, उसी दिन यह बात कही थी कि बेटा! अगर तुम स्वाधीन हो जाओगे तो प्रकृति

तुम्हारी सेवा करने के लिए लालायित हो जायेगी। और हमने देखा कि जितनी हमने पराधीनता छोड़ी उतनी ही हमको संसार ने सुविधा दी। जितनी हमने पराधीनता पसन्द की, हमने अपने आप असुविधा पैदा कर ली। यह हमारे जीवन का अनुभव सिद्ध सत्य है, गुरु की वाणी है।

तो मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता था कि यह कभी न सोचें कि हम अनाथ हैं, कोई भाई न सोचे, कोई बहन न सोचे कि हम अनाथ हैं कि सर्व-समर्थ प्रभु हमारे साथ नहीं हैं, हमारे नहीं हैं-यह भ्रम कभी मत पालो। अगर इस प्रकार आप सोचते हैं तो विश्वास की जीवन में जरूरत ही नहीं है। विश्वास केवल इसी बात में करना है कि चाहे हम जानते हैं अथवा नहीं जानते हैं, चाहे हम मानते हैं अथवा नहीं मानते हैं, लेकिन संसार का प्रकाशक, संसार का आधार, सर्व-समर्थ प्रभु हम सबका सदा-सदा के लिए अपना है। उसी को अपना मानो। पहला नम्बर। अगर आप सोचते हैं कि भाई, यह बात प्रभु ने तो हमसे कही नहीं, आप कहते हैं तो आपको क्यों न मानें? तो हमारे मानने का अर्थ है कि इस बात को मानों, न कि शरीर को मानो। इस बात को मानो कि कोई भी मनुष्य अनाथ नहीं है। तो जब लड़की की आवाज मेरे कान में आयी कि पिताजी नहीं रहेंगे तो मेरा कोई नही रहेगा- तो एक धक्का लगा मुझको, एक चोट लगी। यह बावरी लड़की क्या सोचती है? क्या जगत्पिता, जगत्पति कहीं चला गया है, जो तेरा कोई नहीं रहेगा? यह भ्रम है, इसको दिल से निकाल दे, और यह शरीर नाश हो जायगा तो मैं भी चली जाऊँगी, मैं भी मर जाऊंगी, सो मत सोच। इस शरीर का जो काम बाकी है सो मै करूंगी। वीर लड़की बन। अगर तेरा बाप वीर है तो तू वीर बन कि, "पिताजी! आप आराम से मरो, आपका बचा हुआ काम मैं पूरा करूँगी।" यह बहादुरी है, यह वीरता है। मैं यह नहीं कहता हूँ कि मेरा बचा हुआ काम केवल इस आश्रम को बनाये रखना है। यह मत सोचियेगा। इस भ्रम में मत रहियेगा। मेरा बचा हुआ काम है-सोई हुई मानवता को जगाना। तुम यहाँ बैठकर सही सेवा करो। सभी के लिए उपयोगी होने की चेष्टा करो। जैसे, कल पंडित जी ने कहा कि मैं क्या उपयोगी होऊँगा? मैंने कहा कि पण्डित जी, अगर आप अपने लिए उपयोगी हो जायेंगे तो मेरे लिए भी उपयोगी होंगे। कहा था कि नहीं पण्डित जी?

पण्डित जी-सत्य है।

तो भाई, मानवता को जगाओ। मानवता क्या है? सेवा-त्याग-प्रेम। तुम्हारे रोम-रोम में सेवा का महत्त्व हो, त्याग का महत्त्व हो, प्रेम का महत्त्व हो, यही मेरा काम है। ईंट-पत्थर इकट्ठा करना मेरा काम नहीं है। यह तो हो

गया, समाज की उदारता से बन गया और समाज की उदारता से ही चलेगा। यह मेरे बनाने से नहीं बना। यह भ्रम है जो लोग समझते हैं कि आश्रम मैंने बना लिया। कोई नहीं बना लेता। आश्रम बनता है समाज की उदारता से और समाज की उदारता कैसे प्राप्त होती है कि भाई तुम समाज के लिए उपयोगी हो जाओ, समाज की उदारता तुम्हारे साथ रहेगी।

अगर यह बात आपको जंच जाय, रुच जाय, पसन्द आ जाय, तो आप गंभीरतापूर्वक विचार करें कि हम सत्संग की महिमा जो गाते हैं रोज, उसको पूरा कब करेंगे? चाहिए तो यह था-पहले पूरा करते, पीछे गाते। परन्तु कोई बात नहीं। पहले गाओ पीछे पूरा करो। हर भाई के मन में, हर बहन के मन में यह सत्य आना चाहिए कि मैं अनाथ नहीं हूँ। विश्वनाथ के रहते हुए कोई अनाथ कैसे हो सकता है! जगत्पति के रहते हुए तुम विधवा कैसे हो सकती हो! जगत्पति मौजूद है और तुम विधवा हो गईं? यह कैसे हो सकता है! जगत्पिता मौजूद है और तुम अनाथ हो गईं-यह कैसे हो सकता है!! जगदाधार मौजूद है, जगत्पिता मौजूद है, जगत्पति मौजूद है-यही आपको मानना चाहिए। आप अनाथ नहीं हैं, सनाथ हैं। क्यों? जो प्रभु-विश्वासी नहीं है वही अनाथ है। जो कर्तव्य-विश्वासी नहीं है वही अनाथ है। जो ज्ञान का आदर नहीं करता, वही अनाथ है। आप कर्तव्य में आस्था रखो, ज्ञान में आस्था रखो, प्रभु के विश्वास में आस्था रखो-अनाथ नहीं हो सकते। और अगर इन तीन चीजों को आप नहीं रखना चाहते हो तो सनाथ हो ही नहीं सकते। कितने जन्म बिताये हैं तुमने अनाथ हो-हो कर। आगे फिर अनाथ बनोगे? अब तो सदा के लिए सनाथ हो जाओ भाई। और वह तभी हो सकते हो, जब इस सत्य को स्वीकार करो कि मेरे पास जो कुछ बल होगा वह समाज-सेवा के लिए होगा, लोक-हित के लिए होगा। मेरा ज्ञान मेरी भूल मिटाने के लिए होगा। मेरा विश्वास प्रभु से सम्बन्ध जोड़ने के लिए होगा। और तो कुछ करना नहीं है। यही चारों वेद हैं हमारे तो। इससे ज्यादा तो हम जानते नहीं पण्डित जी!

पण्डित जी-यथार्थ यही है और वेदों का सार भी यही है।

वेद माने ज्ञान के। ज्ञान का यह प्रकाश है और यही वेदों का सार है। वेदों में यह क्रमबद्ध रूप से सभी के लिए कहा गया है। विस्तार से कहा गया है। क्रम से कहा गया है। इतना ही फर्क है। वह क्रम हमको नहीं मालूम, वह पद्धति हमको नहीं मालूम। लेकिन यह हमको मालूम है कि बल दूसरों के लिए है, ज्ञान अपने लिए है, विश्वास प्रभु के लिए है। और यह तीनों तत्त्व आपमें मौजूद हैं। अल्पबल हो तो कोई परवाह नहीं। अल्पबल के सदुपयोग से

वही सत्य मिलेगा जो विशेष बल के सदुपयोग से मिलेगा। ज्ञान के उपयोग से जो जीवन मिलेगा किसी को वही तुमको मिलेगा। विश्वास के उपयोग से जो जीवन किसी को मिलेगा वही तुमको मिलेगा। अगर वह परमात्मा नबी मोहम्मद का दोस्त हो सकता है, ईसा का बाप हो सकता है, मीरा का पति हो सकता है, तो तुम्हारा भी हो सकता है! यह बात नहीं है कि उन्हीं का हो सकता है और तुम्हारा नहीं हो सकता। लेकिन तुम विश्वास करो तब न! यदि विश्वास ही नहीं करो तो कैसे तुम्हारा हो जायेगा।

अगर आपको ईश्वर में विश्वास नहीं होता तो मैं मजबूर नहीं करता हूँ क्योंकि ईश्वर उनका भी है, जो उसमें विश्वास नहीं करते। ईश्वर की सूची में से तुम्हारा नाम नहीं कटेगा। तुम मानो तो और न मानो तो। लेकिन भाई! ईश्वर के दिए हुए ज्ञान का अनादर मत करो। ईश्वर के दिए हुए बल का दुरुपयोग कम करो। यह तो मान लो। कानून तो मान लो। अब यहाँ किसी पार्टी की गवर्नमेंट बनती है। आप नहीं मानना चाहते। नहीं मानना चाहते मत मानो। भई गवर्नमेन्ट का कानून मान लो। आप कहो-न हम गवर्नमेन्ट को मानेंगे, न कानून को मानेंगे तो नहीं पकड़े जायेंगे? पकड़े जायेंगे, कोई वश नहीं चलेगा। तो दो तरह के लोग हुए संसार में। एक तो ऐसे हुए कि जिन्होंने भगवान को माना और भगवान के विधान को माना। एक ऐसे हुए जिन्होंने भगवान के विधान को माना और भगवान को पाया। माना नहीं, कहा नहीं कि भगवान हैं और पा गये, क्योंकि उन्होंने विधान को जो माना। तो आप अनीश्वरवादियों की सूची में अपना नाम लिखाना चाहते हैं तो भी कोई आपत्ति नहीं। चाहे मैं भले ही कट्टर ईश्वरवादी हूँ, पर मैं आपको सलाह देता हूँ कि मानव सेवा संघ में तुम्हारा उतना ही स्थान है, जितना किसी ईश्वरवादी का।

तो हम सब मानव हैं, मानव होने के नाते साधक हैं। साधक होने के नाते सत्य को स्वीकार करना हमारा स्वधर्म है और पुरुषार्थ है। और वह सत्य यही है कि बल दूसरों के लिए है, ज्ञान अपने लिए है और विश्वास परमात्मा से सम्बन्ध जोड़ने के लिए है! जिस प्रभु ने हमें मानव जीवन देकर यह स्वाधीनता दी कि हम जब चाहें तब धर्मात्मा होकर, जीवन-मुक्त होकर, भगवद्-भक्त होकर कृत-कृत्य हो सकते हैं, अब उस प्रभु की महिमा गाओ। न गाओ तो सुनो, सुनो भी नहीं, गाओ भी नहीं तो स्वीकार ही कर लो।

8

(ब)

मानव उसकी संज्ञा है जो कुछ जानता है, मानता है और करता है। शरीर का उपयोग दु:खमय परिस्थिति में सेवा करने में है। ज्ञान का उपयोग शरीर और संसार के सम्बन्ध तोड़ने में और विश्वास का उपयोग परम प्रेमास्पद से आत्मीय सम्बन्ध मानने में है। इन तीनों में मनुष्य स्वाधीन है। अत: मनुष्य को प्राप्त शक्तियों का सदुपयोग करते हुए अशरीरी जीवन से अभिन्न होकर सदा-सदा के लिए कृत-कृत्य हो जाना चाहिये।

प्रवचन :

जब प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग से सभी परिस्थितियों से अतीत अविनाशी, स्वाधीन जीवन की प्राप्ति होती है तो फिर हम अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन क्यों करते हैं? इस सम्बन्ध में सभी साधक महानुभावों को गम्भीरता से विचार करना चाहिए। परिस्थिति एक प्रकार का प्राकृतिक न्याय है और प्राकृतिक न्याय अपने विकास के लिए होता है, विनाश के लिए नहीं। इसलिए, हमें प्राप्त परिस्थिति का ठीक-ठीक सदुपयोग करना चाहिए। आगे-पीछे के चिन्तन में फंसने से कोई लाभ नहीं होगा। यह साधक के जीवन की एक बाधा है।

आप कहेंगे, ऐसा हम क्यों सोचते हैं? ऐसा हम इसलिए सोचते हैं कि साधक का जो साध्य है वह अनुत्पन्न हुआ तत्त्व है, उत्पत्ति-विनाश रहित है। और जो उत्पत्ति-विनाश रहित है उसकी प्राप्ति उसके द्वारा नहीं हो सकती जो उत्पत्ति-विनाश युक्त है। हाँ, यह तो हो सकता है कि जो उत्पत्ति-विनाश युक्त है, यदि हम उसका ठीक सदुपयोग करें, तो हम उत्पत्ति-विनाश की परिस्थितियों से ऊपर उठ सकते हैं, असंग हो सकते हैं। किन्तु यह नहीं हो सकता कि जीवन का सत्य उसी को मिलेगा जिसका शरीर बहुत बलवान हो, अथवा जीवन का सत्य उसे मिलेगा जिसमें बहुत योग्यता हो। बहुत बलवान

होगा तो अच्छा है, बहुत से निर्बलों की सेवा करेगा, यह तो हो सकता है। योग्य हो, अयोग्य की सेवा करे, यह हो सकता है। अल्प सामर्थ्य वाला हो तो अल्प-सामर्थ्य से सेवा करे, विशेष-सामर्थ्य वाला हो तो विशेष-सामर्थ्य से करे। पर यह नहीं हो सकता कि विशेष-सामर्थ्य होने से तो उसे जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति होगी और अल्प-सामर्थ्य से नहीं होगी। ऐसा नहीं हो सकता। इसलिए हमें अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन नहीं करना चाहिए, अपितु प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग के लिए अथक् प्रयास करना चाहिए।

कल्पना करो कि मेरे जैसा एक अन्धा-रोगी आदमी है। ठीक है। आप जैसा स्वस्थ और आँखों वाला आदमी है। अन्तर कहाँ पड़ेगा? अगर अन्धा आदमी देखने की वासना को छोड़ सके, तो क्या उसे वह जीवन नहीं मिलेगा जो अतीन्द्रिय है, अगोचर है? यह परिस्थिति का महत्त्व तो केवल उन लोगों के जीवन में रहता है कि जिन लोगों को दृश्य से अतीत भी कोई है-उसमें आस्था नहीं है। और वहाँ भी आप देखिए, दृश्य के अन्दर भी परिस्थिति के भीतर भी, यदि आप विचार करके देखें तो सबल और निर्बल दोनों के सहयोग से ही संसार का काम चलता है। केवल सबलों से ही नहीं चलता। जहाँ एक योग्य चिकित्सक चाहिए तो वहाँ रोगी भी तो चाहिए। मान लीजिए योग्य चिकित्सक हो और रोगी कोई न हो, तो चिकित्सक का काम चलेगा?

श्रोता-नहीं चलेगा।

जहाँ एक सम्पत्तिशाली है वहाँ एक निर्धन भी तो चाहिए। अगर निर्धन न हो तो सम्पत्तिशाली का काम चलेगा? तो बलवान के साथ निर्बल रहता ही है, सुख के साथ दुःख रहता ही है। उसी सुख-दुःख का नाम, उसी सबलता और निर्बलता का नाम परिस्थिति है। परिस्थिति कोई और चीज नहीं है। इसलिए, अगर हम निर्बल हैं तो हमें अचाह होना चाहिए। अगर हम सबल हैं तो हमें उदार होना चाहिए। निर्बल को जो सत्य अचाह होने से मिलता है सबल को वही सत्य उदार होने से मिलता है। तो जैसे उदार होने से जो जीवन मिलता है तो अचाह होने से भी तो वही जीवन मिलता है। इस दृष्टि से देखा जाय तो सभी परिस्थितियाँ साधन सामग्री के रूप में हैं, जीवन के रूप में नहीं हैं। क्योंकि ऐसा कोई बल है नहीं, जिसका नाश न हो। बल का नाश होता है। ऐसी कोई योग्यता नहीं, जिसमें क्षति न हो।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि आज हम सब अपनी वर्तमान परिस्थिति पर ध्यान न देकर एक अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन करते रहते हैं। उसमें फंसे रहते हैं। उसमें सुखी-दुःखी होते रहते हैं। अतः मानव सेवा संघ की प्रणाली में यह बात बताई गई कि साधक के लिए यह बहुत आवश्यक है

कि वह प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग तो करे, लेकिन अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन में न फंसे। आप कहेंगे-तो क्या प्रतिकूलता हमेशा प्रतिकूलता ही रहेगी? ऐसा नहीं है। प्रतिकूलता के सदुपयोग से भी विकास होता है और अनुकूलता के सदुपयोग से भी विकास होता है। हमसे भूल क्यों होती है कि हम परिस्थिति को ही जीवन मान लेते हैं। हम अपने जीवन का मूल्यांकन परिस्थिति के आधार पर करने लगते हैं कि अमुक सज्जन बहुत बड़े आदमी हैं। क्या बात है साहब? बहुत बड़े पूँजीपति है, कई कारखाने उनके पास हैं। तो भाई, अगर मिल के होने से कोई बड़ा आदमी है तो मिल बड़ा आदमी हुआ कि 'आदमी' बड़ा आदमी हुआ? मिल तो बड़ा हो नहीं सकता। तब मिल के आधार पर आदमी को बड़ा मानने का क्या अर्थ है?

मैं आपसे यह नम्र निवेदन करना चाहता हूँ कि यह भ्रम हम साधु-समाज में भी होता है। आज का साधु-समाज क्या सोचता है कि चलो, कैलाश की यात्रा कर आयें तो विशेषता आ जायेगी अथवा बिलकुल नंगे रहकर देखें तो विशेषता आ जायेगी। यह तो कह सकते हैं कि भाई! कम सामान रखोगे तो तुमको आराम ज्यादा मिलेगा। क्योंकि जिसको पराई कमाई खानी है, जिसको समाज के आश्रित रहना है, उसकी जरूरतें कम-से-कम हों तो अच्छी बात है यह। लेकिन नहीं, "आप जब तक नंगे नहीं रहेंगे तब तक जीवन का सत्य नहीं मिलेगा।" कोई कहे-"जब तक वन में नहीं बैठेंगे, तब तक सत्य नहीं मिलेगा।" तो यह सब भ्रम है। क्यों? क्योंकि वन में भी आप हमेशा नहीं रह सकते। उसमें भी परिवर्तन आयेगा। घर में भी आप हमेशा नहीं रह सकते। उसमें भी परिवर्तन आयेगा। कोई भी उत्पन्न हुई वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता एक-सी रह नहीं सकती। उसमें परिवर्तन आयेगा ही। इसलिए हमें अपनी वर्तमान परिस्थिति का पहले तो ठीक-ठीक अध्ययन करना चाहिए और फिर उसका सदुपयोग करना चाहिए। देखिये, जीवन उसे नहीं कहते जो उत्पन्न हो और नाश हो जाय। उसका नाम जीवन नहीं है। वह हमारा साध्य नहीं है। वह हमारा लक्ष्य नहीं है। परमात्मा उसे नहीं कहते जो किसी वस्तु-विशेष के द्वारा प्राप्त हो अथवा किसी योग्यता-विशेष के द्वारा प्राप्त हो अथवा किसी सामर्थ्य-विशेष के द्वारा प्राप्त हो! उसे परमात्मा नहीं कहते। परमात्मा कहते हैं उसे कि जिसकी प्राप्ति विश्वास से होती है। शान्ति कहते हैं उसे जिसकी प्राप्ति ज्ञान से होती हो। ज्ञान से जिसकी प्राप्ति होती है वह शान्ति कहलाती है और विश्वास से जिसकी प्राप्ति हो वह परमात्मा कहलाता है। और सर्व-दु:खों की निवृत्ति किसी परिस्थिति के द्वारा नहीं होती। अचाह होने से होती है, अकिंचन होने से होती है, निर्मम होने से होती है।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि हमारा विकास किसी परिस्थिति विशेष के आश्रय की अपेक्षा नहीं रखता। हमारा विकास हमारे ही आश्रित है। यदि हम चाहें तो प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग द्वारा सभी परिस्थितियों से अतीत जो अविनाशी-स्वाधीन जीवन है उसको प्राप्त कर सकते हैं। अगर आप पसन्द कर लें, तो! चाहे हमारी परिस्थिति कैसी भी हो। अगर यह बात हम लोगों के समझ में आ जाती और मानव-समाज इस सत्य को मान लेता कि परिस्थिति-परिवर्तन की अपेक्षा परिस्थिति के सदुपयोग का बड़ा महत्त्व है, तो हर भाई के जीवन में, हर बहिन के जीवन में एक उत्साह जगता, एक चेतना आती। और अपने पर भरोसा आता कि अरे! हम भी उसी जीवन को पा सकते हैं जो जीवन कभी भी, किसी भी महामानव को मिला है! यदि चेतना आ जाती। और जिसकी प्राप्ति में विकल्प नहीं रहता, सन्देह नहीं रहता, उसकी मांग तीव्र हो जाती है तो हम सबमें अपने लक्ष्य की माँग तीव्र हो जाती है। और जब माँग तीव्र हो जाती है तो काम का नाश हो जाता है। और काम का नाश होते ही माँग पूरी हो जाती है।

इस दृष्टि से अगर विचार किया जाय तो हमें वह जीवन मिल सकता है जिस जीवन में अभाव नहीं है, अशान्ति नहीं है, नीरसता नहीं है, पराधीनता नहीं है। वह जीवन हम सबको मिल सकता है। क्यों? क्योंकि हम मानव हैं। मानव होने से क्या विशेषता है? कि मानव होने का अर्थ यह है कि हमें ज्ञान का प्रकाश मिला है, हमें विश्वास का तत्त्व मिला है, हमें बल का तत्त्व मिला है। तो जो बल का तत्त्व मिला है, वह तो निर्बलों की सेवा के लिए मिला है। सेवा में यह बात नहीं है कि जिसके पास विशेष सामर्थ्य होगी उसकी सेवा का विशेष फल होगा और अल्प सामर्थ्य से जो सेवा की जायेगी उसका अल्प होगा। ऐसा नहीं है। सेवा का फल समान होता है, चाहे आप किसी तृषावन्त को अपनी सामर्थ्य के अनुसार एक गिलास पानी पिला दो, चाहे भाई, सम्पत्तिशाली होकर वाटर-वर्क्स बना दो। चाहे किसी गरीब, साधारण से विद्यार्थी की साधारण सी सेवा कर दो, चाहे बहुत बड़ा विश्वविद्यालय खोल दो। इसमें कोई फर्क नहीं पड़ता। सेवा का अर्थ ही यह है कि सेवक का हृदय सुखासक्ति से रहित होकर स्वाधीन हो जाता है। सुख की आसक्ति उसमें नहीं रहती है। सेवा में फल की भी आसक्ति नहीं रहती। सेवा का फल, सच पूछिये, तो स्वभाव से होने वाला त्याग और प्रेम है। अगर आपके जीवन में सेवा है तो आपको त्याग और प्रेम मिलेगा। यह न सोच लिया जाय कि एक आदमी जो गद्दी पर बैठा हुआ सेवा का कार्य कर रहा है, दूसरों को आज्ञा दे रहा है-ऐसा करो, उसकी बड़ी सेवा है और जो आज्ञा मान रहा है उसकी

सेवा छोटी है। ऐसा भ्रम नहीं पालना चाहिए। मामूली से चौकीदार की जो सेवा है उसका जो फल बनेगा, प्राइममिनिस्टर की सेवा का भी वही फल बनेगा। एक साधारण सी स्थिति के आदमी का जो फल बनेगा, एक असाधारण स्थिति के आदमी का भी वही फल बनेगा। क्योंकि सेवा में सेवक को कुछ लेने की बात नहीं होती। जो अपने पास है, उसके देने की बात होती है।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि हम लोग आज इस वास्तविकता पर परस्पर विचार करने को राजी हैं? सुनने को तो राजी हैं ही। रोज सुनते ही हैं। आप सुनने तो आते ही हैं। लेकिन विचार करने को भी राजी हैं? कि भाई! हमारा शरीर कमजोर हो गया है तो क्या! धन का अभाव हो गया तो क्या! हमें वह जीवन अवश्य मिल सकता है, जो वस्तु-व्यक्ति-अवस्था-परिस्थिति के अधीन नहीं है। इस तरह से अगर हम सजग हो जाएँ, सावधान हो जाएँ तो यह भी साधक के जीवन की एक बड़ी भारी बाधा है कि जब देखो तब-कुटिया अच्छी मिल जाय तो भजन बनेगा, आसन ठीक है तो भजन बनेगा, भिक्षा ठीक मिल जाय तो भजन बनेगा-यह बिलकुल भ्रम है। क्योंकि जिनको ठीक मिल गया है उनका भजन बना है क्या? अरे भजन कब बनेगा? जब हम अपने सेव्य को जिसका कि हमें भजन करना है, उसमें अपनी आत्मीयता स्वीकार करेंगे, तब भजन बनेगा। अचाह होंगे तब भजन बनेगा। स्वाधीन होंगे जब भजन बनेगा। क्या वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य से ही भजन बनेगा? सो तो नहीं बनता भाई! स्वाधीन होने से भजन बनता है, अचाह होने से भजन बनता है, प्रेमी होने से भजन बनता है। और प्रेम किसी परिस्थिति से तो उत्पन्न होता नहीं। प्रेम तो मनुष्य की अपनी व्यक्तिगत माँग है। क्या आप नहीं जानते हैं कि अपने प्रेमी के प्रति आपको स्वभावत: आकर्षण होता है? अपने-अपने प्रेमियों के प्रति लोगों को आकर्षण होता है कि नहीं? और जो सभी का प्रेमी हो, विश्व का भी और विश्वनाथ का भी, तो उसके प्रति सभी का आकर्षण नहीं होगा! क्या आप और हम इस बात में पराधीन हैं कि हम सभी को प्यार-भरी दृष्टि से देखें, प्यार-भरी वाणी से बोलें, प्यार-भरे कानों से सुनें। इसमें पराधीन तो हैं नहीं। देखिये, प्रेमी सबको प्रिय होते हैं। ऐसे ही आप देखेंगे कि जो स्वाधीन होता है, जो अचाह होता है वह भी सबको प्रिय होता है। ऐसे ही जो उदार होता है वह भी सभी को प्रिय होता है।

उदारता, स्वाधीनता और प्रेम यह मनुष्य के मौलिक तत्त्व हैं, इनकी प्राप्ति किसी परिस्थिति पर निर्भर है क्या? क्या राय है?

श्रोता-नहीं है।

तो फिर हमें जो जीवन का सबसे अच्छा चित्र है, जो जीवन का सर्वोत्कृष्ट चित्र है कि हम उदार होकर सर्वप्रिय हों, हम स्वाधीन होकर सर्वप्रिय हों, हम प्रेम से भरपूर होकर सर्वप्रिय हों-यह पसन्द आना चाहिए। यह जो जीवन का सत्य है क्या यह किसी परिस्थिति पर टिका हुआ है? हम से भूल यह होती है कि हम परिस्थिति के सहारे से साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ना चाहते हैं। मैं यह नहीं कहता कि आप अपनी सुखमय परिस्थिति को दु:खमय बना दें। यह मेरा तात्पर्य नहीं है। मेरे कहने का भाव है कि परिस्थिति आपकी चाहे जैसी हो, लेकिन उसके-अर्थ दो ही होंगे-या तो आप किसी अंश में अपने को सुखी अनुभव करेंगे अथवा किसी अंश में दु:खी अनुभव करेंगे। सुखमय परिस्थिति में आपको क्रियात्मक सेवा करनी चाहिए और दु:खमय परिस्थिति में आपको भावात्मक सेवा करनी चाहिए। क्रियात्मक सेवा का जो फल होता है, भावात्मक सेवा का भी वही फल होता है। लेकिन आप सोचें कि सुखमय परिस्थिति होगी तो हम बहुत सा दान करेंगे, बहुत सा काम करेंगे, उससे हमें बड़ा लाभ होगा। तो बड़ा लाभ नहीं होगा। लाभ उतना ही होगा जितना अल्प से होगा। अल्प सामर्थ्य के सदुपयोग से जो लाभ होता है विशेष सामर्थ्य के सदुपयोग से वही लाभ होता है। अल्प योग्यता के सदुपयोग से जो लाभ होता है, विशेष योग्यता के सदुपयोग से वही लाभ होता है। आज मनुष्य सामर्थ्य, योग्यता और वस्तुओं में जो फंस गया है, उनके अधीन हो गया है, उससे ऊपर उठने में ही उसका परम लाभ है। बहुत सी वस्तुएँ होने से मनुष्य वस्तु से ऊपर नहीं उठेगा, वस्तु के सदुपयोग से उठेगा।

ऐसा तो आपने कोई देखा ही नहीं होगा दुनिया में कि जो सही अर्थ में कुछ न जानता हो, कुछ न मानता हो और कुछ न करता हो। देखा है क्या? कुछ जरूर कर सकता है, कुछ जरूर करता है, कुछ जरूर जानता है, कुछ जरूर मानता है। ये जो तीन प्रकार की शक्तियाँ हैं ये आंशिक रूप में हों, कम हों तो क्या और विशेष रूप में हों तो क्या? हमसे गलती यह होती है कि हम सोचते हैं कि ये शक्तियाँ विशेष हों तो बहुत लाभ होगा। यह झूठा भ्रम है। और जब तक यह झूठा भ्रम नहीं निकलेगा तब तक यह कहना कि परमात्मा सभी का है, सभी को मिल सकता है, यह सिद्ध नहीं होगा। चिर-शान्ति सभी को मिल सकती है, जीवन-मुक्ति सभी को मिल सकती है, धर्मात्मा सभी हो सकते हैं-यह कह नहीं सकते तब तक आप। अगर आप परिस्थिति के आश्रित यह चीजें मानेंगे, तो सब धर्मात्मा भी नहीं हो सकते, सब जीवन-मुक्त नहीं हो सकते, सब भगवद्-भक्त भी नहीं हो सकते। और अगर आप परिस्थिति के आश्रित नहीं मानेंगे तो जो सत्य किसी परिस्थिति के

आश्रित नहीं होता, वह सत्य सभी परिस्थितियों में प्राप्त होता है। अर्थात् प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग से प्राप्त होता है। और कोई न कोई परिस्थिति तो हम सबको प्राप्त है ही। क्या राय है? किसी न किसी प्रकार की परिस्थिति हम सबको प्राप्त है कि नहीं!

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि साधक के जीवन की यह बहुत बड़ी बाधा है कि वह अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन करता रहता है। उसका परिणाम यह होता है कि वह प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नहीं कर पाता। क्योंकि शक्ति तो सीमित है। जो शक्ति आपको मिली है उसे यदि आपने अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन में खो दिया। जो समय मिला है उसे यदि आपने इसी प्रकार व्यर्थ खो दिया तो समय घटेगा कि बढ़ेगा? क्या राय है?

श्रोता-घटेगा।

इसलिए अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन में जो हम समय लगा देते हैं, जो हम शक्ति लगा देते हैं वही समय, वही शक्ति यदि हम प्राप्त के सदुपयोग में लगा दें तो हम सबको वह जीवन जो परिस्थितियों से अतीत है, विलक्षण है यानी जो परिस्थितियों की सीमा में आबद्ध नहीं है वह जीवन हमें उसी शक्ति के सदुपयोग से मिल जाय जो शक्ति हमको आपको प्राप्त है। लेकिन हमसे बड़ी भारी गलती यही होती है कि हम प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नहीं करते; और परिस्थिति के आश्रित होकर या तो सुख की दासता में बँध जाते हैं अथवा दुःख के भय में आबद्ध हो जाते हैं। और सुख की दासता में बँधा रहना अथवा दुःख के भय में आबद्ध हो जाना-यह मानव जीवन का बहुत बड़ा अनादर है, बहुत बड़ा अपमान है। ठीक है, सुख है यदि तो उसको हम दुःखियों में बाँट देंगे और दुःख है तो त्याग को अपनाकर उससे ऊपर उठ जायेंगे। पर हमें सुख की दासता और दुःख के भय में आबद्ध नहीं होना चाहिए। दुःख के प्रभाव को अपनाना चाहिए और सुख का सदुपयोग करना चाहिए। आज हमसे गलती यह होती है कि हम दुःख के प्रभाव को नहीं अपनाते, सुख का सदुपयोग नहीं करते। नतीजा यह होता है कि किसी-न-किसी अंश में हम सुख की दासता और दुःख के भय में आबद्ध रहते हैं। जब तक हम सुख की दासता और दुःख के भय में आबद्ध रहेंगे तब तक आप सोचिये तो सही, वह जीवन जो सुख-दुःख से अतीत है, वह जीवन जिसमें किसी प्रकार की दासता और भय का प्रवेश ही नहीं है, कैसे मिलेगा?

तो क्या सिद्ध हुआ कि हमें सुख-दुःख का सदुपयोग करना चाहिए। अब देखिये शब्द बदल गया, अर्थ वही रहा। परिस्थिति का सदुपयोग करना चाहिए; यानी सुख-दुःख का सदुपयोग करना चाहिए। सुख-दुःख दोनों ही

साधन-सामग्री हैं; यानी जब अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों ही परिस्थितियाँ साधन-सामग्री हैं तब हमें इस बात की क्यों चिन्ता करनी चाहिए कि हमको प्रतिकूल परिस्थिति क्यों दे दी है, अनुकूल क्यों नहीं दी गई।

यह चिन्ता तभी तक होती है साधक के जीवन में, जब तक साधक वास्तविक जीवन की आवश्यकता ही अनुभव नहीं करता। जब तक वह सुख की दासता में फँसा हुआ है, तभी तक वह दुःख से भयभीत है। अगर वह सुख की दासता में न फँसे तो दुःख से भयभीत होने की आवश्यकता ही नहीं है। अतः हमारी परिस्थिति चाहे जैसी क्यों न हो, हमें धीरजपूर्वक, उत्साहपूर्वक, दृढ़तापूर्वक सत्य का आश्रय लेकर, प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना चाहिए। एक बार हमने पण्डित जवाहरलाल नेहरू के किसी निकटवर्ती महानुभाव से एक बात सुनी। उन्होंने पूछा-"जवाहर भाई! (कश्मीर के थे वे सज्जन) जब आपके सामने कोई विपत्ति आती है जैसे पिता की मृत्यु, पत्नी की मृत्यु, माता की मृत्यु, तो आप आत्मा-परमात्मा को तो मानते नहीं हैं, तब क्या उपाय सोचते हैं?" तो भाई जवाहर लाल जी ने बड़ा अच्छा उत्तर दिया। उन्होंने कहा, "भाई देखो, जब मेरे सामने जैसी कठिनाई आती है।, उसमें जो राह मुझे दिखाई देती है, मैं उस पर चल देता हूँ।" यह उत्तर उन्होंने दिया।

तो मैं आपसे यह निवेदन कर रहा था कि आप परिस्थितियों के फेर में न पड़ें। प्राप्त परिस्थिति के अनुसार सुख-दुःख का दुरुपयोग न करें। दुःख का दुरुपयोग है उसके भय में आबद्ध हो जाना। सुख का दुरुपयोग है उसकी दासता में आबद्ध हो जाना। तो आप सुख-दुःख का सदुपयोग करें। अनुकूलता प्रतिकूलता का सदुपयोग करें। भाई! परिस्थिति तो आयेगी ही, परिस्थिति न आये ऐसी बात नहीं हैं। कभी अनुकूल आयेगी, कभी प्रतिकूल आयेगी। लेकिन उसका सदुपयोग करना चाहिए।

परिस्थिति के सदुपयोग से परिस्थिति से अतीत जीवन मिलता है। इस बात में किसी भाई को, किसी बहन को कोई विकल्प हो तो प्रश्न करो। और परिस्थिति से जीवन मिलता है तो समझाओ हमको कि जीवन क्या तत्त्व है तुम्हारा। वह कौन-सा तत्त्व है जो परिस्थिति से मिलता है। कोई बताये, समझाये, बोलो! आप लोगों ने तो सुनने का शौक पैदा किया है। हाँ अकेले-अकेले सब बोलना चाहते हैं, सब बात करना चाहते हैं, पर बैठ करके जीवन-उपयोगी विचार-विनिमय में आप सब लोग घबराते हैं। यह गलत तरीका है। मानव सेवा संघ कोई प्रोपेगंडा नहीं है। मानव सेवा संघ तो साधकों का संघ है। अतः साधक-समुदाय को परस्पर में विचार-विनिमय

जरूर करना चाहिए। क्योंकि विचार-विनिमय करने से आपका सत्य आपके सामने आ जायेगा। हमसे गलती क्या होती है कि हम अपने सत्य को अपने सामने न रखकर, अपने सत्य से दूसरों को समझाना चाहते हैं। यहीं आप असफल होते हैं। हमें अपने सत्य को स्वयं अपनाना चाहिए। जैसे-जैसे हम अपने सत्य को अपनाते चले जायेंगे वैसे-वैसे हमारा विकास भी होता जायगा, वैसे-वैसे समाज को एक उदाहरण देखने को मिलेगा, समझने और सोचने को मिलेगा, जिससे दूसरों में उत्साह पैदा होगा। तो सबसे बड़ा उपदेशक कौन है? **जो जीवन से उपदेश करता है।** वह सबसे बड़ा वक्ता है, सबसे बड़ा पण्डित है, सबसे बड़ा सुधारवादी है। और सबसे घटिया कौन है? जो परचर्चा करके उपदेश करता है। कभी व्यक्तियों की चर्चा, कभी परिस्थितियों की चर्चा कि इस परिस्थिति में ऐसा हो जायगा, इसमें ऐसा हो जायगा। यह सब गलत है।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि इन बातों पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करना चाहिए हर भाई को, हर बहिन को। एक सत्य आपके सामने रखा गया कि भाई! साधक के लिए क्या उपयोगी है? प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग। क्या बाधक है? अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन, उनका आवाहन। अब थोड़ी देर के लिए गौर करें आप गम्भीरता से कि अगर आप अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन छोड़ दें और प्राप्त का सदुपयोग करें तो आपको विश्राम मिलेगा कि नहीं!

श्रोता—अवश्य मिलेगा।

अब देखिये, आप स्वयं ही कह रहे हैं, यह आप ही का सत्य है कि विश्राम मिलेगा और जब विश्राम की प्राप्ति होती है तब योग की भी प्राप्ति होती है, बोध की भी प्राप्ति होती है, प्रेम की भी प्राप्ति होती है।

9

(अ)

मानव सेवा संघ की साधन प्रणाली में साधकों को यह परामर्श दिया जाता है कि अपने द्वारा अपने साथ व्यक्तिगत सत्संग करो। इससे अपने को पता चल जाता है कि अपनी दृष्टि में साधक उदार, स्वाधीन और प्रेमी है कि नहीं।

उदारता, स्वाधीनता और प्रेम की मांग मानवमात्र की है। अनुदारता, पराधीनता और नीरसता की उत्पत्ति मनुष्य की सु.ख लोलुपता के कारण होती है। इस दृष्टि से साधकमात्र के लिए सुख-लोलुपता का त्याग अनिवार्य है जो सत्संग से साध्य है। उदारता, स्वाधीनता और प्रेम से पूर्ण जो सर्वश्रेष्ठ जीवन है, उसकी प्राप्ति में मानवमात्र समान रूप से स्वाधीन एवम् समर्थ है।

प्रवचन :

जीवन का सत्य क्या है, इस सम्बन्ध में विचार करने से ऐसा मालूम होता है कि जो हमारे अपने ज्ञान से और आस्था से सिद्ध है, वही सत्य है। अब सोचने की बात है कि आस्था से क्या सिद्ध है और ज्ञान से क्या सिद्ध है? ज्ञान से यह बात सिद्ध है कि हम किसी भी उपाय से मिले हुए शरीर के साथ सदैव नहीं रह सकते और न शरीर ही हमारे साथ रह सकता है। और आस्था से क्या सिद्ध है? कि उत्पत्ति का आधार और प्रतीति का प्रकाशक जो है वह सभी का अपना है। यानी उत्पत्ति का आधार और प्रतीति का प्रकाशक है, इस बात को स्वीकार करना, यह आस्था से सिद्ध है। आस्था उसी में होती है जिसे हमने गुरुवाणी से, वेदवाणी से सुना तो हो, परन्तु इन्द्रिय-दृष्टि और बुद्धि-दृष्टि से देखा न हो। उसमें आस्था होती है। वही आस्था का विषय है।

अब आप सोचिए, किसी भाई ने, किसी बहन ने इस सृष्टि की उत्पत्ति के आधार को देखा है क्या? प्रतीति के प्रकाशक को देखा है क्या? देखा तो नहीं है। लेकिन कोई भाई, कोई बहन यह कह सकते हैं क्या कि उत्पत्ति बिना आधार के और प्रतीति बिना प्रकाशक के होती है? बड़े-से-बड़ा वैज्ञानिक यह बात नहीं सिद्ध कर सकता कि उत्पत्ति बिना आधार के और प्रतीति बिना प्रकाशक के हो सकती है। समस्त उत्पत्ति के मूल में एक अनुत्पन्न हुआ तत्त्व होता है प्रतीति का कोई प्रकाशक होता है। अगर आप उस अगोचर को स्वीकार कर लेते हैं, अर्थात् यह मान लेते हैं कि "है", तो इसका नाम आस्था है। और उसकी महिमा स्वीकार कर लेते हैं तो इसका नाम श्रद्धा है। आस्था और श्रद्धा से विकल्प-रहित विश्वास उदित होता है। विश्वास से आत्मीय सम्बन्ध सजीव होता है और आत्मीय सम्बन्ध से अखण्ड-स्मृति तथा अगाध-प्रियता उदित होती है। स्मृति और प्रियता ही जीवन है। कारण कि जब कभी हम इस वास्तविकता को भूल जाते हैं कि हमारी प्रियता का आश्रय है, तब नीरसता उत्पन्न होती है और नीरसता से अनेक प्रकार के विकारों का जन्म हो जाता है। इसी बात को लेकर किसी ने संकेत किया कि स्मृति में जीवन है, प्रियता में जीवन है, विस्मृति में मृत्यु है। ऐसा संकेत दिया।

मैं यह नहीं कहता हूँ कि मेरे कहने से आप इस बात को मान लीजिए। यह तो आपकी अपनी मौज है। लेकिन अगर आप बिना देखे, बिना समझ में आये हुए को मान नहीं सकते, तो फिर जो जानते हैं सो मान लीजिए। या तो उस सत्य को स्वीकार कीजिए जो ज्ञान से सिद्ध है अथवा उस सत्य को स्वीकार कीजिए जो आस्था-श्रद्धा-विश्वास से साध्य है। आस्था-श्रद्धा-विश्वास से साध्य है, सिद्ध नहीं; यानी प्राप्त होता है और ज्ञान से सिद्ध है। क्या सिद्ध

है? कि कभी भी मेरा बुरा न चाहे, मेरे प्रति सभी का सद्भाव तथा सहयोग रहे। क्या यह बात हम और आप अपने द्वारा, अपने लिए अनुभव नहीं करते कि मेरे प्रति सभी का सद्भाव और सहयोग रहे। तो इससे क्या यह स्पष्ट नहीं हो जाता है कि भाई, मेरे प्रति सभी का सहयोग, सद्भाव रहे अथवा न रहे परन्तु मैं सभी के प्रति सद्भाव और यथाशक्ति सहयोग रखूँगा। जो मानव अर्थात् भाई और बहन सभी के प्रति सद्भाव और सहयोग रखते हैं, वे धर्मात्मा कहलाते हैं। यही धर्म-विज्ञान है कि हमारे व्यक्तित्त्व में सभी के प्रति सद्भाव हो, यथाशक्ति सहयोग हो। तो जो धर्मात्मा होता है, सृष्टि उसकी आवश्यकता अनुभव करती है अथवा उसकी सभी आवश्यकता अनुभव करते हैं। धर्मात्मा पुरुष की सभी आवश्यकता अनुभव करते हैं। चाहे वह किसी वर्ण का हो, आश्रम का हो, वर्ग का हो, देश का हो। किसी परिस्थिति का हो, कितनी ही अल्प शक्ति वाला हो अथवा कितनी ही विशेष सामर्थ्य वाला हो। जो धर्मात्मा होता है उसकी सभी आवश्यकता अनुभव करते हैं। उस धर्मात्मा को एक बड़ी अलौकिक शक्ति प्राप्त होती है। और वह यह होती है कि अपने लिए वह सृष्टि की आवश्यकता अनुभव नहीं करता।

जरा गम्भीरता से विचार किया जाय। अगर हमारा-आपका व्यक्तिगत जीवन इतना सुन्दर हो जाय कि उसकी सभी आवश्यकता अनुभव करें और हम किसी की आवश्यकता अनुभव न करें, तो ऐसा जीवन आपको कैसा मालूम होता है? ऐसा जीवन बहुत बढ़िया मालूम होता है कि हम किसी की आवश्यकता अनुभव न करें, अपितु हमारी सभी आवश्यकता अनुभव करें। ऐसा जीवन कहलाता है-उदार जीवन, स्वाधीन जीवन। जो उदार और स्वाधीन हो जाता है, उसमें स्वत: प्रेम तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है। और यह जो मनुष्य का चित्र है-उदारता, स्वाधीनता और प्रेम-यही मानव का वास्तविक चित्र है। यही उसका अपना निजी स्वरूप है। उदारता भी एक अविनाशी तत्त्व है, स्वाधीनता भी एक अविनाशी तत्त्व है और प्रेम भी एक अविनाशी तत्त्व है। इस दृष्टि से मानव एक अविनाशी तत्त्व है। अच्छा, आपने गुरुवाणी, वेदवाणी से सुना होगा कि परमात्मा भी परम उदार है, परम स्वतन्त्र है, परम प्रेम के भण्डार हैं। और मानव का स्वरूप ही है-उदारता, स्वाधीनता और प्रेम। इससे क्या सिद्ध होता है कि मानव की प्रभु से, सुने हुए परमात्मा से जातीय एकता है, नित्य सम्बन्ध है, आत्मीय सम्बन्ध है। अगर हम इस सत्य को स्वीकार कर लेते हैं कि भक्तों के भगवान से हमारी जातीय एकता है, हमारा नित्य सम्बन्ध है, हमारा आत्मीय सम्बन्ध है, तो हमें और आपको एक ऐसा अलौकिक जीवन प्राप्त होता है कि जिस जीवन में किसी प्रकार का अभाव,

पराधीनता, अशान्ति और नीरसता नहीं है। आप सोचिये, ऐसा जीवन मानव-मात्र को मिल सकता है, तो फिर क्या आज हम मानव होने के नाते ऐसे अनुपम, अलौकिक, रस-रूप जीवन की आवश्यकता अनुभव न करें। क्या राय है? अब आवश्यकता अनुभव करने में भी कोई पराधीनता है क्या? कोई असमर्थ है क्या? सबको मानना होगा निर्विवाद रूप से कि भाई, आवश्यकता पूरी होगी या न होगी इसको हम भले ही न जानें, न मानें, लेकिन आवश्यकता अनुभव करने में हम पराधीन नहीं हैं, असमर्थ नहीं हैं।

अब यहाँ बड़ी गम्भीरता से विचार करना चाहिए कि जब हम अपनी इस आवश्यकता को अनुभव करते हैं, तब क्या हमारे जीवन में भोग की रुचि रहती है?

श्रोता-नहीं रहती।

और जब भोग की रुचि नहीं रहती तो क्या स्वभाव से योग की प्राप्ति नहीं हो सकती? अब आप सोचिये, कि वास्तविक जीवन की आवश्यकता का अनुभव करने मात्र से भोग की रुचि का नाश होता है और भोग की रुचि के नाश से स्वत: योग प्राप्त होता है। आपने अपने जीवन में देखा होगा कि भोग की रुचि रहते हुए मोह और आसक्ति की निवृत्ति होती है क्या?

श्रोता-नहीं।

और मोह और आसक्ति रहते हुए किसी प्रकार से चैन मिलता है क्या?

श्रोता-नहीं मिलता।

जिस प्रकार भोग की रुचि रहते हुए हम मोह और आसक्ति में आबद्ध हो ही जाते हैं उसी प्रकार जीवन का यह निर्विवाद सत्य है कि योग की प्राप्ति होने पर हमें बोध और प्रेम मिल ही जाता है। योग की प्राप्ति होने पर हम सभी को बोध और प्रेम की प्राप्ति होती है। इस प्रकार योग की प्राप्ति हुई भोग की रुचि के नाश से। पढ़े-लिखों की भाषा में कह दो—भोग-वासना के नाश से।

आप बड़े-से-बड़े विचारक से अपना विचार-विनिमय कीजिए, कोई भी दुनिया का विचारक चाहे आधुनिक हो अथवा प्राचीन, वासना के नाश से शान्ति मिलती है-वासना के नाश से दु:खों की अत्यन्त निवृत्ति होती है-वासना के नाश से पराधीनता मिटती है-इस बात को स्वीकार करने में कभी भी किसी को कोई आपत्ति नहीं है। अगर आप लोगों में किसी को हो तो प्रश्न कीजिए। तो यह बात साबित हो गई कि निर्वासना जीवन का बड़ा ही मौलिक तत्त्व है और उसकी प्राप्ति में हम सब स्वाधीन हैं। केवल योग की मांग से ही भोग

की वासना कहो, रुचि कहो, का नाश होता है। जिस प्रकार अग्नि काष्ठ को भस्मीभूत करके स्वयं बुझ जाती है, उसी प्रकार योग की मांग भोग वासना का अन्त कर स्वत: शान्त हो जाती है। यह जीवन का सत्य है। इस बात को स्वीकार करना हर भाई के लिए, हर बहिन के लिए अनिवार्य है। क्योंकि जीवन का सत्य जो होता है वह किसी परिस्थिति-विशेष के लिए नहीं होता कि अमुक परिस्थिति में हम इस सत्य को स्वीकार करेंगे। वह तो हर परिस्थिति में स्वीकार किया जा सकता है। तो भाई! योग की माँग से हम सबका सर्वतोमुखी विकास होता है और माँग अनुभव करने की स्वाधीनता है-अथवा धर्मात्मा होने की स्वाधीनता है। धर्मात्मा होने से भी हम भोग की रुचि से रहित होते हैं। योग की माँग से भी हम भोग की रुचि से रहित होते हैं। और श्रद्धा-विश्वासपूर्वक, शरणागति से भी हम भोग की रुचि से रहित होते हैं। इस प्रकार हमारे सामने तीन बातें आती हैं—(1) धर्मात्मा होकर हम योग को प्राप्त करें (2) वास्तविक आवश्यकता अनुभव कर योग को प्राप्त तथा (3) शरणागत होकर योग को प्राप्त करें। और ये तीनों प्रकार की शक्तियाँ आपमें मौजूद हैं। आपको जो करना चाहिए उसे कर भी सकते हैं। आप विचारपूर्वक अचाह भी हो सकते हैं। आप श्रद्धा-विश्वासपूर्वक शरणागत भी हो सकते हैं। तो कर्तव्य-परायणता से, असंगता से, आत्मीयता से हम सबको वही जीवन मिल सकता है, जो जीवन कभी भी किसी भी महामानव को मिला है अथवा मिलेगा।

तीन बातें हैं—(1) कर्तव्य-परायणता (2) असंगता और (3) आत्मीयता। अब इन तीनों बातों की अभिव्यक्ति कैसे होगी जीवन में? अगर आप शरीर की भाँति सभी को अपना मान लें तो कर्तव्य-परायणता आ जायेगी, क्योंकि अपने शरीर की सुरक्षा का, हित का ध्यान सबको रहता है। तो कर्तव्यनिष्ठ कौन होता है? जिसके जीवन में सभी की सुरक्षा और हित का ध्यान हो वह कर्तव्यनिष्ठ कहलाता है। तो शरीर की भाँति सृष्टि को अपना मान लें, यह जानते हुए कि शरीर कभी भी सृष्टि से अलग नहीं हो सकता। और हम कभी भी शरीर और सृष्टि के साथ सदैव नहीं रह सकते। भटकते भले ही रहें, पर रह नहीं सकते। इस सत्य को जानते हुए क्या हम शरीर की भाँति सभी को अपना नहीं मान सकते? यदि मानना चाहें तो मान सकते हैं। और सभी की भाँति, जैसे हम सभी से असंग रहते हैं वैसे शरीर से असंग नहीं हो सकते क्या?

श्रोता-हो सकते हैं।

सभी की भाँति शरीर से असंग हो सकते हैं, शरीर की भाँति सभी को अपना मान सकते हैं। इसमें हम सबको स्वाधीनता है, किसी को भी पराधीनता नहीं है। तो सभी की भाँति शरीर से असंग होने पर भी योग की प्राप्ति होती है और शरीर की भाँति सभी को अपना मानने पर भी, कर्तव्य-परायणता के द्वारा भी योग की प्राप्ति होती है। उसी प्रकार अगर हम सर्वसमर्थ प्रभु को अपना मानकर उसके शरणागत हो जायँ, तब भी योग की प्राप्ति होती है। तात्पर्य क्या निकला? सभी को अपना मानो तो योग प्राप्त हो जाय, किसी को अपना न मानो तो योग प्राप्त हो जाय और प्रभु को अपना मानो तो योग प्राप्त हो जाय। अब इस मान्यता के अपनाने में आप लोगों को क्या कठिनाई मालूम होती है?

श्रोता-कोई कठिनाई नहीं है।

श्री महाराज जी-कठिनाई तो है नहीं। अच्छा कठिनाई नहीं है तो क्या यह वर्तमान का प्रश्न नहीं है कि हम शरीर की भाँति सभी को अपना मानें अथवा सभी की भाँति शरीर को अपना न मानें अथवा प्यारे प्रभु को अपना मानें। क्या राय है? इसी को जीवन का सत्य कहते हैं।

साधक के जीवन की समस्याओं पर विचार करने से ऐसा लगता है कि नीरसता हमें व्यर्थ-चिन्तन में आबद्ध करती है। जब जीवन में रस नहीं रहता, तब हम आगे-पीछे के चिन्तन में फंसते हैं और नीरसता का नाश कामना-पूर्ति के सुख से नहीं होता। इस सम्बन्ध में किसी को कोई प्रश्न करना हो तो कर सकते हैं। कामना-पूर्ति का कितना ही सुख मिले, परन्तु नीरसता का नाश नहीं होगा। उसका कारण यह है कि सभी कामनायें पूरी नहीं होतीं। इससे यह सिद्ध हुआ कि नीरसता साधक के जीवन में बहुत बड़ी बाधा है। यह बाधा कैसे दूर हो? जब रस की प्राप्ति हो। और रस की जो उपलब्धि होती है, वह एकमात्र उदारता, स्वाधीनता और प्रेम से होती है। कामना-पूर्ति और अपूर्ति से सुख-दुःख तो मिलता है, पर रस की प्राप्ति नहीं होती।

उदारता में रस है, स्वाधीनता में रस है, प्रियता में रस है। अब उदारता किसी परिस्थिति का नाम है क्या? या किसी वस्तु का नाम है? मानवीय स्वभाव है कि ईश्वरीय स्वभाव है? बोलो!

श्रोता-वस्तु तो नहीं है, स्वभाव है।

महाराज जी-वस्तु नहीं है न! मानवीय स्वभाव हो सकता है, ईश्वरीय स्वभाव हो सकता है। क्योंकि मानव जो है वह जगत की जाति का नहीं है। शरीर जगत की जाति का है। मानव शरीर का नाम नहीं है। वैसे तो हमने

किसी विद्वान पुरुष के मुख से सुना है-मा माने नहीं, नव माने नया। जो नया न हो, यानी जो सनातन हो। और जो सनातन होगा वह अविनाशी भी होगा। यह भी शब्द मानव का है। मानव शब्द का अर्थ यह भी है कि मानव सनातन होगा तो अविनाशी भी होगा।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था आप महानुभावों से कि मानवीय स्वभाव है—उदारता, स्वाधीनता और प्रेम। और विचार करके देखा जाय तो परमात्मा की महिमा में भी ये तीन बातें बताई जाती हैं- परमात्मा परम उदार हैं, परम स्वतन्त्र हैं, परम प्रेम के भण्डार हैं-ऐसा भी कहा जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि मानव परमात्मा की जाति का है, संसार की जाति का नहीं है। और परमात्मा से ही उसका नित्य सम्बन्ध है। और परमात्मा ही उसका अपना है। अगर यह बात आप महानुभावों को जंच जाय, रुच जाय, पसन्द आ जाय कि भाई, मैं तो परमात्मा की जाति का हूँ, उसी से मेरा नित्य सम्बन्ध है, वही मेरा अपना है तो जीवन की नीरसता का नाश हो जाय। और नीरसता का नाश हो जाय तो काम का नाश हो जाय और काम का नाश हो जाय तो परमात्मा प्राप्त हो जाय। यह जीवन का सत्य है। नीरसता अवश्य मिट जायेगी। क्योंकि आत्मीयता की जागृति से प्रियता उदित हो जायेगी। प्रियता के अभाव में नीरसता भासती है। इसके साथ-साथ एक बात और सोचिए कि नीरसता कहते किसको हैं। अगर हम अपनी भाषा के शब्द प्रयोग करें तो हमें मालूम होता है-अच्छा न लगना, ऊब जाना। तबियत का ऊब जाना। इस वर्ष कुम्भ के दिनों में बहुत से विदेशी लोग आये। साधु-वेश था उनका। तो मैंने उनसे यह पूछा कि आपकी प्रोब्लम (समस्या) हल हो गई। उन्होंने कहा--नौ। यानि उनकी समस्या हल नहीं हुई। बेचारे साधु वेश में थे। मैंने पूछा तुम्हारी क्या समस्या है? वे लोग बड़ी ईमानदारी से बात करते हैं। हम लोग बड़ी कचर-पचर बात करते हैं। उन्होंने कहा कि ध्यान से हमारा मन क्यों ऊबता है? मैंने कहा कि ध्यान से मन इसलिए ऊबता है कि तुम "करते हो", "होता नहीं" ध्यान!

तो मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि करने से मन ऊबता है कि नहीं। क्या राय है आप लोगों की?

श्रोता-करने से ऊबता है।

महाराज जी-अच्छा, जब करने से मन ऊबता है, तो फिर न करने की स्थिति कैसे प्राप्त हो? प्राप्त भी हो और प्रिय भी लगे। तो साफ मालूम होता

है कि अगर हम स्वभाव से ज्ञानपूर्वक यह अनुभव करें कि हमें कैसा साथी चाहिए, तो आप क्या कहेंगे? उदार चाहिए या अनुदार चाहिए?

श्रोता-उदार।

उदार चाहिए, यही न कहेंगे! और इस बात को आपने किसी से सीखा है, किसी ने आपको सिखाया है या आप स्वयं जानते हैं? स्वयं जानते हैं कि हमको उदार साथी चाहिए। तो भाई, यह तो सम्भव है नहीं, कि हमारा साथी हमें उदार मिल जाये। पर एक बात तो सम्भव है कि हम अपने साथी के लिए उदार हो जायँ। क्या राय है? हमारा साथी हमारे लिए उदार हो जाय, इसमें हम स्वाधीन हैं कि पराधीन? हमारा साथी हमारे लिए उदार हो जाय, इसमें हम स्वाधीन हो सकते हैं क्या?

श्रोता-नहीं हो सकते।

लेकिन हम अपने साथी के लिए उदार हो जायँ तो इसमें स्वाधीन हैं। अब विचार करो कि अपना साथी कौन है? जिस परिवार में रहते हैं, जिस समाज में रहते है, जिस देश में रहते हैं, उसी हिसाब से सोचो। तो इसका मतलब यह हुआ कि हम दूसरों के लिए उदार हो जायँ, क्योंकि हम दूसरों को अपने लिए उदार देखना चाहते हैं। उदार होने का अर्थ क्या है? रुपया खर्च करना पड़ेगा? बोले-नहीं। कोई शारीरिक परिश्रम करना होगा? बोले-नहीं। उदारता हमें दो बातों की प्रेरणा देती है—अगर सुखी पर हमारी दृष्टि पड़े तो हम प्रसन्न हो जायँ और दुःखी पर हमारी दृष्टि पड़े तो हम करुणित हो जायँ। यानी उदारता का अर्थ है-करुणा और प्रसन्नता। करुणा से प्रेरित होकर हम अपना सुख बाँटने लगते हैं और प्रसन्नता से नीरसता का नाश होता है, काम की उत्पत्ति नहीं होती। इसलिए करुणा भी रसरूप है और प्रसन्नता भी रसरूप है। क्या राय है? करुणा में रस आता है कि नहीं और प्रसन्नता में भी रस आता है। इसलिए, हमें सुखियों को देखकर प्रसन्न होना चाहिए और दुःखियों को देखकर करुणित होना चाहिए। अब हम गलती क्या करते हैं-होते तो हैं-किसी का (अपना) लड़का पास हो जाय तो प्रसन्न होते हैं कि नहीं?

श्रोता-जी!

लेकिन दूसरे के लड़के को देखकर! अभी-अभी तुमको सुनने को मिल जाय कि पाकिस्तान में बड़ी आपत्ति आ गई तो तुमको अच्छा लगता है कि बुरा? सोचो जरा! और यह मालूम हो जाय कि हिन्दुओं पर आपत्ति आई है

तो? बुरा लगता है। यानी जिसको अपना मानते हैं उसको देखकर तो आप करुणित भी होते हैं और प्रसन्न भी होते हैं। होते हैं कि नहीं होते?

श्रोता-होते हैं।

तो अगर आपको करुणा और प्रसन्नता को जीवन में रखना है तो किसी-न-किसी नाते सभी को अपना मानना पड़ेगा।

9

(ब)

प्रश्न उठता है कि जब अन्तर्निरीक्षण से ही यह सब काम बन जायेगा तो क्या गुरु और शास्त्र की आवश्यकता नहीं है? गुरु और शास्त्र में श्रद्धा मनुष्य करता है अत: प्रधानता श्रद्धालु साधक की है।

इसलिए मनुष्य अपनी दृष्टि से कैसा है, इस बात पर ध्यान अवश्य देना चाहिये। आप अपनी दृष्टि से अपने को उदार, स्वाधीन और प्रेमी नहीं पायेंगे तो स्वत: ही यह प्रश्न पैदा हो जायेगा कि इसका कारण क्या है? कारणों का पता लग जाने पर साधक में अपनी भूल के निवारण की भी सामर्थ्य आ जाती है। भूल की निवृत्ति में माँग की पूर्ति स्वत: सिद्ध है।

प्रवचन :

अब इस सत्य को स्वीकार करने में आपको क्या आपत्ति मालूम होती है कि हम किसी-न-किसी नाते सभी को अपना मान लें, इस सत्य को स्वीकार करने में कोई आपत्ति मालूम होती है आपको? कोई कठिनाई है?

श्रोता-कोई कठिनाई नहीं है।

पर आप यह मानते हैं क्या?

श्रोता-मानते तो हैं पर भूल जाते हैं।

मानते ही नहीं, नहीं तो दोस्त आठ दिन की कहके एक महीना में न लौटते। चिट्ठी भी नहीं दी, नहीं तो दो-चार तो चिट्ठियाँ आतीं हर महीने। कठिनाई तो लिखते! क्यों? वहाँ ममता का सम्बन्ध था, यहाँ कर्तव्य का सम्बन्ध था। तो ममता में आकर कर्तव्य भूल जाता है मनुष्य। बुरा मत मानना। आप कहते हैं कि मानते हैं, मगर नहीं मानते हैं। आठ दिन की कहकर महीना भर बाद आयें। इसका मतलब क्या है? कि आप मन की आवाज पर चलते हैं, सिद्धान्त की आवाज पर चलते ही नहीं। इसलिए, सभी को जब तक अपना नहीं मानोगे, तब तक हृदय में उदारता कभी नहीं आयेगी। उदारता नहीं आयेगी तो करुणा क्यों आयेगी? और करुणा नहीं आयेगी तो आप अपना सुख बाँटेंगे कैसे? अगर आपके हृदय में करुणा जगती कि अरे भाई, संस्था की बड़ी क्षति हो रही है, यह तो मेरी साधना थी। यह तो मेरा जीवन था। यह तो भगवान का काम था। वहाँ तो मोह का काम है। आज मेरा शरीर नहीं रहेगा तब भी तो मेरा लड़का संभालेगा। लड़का अपनी पत्नी, माँ बच्चों को नहीं संभालेगा?

श्रोता-जी! संभालेगा ही।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि हमसे बड़ी भारी भूल हो जाती है कि ममता-युक्त उदारता तो हममें रहती है, लेकिन स्वभाव-जनित उदारता नहीं रहती है। तो क्यों नहीं रहती है? क्योंकि हम सभी को अपना नहीं मानते हैं। अब "सभी को अपना मानना"-हम चाहें कि हम आपके जीवन में पैदा कर दें तो यह हमारे बस की बात है कि आपके अपने करने की बात है? हम सभी को अपना मानें-यह अपने करने की बात है कि किसी और के बस की बात है? दुनिया का कोई गुरु किसी को ऐसा इंजेक्शन लगा सकता है कि भाई तुम सभी को अपना मानो? है ताकत किसी में? किसी नेता में है ताकत? किसी राष्ट्र में है ताकत? क्या राय है?

श्रोता-नहीं है?

लेकिन अगर आप चाहें तो? अगर आप चाहें तो हो सकते हैं, मान सकते हैं सभी को अपना कि नहीं? अवश्य मान सकते हैं। तो मैं आपसे यही निवेदन कर रहा था कि आपमें भगवान ने यह सामर्थ्य दी है। अगर आप विचार करें, तो पायेंगे कि दुनिया का बड़े-से-बड़ा गुरु, बड़े-से-बड़ा नेता, बड़े-से-बड़ा राष्ट्र जो काम नहीं कर सकता आपके साथ, अगर आप चाहें तो अपने साथ कर सकते हैं। मैं यह तो नहीं कहता हूँ कि सभी को अपना मानने का अर्थ है कि मुझे अपना मानिये और अपनी सम्पत्ति मुझे दे दीजिये। ऐसा मेरा मत नहीं है। मैं तो कहता हूँ कि सभी को अपना मानेंगे तो हमको भी अपना मानेंगे, तो हमारे दु:ख से आपको करुणा होगी कि नहीं? होगी। अवश्य होगी। हमारे सुख से आपको प्रसन्नता होगी कि नहीं होगी? अवश्य होगी। अब आप हमारा दु:ख कितना मिटा पायेंगे? मिटा भी पायेंगे कि नहीं मिटा पायेंगे, यह तो आप जानो। लेकिन करुणा के रस से काम का नाश होगा कि नहीं? भोग की रुचि का नाश होगा कि नहीं? प्रसन्नता से कामनाओं का नाश होगा कि नहीं होगा? अगर भोग की रुचि का नाश हो जाय, कामनाओं का नाश हो जाय तो किसको लाभ होगा? तुमको कि मुझको? बोलो ईमानदारी से!

आपको लाभ ज्यादा होगा। क्योंकि भोग की रुचि का नाश होने से योग की प्राप्ति होगी, काम का नाश होने से राम मिलता है।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि मानव जीवन में जो नीरसता है, उसका और कोई कारण नहीं है। यही सबसे बड़ा कारण है कि हम सभी को अपना नहीं मानते और इसीलिए हममें उदारता नहीं आती। चूँकि उदारता नहीं आती अत: नीरसता नाश नहीं होती। अब यह किसी मजहब की बात है कि जीवन का सत्य है?

श्रोता-यह जीवन का सत्य है।

यह जीवन का सत्य है कि अगर हम सभी को अपना मान लें तो देखिये, सभी को अपना मान करके हमारा सुख आपको हर्ष पैदा करेगा कि नहीं? और आज की क्या दशा है? आज जिनके पास पूँजी अधिक है, जो पूँजी-पति हैं, उन्हें शोषक वर्ग कहा जाता है। यानी जो सुखी हैं वे शोषक हैं, ऐसा कहते हैं और सुखी कौन है? आप लोगों ने कोई सुखी देखा है? वे किसी अंश में सुखी हैं, तो किसी अंश में कौन सुखी नहीं है? मान लीजिए एक मिल-ओनर किसी अंश में सुखी है तो क्या एक मजदूर किसी अंश में सुखी नहीं है? मान लीजिए, आप ट्रेन से उतरे हैं। आपके पास सामान है।

आप सुखी हैं। लेकिन उस सामान को उठाने के अंश में कुली आपसे ज्यादा सुखी नहीं है क्या?

श्रोता-अवश्य है।

लेकिन वह आपको देखकर प्रसन्न होता है क्या? आप उसे देखकर प्रसन्न होते हैं क्या? बोलो!

श्रोता-नहीं होते।

तो मैं आपसे यह निवेदन कर रहा था कि मानव-सेवा-संघ की प्रणाली में यह बात बताई गई है कि अगर आप अपने साधक-जीवन में नीरसता मिटाना चाहते हो और मानते हो कि यह एक समस्या है कि क्यों नीरसता है हमको? तो भैया, उदार होना पड़ेगा। और उदार होने के लिए सभी को अपना मानना पड़ेगा। हम यह तो नहीं कहते कि बक्स कुली को दे आओ। लेकिन अपना मानकर प्रसन्न हो जाओ। और अगर जो देना चाहिए उससे आप चार आना भी ज्यादा दे देते हैं, कुली को हर्ष होगा या शोक होगा? हर्ष ही होता है। और आपका क्या बिगड़ता है?

श्रोता-चार आना पैसे ज्यादा चले गये।

श्री महाराज जी-हाँ ठीक है। पैसे तो चले गये पर तुम्हें दे क्या गये? सारी जिन्दगी में जो कमाया सो सब खा डाला तो तुम्हें क्या मिल गया? सोचो जरा!

श्रोता-सोचते तो हैं लेकिन ज्यादा देने में.....

वह आपकी व्यक्तिगत बात है। वह कमबख्त आपको देखकर खुश नहीं होता है, आप उसे देखकर खुश नहीं होते। तुम उसे ठगना चाहते हो, वह तुम्हें लूटना चाहता है। विचार करके देखो भैया, यह कानून मैंने तुम्हारे लिए ही नहीं कहा। उसे भी तो आपको देखकर प्रसन्न होना चाहिए। और एक उसूल बनाना चाहिए रेलवे अथारिटी को कि इतने वजन पर इतना पैसा लगेगा। और वह छपा रहना चाहिए। तो यह तो दूसरों की गलती आप देख रहे हो। विचार करके देखो भैया, विचार करके देखो। यह तो आप दूसरों की गलती देख रहे हैं। अगर वह आपको देखकर प्रसन्न हो जाये और यह उसूल है एक जमाना था कि एक मन वजन का चालीस पैसा लगता था। अब शायद एक रुपया लेते हैं।

श्रोता-सत्तर पैसे लेते हैं।

अच्छा, अब सत्तर पैसे लिखा है और अगर सत्तर की जगह एक रुपया दे दें तो वह खुश हो जाय। बहुत खुश हो जाय। और अगर वह 60 पैसे ले

ले तो आप खुश हो जायँ। तो मैं यह नम्र निवेदन कर रहा था कि अगर आप उसे अपना मानते होते तो 0-70 की जगह 1-00 देना आपको खलता नहीं। और उसको 0-70 की जगह 0-60 लेना खलता नहीं। जब हम मथुरा स्टेशन पर उतरते थे, सर्वनाम सिंह एक पुलिस हैडकान्स्टेबिल रहते थे वहाँ। तो वे आते और हमारा सामान उठा लेते। तो हमें दु:ख होता था क्या? प्रसन्नता होती थी।

तो मैं आपसे यह निवेदन कर रहा हूँ कि आप यदि चाहें सरकार! तो उदार हो सकते हैं। आप न चाहें तो आपको कोई दूसरा उदार नहीं बना सकता। विवश नहीं कर सकता है। न विवश कर सकता है न कोई आपको किसी तरह से उदार ही बना सकता है। जैसे देखिए! टैक्स बहुत बढ़ते चले जा रहे हैं। अब लोगों के दिल में उदारता आती जा रही है या बेईमानी?

श्रोता–बेईमानी।

यानी उधर टैक्स बढ़ते जा रहे हैं तो इधर बेईमानी आती जा रही है। क्यों? क्यों आती जाती है बेईमानी। कि वे आपके सुख को तो छीनना चाहते हैं पर आपके सुख से प्रसन्न नहीं होना चाहते। बहुत दिनों की बात है, हम एक बार इलाहाबाद में ठहरे हुए थे, माघ मेला में। तो एक सज्जन हमारे पास आते थे, बड़े अच्छे लिखे-पढ़े नौजवान आदमी थे। कहते-स्वामी जी, बातें तो आपकी बहुत अच्छी हैं। हमें भी कुछ बताओ। मैंने कहा-भले आदमी! तुम मुझको बीस बरस पढ़ाओगे, मैं तुम्हें क्या बताऊँ? नहीं कुछ तो बताओ। तो हमने कहा-एक बात है दोस्त! नाराज न हो तो कहें। बोले-बताइये। तो हमने कहा-हम यह कहते हैं जैसे दु:खियों को देखकर तुम्हारा हृदय करुणित होता है, उनका दु:ख दूर करना चाहते हो-ऐसे जरा सुखियों को देखकर प्रसन्न हो जाया करो। बस यह सुनते ही वह ऐसा घबराया, बोला कि आप मेरे जोश को पैरालाइज करना चाहते हैं। कम्यूनिस्ट विचारधारा का था। तो सुखी दु:खी हो जाय तब तुमको चैन पड़ता है, सुखी सुखी बने रहें तो तुमको चैन नहीं पड़ता। यह जो हमारी दशा है, यह मानवीय स्वभाव नहीं है। यह प्राणियों का स्वभाव हो सकता है। जैसे कोई चीज डाल दो तो बन्दर उसे छीनने के लिए आपस में लड़ते हैं कि नहीं, और कुत्ते भी लड़ते हैं। तो कुत्तों का, बन्दरों का-इनका तो यह स्वभाव हो सकता है, पर यह मानवीय स्वभाव नहीं हो सकता कि सुखी को देखकर प्रसन्न न हों और दु:खी को देखकर करुणित न हों।

इसलिए, स्थूल दृष्टि से देखा जाय, दुनियादारी की दृष्टि से देखा जाय तो उदारता से नीरसता नाश होगी और विचार की दृष्टि से देखा जाय तो स्वाधीनता से नीरसता नाश होगी। आस्था की दृष्टि से देखा जाय तो

अगाधप्रियता से नीरसता नाश होगी। अब इन दोनों में तो सांसारिक सम्बन्ध ही नहीं रहा। क्यों भैया? अगर हमको स्वाधीन होना है तो संसार से सम्बन्ध रख सकते हैं?

श्रोता-नहीं।

अच्छा, और अगर प्रेमी होना है तो परमात्मा से सम्बन्ध तोड़ सकते हैं?

श्रोता-नहीं तोड़ सकते।

तो देखो! अगर तुम अध्यात्मवादी हो, विचारक हो तो अकिंचन होकर, अचाह होकर, अप्रयत्न होकर स्वाधीनता प्राप्त कर सकते हो। क्योंकि संसार के सम्बन्ध से तीन ही बातें होती हैं-ममता पैदा होती है, कामना पैदा होती है और अहंकृति पैदा होती है। ममता, कामना और अहंकृति कहो, चाहे तादात्म्य कहो, एक ही बात है। तादात्म्य से अहंकृति पैदा होती है। तो अकिंचन अचाह और अप्रयत्न होने में पराधीन हो क्या? यानी उदार होने में भी स्वाधीन हैं आप और स्वाधीन होने में भी स्वाधीन हैं आप-इसमें पराधीन तो नहीं हैं न?

श्रोता-जी नहीं।

तो नीरसता मिट सकती है कि नहीं? ऐसे ही अगर विचार करके देखो कि परमात्मा को अपना मानने में आप पराधीन हो क्या? न मानना चाहो यह तुम्हारी मर्जी। लेकिन मानने में पराधीन हो क्या?

श्रोता-पराधीन नहीं हैं।

तो प्रेमी होने में भी स्वाधीन। तो जो रस के तीन श्रोत थे-उदारता, स्वाधीनता और प्रेम, इन तीनों की प्राप्ति में आप स्वाधीन हो।

अच्छा, अब विचार करके देखो कि अगर आपके जीवन में नीरसता है, तो नीरसताकाल में वस्तुओं का चिन्तन मिटता है क्या?

श्रोता-नहीं।

और व्यक्तियों का चिन्तन मिटता है क्या? तो नीरसता मिटाना है कि वस्तु-चिन्तन मिटाना है पहले?

श्रोता-नीरसता मिटाना है।

नीरसता मिटा रहे हैं आप कि वस्तु-चिन्तन को बुरा समझ रहे हैं। "मन बहुत खराब है, मन बहुत खराब है। वस्तु से हटाओ, भगवान में लगाओ, वस्तु से हटाओ।" अरे भले आदमी वस्तु से हटाओ तो तब, जब तुम में हटाने की योग्यता हो। आप विचार करके देखो, जब तक जीवन में नीरसता रखोगे भैया, तब तक संसार के चिन्तन से नहीं बच सकते। कोई उपाय हो तो बताये कोई। यह तो बात ऐसी है कि कभी-कभी तो ऐसा मन में आता है कि

इस बात को तो बड़े-बड़े दिग्गज विद्वानों के सामने रख देना चाहिए कि नीरसता के रहते हुए संसार का चिन्तन मिटता है क्या? और अपने जीवन को देख लो कि नीरसता के रहते संसार का चिन्तन मिटा है क्या?

श्रोता-नहीं मिटता।

मिटता ही नहीं। इसलिए मेरा निवेदन था कि सभी को अपना मानने से आप उदार हो सकते हो। अकिंचन, अचाह और अप्रयत्न होने से स्वाधीन हो सकते हो और प्रभु को अपना मानने से प्रेमी हो सकते हो। उदारता से भी नीरसता नाश होती है और स्वाधीनता से भी नीरसता नाश होती है और प्रेम से भी नीरसता नाश होती है। अभाव का अर्थ होता है-किसी-न-किसी प्रकार की कमी को अनुभव करना। सारी सृष्टि में कोई ऐसी परिस्थिति नहीं है जो अभाव से रहित हो, अर्थात् अभाव की निवृत्ति किसी परिस्थिति के द्वारा नहीं होती। जब तक हमें रसरूप, चिन्मय जीवन की प्राप्ति नहीं होती तब तक अभाव शेष रहता है।

अब प्रश्न पैदा होता है कि जब किसी परिस्थिति से अभाव की निवृत्ति नहीं हो सकती, तब क्या सभी परिस्थितियों से असंग होकर हम अभाव का अभाव कर सकते हैं? यहाँ यह विचार करना होगा कि सभी परिस्थितियों से असंग होने का अर्थ क्या है? मुझे ऐसा लगता है कि सुख-दुःख से असंग होने का नाम परिस्थितियों से असंग होना है। सभी परिस्थितियों में किसी-न-किसी अंश में सुख होता है, किसी-न-किसी अंश में दुःख होता है। और न सुख सदैव रहता है और न दुःख सदैव रहता है। सुख में पराश्रय रहता है, परिश्रम रहता है। बिना पराश्रय और परिश्रम के सुख का अनुभव नहीं होता और दुःख में अशान्ति रहती है, पराधीनता रहती है, नीरसता रहती है, अभाव रहता है। तो अब विचार यह करना है कि अशान्ति, पराधीनता, नीरसता और अभाव कैसे मिटे। ऐसा पता लगता है कि यदि हम किसी प्रकार से अवस्थातीत, परिस्थिति-रहित जीवन को पा जाएँ जो कि अनुत्पन्न हुआ है। अनुत्पन्न हुआ उसे कहते हैं जो अवस्था रहित हो, उसकी कोई अवस्था नहीं होती अर्थात् परिस्थिति न बने जिसकी। ऐसा अगर कोई जीवन मिल जाय हमको तो अभाव का नाश हो सकता है और हम सदा-सदा के लिए कृत-कृत्य हो सकते हैं। सदा-सदा के लिए कृत-कृत्य होने का अर्थ है कि सर्वांश में अशान्ति, अभाव, पराधीनता, नीरसता का नाश हो जाय।

अब प्रश्न पैदा होगा कि क्या ऐसा जीवन शरीर के सहयोग से मिल सकता है?

श्रोता-नहीं मिल सकता।

अच्छा, जिस जीवन के लिए शरीर की अपेक्षा नहीं है, उस जीवन की प्राप्ति कैसे होगी? अचाह होने से हो सकती है या नहीं?

श्रोता-हो सकती है।

कह तो आपने बड़ी जल्दी दिया। बात भी ठीक है। पर अचाह होना कैसे सम्भव होगा भाई? इसके दो उपाय हैं। एक उपाय तो यह है कि हम मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के द्वारा दूसरों के आवश्यक संकल्पों को पूरा करें अथवा अपना संकल्प छोड़ दें और यह दोनों बातें आ जाएँ तो बड़ी सुविधा से काम हो जाय। इसी बात को अपनाने के लिए मानव सेवा संघ की प्रणाली में बताया जाता है कि मुझ पर सभी का अधिकार है, मेरा किसी पर नहीं है। अगर इस बात को हम स्वीकार कर लें कि मुझ पर सभी का अधिकार है और मेरा किसी पर नहीं है, तो दूसरों के अधिकारों को देने से तो विद्यमान राग की निवृत्ति होती है और अपना अधिकार छोड़ने से क्रोध की निवृत्ति होती है। अर्थात् तब हम राग और क्रोध से रहित हो जाते हैं। अब यह बात आप किस उपाय से मानेंगे, कैसे मानेंगे और कब मानेंगे-यह तो आप जानें, पर मानना पड़ेगा। शरीर के रहते हुए, वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के रहते हुए हमें दूसरों के अधिकार, जो ज्ञान और सामर्थ्य के अनुरूप हैं, उन्हें पूरा करना पड़ेगा। ज्ञान-विरोधी अधिकार किसी पर होता नहीं। सामर्थ्य-विरोधी अधिकार किसी पर होता नहीं। यानी आप जो नहीं कर सकते वह आप पर किसी का अधिकार नहीं है। अथवा जो आपको नहीं करना चाहिए वह आप पर किसी का अधिकार नहीं है।

श्रोता-इससे क्रोध कैसे छूट जायगा?

श्री महाराज जी-अभी बतायेंगे, क्रोध छूट जायगा। ज्ञान-विरोधी अधिकार नहीं होता, और सामर्थ्य-विरोधी भी अधिकार नहीं होता। तो अब आप पूछ रहे हैं कि अपने अधिकार छोड़ने से क्रोध कैसे छूट जायगा। क्रोध आता ही कब है, सोचो जरा! जब हम अपनी रुचि को दूसरों से पूरी कराना चाहते हैं। दूसरों पर कोई अधिकार मानते हैं, तभी न क्रोध आता है! और जब हमने अपना कोई अधिकार ही नहीं रखा तब! **त्याग का सबसे सुन्दर रूप है अपने अधिकारों का त्याग।** हालांकि आज के युग में यह बड़ी अच्छी चीज नहीं समझते। आधुनिक बालक हमारे समझते हैं—अधिकार माँगना बहुत बड़ी बात है, अधिकार छीनना बहुत बड़ी बात है। लेकिन अधिकार छोड़ना बहुत बड़ी बात है, अधिकार माँगना बड़ी बात नहीं है। अधिकार देना बड़ी बात है। अधिकार देने से विद्यमान राग, पुराना जन्म-जन्मान्तर का राग नाश होता है। जैसे-शरीर का हम पर क्या अधिकार है? हम श्रमी हों, संयमी हों, सदाचारी

हों, अहिंसक हों-ये शरीर के अधिकार हैं। परिवार का हम पर क्या अधिकार है? समाज की सेवा करने से जो मिले वह उनके (परिवार वालों के) हाथ में दे दें। समाज का अधिकार है-बुराई रहित भलाई करना। यह समाज का अधिकार है। अपना क्या अधिकार है? अचाह होना-यह अपना अधिकार है। और जो भगवान को मानते हैं वे कहेंगे-उनका (प्रभु) का अधिकार है। तो अन्य विश्वास, अन्य सम्बन्ध का त्याग भगवान का अधिकार है। किसी और में हमारा विश्वास न हो, किसी और से हमारा सम्बन्ध न हो, यह प्रभु के अधिकार की रक्षा है। क्योंकि परमात्मा विश्वास-साध्य है और किसी प्रकार से साध्य नहीं है। स्वाधीनता ज्ञान-साध्य है और किसी प्रकार से साध्य नहीं है। लोक-संग्रह, उदारता से साध्य है और किसी प्रकार से साध्य नहीं है। लोक हमें उदार देखना चाहता है। हम अपने को स्वाधीन देखना चाहते हैं। और प्रभु हमें प्रेमी देखना चाहते हैं। प्रेम होता है आत्मीयता से। आत्मीयता होती है विश्वास से। और कोई उपाय नहीं है।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि हमारे जीवन में जो एक अभाव की वेदना रहती है। कोई न कोई कमी मालूम होती रहती है। वह इसलिए मालूम होती है कि जो जीवन अपने में है, अपना है, उसे हम पसन्द नहीं करते। वैसे अभाव का अभाव यह अध्यात्म जीवन में होता है। अध्यात्म जीवन का अर्थ होता है कि वह जीवन जो स्वत: सिद्ध है, अविनाशी है, अनुत्पन्न हुआ है और मनुष्य-मात्र के लिए सम्भव है। अध्यात्म-जीवन मनुष्य मात्र के लिए सम्भव है। पर कब? जब वह अकिंचन होकर, अचाह होकर, अप्रयत्न होकर अपने में सन्तुष्ट हो, तब सम्भव है। अब आप अकिंचन, अचाह, अप्रयत्न कब हो सकते हैं? जब सर्वांश में राग-रहित हों। अर्थात् वीतराग हों। और वीतराग कब हो सकते हैं? जब धर्मात्मा हों, धर्मात्मा कब हो सकते हैं? जब दूसरों के अधिकार की रक्षा करें, अपने अधिकर का त्याग करें। अगर यह बात आपको जंच जाय और अपना सत्य मालूम हो तो इस पर थोड़ा मनन कर लीजिए कि क्या हम अपने अधिकार को नहीं छोड़ सकते! पहले तो यह सोचा जाय कि क्या सारी सृष्टि मिलकर हमारे अधिकार की रक्षा कर सकती है? क्या राय है?

श्रोता-नहीं कर सकती है।

अच्छा, जब सारी सृष्टि मिलकर नहीं कर सकती तो एक व्यक्ति क्या कर देगा या दो-चार व्यक्ति क्या कर देंगे या परिवार क्या कर देगा या समाज क्या कर देगा। पहले तो यह सोचना चाहिए कि अधिकार कहते किसको है? देखिये, अधिकार और कर्तव्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

और हमने तो ऐसा अनुभव किया है जीवन में कि जो कर्तव्य का दास है उसके अधिकारों का कभी हनन नहीं होता। कर्तव्यनिष्ठ प्राणी कभी अधिकार की परवाह नहीं करते, क्योंकि अधिकार कर्तव्य के पीछे-पीछे दौड़ता है। इसलिए जो लोग सही अर्थ में निर्लोभ हो गये उनकी दरिद्रता मिट गयी। निर्मोह हो गये उनका भय मिट गया। निष्काम हो गये उनकी अशान्ति मिट गयी। असंग हो गये उनकी पराधीनता मिट गयी।

10

(अ)

साधक के साधन-पथ में काम वासना विघ्न है-

अनेक साधक मन को समझा-बुझाकर एवं दबाकर इन्द्रियों को विषय विमुख करना चाहते हैं परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिलती है-सुख भोगने से भोगने की शक्ति घटती जाती है और सुख भोग की वासना बढ़ती जाती है, कभी तृप्त नहीं होती, अत: काम का नाश सभी के लिए अनिवार्य है।

काम का नाश किसी अभ्यास से नहीं होता, प्रत्युत् सेवा त्याग और प्रेम के रस से होता है।

परमात्मा रूपी जो अनन्त तत्त्व है, वह हर भाई को, हर बहन को मिल सकता है। उससे निराश नहीं होना चाहिये। और सुख-दु:ख साधन सामग्री है, उसे जीवन नहीं मानना चाहिये।

प्रवचन :

देखिये, चाह जो पैदा होती है, कोई भी चाह, वह भोग से पैदा होती है। हमने भोग किया है, इसलिए हममें चाह पैदा होती है। लेकिन वह चाह पूरी हो जायेगी, यह आवश्यक नहीं है। अब सोचिये, चाह पैदा तो हो जाय परन्तु पूरी हो नहीं, तो कैसा लगेगा? बहुत बुरा लगेगा न! यह पसन्द है आप किसी को? नहीं है न! इसलिए किसी महापुरुष ने कहा कि भाई! तुम अचाह हो जाओगे तो तुमको ऐसा जीवन मिलेगा, जिसमें बुरा नहीं लगेगा। अब यह अपने सामने प्रश्न रख लो कि हमें बुरा न लगे, ऐसा जीवन चाहिए या नहीं चाहिए? क्या राय है? उसका उपाय है-कुछ मत चाहो। अब कुछ न चाहने पर भी शरीर की आवश्यकताएँ पैदा हुईं। जैसे, भूख लगी, प्यास लगी, नींद लगी।

श्रोता-यहीं कठिनाई उपस्थित होती है।

श्री महाराज जी-क्या?

श्रोता-ऐसा लगता है कि मुझे भूख लग रही है।

श्री महाराज जी-मुझे और तुझे को अभी छोड़ दें। भूख लगी है। अच्छा, जब तुम कुछ करने के लायक नहीं थे, तब किसी ने भूख दूर की थी कि नहीं।

श्रोता-जी हाँ, की थी।

और तब से अब तक खाते-खाते इतने दिन बीत गये, भूख दूर हुई क्या?

श्रोता-नहीं हुई।

तो खाने से भूख दूर होती है यह नियम तो नहीं रहा न!

अगर तुम अपने जीवन के इस सत्य को स्वीकार कर लो कि एक समय था जब भूख लगी थी और हम असमर्थ थे तब भी किसी ने खिला दिया। अब समर्थ हुए तो कुछ काम किया, उसके बदले में खा लिया और समर्थ होने के बाद फिर असमर्थ होने का नम्बर आता है-बुढ़ापा।

श्रोता-जी?

तो जैसे आरम्भ में हम असमर्थ थे तब किसी ने खिला दिया, तो अब बुढ़ापे में जब असमर्थ हैं तब भी कोई लिखा देगा। और मान लीजिए कि नहीं खिलाता कोई, तो आपका क्या बिगड़ जायगा? अनेक वर्ष खाते-खाते हो गये, खाने से भूख मिटी क्या?

श्रोता-नहीं मिटी।

अच्छा, और खाते-खाते कभी शरीर नाश हो जायगा कि नहीं?

श्रोता-हो जायेगा।

यदि न खाने से नाश हो जायगा तो क्या बिगड़ जायगा? थोड़ी देर के लिए मान लो कि हमारा जीवन ऐसा हो गया है कि हमारे खिलाने के लिए किसी के मन में बात नहीं आती है और खाना हमको मिलता नहीं है। तो भूखे रहते-रहते मर जायेंगे तो खाते-खाते क्या नहीं मर जायेंगे?

श्रोता-इतना साहस नहीं है।

स्वामी जी-यही तो आपको सोचना चाहिए कि इतने दिन खाते-खाते हो गये, पर खाने की समाप्ति नहीं हुई और खाते-खाते मर भी जायेंगे। तो न खाने से मर जायेंगे तो कोई नुकसान पड़ेगा क्या? क्या राय है?

श्रोता-ऐसा मालूम होता है स्वीमाजी, कि जल्दी ही मर जायेंगे।

श्री महाराज जी-मैं कहता हूँ कि मरने का कोई समय ही नहीं होता। अभी देखो तो तुम्हारे ....जी से पूछो, वो अभी भी मरना नहीं चाहते (हास्य ध्वनि)। यह नहीं, विचार दूसरी तरह से किया जाता है। विचार किया जाता है असलियत पर। असलियत यह है कि अगर तुम कुछ कर सकते हो तो सेवा करो और बदले में जो मिले उससे निर्वाह करो और न मिले तो मर जाओ। खाकर मर जाओ तो मर जाओ और भूखे मर जाओ तो मर जाओ। मर जाना जरूरी है।

अगर हम अचाह जो जायें और मरने से न डरें तो अमर जीवन मिलता है। इस बात में तुमको विश्वास तो इसलिए नहीं होता कि खुद जानते नहीं हो, हमारी बात मानते नहीं हो। हम तो यह कहते हैं कि अचाह हो जाओ और मरने से मत डरो तो मरने से पहले तुमको अमर जीवन मिल जायगा। अगर सन्तवाणी में विश्वास करना हो तो करो। अचाह हो जाय मनुष्य और मरने से डरे नहीं तो, मरने से पहले ही अमर जीवन मिल जाता है। शान्ति मिल जाती है, मुक्ति मिल जाती है, भक्ति मिल जाती है। ये जितनी असली जरूरतें हैं हमारी, सब पूरी हो जाती हैं। दो ही बातों की हिम्मत होनी चाहिए-मरने से डरे नहीं और कुछ चाहे नहीं। अच्छा, मरने से डरते रहो और चाहते रहो तो चाह छूटती है क्या, और मरना बचता है क्या? जी! तो नया घाटा तो नहीं लगा। यानी अगर आपने साहस कर लिया, धीरज कर लिया कि भाई मरना तो रुकेगा नहीं और चाह सभी पूरी होंगी नहीं, इसलिए मुझे मरने का भी भय नहीं है और कुछ चाहिए भी नहीं। अगर ये दो बातें मान लो दृढ़ता के साथ, तो शरीर पीछे छूटेगा अमर पहले हो जाओगे। और अगर मरने से डरते रहोगे तो मरते भी रहोगे और जन्मते भी रहोगे और फिर डरते भी रहोगे।

तो अब कौन-सा जीवन चाहिए? हम मरते रहें, जन्मते रहें और डरते रहें-यह जीवन चाहिए या अमर जीवन चाहिए? अमर होने के लिए तो जीते-जी-मरना होता है और जीते-जी-मरने के लिए अचाह होना होता है। जीते-जी-मरने के लिए दो ही रूप हैं। अच्छा सोचो-जब आदमी मर जाता है तो किसी चीज को अपना कहता है क्या? उसको सुख-दुःख का प्रभाव होता है क्या? मान-अपमान का प्रभाव होता है क्या?

श्रोता-ठीक से नहीं कहा जा सकता।

श्री महाराज जी-किसी मरे हुये को प्रभावित होते हुए देखा है तुमने? पता तो तुमको इतना है कि मरना जरूरी है। जी? और चाह पूरी होगी नहीं, यह भी पता है। तो जो पूरी न हो उसको छोड़ने में क्या डर है और जो जरूरी है उसको अपनाने में क्या डर है? अगर मरना बच जाता तो हम बचने

को कोशिश करते। चाह पूरी हो जाती तो चाह पूरी करने का प्रयत्न करते। परन्तु चाह पूरी होगी नहीं, मरने से बचेंगे नहीं। इसलिए मरने से डरो मत। देखो! मरने में दुःख नहीं है, मरने के भय में दुःख है। मरने का भय मत करो, मरने से डरो मत। और हमारा तो ऐसा ख्याल है हम चूँकि जीना चाहते हैं, इसलिए मरने से डरते हैं। अगर जीने की लालच न रहे तो मरने का भय भी न लगे। जहाँ तक हमारे विश्वास की बात है वह यह है कि मरने में कोई कष्ट नहीं होता। कष्ट जो होता है वह इस बात का होता है कि हम जीना चाहते हैं और मरना पड़ रहा है। इस प्रमाद से कष्ट होता है मरने में। हम जीना चाहते हैं और मरना पड़ रहा है। अगर हम जीना न चाहें तो मरने में कोई कष्ट नहीं है। इसी तरह से अचाह होना, मरने से भय न करना, जीने की आशा न रखना--अगर ये बातें जो कि अनिवार्य हैं, कम्पल्सरी हैं, होएँगी ही, रुकेंगी नहीं, उनको पसन्द कर लेते हम, तो आपको मरने से पहले अमर जीवन मिल जाता, स्वाधीन जीवन मिल जाता, सरस जीवन मिल जाता।

अब अगर सरस जीवन चाहते हो, स्वाधीन जीवन चाहते हो, अमर जीवन चाहते हो तो मरने से डरो मत। और जीते जी मरने का अर्थ होता है कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए। जीते जी मरने का अर्थ खुद-कशी (आत्महत्या) करना नहीं होता। क्योंकि मरने से सम्बन्ध टूट जाता है, इसलिए मेरा कुछ नहीं है। और भाई, अब मुझे कुछ नहीं चाहिए। अहंभाव का नाश हो जायगा इन्हीं दो बातों से कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए। यदि आपको यह पसन्द नहीं है, इस बात में आपको विश्वास नहीं होता है कि न चाहने से और जीते-जी मरने से अमर हो जायेंगे, जीवन मिल जायेगा-ऐसा विश्वास नहीं होता सन्तवाणी पर, गुरुवाणी पर, वेदवाणी पर, तो फिर अब कोशिश करो कि बच जाओ। कोई तरीका है बचने का, बोलो?

श्रोता-कोई उपाय नहीं।

अगर कोई उपाय नहीं हो तो फिर अब यही तो उपाय रह गया कि भाई, मानव सेवा संघ में हमने सुना है सन्तवाणी में कि, जीते जी मर जाने से अमर जीवन मिल जाता है, स्वाधीन जीवन मिल जाता है, रसरूप जीवन मिल जाता है। हमारे गुरु का वाक्य है-"जीते जी मर जाय अमर हो जावे, दिल देवे सो दिलबर को पावे।" यह गुरुवाणी है। हमने अपने गुरु महाराज के मुख से, उन्हीं के शब्दों में सुनी है। उन्हीं की बनाई हुई कविता है।

तो मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता था कि गुरुवाणी के आधार पर, वेदवाणी के आधार पर, सन्तवाणी के आधार पर हमें इस सत्य को अपनाना चाहिए कि हम मरने से डरेंगे नहीं, अपितु जीते-जी मरेंगे। संसार से, शरीर से

सम्बन्ध तोड़ना जीते-जी मरना है। अचाह होना जीते जी मरना है। और सम्बन्ध तोड़ने में दो ही बातें हैं। बल्कि तीन बातें मान लो ज्यादा से ज्यादा। मेरा कुछ नहीं है सम्बन्ध टूटा, मुझे कुछ नहीं चाहिए सम्बन्ध टूटा और मैं कुछ नहीं हूँ सम्बन्ध टूटा।

श्रोता-मैं कुछ नहीं हूँ?

हाँ, यह भी एक चीज है। वह अभी तुम्हारी समझ में नहीं आयेगी। तादात्म्य होता है न! जैसे मैं अमुक हूँ, तो कछ हूँ तब न, "मैं" बना है। मैं हिन्दू हूँ, मैं हिन्दुस्तानी हूँ, मैं प्राणी हूँ, मैं इन्सान हूँ-ऐसा मालूम होता है न! तो मैं कुछ नहीं हूँ, तब भी सम्बन्ध टूट जायगा और कुछ नहीं है तब भी सम्बन्ध टूट जायगा और मुझे कुछ नहीं चाहिए तब भी सम्बन्ध टूट जायगा। अगर किसी को संसार से सम्बन्ध तोड़ना हो, अमर होना हो, स्वाधीन जीवन पाना हो, रसरूप जीवन पाना हो तो इन तीन बातों पर विचार करें। मेरा कुछ नहीं है, पहली बात। मुझे कुछ नहीं चाहिए, दूसरी बात। मैं कुछ नहीं हूँ, तीसरी बात।

श्रोता-मैं कुछ नहीं हूँ की जगह मुझमें रसरूप जीवन की माँग है, ऐसा कहें तो?

स्वामी जी-देखो, देखो! स्वतन्त्रता से मुझे बोलने दो और आप स्वतन्त्रता से सुनते रहो। मैं आपसे निवेदन करता हूँ, जैसे तुम किसी दिन कहलाते थे अमुक.....दास। अब क्या कहलाते हो? अब तो नहीं कहलाते। तो कुछ थे नहीं तभी तो नहीं कहलाते (हास्य)। यह बहुत गम्भीर बात है। देखिये, कोई-कोई बात गम्भीर होती है, और बड़ी दार्शनिक भी। अच्छा "यह" देखा है आपने, "मैं" देखा है किसी ने, बोलो? अब देखो, सारे शरीर को देखो। यह अंगुली है, यह हथेली है, यह शरीर है, यह कारण शरीर है, यह प्राण है। यह अन्नमय कोष है, यह प्राणमय कोष है, यह मनोमय कोष है। यह सब कुछ "यह" के अन्तर्गत है। "तीन अवस्था, तीन गुण, पंच कोष, त्रिदेह"-इन सबको तुम कहते हो "यह" तो बताओ 'मैं' क्या चीज है? और 'यह' का जो ज्ञाता है, 'यह' का जो प्रकाशक है 'यह' का जो आधार है वह है परमात्मा। तो तुम क्या निकले? अब समझ में आ गया कि मैं कुछ नहीं हूँ? यानी प्रतीत होने वाले 'यह' का ज्ञाता-सुना है हमने वेदवाणी से, गुरुवाणी से,-आधार और प्रकाशक कौन है? परमात्मा है। और जो प्रतीत होता है वह "यह" है। "यह" है और परमात्मा है, 'मैं' कहाँ है? लेकिन यह रहस्य अनुभव में कब आयेगा? जब पहले यह स्वीकार करोगे कि मेरा कुछ नहीं है। क्यों नहीं है? अगर मेरा करके कुछ होता तो उस पर मेरा स्वतन्त्र अधिकार

होता। मेरा किसी वस्तु पर स्वतन्त्र अधिकार नहीं, किसी व्यक्ति पर स्वतन्त्र अधिकार नहीं। जी? किसी परिस्थिति पर स्वतन्त्र अधिकार नहीं, किसी अवस्था पर स्वतन्त्र अधिकार नहीं। तो जब मेरा किसी पर अधिकार है ही नहीं, तो मेरा कुछ नहीं है-यह जीवन का सत्य नहीं है क्या? अच्छा, अब इस सत्य को मानकर सोचो, क्या चाहिए फिर? जब तुम शरीर को अपना मानते हो तब तुमको बहुत-सी चीज चाहिएँ, और अगर यह जान लो कि मेरा नहीं है, तो क्या चाहिए? कुछ नहीं चाहिए। मेरा कुछ नहीं है, इससे कुछ न चाहने की सामर्थ्य आती है कि नहीं? जब मुझे कुछ नहीं चाहिए तब बताओ "मैं" क्या है?

श्रोता-स्वामी जी! मेरा कुछ नहीं है, इसकी बजाय मैं शरीर नहीं हूँ-यह मानते तो?

श्री महाराज जी-मैं आपसे यह निवेदन करता हूँ-वाचक ज्ञानी बनोगे कि जीवन का सत्य अनुभव करोगे? आपको आदत पड़ गयी है कि जो पढ़ लिया है, जो सीख लिया है उसी को तोते की तरह रटते रहते हैं-जिन्दगीभर। मैं आपसे नम्रता से निवेदन करना चाहता हूँ सरकार! मेरा कुछ नहीं है, यह बात इस आधार पर सिद्ध हो गयी कि मेरा किसी पर स्वतन्त्र अधिकार नहीं है। मैं जब तक चाहूँ शरीर को नहीं रख सकता, जैसा चाहूँ नहीं रख सकता। क्या राय है? रख सकते हो? इसलिए सिद्धान्त-रूप से यह बात सिद्ध हो गयी कि मेरा कुछ नहीं है। जब यह बात आपने मान ली कि मेरा कुछ नहीं है तब फिर मैं पूछता हूँ आपको क्या चाहिए? तब यह सामर्थ्य आयेगी कि मुझे कुछ नहीं चाहिए। तो मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए-"मैं" क्या हुआ भाई? देखिये, आप सीखी-सिखायी बातों पर दिमाग मत लगाइये। आप इस तरह से सोचिये कि जब मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए तो "मैं" फिर कुछ नहीं। जी?

श्रोता-महाराज जी, ऐसा लगता है कि मैं शरीर नहीं हूँ।

श्री महाराज जी-यह तो तुमने सीखा है न! आपको लगता है कि मैं राग हूँ। क्योंकि आपने विश्वास किया है। किसी भी स्वीकृति को स्वीकार करने के बाद वह सत्य मालूम होता है। लेकिन स्वीकृति है क्या? इस पर सोचो भैया! धीरज से सोचो, घबराओ मत। मेरा कुछ नहीं है, मेरा-मेरा कुछ नहीं और "मैं हूँ" कहते-कहते जिन्दगी बीत गई, "मैं" को समझा ही नहीं।

बहुत ही निष्पक्ष भाव से, अगर आप अपने अनुभव के आधार पर बात करें, तब आपको यह मानना पड़ेगा कि अगर तुमने इस सत्य को स्वीकार कर लिया कि मेरा कुछ नहीं है तो तुममें यह सामर्थ्य आ जायेगी कि मुझे कुछ

नहीं चाहिए। और जब यह सामर्थ्य आ जायेगी कि जिसे कुछ नहीं चाहिए तो वह 'कुछ नहीं' अथवा 'सब कुछ।' यह तो मैंने तुम्हारी खुशी के लिए कह दी बात। घबराहट पैदा न हो जाय। इसमें आप खुश हो गये कि "मैं ब्रह्म हूँ"-बस खो लो लड्डू, हो जाओ ब्रह्म। लेकिन विचार करने की बात यह है कि ज्ञान का प्रकाश है आपमें। आप ज्ञानी नहीं हैं, ज्ञान का एक प्रकाश है। आपके पास बुद्धि है, इन्द्रिय-दृष्टि है। इन्द्रिय-दृष्टि से बुद्धि-दृष्टि से ज्ञान के प्रकाश में आप यह अनुभव कर रहे हो कि मेरा किसी भी वस्तु पर स्वतन्त्र अधिकार नहीं है, अर्थात् मेरा कुछ नहीं है। यह ज्ञान के प्रकाश में अनुभव हो रहा है या नहीं? बोलो!

श्रोता-जी हो रहा है।

अगर इस अनुभव का आप आदर करते हो, इस सत्य को स्वीकार करते हो कि मेरा कुछ नहीं है, तो आपको यह कहना ही पड़ेगा कि मुझे कुछ नहीं चाहिए।

श्रोता-परन्तु मेरी माँग तो है।

श्री महाराज जी-फिर वही सुनी हुई बात! जो बात कहते हैं उसे क्यों नहीं सुनते आप? इतने रूढ़िवादी क्यों बनते जाते हो? यानी जिस वक्त आपने यह अनुभव किया कि मेरा कुछ नहीं है, उस वक्त आप नहीं कह सकते कि मुझे कुछ चाहिए। अच्छा, तो अचाह भी हो गये, और अकिंचन भी हो गये। फिर "मैं" कुछ नहीं है। यह तो है जीवन का अनुभव।

गुरुवाणी में, वेद-वाणी में हमने सुना है कि परमात्मा है। अब परमात्मा है-यह हमारी आस्था है कि हमारा ज्ञान है? सज्जन-हैं क्या?

श्रोता-जी हैं।

सुन रहे हो भैया? परमात्मा है-यह हमारी आस्था है कि हमारा ज्ञान है?

श्रोता-आस्था।

अच्छा "मैं हूँ"-यह हमारा भ्रम है (आ-हा-हा-हास्य) कि हमारा ज्ञान है?

श्रोता-प्रश्न यह है कि फिर यह अनुभव किसका है?

श्री महाराज जी-देखिये, पण्डित जी। मैं बताता हूँ, आपको। अनुभव किसे कहते हैं आप? अनुभव है उसको, जिसको इक्सपीरिएंस क्या कहते हैं आप अंग्रेजी में, यानी आपको यह प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि मेरा किसी पर चूँकि स्वतन्त्र अधिकार नहीं है इसलिए मेरी अपनी करके, पर्सनल कोई वस्तु नहीं हो सकती। अब मैं आपसे यह निवेदन करता हूँ कि जिसको इस बात का

ठीक-ठीक अनुभव हो रहा है कि मेरा किसी वस्तु पर स्वतन्त्र अधिकार नहीं है, अर्थात् मेरा कुछ नहीं अतएव मुझे कुछ नहीं चाहिए। जब कुछ नहीं है, तो कुछ चाहिए भी नहीं। जब मैं अपना कुछ मान लेता हूँ तो मुझको मकान चाहिए, कपड़ा चाहिए, साथी चाहिए, वस्तु चाहिए, औषधि चाहिए इत्यादि, इत्यादि। जब तक मैं अपने को अथवा अपना करके, कुछ नहीं मानता हूँ, तब तक मुझे कुछ नहीं चाहिए। तो यह सत्य जब हमारे जीवन में उतर गया कि मेरा कुछ नहीं है, तो यह भी आ जायगा कि मुझे कुछ नहीं चाहिए। जब मुझे कुछ नहीं चाहिए तो "मैं" जैसी चीज कोई नहीं रह गयी।

श्रोता-इस प्रकार मिटाने से तो "मैं" मिट जाता है।

श्री महाराज जी-'मैं' जैसी रह ही नहीं गई कोई चीज! तो रह गयी 'है"। अब "है" और "यह"। अब देखो, मैं बताता हूँ, जिसके पीछे आप लालायित हो, घबरा रहे हो। जब 'यह' और 'है' हो गया, तो 'है' की है जिज्ञासा जिसमें और 'यह' की है ममता जिसमें, उसका नाम -"मैं" रख लिया। तो-"मैं"-यह काल्पनिक नाम रखा गया 'यह' की ममता को लेकर। और -'यह' की ममता यदि आपने खत्म कर दी है तो काल्पनिक नाम रह सकेगा क्या? देखिये, विचार करना और बात है, मानना न मानना आपकी मौज है।

मैं आपसे निवेदन करना चाहता हूँ कि "यह" की ममता को लेकर और 'वह' की जिज्ञासा को लेकर "मैं" मालूम होता है। (एक श्रोता का नाम लेकर) आप सुन रहे हैं?

श्रोता-जी हाँ।

क्या? कि सुना हुआ हमारा यह भी है कि परमात्मा है, आत्मा है, ब्रह्म है। यह सुना हुआ ही है। और देखा हुआ "यह" है। तो सुने हुए की जिज्ञासा और देखे हुए की ममता जिसमें है, उसका नाम हुआ "मैं"। जरा सोचियेगा। लेकिन ममता नाश होने के बाद जिज्ञासा रहती है क्या? बोलो!

श्रोता-नहीं रहती।

तो जिज्ञासा भी गयी, ममता भी गयी। अब "मैं" क्या है, बोलो? इस तरह से सोचो। यह सोचने का केवल एक ढंग है, कोई नई बात तो है नहीं।

तो मैं आपसे यह निवेदन कर रहा हूँ कि या तो इस प्रश्न को लेकर जाओ गुरु के पास कि "मैं क्या हूँ!" और गुरु कह दे बेटा! 'तुम भगवान के नित्य सखा हो' तो मान लो। 'नित्य दास हो' तो मान लो, 'नित्य प्रिया' हो तो मान लो। वैष्णव के पास जाओ तो। और वेदान्ती के पास जाओ तो वह कहे बेटा "तुम ब्रह्म हो" वह मान लो और आर्य समाजी के पास जाओ तो

कहेगा-'तुम जीव हो'-यह मान लो। तो, आप जो अपने सम्बन्ध में जितनी चर्चा करते हैं कह-सुनकर, मानकर करते हैं या अपने आधार पर करते हैं? क्या राय है आपकी?

श्रोता-सुनकर, मानकर करते हैं।

तो मैं उसका तो एतराज करता ही नहीं हूँ। "मैं" माने जीव भी है, मैं माने भगवान का सखा भी है, "मैं" माने भगवान का प्रिया भी है, "मैं" माने ब्रह्म भी है और "मैं" माने आत्मा भी है। लेकिन यह बात हमारे विश्वास के आधार पर है, न कि ज्ञान के आधार पर। यह मेरा निवेदन था। ज्ञान के आधार पर ईमानदारी से यह सत्य मालूम होता है कि अगर इस सत्य को मैं मान लूँ कि मेरा किसी पर स्वतन्त्र अधिकार नहीं है तो निर्मम होने से, निष्काम होने की सामर्थ्य आ जाती है। और निर्मम और निष्काम होने के बाद "मैं" का स्वतन्त्र अस्तित्व कुछ नहीं रहता। हाँ, फिर "है" का रहता है। और इस बात को मुझसे पहले बहुतों ने कहा है-"हम मिट गये तो, नूरे हस्ती नजर पड़ी।" हम मिट गये तब, हम होकर नहीं और "वीरां हुए तो बस्ती नजर पड़ी।" तो यह बात पहले भी लोगों ने कही है, अभी भी कहते हैं। और श्री हरिबाबा जी कहा करते थे कि मैं ब्रह्म हूँ, यह तो बहुत आरम्भिक बात है। "सर्वम् खलुइदम ब्रह्म" यह सत्य है। ब्रह्म है-यह सत्य है, जगत नहीं है-यह मिथ्या है। जगत मिथ्या है, ब्रह्म सत्य है-अन्तिम दर्शन का निचोड़ है यह।

तो वह बात मैं नहीं कह रहा था। मैं तो इस दृष्टि से कह रहा था कि एक प्रश्न चला हमारे सामने। वह यह चला कि भाई, हमको भूख लगती है, प्यास लगती है, नींद लगती है, यह चाहिये, वह चाहिये। हम कैसे कह दें कि हम अचाह हो गये। इस सम्बन्ध में मेरा निवेदन यह है कि भाई, यह मत मानो कि मुझे कुछ नहीं चाहिए तो चाह पूरी होती है क्या? क्या राय है?

श्रोता-नहीं होती।

तो चाह पूरी होती नहीं और कुछ न चाहने वाली बात आपने मानी नहीं। यह तो आपका अनुभव है कि चाह पूरी नहीं होती और आपने अचाह होना पसन्द नहीं किया, अकिंचन होना पसन्द नहीं किया तो विकारों में आबद्ध हो गये। अचाह होना पसन्द नहीं किया तो अशान्ति से आबद्ध हो गये। तो विकारों की उत्पत्ति और अशान्ति की उत्पत्ति जीवन के सत्य को न मानने से हुई कि नहीं? बताओ, बोलो? तो क्या आपको यह पसन्द है कि विकारों की उत्पत्ति होती रहे, अशान्ति की उत्पत्ति रहे? इसीलिए यह प्रश्न पैदा हुआ। अब आपने कहा-अचाह कैसे हो जायें। हमने कहा यदि यह बात आपको मालूम हो जाये पहले कि मेरा कुछ नहीं है तो अचाह हो जाओगे। जो अपने को अकिंचन

स्वीकार नहीं करेगा वह अचाह कभी नहीं होगा। जो अकिंचन अनुभव करेगा, वह अचाह होगा। और अकिंचन अनुभव करेगा तो निर्विकारता आ जायेगी। अचाह अनुभव करेगा तो शान्ति आ जायेगी। और शान्ति, निर्विकारता, जीवनमुक्ति यह "मैं" का स्वरूप है या "है" का स्वरूप है? परमात्मा निर्विकार है कि 'मैं' निर्विकार हूँ? परमात्मा शुद्ध, बुद्ध, मुक्त है कि 'मैं' शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हूँ?

श्रोता-परमात्मा है।

परमात्मा है, तो मैं तो आपसे निवेदन करता था कि वेदवाणी से जिसे परमात्मा कहते हैं वो है और बुद्धि-दृष्टि से, इन्द्रियदृष्टि से जगत की प्रतीति है, 'मैं' की प्रतीति नहीं है। 'मैं' की प्रतीति है और प्रतीति ममता के आधार पर और जिज्ञासा के आधार पर। जिज्ञासा पूरी हो जाती है, ममता नाश हो जाती है। "मैं" समाप्त हो जाती है, "है" रह जाता है।

ब्रह्म को ब्रह्म की प्राप्ति होती है, जीव को ब्रह्म की प्राप्ति नहीं होती। लेकिन वह भाषा में, प्रक्रिया में, जीव कल्पना कर लेते हैं तो फिर उसकी संगति लगा देते हैं। लेकिन अब किसी में इतनी योग्यता न हो, शास्त्र का इतना ज्ञाता न हो और जीवन का अध्ययन करे, तो जीवन के अध्ययन से यह बात साफ मालूम होती है कि मेरा करके कुछ है नहीं। सबसे पहला सत्य है यह जिसे मनुष्य स्वीकार करे। मनुष्य कहता हूँ उसको, "मैं" नहीं कहता हूँ। मनुष्य यह स्वीकार करे कि मेरा कुछ नहीं है। तब उसमें यह सामर्थ्य आयेगी कि मुझे कुछ नहीं चाहिए। तब क्या होगा? वह जो भासित होने वाला "मैं" था वह "है" में विलीन हो जायेगा और प्रतीत होने वाला जो शरीर था वह 'यह' में विलीन हो जायेगा। तो कुछ चीज 'यह' में विलीन हो गयी, कुछ चीज "है" में विलीन हो गयी, 'मैं' करके तो कुछ रहा नहीं। अगर यह न समझ में आये, न मानें, आपकी मर्जी।

देखिये प्रक्रिया-भेद होता है, सत्य में भेद नहीं होता। जो 'मैं' को मानकर चलते हैं वे भी उसी सत्य को पहुँचते हैं। जो नहीं मानकर चलते हैं वे भी उसी सत्य को पहुँचते हैं। लेकिन यह तो हो नहीं सकता कि सब 'मैं' को मानकर चलें या नहीं मानकर चलें। यह आपकी अपनी मर्जी है। चाहे मानकर चलो, चाहे न मानकर चलो। तो 'मैं' जैसी चीज का किसी को बोध नहीं है। बोध है ब्रह्म का, बोध है योग का, बोध है प्रेम का। 'मैं' का बोध नहीं है। प्रतीति है दृश्य की, 'मैं' की प्रतीति नहीं है। न बोध में 'मैं' आता है, न प्रतीति में 'मैं' आता है।

10

(ब)

मानव-मात्र का यह अनुभव है कि—

(1) जो चाहते हैं सो होता नहीं है,

(2) जो होता है सो भाता नहीं है,

(3) जो भाता है वो रहता नहीं है।

सारा जीवन चाह की उत्पत्ति, पूर्ति और अपूर्ति के सुख-दु:ख भोगने में निकल जाता है, परन्तु जीवन का सत्य क्या?

"कुछ" चाहने से "कुछ" मिलता है,

"कुछ" नहीं मिलता है, परन्तु

"कुछ" नहीं चाहने से "सब कुछ" मिलता है।

"सब कुछ" अर्थात् वह मिलता है, जिसे पाकर और कुछ पाना शेष नहीं रहता। उसे ज्ञानीजन दिव्य चिन्मय जीवन कहते हैं, योगीजन परम तत्त्व कहते हैं, और भक्तजन भगवान कहते हैं।

प्रवचन :

शरीर के रहते हुए ही काम नाश होता है और काम नाश होने से ही यह हमारी जो मांग है वह पूरी होती है। अब इस सम्बन्ध में किसी को कोई विकल्प उठता हो, समझ में न आया हो, कठिन मालूम देता हो तो प्रश्न करो। तो हमारे सामने प्रश्न है काम के नाश का। काम का अर्थ क्या है, इस पर यदि हम विचार करें तो कर्तव्य को काम नहीं कहते। काम का अर्थ है वस्तुओं का, व्यक्तियों को, परिस्थितियों का, अवस्थाओं का आकर्षण। उसका आकर्षण जिसकी स्वतन्त्र स्थिति नहीं है। उसको काम कहते हैं। काम माने उसका आकर्षण जिसकी स्वतन्त्र स्थिति नहीं है। स्वतन्त्र स्थिति किसकी नहीं है? विचार करके देखो! न शरीर की स्वतन्त्र स्थिति है, न संसार की स्वतन्त्र स्थिति है। यह बात समझ में आती है?

श्रोता–आती है।

स्वतन्त्र स्थिति केवल, एकमात्र जिसकी है उसी को भक्तों ने भगवान कहा है, उसी को जिज्ञासुओं ने तत्त्व-ज्ञान कहा है उसी को किसी ने चिरशान्ति कहा है। तो परमात्मा की स्वतन्त्र स्थिति है, तत्त्व-ज्ञान की स्वतन्त्र स्थिति है, चिरशान्ति की स्वतन्त्र स्थिति है, जीवनमुक्ति की स्वतन्त्र स्थिति है, भक्ति की स्वतन्त्र स्थिति है। तो शान्ति, मुक्ति और भक्ति इनकी स्वतन्त्र स्थिति है और यही हम सबको प्राप्त होने वाली चीजें हैं।

देखो, शान्ति का अर्थ यह नहीं है कि प्रतिकूलता आने पर हम भयभीत हो जायें। यह शान्ति का अर्थ नहीं है। जब शान्ति प्राप्त हो जाती है तो प्रतिकूलता आने पर भयभीत नहीं होते, अपितु उसके सदुपयोग का बोध हो जाता है। यह नियम ही है। ऐसे ही जब अनुकूलता आती है तो उसमें फंस जाय वह शान्ति नहीं है, वह सुख है। शान्ति का अर्थ है कि परिस्थिति के सदुपयोग का हमको बोध हो जाय कि सुख का सदुपयोग कैसे किया जाय दुःख का सदुपयोग कैसे किया जाय। यह बात साधक के सामने रहती है। और वह सुख-दुःख के सदुपयोग के द्वारा सुख-दुःख से अतीत के जीवन को प्राप्त करता है। यह उसका अपना निजी जीवन है, जिसमें शान्ति है, जिसमें अभाव नहीं है, जिसमें पराधीनता नहीं है। जिसमें नीरसता नहीं है। अर्थात् जो रसरूप जीवन है वह उसको प्राप्त होता है, सुख-दुःख के सदुपयोग से।

अगर यह बात आप मान लेते हैं, सदा के लिए मान लेते हैं और दृढ़ता के साथ मान लेते हैं तो दुःख भी आपके लिए साधन-सामग्री है, सुख भी आपके लिए साधन-सामग्री है।

श्रोता-यही अमर जीवन है?

श्री महाराज जी-नहीं। इसका फल अमर जीवन है। सुख-दुःख के सदुपयोग का फल अमर जीवन है। सुख-दुःख तो उपाय है न! उपाय तो लक्ष्य नहीं होता है। उपाय को तो धारण किया जाता है, यानी सुख-दुःख का सदुपयोग हमको करना पड़ेगा। उसके परिणाम में जो जीवन मिलता है, वह अमर जीवन है और उसी को "जीवन" कहते हैं और उसका कभी नाश नहीं होता। वह नित्य प्राप्त है सभी को, लेकिन उसकी विस्मृति हो गई है। हमने अपने को सुख की दासता में आबद्ध करके दीन-हीन, मलिन बना लिया है। अगर हम सुख की दासता में आबद्ध न हों, अगर हम दुःख से भयभीत न हों, तो दुःख के द्वारा भी वही जीवन मिलता है, सुख के द्वारा भी वही जीवन मिलता है।

देखिये, प्रत्येक जीवन दो पैरों से चलता है। एक पैर से तो कोई चलता नहीं। तो सुख-दुःख दो पैर हैं अमर जीवन तक पहुँचने के। कब? जब उनका सदुपयोग किया जाय और इसकी स्वाधीनता मनुष्य को प्राप्त है। ऐसा कोई नहीं कह सकता है कि दुःख के सदुपयोग की स्वाधीनता मनुष्य को प्राप्त नहीं है। अरे भाई! हानि हो गयी तो निर्लोभ बनो, व्यक्ति चला गया तो निर्मोही बनो। कामना पूरी नहीं हुई तो निष्काम बनो। तो उसका उपयोग तो है। दुःख का सदुपयोग है, सुख का भी सदुपयोग है। सुख है तो किसी के काम आओ। ज्ञान का भी सदुपयोग है कि कुछ मत चाहो। ज्ञान हमें प्रेरणा देता है कि कुछ मत चाहो। विश्वास का भी सदुपयोग है, प्रभु को अपना मानकर अपने में सोई हुई अखण्ड स्मृति जगाओ, प्रियता जगाओ। स्मृति, प्रियता, शान्ति, स्वाधीनता यह सब अविनाशी तत्त्व हैं। और उस जीवन में यही सब चीजें हैं-शान्ति, स्वाधीनता, स्मृति और प्रियता।

तो इस दृष्टि से देखा जाय कि यह जो साधना है, यही अमर है और साधना क्यों अमर है? क्योंकि साधना में जो सत्ता होती है वह साध्य की होती है। साधना में साध्य की सत्ता होती है। हमसे भूल क्या होती है कि हम अपनी भूल से असत्य की स्वीकार करके साधना के रहते हुए असाधन उत्पन्न कर लेते हैं। यह हमसे भूल होती है। जैसे सुख के रहते हुए भी शान्ति की माँग रहती है। यह नहीं कि दुःख में ही शान्ति की माँग रहती है। तो शान्ति की माँग भी रहती है, सुख का प्रलोभन भी रहता है। जब सुख का प्रलोभन रहता है तो हम सुख का सदुपयोग नहीं करते सेवा में, उसे खुद भोगने लगते हैं। सुख के भोग से दुःख का भय उत्पन्न हो जाता है। फिर दुःख के भय का भी सदुपयोग नहीं करते, त्याग को नहीं अपनाते तो फिर हम सदा के लिए

भोग-योनि में चले जाते हैं, दीर्घकाल के लिए, बहुत दिनों के लिए। फिर कभी प्रभु कृपा करें और मनुष्य योनि दें, तब हम सुख की दासता और दुःख के भय से मुक्त हों।

देखिये, यह जो आपका मानव-जीवन है, यह मानव-जीवन सुख-दुःख भोगने के लिए नहीं है। क्योंकि सुख-दुःख का भोग अगर जीवन का लक्ष्य होता तो पशु-पक्षी आदि योनियों में भी सुख भोगा जाता है! हम एक बार कश्मीर गये थे। सम्वत् 1990 की बात है जिनके यहाँ ठहरे थे, उनके कुत्ते को जितना सुख था, वैसा सुख हिन्दुस्तान में करोड़ों आदमियों को नहीं है। करोड़ों को!! आप ताज्जुब करेंगे। बढ़िया से बढ़िया साबुन से नहलाया जाता था उसे और कमरे में बड़े सुन्दर-सुन्दर मुलायम नमदे (गलीचे) बिछाये जाते थे, उसके रहने के लिए। बड़ी सुन्दर कुतिया रखी जाती थी उसके साथ। और महाराज, उस सस्ते के जमाने में वह कुत्ता आठ आने रोज की मलाई की बर्फ खाता था और वहाँ जो बगीचे में सैर करने की जगह है, वहाँ मोटर में बैठकर सैर करने जाता था। तो मोटर में बैठना, बंगले में रहना, बच्चों को पैदा करना, और रुचिपूर्वक भोजन करना, अगर इसी को हम जीवन मानते हैं तो इस जीवन के लिए मनुष्य योनि आवश्यक है क्या? क्या राय है? सुख भोग के जीवन के लिए मनुष्य योनि आवश्यक नहीं है।

अगर इस सत्य को हम मान लेते हैं तो हमें जो मानव-जीवन मिला है वह मानव-जीवन हमको यह प्रेरणा देता है कि भाई, परिस्थिति के अनुसार हमारे विकास के लिए सुख भी आयेगा, दुःख भी आयेगा। आयेंगी दोनों चीजें। और यह कोई हमारे ही जीवन में आती हों, ऐसी बात नहीं है। हमने तो नहीं देखा कि कोई आदमी कहे कि हमारे जीवन में केवल सुख आया है, दुःख नहीं आया है या केवल दुःख आया है, सुख नहीं आया है। सुख भी आयेगा, दुःख भी आयेगा। हम मानव हैं, हम साधक हैं, साधक होने के नाते हमें सजगतापूर्वक सुख-दुःख का उपयोग करना है। सुख-दुःख के सदुपयोग से ही सुख-दुःख से अतीत अविनाशी, स्वाधीन, रसरूप जीवन मिलता है। अगर यह बात आपको समझ में आती हो, ठीक बैठती हो, तो मान लें कि शरीर के रहते हुए ही भगवत्-प्रेम की प्राप्ति होती है, शरीर के रहते हुए ही जीवन-मुक्ति की प्राप्ति होती है। शरीर के रहते हुए ही चिरशान्ति की प्राप्ति होती है। चिरशान्ति भी अविनाशी तत्त्व है, जीवनमुक्ति भी अविनाशी तत्त्व है, भगवत्-प्रेम भी अविनाशी तत्त्व है। शान्ति का जो रस है, उससे जीवन-मुक्ति का रस बढ़िया है। मुक्ति का जो रस है, उससे भक्ति का रस बढ़िया है। क्यों? शान्ति के रस में दुःख का प्रवेश नहीं होता और मुक्ति का रस अखण्ड

रहता है। किन्तु भक्ति का रस अनन्त रहता है। इसलिए इन तीनों में एक ही तत्त्व है, एक ही सत्ता है, रस के भेद से शान्ति, मुक्ति और भक्ति-ये तीन शब्द बताये गये। अथवा यों समझो कि मुक्ति अपने लिए उपयोगी है, भक्ति प्रभु के लिए और शान्ति जगत के लिए। अब तुम कितने सुन्दर हुए!

मनुष्य होने के नाते तुम कितने सुन्दर हो, कि जगत के लिए भी उपयोगी और अपने लिए भी उपयोगी और प्रभु के लिए भी उपयोगी। इस दृष्टि से इस मानव-जीवन का बड़ा महत्त्व बताया गया है। लेकिन भाई बड़े दुःख के साथ यह कहना पड़ता है कि जब मानव सत् का संग नहीं करता तो वह पशुओं से भी नीचा हो जाता है। बिलकुल गिर जाता है। और अगर सुख-दुःख का सदुपयोग करता है तो चन्द्र से भी ऊँचा हो जाता है। यह आपके जीवन की महिमा है। यह शरीर रहे तो क्या और जाये तो क्या! उससे कोई खास अन्तर नहीं पड़ता। जब तक है तब तक है ही, उसका सदुपयोग करो। शरीर माने क्या? एक प्रकार की सामर्थ्य। और क्या है? बोलो! शरीर से कुछ कर सकते हो। क्यों भाई! और शरीर की परिभाषा है?

श्रोता-स्वामी जी इस बात को भूल जाते हैं।

देखो! देखो! भूल जाते हो तो उसके लिए प्रायश्चित् करो, दुःखी हो, सत्संग करो। भूल जाना तो कोई सिद्धान्त नहीं है। भूल जाना कोई अनिवार्य अंग नहीं है। यह तो आपकी अपनी भूल है।

मैं यह निवेदन कर रहा हूँ आपसे कि आप इस बात पर जरा गौर कीजिए कि शरीर माने एक प्रकार की सामर्थ्य। जैसे तुम्हारे पास शरीर है तो थोड़ी गायों की सेवा कर सकते हो। जी! शरीर न होता तो गऊ की सेवा कर सकते थे क्या? सूक्ष्म शरीर है तो सभी के प्रति सद्भाव रख सकते हो। कारण शरीर है तो निर्विकल्प स्थिति में पहुँच सकते हो। इस तरह से शरीरों के उपयोग से हम कुछ कर सकते हैं और करने का जो सम्बन्ध है वह लोक के साथ है। अतः लोक की सेवा करो भाई। तो शरीर है संसार-रूपी वाटिका की सेवा-सामग्री। शरीर अपने लिए नहीं है। हमसे सबसे बड़ी भूल यह होती है कि हम शरीर को अपने लिए मान लेते हैं। अपने लिए शरीर कभी काम नहीं आयेगा। देखो! जिसको साधन कहते हैं, जिसको भजन कहते हैं, वह शरीर-धर्म नहीं है। मनुष्य का स्वधर्म है—साधन-भजन। कैसे? साधन किसे कहते हैं भाई? मन, वाणी, कर्म से बुराई-रहित हो गये—साधन हो गया। साधन से आदमी भला होता है। भजन किसे कहते हैं? प्रीति जागृत हो गयी—भजन हो गया। प्रीति की जागृति भजन कहलाता है। सर्वांश में बुराई-रहित होना—यह साधन कहलाता है। साधन का स्वरूप है—निर्विकारता,

जीवन-मुक्ति। यह साधना है और प्रेम से रस-रूप जीवन की प्राप्ति होती है। प्रेम प्रभु के लिए रस-रूप है। प्रभु के काम आने के लिए प्रेम है। प्रेम से ही प्रभु को प्रसन्नता होगी। जीवन-मुक्ति से तुमको प्रसन्नता होगी और उदारता से जगत को प्रसन्नता होगी। यह शरीर धर्म नहीं है। उदारता भी शरीर धर्म नहीं है, जीवन मुक्ति भी शरीर धर्म नहीं है, प्रेम भी शरीर-धर्म नहीं है। यह तो मनुष्य का अपना स्वधर्म है। मनुष्य का स्व-स्वरूप भी यही है—उदारता, स्वाधीनता और प्रेम। इनकी प्राप्ति कैसे होती है भैया? विश्राम से, अचाह और आत्मीयता से। आत्मीयता से प्रेम प्राप्त होता है। अचाह से जीवन-मुक्ति प्राप्त होती है। विश्राम से चिर-शान्ति प्राप्त होती है। विश्राम कैसे प्राप्त होता है? सेवा से, त्याग से। और तो कोई विश्राम का उपाय है नहीं। सेवा करो अथवा त्याग करो। तो सेवा और त्याग से विश्राम मिलता है। विश्राम से ही योग मिलता है। योग में ही बोध होता है। बोध में ही प्रेम होता है। इस तरह से हम और आप साधना से अभिन्न होते हैं।

मनुष्य का एक नाम साधक है। साधक का सत्संग स्वधर्म है। सत्संग से ही मनुष्य को साधना प्राप्त होती है। चाहे वह शान्ति के रूप में प्राप्त हो, चाहे वह भक्ति के रूप में प्राप्त हो, चाहे वह मुक्ति के रूप में। अथवा सेवा के रूप में हो, चाहे त्याग के रूप में हो, चाहे प्रेम के रूप में हो। यह साधना ही मनुष्य को प्राप्त होती है। और सेवा-त्याग-प्रेम ही मनुष्य के विकास का मूल-मंत्र है। अगर यह मंत्र आपको जंच जाय तो सद्भाव सभी के प्रति रखो और यथाशक्ति शरीर से किसी-न-किसी को सहयोग देते रहो बिना किसी प्रयोजन के। यह नहीं कि "जब मेरी बात चलेगी तब मैं सेवा करूंगा। अगर प्रबन्धक मेरी बात नहीं मानते हैं तो मैं सेवा नहीं करूंगा।" सोचो भाई! तब तो सेवा नहीं कर पाओगे। तब तो तुम अपनी बात मनवाकर अहं की पूजा करोगे। हाँ, अपना विचार प्रकट कर सकते हो कि मेरी समझ से यह बात अगर आप महानुभावों को जंच जाय तो ऐसा सोचिये। अगर वह विचार सत्य है तो दूसरे को जरूर जंचेगा। आज नहीं जंचेगा, कल जंचेगा। कल नहीं जंचेगा, परसों जंचेगा। एक दिन जंचेगा जरूर।

इसलिए भाई सेवा करो, बिना प्रयोजन के। हाँ, एक प्रयोजन सेवा में सिद्ध हो जायगा कि तुममें करने का जो राग है उसकी निवृत्ति हो जायेगी। जैसे मुझमें बोलने का राग है तो सेवा-भाव से बोलने से बोलने का राग निवृत्त हो जायगा। तो विद्यमान राग की निवृत्ति के लिए सेवा करनी पड़ती है और नवीन राग पैदा न हो, इसके लिए अकिंचन और अचाह होना पड़ता है। और भगवद्-स्मृति और प्रियता जागृत हो इसके लिए भगवान के साथ

आत्मीय सम्बन्ध जोड़ना पड़ता है। अब जैसी आपके व्यक्तित्व की बनावट हो, उसके अनुसार जिस बात का आपको अधिकार प्राप्त है उसको पूरा करो। मनुष्य साधक है उसकी हर प्रवृत्ति साधना है। ऐसा नहीं है कि चुप रहना तो साधन है, बोलना साधन नहीं है, बोलना तो साधन है, चुप रहना साधन नहीं है। चुप रहना भी साधन है, बोलना भी साधन है, देखना भी साधन है, न देखना भी साधन है। सुनना भी साधन है, न सुनना भी साधन है। सोचना-समझना भी साधन है। न सोचना न समझना भी साधन है। ये साधन के ही सब रूप हैं। इसीलिए साधना में हमारी अभिरुचि होनी चाहिए। साधना की तीव्र माँग होनी चाहिए। साधना हमको प्यारी लगनी चाहिए। वह अवश्य आपको प्राप्त हो जायेगी और साधना ही तो आपको प्राप्त होती है और तो कुछ प्राप्त होता नहीं। साधना माने क्या? साध्य की अगाधप्रियता, साध्य से अभिन्नता, साध्य से अभेदता, साध्य की समीपता-यह सब साधना ही तो है। तो जैसी आपकी, जिस स्थिति की अपनी रुचि हो, सामर्थ्य हो, उसके अनुसार आप अपने जीवन में साधना की आवश्यकता अनुभव करें। सुख भोग की रुचि का नाश करें, दुःख के भय का नाश करें।

जब जीवन में व्यक्ति-विश्वास नहीं रहता, वस्तु-विश्वास नहीं रहता तो प्रभु-विश्वास सजीव होता है और फिर प्रभु की अहैतुकी कृपा-शक्ति आवश्यक कार्य पूरा करती जाती है। अनावश्यक कार्य का नाश करती जाती है। यह प्रभु का मंगलमय विधान है। इसलिए हमें अपने विकास के लिए वस्तु-विश्वास, व्यक्ति-विश्वास को छोड़ना चाहिए। अब, जैसे हमारे बहुत-से साधक हैं जो शरीर के बल पर शान्ति पकड़ना चाहते हैं। शरीर के बल पर शान्ति नहीं मिलेगी। सत्य को स्वीकार करने से शान्ति मिलेगी। कुछ लोग योग्यता के आधार पर शान्ति खरीदना चाहते हैं। तो योग्यता के सदुपयोग से शान्ति मिलेगी, योग्यता से शान्ति नहीं मिलेगी। कई लोग सम्पत्ति के आधार पर शान्ति सुरक्षित रखना चाहते हैं। तो सम्पत्ति से शान्ति नहीं मिलेगी, सम्पत्ति के सदुपयोग से शान्ति मिलेगी। जैसे सम्पत्ति के सदुपयोग से शान्ति मिलती है ऐसे ही विपत्ति के सदुपयोग से भी शान्ति मिलती है। प्रभु का बड़ा ही अनुपम विधान है, बड़ा ही मंगलकारी विधान है। विपत्ति आवे तो घबराना नहीं चाहिए कि अरे राम! विपत्ति आ गयी, अब हम साधन से वंचित हो गये। सो नहीं। विपत्ति के सदुपयोग से भी साधना मिलती है, साधना प्राप्त होती है। और सम्पत्ति के सदुपयोग से भी साधना प्राप्त होती है। हमें जो प्राप्त करना है उसका नाम है साधना। और साधना से क्या होता है? हम सब का जो साध्य है, अर्थात् जिसको पाकर कुछ पाना शेष नहीं रहता, उससे दूरी-भेद-भिन्नता

मिटती है। भैया, बड़े महत्त्व की बात है कि साधना साध्य से दूरी नहीं रहने देती, साधना साध्य से भेद नहीं रहने देती। भिन्नता नहीं रहने देती है। तो उस जीवन से, जो हम सबका वास्तविक जीवन है, हमारी एकता हो सकती है।

देखो, जीवन शब्द का अर्थ भी परमात्मा ही है। जीवन माने क्या? जिसका नाश न हो। जीवन माने क्या? जिसमें चेतना हो। जीवन माने क्या? जो रसरूप हो। परमात्मा किसे कहते हैं? जो सत् हो, चित् हो आनन्द हो। तो जो परमात्मा शब्द का अर्थ है वही जीवन शब्द का अर्थ है। ऐसी बात है। इसलिए हम सबको जीवन मिल सकता है।

एक बार मैं जे० कृष्णामूर्ति जी से बात कर रहा था। दिल्ली में ठहरे हुए थे वे। वे अंग्रेजी जानते थे, मैं हिन्दी जानता था और पण्डित रामेश्वर दयाल जो डिप्टी कमिश्नर थे, वे अनुवाद करते जाते थे। कृष्णामूर्ति जी निषेधात्मक चर्चा करते हैं। उनका सिद्धान्त है-यह नहीं, यह भी नहीं, यह भी नहीं। हटाते हैं, स्वीकृति को मिटाते हैं। तो मैंने उनसे कहा कि आप स्वीकृति को मिटाते चले जाते हैं तो मैं यह जानना चाहता हूँ कि क्या आप अभाव को पसन्द करते हैं? बोले-नहीं! नहीं!! नहीं!!! अभाव नहीं है 'लाइफ' है लाइफ। तो हमने कहा भैया! आपने जिसको 'लाइफ' कहकर स्वीकार किया अगर मैं उसको 'भगवान्' कहके स्वीकार करूँ, तो आपको क्यों आपत्ति होती है? तो भगवान् के खिलाफ जो आवाज उठती है न, वह तर्क से नहीं उठती है। वह आवाज उठती है भगवान् के मानने वालों के दुश्चरित्र से, और कोई बात नहीं है। भगवान् का मानने वाला अगर ठीक आदमी हो तो भगवान् के खिलाफ कोई बोल ही नहीं सकता। ऐसे ही सत्य को मानने वाला ठीक आदमी हो तो सत्य के खिलाफ कोई बोल ही नहीं सकता। ऐसे ही जीवन को मानने वाला ठीक आदमी हो तो जीवन के खिलाफ कोई बोल ही नहीं सकता है, बोल ही नहीं सकता। यह बात समझ में आती है? सोचो!

इसलिए मैं आपसे निवेदन करता हूँ, मानव सेवा संघ ने बड़ी सुन्दर बात कही-दर्शन अनेक यानी दृष्टिकोण अनेक, पर जीवन एक। जीवन अनेक नहीं हैं, जीवन एक है। और वही एक जीवन हम सबको मिल सकता है और उसी के लिए यह मानव-जीवन मिला है। अगर यह बात आपको जंचती हो तो भाई डट जाओ। और देखो! डट जाने का मतलब क्या है? यह तय करो, निर्णय करो कि यह हो ही नहीं सकता कि प्राणों के रहते-रहते मुझे जीवन न मिले। प्राणों के रहते-रहते मुझको जीवन मिलेगा। शरीर पीछे छूटेगा, अमरपद पहले मिलेगा। शरीर पीछे छूटेगा, चिरशान्ति पहले मिलेगी। शरीर पीछे छूटेगा, प्रेमतत्त्व पहले मिलेगा। जीवन शरीर के रहते हुए मिल सकता है, इस बात में

दृढ़ आस्था करो। सारी दुनिया कहे तो मत मानो। क्यों? जिसमें तुम आस्था ही नहीं करोगे, उसमें तुम्हारी श्रद्धा कैसे होगी भाई? क्या राय है? बिना आस्था के श्रद्धा होती है क्या? बिना श्रद्धा के विश्वास होता है क्या? और बिना विश्वास के सम्बन्ध होता है क्या? और बिना सम्बन्ध के स्मृति और प्रियता जगती है क्या? और बिना स्मृति-प्रियता के प्राप्ति होती है क्या? क्या राय है?

इसलिए भाई! इस बात में दृढ़ आस्था करो कि यदि एक पल का भी समय रह गया है तो क्या? महाराज! आजकल तो उस तरह का सत्संग ही नहीं होता। हमने बिना पढ़े-लिखे लोगों के मुँह से सत्संग की चर्चा सुनी है। वह पढ़े-लिखों के मुँह से निकलती ही नहीं। उन्हें मालूम ही नहीं है। बे-पढ़े लोग कहा करते थें देहातों में, गाँवों में-"अरे भाई! फूल को तोड़ने में देर लगती है, बोध की प्राप्ति में देर नहीं लगती। घोड़े की रकेब में पांव रखने में देर लगती है, भगवान् के मिलने में देर नहीं लगती।" यह हमने बे पढ़े-लिखों के द्वारा सुना। एक बार एक पढ़े-लिखे के द्वारा सुना कि भाई देखो! भगवान् की प्राप्ति में काल अपेक्षित नहीं है। यह पण्डितों की भाषा है। क्यों नहीं है? क्योंकि श्रम साध्य नहीं है। श्रम-साध्य वस्तु के लिए काल अपेक्षित होता है। वस्तु के उत्पादन के लिए काल अपेक्षित है न कि भगवत्-प्राप्ति के लिए।

तो जो इतना हम सबका अपना है कि जिसकी प्राप्ति के लिए काल की अपेक्षा ही नहीं है, उसमें हमें निराश नहीं होना चाहिए। उसके लिए नित-नई उत्कंठा बढ़नी चाहिए। उत्कंठा नित नई कि जीवन मुझे जरूर मिलेगा, जरूर मिलेगा। महाराज! यह उत्कंठा जो है, इसमें बड़ी शक्ति है, इसमें बड़ी ताकत है। इसलिए भाई, निराश नहीं होना चाहिए। और अनेक बातों को जीवन में नहीं रखना चाहिए। अनेक बातों को सुनना चाहिए और उसमें जो बात अपने को अच्छी लगे उसको मानना चाहिए। क्यों? आज कोई पढ़ा-लिखा आदमी हमको धमका देगा, डाँट देगा और कह देगा कि "अनेक जन्म संसिद्धस्ततो याति परां गतिम्"। अनेक जन्मों में सिद्धि प्राप्त होती है। अरे भाई! तुम्हारे पास चिट्ठी लिखकर आयी है कि यह पहला जन्म है या अन्तिम जन्म है?

श्रोता-जी! लिखकर तो आया नहीं है।

इसलिए मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि जो भोली-भाली तबियत के आदमी हैं, जो सरल विश्वासी हैं, सहज विवेकी हैं, उनको जल्दी सफलता मिलती है। ज्यादा पढ़े-लिखों को देर लगती है। आप विचार करके देखो! हम लोग सोचते हैं कि आज पूर्णमासी का दिन है, चलो गंगा स्नान कर आयें। तो हम भिखारी लोग जब गंगा नहाने जाते हैं तो गंगा भी नहाते हैं और

पूड़ी-मिठाई भी खाते हैं। लेकिन सेठ-साहूकार को कुछ मिलता है या देना पड़ता है?

श्रोता-देना पड़ता है।

इसलिए जो ज्यादा योग्य होता है वह भगवान से देर में मिलता है और जो अल्प-योग्यता वाला है, अल्प-सामर्थ्य वाला है वह भगवान से जल्दी मिलता है। क्योंकि भगवान तो सभी का है। अगर अल्प-सामर्थ्य वालों का न होता और विशेष-सामर्थ्य वालों का होता तो हमें सामर्थ्य के लिए चिन्ता करनी चाहिए थी। सुन रहे हैं ध्यान से आप लोग? अगर भगवान अल्प-सामर्थ्य वालों के लिए न होता तो हमें सामर्थ्य की चिन्ता करनी चाहिए। लेकिन वह तो सभी का है।

तो सत्य सभी का होने से अल्प-सामर्थ्य वालों को अल्प-साधना से मिलता है, विशेष-सामर्थ्य वालों को विशेष साधना से मिलता है। देखो! एक सेठ को जो मोटर मिलती है वह हजारों रुपये खर्च करने पर मिलती है और ड्राइवर को? उल्टा रुपया मिलता है। मोटर भी बैठने को मिलती है और रुपया भी मिलता है। अब पता लगाओ, किसी से पूछना जाकर कि मोटर में बैठने में बड़ा मजा आता है तो ड्राइवर ज्यादा देर बैठता है कि सेठ ज्यादा देर बैठता है बोलो? मोटर ड्राइवर के हाथ में रहती है या सेठ के हाथ में रहती है?

श्रोता-ड्राइवर के हाथ में रहती है।

इसलिए भैया, वह परमात्मा-रूपी जो अनन्त तत्त्व है वह हर भाई को, हर बहिन को मिल सकता है। उससे निराश नहीं होना चाहिए। और सुख-दुःख जो है यह साधन-सामग्री है, इसको जीवन नहीं मानना चाहिए।

11

(अ)

मनुष्य के व्यक्तित्व में एक ओर अप्राप्त की कामनाएँ होती हैं तो दूसरी ओर सत्य की जिज्ञासा एवं परम प्रेम की माँग भी रहती है।

(1) कामनाओं की उत्पत्ति भूल जनित है, इसलिए उनकी निवृत्ति होती है।

(2) माँग स्वभाव जनित है, इसलिए इसकी पूर्ति -अवश्यम्भावी है।

उपाय बताया गया है-विश्राम, हरि आश्रय और स्वाश्रय। जीवन के प्रति जागरूक भाई-बहिन चाहें तो कामना निवृत्ति कर सकते हैं, तथा चिर-विश्राम पा सकते हैं। इस विषय पर विशद विवेचन प्रस्तुत प्रवचन में मिलेगा।

प्रवचन :

जीवन का सत्य क्या है? यह बात सभी को मान्य होगी कि सभी कामनायें आज तक कभी किसी की पूरी नहीं हुईं और कुछ कामनायें सभी की पूरी हुईं। इससे सिद्ध होता है कि कामना से कामना पूरी नहीं होती, किसी विधान से कामना पूरी होती है। कामना-पूर्ति का अर्थ क्या है?-सुख का भोग। अपूर्ति का अर्थ क्या है?-दुःख का भोग। यह जो सुख-दुःख जीवन में दिखाई देता है, कामना पूर्ति-अपूर्ति के द्वारा है, तो यह सुख-दुःख साधन-सामग्री है। साधन-सामग्री को भोग-सामग्री बना लेना यह हमारी अपनी भूल है।

अब जैसे, मान लीजिए कोई आदमी, आप जिस अर्थ में लेते हो उसी अर्थ में लें, बहुत बड़ा कामी है। यदि उसके हृदय में सही अर्थ में किसी से प्यार उत्पन्न हो जाय, तो काम नाश हो जायगा। क्योंकि प्यार में रस है। और जब जीवन में रस आ जाता है तो काम नाश हो जाता है। ऐसा नियम है। इसलिए उसको (काम को) प्यार में बदलो। अब प्यार में कैसे बदला जाय? अगर बोलो, तो प्यारभरी वाणी से बोलो। सुनो तो प्यारभरे कानों से सुनो। देखो तो प्यारभरी आँखों से देखो। यानी आपकी हर प्रवृत्ति में प्यार का पुट आ जाय। एक तो यह तरीका है और दूसरा तरीका है कि वास्तव में प्रेम का दान मानव कर सकता है और प्रेम का पान भगवान कर सकता है। परमात्मा को छोड़कर और कोई प्रेम का पान कर नहीं सकता। और मानव को छोड़कर अन्य कोई प्राणी प्रेम का दान दे नहीं सकता। क्योंकि अन्य सब योनियाँ भोग-योनियाँ हैं। जैसे पशु-पक्षी भोग-योनि हैं, वैसे ही देव-योनि भी भोग-योनि है। तो भोग-योनि जिसको मिली हुई है वह प्रेम का दान नहीं कर सकता। मानव क्यों कर सकता है? मानव में विवेक का प्रकाश है। वह इस बात को अच्छी तरह जानता है कि सुख के भोगी को कालान्तर में भयंकर दुःख भोगना पड़ता है। यह जो उसका ज्ञान है, इस ज्ञान के प्रभाव से अगर वह चाहे तो सुख-भोग की रुचि को मिटा सकता है। इसी के साथ-साथ एक दूसरी बात बड़ी जबर्दस्त है। जिस प्रकार से सुख के भोगी को दुःख भोगना पड़ता है, उसी प्रकार अगर कोई योगी है तो सुख-भोग की रुचि से मुक्त हो जाता है।

अब योगी कौन है? इस पर अगर विचार किया जाय तो यह मालूम होता है कि जिसे पराश्रय-परिश्रम से रहित हरि आश्रय और विश्राम के द्वारा जो जीवन है, वह जीवन जिसे पसन्द है, वह योगी है। योग का उपाय क्या है? हरि आश्रय और विश्राम। बताओ हरि आश्रय लेने में हम और आप पराधीन हैं क्या? विश्राम में कोई पराधीन है क्या? लेकिन जब तक हम

हरि-आश्रय नहीं लेते, विश्राम प्राप्त नहीं करते तब तक योग की प्राप्ति नहीं होती। इसलिए पराश्रय और परिश्रम के द्वारा तो सेवा करें। पराश्रय जब अपने पास हो, जैसे वस्तु का आश्रय, योग्यता का आश्रय, सामर्थ्य का आश्रय, तो इसके द्वारा तो पर-सेवा करें। और, अपने लिए हरि-आश्रय स्वीकार करें कि हमें तो प्रभु के ही आश्रित रहना है। और किसी के आश्रित नहीं रहना है। क्योंकि और कोई ऐसा है नहीं जो सदा-सदा के लिए हमें अपना सके और हम जिसके साथ रह सकें। परमात्मा के मानने की जरूरत क्यों पड़ती है? केवल इसलिए पड़ती है कि सदा-सदा के लिए रहने वाला कोई साथी मिलता नहीं संसार में। है कोई साथी?

श्रोता-नहीं।

यह तो हुई एक बात। दूसरी बात है कि विश्राम की आवश्यकता इसलिए पड़ती है कि श्रम के द्वारा शक्ति का ह्रास होता है, शक्ति का संचय नहीं होता। और शक्तिहीनता किसी को पसन्द नहीं। इसलिए विश्राम की जरूरत है।

तो जीवन में बड़े ही मूल्यवान तत्त्व क्या हैं?-हरि आश्रय और विश्राम। अब अगर आपको परमात्मा में आस्था न हो, जीवन के विज्ञान में आस्था न हो; क्योंकि विश्राम सिद्ध होता है विज्ञान से। क्यों? क्योंकि श्रम से शक्तिहीनता आती है, शक्ति प्राप्त तो होती नहीं, और विश्राम से शक्ति संचित होती है। यह विज्ञान है जीवन का। तो विज्ञान से यह बात सिद्ध है कि विश्राम बहुत आवश्यक है। और आस्था से यह बात सिद्ध है कि हरि-आश्रय बहुत आवश्यक है। अगर आज का साधक हरि-आश्रय और विश्राम अपना ले तो बड़ी सुगमतापूर्वक जीवन की समस्याओं को हल कर सकता है हरि-आश्रय और विश्राम से। अब कोई कहे साहब, हमको तो ईश्वर में विश्वास ही नहीं होता। मान लो कोई ऐसा निकल आये, ऐसे भी लोग हो सकते हैं न! तो जो यह कहे कि मुझे ईश्वर में विश्वास नहीं होता तो उससे यह पूछना चाहिए कि भाई! तुमको अपने में विश्वास होता है कि नहीं? अगर वह कहे कि अपने में होता है, तो भैया! "स्वआश्रय" और विश्राम ले लो। और अगर कोई कहे कि हमको तो अपने का पता ही नहीं, हमको तो अपने में भी विश्वास नहीं होता और हरि में भी नहीं होता। तो भैया! तुमको कर्तव्य में विश्वास होता है कि नहीं? क्या तुम यह नहीं चाहते हो कि दूसरों के द्वारा तुम्हारे अधिकार सुरक्षित हों। क्या राय है? अगर कर्तव्य में विश्वास होता है तो भाई, तुम धर्म का आश्रय ले लो। कर्तव्य माने धर्म, धर्म माने कर्तव्य। तो धर्म के आश्रय से भी हमें योग की प्राप्ति होती है। "स्व" के आश्रय से भी हमें योग की प्राप्ति होती

है और हरि के आश्रय से भी हमें योग की प्राप्ति होती है। आप कहेंगे कैसे? दूसरों के अधिकार की रक्षा करने से विद्यमान राग की निवृत्ति होती है और अपने अधिकार के त्याग से नवीन राग पैदा नहीं होता। राग-रहित होने से ही योग की प्राप्ति होती है। तो धर्मात्मा होने पर भी हम योगवित् हो सकते हैं। और स्व-आश्रय! स्व-आश्रय का अर्थ होता है-मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए। पराश्रय में तो मेरा है, कुछ चाहिए न! स्व-आश्रय में मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए। तो इससे भी मनुष्य रागरहित होता है; योग की प्राप्ति होती है। और हरि आश्रय से भी मनुष्य राग-रहित होता है और योग की प्राप्ति होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि योग की प्राप्ति हर भाई को, हर बहिन को हो सकती है। इससे निराश होने की बिलकुल आवश्यकता नहीं है।

अगर आप इस बात को मान लें कि मुझे योग की प्राप्ति हो सकती है तो योग की माँग सबल हो जायेगी कि नहीं? जिसकी प्राप्ति में सन्देह नहीं होता उसकी माँग सबल होती है। और जब भोग की माँग सबल हो जायेगी तो योग की रुचि नाश नहीं हो जायेगी क्या? देखो, योग की माँग है अग्नि और भोग की रुचि है काष्ठ। तो अब अग्नि प्रज्वलित होती है तो काष्ठ भस्मीभूत हो जाता है कि नहीं? और जब काष्ठ भस्मीभूत हो जाता है तो अग्नि अपने आप बुझ जाती है कि नहीं? तो योग की माँग भोग की रुचिरूपी काष्ठ को भस्म करके स्वत: पूरी हो जाती है; अर्थात् मिट जाती है। जहाँ माँग पूरी हो गयी और राग निवृत्त हो गया उस जीवन में चिर-शान्ति है, जीवन-मुक्ति है, भगवद्-भक्ति है। ऐसा है। इसलिए, हमें इस समस्या को अपने सामने रखकर सोचना चाहिए कि हमारे जीवन की सबसे बड़ी समस्या क्या है? तो सबसे बड़ी समस्या यही है कि हम भोग की रुचि को लेकर अभाव में, अशान्ति में, नीरसता में, पराधीनता में जो आबद्ध होते हैं सो न हों। हमारे जीवन से अभाव, पराधीनता, अशान्ति और नीरसता का नाश हो जाय। तो कैसे नाश होगी? योग की माँग से। और योग की माँग पूरी होती है योग की प्राप्ति में। कोई भी मानव पराधीन और असमर्थ नहीं है। क्यों नहीं है? इसलिए कि योग अपने से होता है और बिना श्रम के होता है, बिना प्रयत्न के होता है, बिना कोशिश के होता है। अब आप विचार करके देखो, बिना प्रयत्न, बिना कोशिश जो चीज मिलती है उससे भी निराश होना चाहिए क्या?

श्रोता-निराश तो नहीं होना चाहिए।

नहीं होना चाहिए न! तो जिससे निराश नहीं होंगे तो उसकी माँग जगेगी।

अब यहाँ कठिनाई क्या पड़ती है आकर कि हम लोगों को इस बात में विश्वास नहीं होता कि बिना श्रम के, बिना प्रयत्न के योग हो सकता है। योग के लिए लोग कहते हैं यह करो, वह करो। तो करना योग के लिए नहीं है। करना जो होता है वह विद्यमान राग की निवृत्ति के लिए होता है। और राग-निवृत्ति से योग प्राप्त होता है। जैसे विद्यमान राग जो अपने में दिखाई देता है किसी प्रकार का, अपना-अपना अलग-अलग होगा न सबका! तो जिस राग को तुम विचार से नहीं मिटा सकते उस राग को मर्यादा से पूरा करो। इसीलिए ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थ आश्रम का नम्बर आता है। भाई, तुम योग्यता सम्पादन करके, शारीरिक-बौद्धिक विकास करके जब कुछ करने लायक हुए और तुमने देखा कि हमारे मन में भोग की रुचि है, जिसको कि हम विचार से नहीं मिटा सके या नहीं मिटा सकते तो एक मर्यादा बना दी कि भाई, अमुक-अमुक मर्यादा से इस भोग की रुचि को पूरा करो। और पहले विधान बना दिया कि देखो! तुम अगर स्त्री की आवश्यकता अनुभव करते हो तो फिर यह सोचो कि स्त्री तुमसे जितना प्यार करे उससे दुगना तुम उसको दो। यह विधान बना दिया। अच्छा, बच्चा पैदा करते हो तो अपने से योग्य बनाने का प्रयास करो। यह कानून है। और कहा कि भाई देखो! समाज की रोटी खाते हो तो समाज का वह भाग (अंग) जोकि कमा नहीं सकता, जैसे बालक और रोगी-उसको खिलाकर खाओ। अब यह कानून लगा दिया न! खाओ, पियो, मौज करो-यह तो नहीं कहा। धन कमाते हो तो समाज के वे लोग जो कमा नहीं सकते, जैसे बालक है, रोगी है अथवा कोई सेवा में रत है। जैसे गाँधी जी सेवा में रत हुए तो वे कमाकर थोड़े ही खा सके। अच्छा कोई सत्य की खोज में डूबा हुआ है, वह भी उपार्जन नहीं कर सकता। तो, महान विरक्त हो, सेवा परायण हो, रोगी हो और बालक हो। तो भाई देखो! तुम कमाने-खाने वाले जो लोग हो, पहले इनको खिलाकर तब खाओ। तो इसमें संयम आयेगा कि नहीं? अच्छा, इसमें भी एक समय-विभाग बना दिया। यह नहीं कि सारी जिन्दगी ऐसा करो। जैसे जीवन का 1/4 भाग गुणों के सम्पादन के लिए रखा गया था, ऐसे ही 1/4 भाग केवल मर्यादित भोग के लिए और 1/4 भाग है केवल सेवा के लिए और शेष 1/4 है त्याग के लिए। तो जीवन को चार भागों में बाँटो-गुणों का विकास, मर्यादित भोग, सेवा और त्याग। इन्हीं बातों को बताने के लिए चार आश्रम बना दिये गये। और अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार सेवा करो, इस आधार पर वर्ण बना दिये गये।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि वर्ण और आश्रम जो बनाये गये थे, वह मर्यादा के अनुरूप अपने राग की निवृत्ति के लिए एक प्रणाली बनायी थी। आज हमसे क्या भूल होती है कि जब भोगने की शक्ति नहीं रहती, तब भी

भोग की रुचि रहती है। यह हमारी सबसे सोचनीय दशा है, भोगने की शक्ति तो है नहीं और भोग की रुचि है। तो ऐसी दशा में हमें बहुत ही गम्भीरता से, धीरज से यह देखना चाहिए कि क्या भोग जीवन का लक्ष्य है। तो पता चलेगा कि लक्ष्य तो नहीं है। भोग जीवन का लक्ष्य नहीं है; जीवन का लक्ष्य है योग। तो हम अगर अपने लक्ष्य को न भूलें और अपने कर्तव्य को न भूलें तो अवश्य सफलता मिलेगी। हमसे गलती यह होती है कि हम अपने लक्ष्य को भी भूल जाते हैं और अपने कर्तव्य को भी भूल जाते हैं। कर्तव्य उसे नहीं कहते जिसे हम कर नहीं सकते। लक्ष्य उसे नहीं कहते जिसकी उपलब्धि हो नहीं सकती! लक्ष्य उसी को कहते हैं जिसकी उपलब्धि होती है। कर्तव्य उसी को कहते हैं जिसे हम कर सकते हैं। हम क्या कर सकते हैं? हम सेवा कर सकते हैं, हम त्याग कर सकते हैं हम प्रेमी हो सकते हैं। आप कहेंगे कि साहब, हो तो सकते हैं, पर होते नहीं। नहीं होते तो यह आपकी अपनी मर्जी हुई न! जो बात आप कर सकते हैं और न करें, उसमें दूसरा आपकी क्या मदद करेगा?

सेवा का अर्थ हमारे यहाँ क्या बताया गया है? सेवा का अर्थ बताया है, मन-वाणी-कर्म से बुराई-रहित हो जाओ। यह विश्व की सेवा हो गयी और यथाशक्ति भलाई कर दो यह समाज की सेवा हो गयी। भलाई का फल छोड़ दो, यह अपनी सेवा हो गयी। और प्रभु को अपना मानकर स्मृति और प्रियता जगा लो, यह प्रभु की सेवा हो गई। तो मनुष्य विश्व की भी सेवा कर सकता है, अपनी भी कर सकता है, समाज की भी कर सकता है और परमात्मा की भी कर सकता है। सेवा करने की स्वाधीनता मनुष्य-मात्र को प्राप्त है। अब अगर वह करना ही न चाहे तो अलग बात है। सेवा में बाधा क्या है? कहना होगा रुचि-पूर्ति। आवश्यकता पूर्ति तो होती ही है, रुचि-पूर्ति की बाधा है। अब सोचो, आपको रुचि-पूर्ति करना है क्या! अगर आपको रुचि-पूर्ति करनी है तो अन्त में रुचि ही शेष रहेगी, पूरी नहीं होगी। तब क्या करोगे? यानी जो होगा ही नहीं उसको करने की सोचते रहोगे। यहीं हम भूल कर जाते हैं। हम यह सोचते हैं कि एक बार रुचि की पूर्ति हो गई तो फिर हो जाय, दुबारा हो जाय, तिबारा हो जाय। अनेक बार रुचि-पूर्ति हुई, तब भी हम रुचि का पीछा नहीं छोड़ते। अन्त में रुचि ही शेष रह जाती है और पूरी करने की शक्ति रहती नहीं। कितना दुःख होगा उस समय! तो क्या जीवन का यह चित्र आपको पसन्द है कि रुचि बनी रहे और पूर्ति की सामर्थ्य न रहे। बोलने की रुचि बनी रहे, बोलने की सामर्थ्य न रहे। सुनने की रुचि बनी रहे, सुनने की सामर्थ्य न रहे। देखने की रुचि बनी रहे देखने की सामर्थ्य न रहे। स्पर्श करने की रुचि बनी रहे, स्पर्श करने की सामर्थ्य न रहे। सामर्थ्य नहीं है और रुचि

है, इससे बढ़कर और कोई जीवन का बुरा समय हो सकता है क्या? क्या राय है?

श्रोता–नहीं हो सकता।

अत: रुचि-पूर्ति का जीवन में कोई स्थान नहीं है। हाँ, आवश्यकता पूर्ति का स्थान है। अगर आपको भूख लगी है तो शारीरिक हित की दृष्टि से भोजन कीजिए। भोजन विज्ञान के अनुसार भोजन कीजिए। लेकिन आप भोजन के विज्ञान को भूल जायँ, शारीरिक हित को भूल जायँ, और भोजन का स्वाद लेने के लिए भोजन करें तो क्या होगा! आगे क्या दशा हो जायेगी? आगे यह दशा हो जायेगी कि भोजन रखा है तो भूख नहीं है और भूख है तो भोजन नहीं है। यह स्थिति आयेगी ही, बचेगी नहीं, किसी के रोकने से रुकी नहीं आज तक।

इसीलिए भाई, रुचि-पूर्ति के प्रलोभन को छोड़ना ही होगा। और माँग-पूर्ति में अविचल आस्था करनी ही होगी। मांग योग की है, रुचि है भोग की। भोग की रुचि को या तो विचार से मिटाना होगा, अथवा मर्यादित भोग से उससे ऊपर उठना ही होगा। तीसरी बात तो हो नहीं सकती। या तो मर्यादित भोग करते हुए भोग से ऊपर उठ जाओ, या विचार से रुचि को मिटाओ और अगर आप रुचि-पूर्ति के परिणाम के दु:ख से दु:खी हैं तब भी रुचि नाश हो जायेगी। क्योंकि रुचि-पूर्ति का परिणाम दु:खद जरूर होता है। ऐसी कोई रुचि-पूर्ति नहीं है कि जिसका परिणाम दु:खद न हो। हमको हमारे मित्र एक घटना सुना रहे थे। छोटे बच्चे थे तब वे। उनके पिता थे तहसीलदार। अब उनका भी शरीर नहीं रहा विचारों का, उनके बाप का भी नहीं रहा। उनको रबड़ी बहुत अच्छी लगती थी। तो घर से रुपये ले गये। छोटी अवस्था थी। दुकानदार से कहा कि रबड़ी दे दो। उस जमाने में एक रुपये की चार-पाँच सेर रबड़ी आती थी-चार सेर तो आती ही थी किसी जमाने में। दो सेर तो बहुत जमाने तक रही है। तो थाल भरकर रख दिया आंगन में और बैठकर खाने लगे। खाते-खाते, खाते-खाते उनको उल्टी आ गयी। वे कहते थे कि उस दिन से स्वामी जी, आज तक हमको रबड़ी खाने का जी नहीं हुआ। ऐसा है। तो भोग से अरुचि तो होती ही है। एक यह प्राकृतिक नियम भी है। भोग से अरुचि न हो ऐसा कभी होता नहीं। लेकिन उस अरुचि के प्रभाव को हम नहीं अपनाते। और भोग का आरम्भ काल जो सुखद होता है, उस सुखद प्रतीति को पकड़ लेते हैं कि, रबड़ी खायी बड़ा मजा आया। तो मैं यह आपसे निवेदन करना चाहता हूँ कि रुचि-पूर्ति जीवन का लक्ष्य नहीं है, माँग-पूर्ति जीवन का लक्ष्य है।

रुचि का ही नाम काम है और काम का ही नाम रुचि है। यानी किसी वस्तु का आकर्षण है तो भी काम है, किसी व्यक्ति का आकर्षण है तो भी

काम है, किसी परिस्थिति का आकर्षण है तब भी काम है, किसी अवस्था का आकर्षण है तो भी काम है। काम का व्यापक अर्थ लेना चाहिए। हमसे गलती यह होती है कि हम काम का सीमित एक देशीय अर्थ लेते हैं, सो मत लो। जहाँ तक संसार की सत्यता और सुन्दरता का भास है, वहाँ तक काम ही काम है। इसलिए हमें शरीर की, संसार की सत्यता पर विचार करना चाहिए कि यह सत्य है अथवा नहीं। सुन्दरता पर विचार करना चाहिए कि सुन्दर है अथवा नहीं। तो न शरीर में सत्यता है, न संसार में सत्यता है, न शरीर में सुन्दरता है, न संसार में सुन्दरता है। यह तो हमारे प्रमाद से हमें संसार और शरीर सुन्दर मालूम होता है, सत्य मालूम होता है। परन्तु सत्य है क्या? क्या राय है? शरीर और संसार सत्य मालूम होता है पर सत्य है क्या?

श्रोता-सत्य नहीं है।

तो जो सत्य नहीं है उसको सत्य मत मानो, अपितु सत्य की खोज करो। लेकिन शरीर और संसार से ऊपर उठे बिना सत्य की प्राप्ति होती है क्या? अच्छा, शरीर और संसार से ऊपर उठने के लिए कौन-सी चीज अपेक्षित है? इस पर विचार करो। शरीर और संसार की वास्तविकता का ज्ञान। शरीर का वास्तविक ज्ञान हो जाय, संसार का वास्तविक ज्ञान हो जाय, तो ज्ञान का एक बड़ा भारी प्रभाव होता है कि अगर वह वस्तु असत्य है तो उसकी निवृत्ति हो जायेगी और सत्य है तो प्राप्ति हो जायेगी। एक ज्ञान के दो परिणाम होते हैं। तो अगर आपको अपने ज्ञान के प्रकाश में यह दिखाई दे कि शरीर और संसार सत्य है तो उसकी प्राप्ति हो जानी चाहिए तुमको। और अगर यह अनुभव हो कि असत्य है तो निवृत्ति हो जानी चाहिए। तो ज्ञान से ही काम की निवृत्ति होती है और किसी अन्य प्रकार से निवृत्ति नहीं होती। और जिस ज्ञान से काम की निवृत्ति होती है वह ज्ञान का प्रकाश आपको स्वतः प्राप्त है। देख लीजिए चाहे जब।

एक कहानी होगी, घटना होगी अथवा कल्पना होगी, भगवान जाने। कोई व्यक्ति किसी युवती को बड़े गौर से देख रहे थे। बड़े गौर से! युवती बड़ी समझदार थी। उसने कहा-"जो गैरों की सूरत पर होते हैं शैदा, वो दुनिया में रंजो-अलम देखते हैं।" और वह देखने वाले भी बड़े समझदार थे। उन्होंने जवाब दिया "न तुझसे है मतलब न सूरत से तेरी, मुसव्वर की हम तो कलम देखते हैं।" अब शरीर और संसार की सुन्दरता को देखकर यदि उसके कारीगर पर दृष्टि चली जाय तो उसका भोग बनेगा क्या? नहीं बनेगा। तो यहाँ से शुरू करो। और अगर तुम्हें शरीर से असत्यता और असुन्दरता का भास हो जाय ..... । देखिये लोग गलत कहते हैं कि साहब, अमुक स्त्री को देखकर काम पैदा हो गया अथवा कोई स्त्री कहे कि अमुक पुरुष को देखकर काम

पैदा हो गया। ऐसा नहीं होता। काम की उत्पत्ति का कारण है अपने शरीर की सत्यता और सुन्दरता का भान। जिसको अपने शरीर में सत्यता और सुन्दरता दिखाई देती है, उसी में काम पैदा होता है। तब कहता है अच्छा, अब इसको ऐसे कपड़े पहनाओ, ऐसे आभूषण पहनाओ। तो जब शरीर सत्य है तो कपड़े भी सत्य मालूम होंगे, आभूषण भी सत्य मालूम होंगे और फिर कोई साथी चाहिए तो वह भी सत्य मालूम होगा। फिर परिस्थिति चाहिए तो वह भी सत्य मालूम होगी। इस प्रकार शरीर की सत्यता-सुन्दरता के द्वारा ही सारे संसार की सत्यता और सुन्दरता में हम आबद्ध हो जाते हैं। और शरीर कैसा है, यह तो आप जान सकते हैं न! जी! देख रहे हैं कि नहीं! जैसा ऊपर दिखता है वैसा भीतर है क्या?

श्रोता-बिल्कुल नहीं है।

तो अगर आप भीतर की चीज को देखते रहें, और ऊपर की चीज के प्रभाव को मिटा दें, तब सत्यता रहेगी, सुन्दरता रहेगी? क्या राय है? न सत्यता रहेगी न सुन्दरता रहेगी। अगर काम का सर्वांश में नाश करना है तो अपने शरीर की सत्यता और सुन्दरता पर विचार करो। अगर शरीर सत्य और सुन्दर न सिद्ध हो तो काम का नाश हो जायगा। एक तो यह मार्ग है, यह तो विचार का मार्ग है। और एक दूसरा मार्ग यह है कि अगर आपको बिना देखे प्रभु में अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वास हो जाय और उसका प्यार पैदा हो जाय, तो प्यार से भी काम नाश होता है। और विचार से भी काम नाश होता है। बाकी और किस-किस प्रकार से काम नाश होता है वे तो अनेक उपाय हैं, पर मूल यही दो उपाय हैं।

तो प्यार करना भी आपको आता है और विचार करना भी आपको आता है। जब प्यार करना और विचार करना दोनों आता है तो शरीर और संसार की सत्यता और सुन्दरता का नाश हो सकता है, नीरसता मिट सकती है। और जो वास्तव में सत्य है, जो वास्तव में शिव है, जो वास्तव में सुन्दर है—सत्यम् शिवम् सुन्दरम् —यानी जिसका कभी नाश नहीं होता, जो कल्याण-स्वरूप है, जिसमें अनन्त सौन्दर्य है, उसकी माँग से भी काम नाश हो जाता है। और संसार की वास्तविकता का अनुभव करने से भी काम का नाश हो जाता है। और काम नाश होने से राम मिल जाता है। इसमें कोई सन्देह की बात नहीं है।

11

(ब)

मनुष्य के जीवन में दो प्रकार की समस्याएँ उठती हैं-एक तो यह कि संसार में कुशलतापूर्वक शरीर का निर्वाह कैसे हो और दूसरी यह कि संसार के बन्धन से मुक्त होकर अपने को अविनाशी रसरूप जीवन कैसे मिले।

प्रस्तुत संतवाणी में यह बताया गया है कि प्रत्येक मनुष्य को स्वधर्म और शरीर-धर्म का पालन करना चाहिये।

किसी को किसी प्रकार से क्षति न पहुँचाना, यथासम्भव सर्वहितकारी कार्य में शारीरिक-शक्ति लगाना और सबके प्रति सद्भाव रखना, यह शरीर-धर्म है। इससे राग-निवृत्ति होती है। शरीर और संसार को अपना न मानना, इनसे अपने लिये कुछ न चाहना तथा सर्व-समर्थ प्रभु को अपना मानना यह स्वधर्म है। स्वधर्म के पालन से योग, बोध और प्रेम से अभिन्नता होती है।

प्रवचन :

जिसका सम्पादन अपने द्वारा हो, उसमें केवल तीन बातें हैं। पहली बात है-ज्ञान के प्रकाश में अनुभव करें कि सृष्टि में मेरा व्यक्तिगत कुछ नहीं है, अर्थात् मेरा कुछ नहीं है। यह पहली बात। दूसरी बात है कि ज्ञानपूर्वक इस बात को स्वीकार करें कि सभी कामनायें पूरी नहीं होतीं। अर्थात् मुझे कुछ नहीं चाहिए। और तीसरी बात है, आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक हरिआश्रय अर्थात् प्रभु ही केवल अपने हैं, अभी हैं, अपने में हैं। इन तीन प्रकार के व्रतों को स्वीकार करना मानव का स्वधर्म कहलाता है। इसके पालन करने में कोई भी मानव कभी भी पराधीन नहीं है। अगर आपको कोई कठिनाई इन तीन बातों के मानने में मालूम होती हो तो प्रश्न करो, उसका समाधान हो जायगा। कोई भी कठिनाई किसी भाई को मालूम होती हो! व्यक्तिगत कुछ नहीं है इस बात को मानने में, अचाह होने में अथवा हरिआश्रय लेकर निश्चिन्त और निर्भय होने में कोई कठिनाई मालूम होती हो तो आप प्रश्न कर सकते हैं। वास्तव में कोई कठिनाई है नहीं। हाँ, अगर आपको केवल सुख-दुःख का भोग करना है, तब तो इस स्वधर्म की आवश्यकता नहीं है। जिसे सुख की दासता और दुःख के भय से रहित होना है, उसके सामने यही उपाय और पुरुषार्थ है, जिसको कि उसे करना चाहिए। इसी को कहते हैं स्वधर्म अथवा सत्संग। सत्संग इन तीन ही बातों का नाम है। अब शरीर धर्म क्या है? जो सत्संग का दूसरा भाग है। शरीर धर्म केवल दो बातों में है-सभी के प्रति सद्भाव और यथाशक्ति सहयोग। दूसरों के प्रति सहयोग और सद्भावना रखना-यह शरीर धर्म है। मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए-ये स्वधर्म है। इन दोनों प्रकार के धर्मों का अनुष्ठान करने में मानव सर्वदा स्वाधीन है। कभी भी पराधीन नहीं है, असमर्थ नहीं है। अगर आपको कोई पराधीनता और असमर्थता मालूम होती है तो विचार करो।

अब आप एक बात कह सकते हैं कि भाई देखो, यह बात तो ठीक है कि ज्ञान के प्रकाश में यह सत्य है कि व्यक्तिगत किसी का कुछ नहीं है और सभी कामनायें पूरी नहीं होती हैं। यह बात ठीक है। परन्तु आप कहते हैं कि हरि-आश्रय ले लो! तो हमने उसको कभी देखा नहीं, समझ में आया नहीं, इन्द्रिय-गोचर हुआ नहीं। अतः हरि-आश्रय कैसे ले लें! इसके लिए मानव सेवा संघ की प्रणाली में यह बात बताई जाती है कि भाई गुरु-वाणी और वेदवाणी के आधार पर प्रभु के अस्तित्व को, महत्व को और अपनत्व को स्वीकार करो। इसमें बुद्धि का प्रयोग नहीं है, इन्द्रियों का प्रयोग नहीं है, शरीर का प्रयोग नहीं है। परमात्मा को आप हाथ से नहीं पकड़ पायेंगे। परमात्मा को आप आँख से नहीं देख पायेंगे। साधक की आरम्भिक अवस्था की बात है

यह। आँख से नहीं देख पायेंगे, हाथ से नहीं पकड़ पायेंगे। लेकिन परमात्मा है। क्यों है? प्रथम तो हमको माँग है। हमारी माँग में परमात्मा है। हमारी मांग क्या है? हमें अविनाशी, स्वाधीन, चिन्मय, रसरूप जीवन चाहिए, जो संसार में मिल ही नहीं सकता। तो हमारी मांग में परमात्मा है और गुरुवाणी और वेद-वाणी में परमात्मा है। अगर आपको गुरुवाणी में विश्वास नहीं होता, वेदवाणी में विश्वास नहीं होता तो अपनी माँग में विश्वास करके परमात्मा की आवश्यकता अनुभव करें। परमात्मा की आवश्यकता अनुभव करें। परमात्मा की आवश्यकता का अनुभव तो सभी में बीज रूप से मौजूद ही है। लेकिन हम स्वयं अनुभव करें कि हमें तो ऐसा जीवन चाहिए ही, जिसका कभी नाश नहीं होता, जिसमें नीरसता की गंध भी नहीं है, जिसमें जड़ता की गंध भी नहीं है, जिसमें अभाव की गन्ध भी नहीं है। जो सदा-सदा के लिए, सभी के लिए सम्भव है। ऐसा जीवन हमको चाहिए।

तो ऐसे जीवन की माँग भी परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार कराती है। और वेदवाणी, गुरुवाणी भी परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार कराती है। जिसके अस्तित्व को हम स्वीकार कर लेते हैं, यानी ऐसा मान लेते हैं कि 'है' उसके महत्त्व को भी स्वीकार करना चाहिए। परमात्मा का महत्त्व क्या है? अगर एक शब्द में कहा जाय तो, परमात्मा 'समर्थ' है। सभी का है और सदैव है। समर्थ है, सभी का है और सदैव है। यह बात अगर आप मान लेते हैं, तो समर्थ को अपना मान लेने में कोई कठिनाई होती है क्या? जो सदैव है उसको मानने में कठिनाई होती है क्या? जो सभी का है उससे अपना नाम कट सकता है क्या? तो इसी आधार पर हम परमात्मा को अपना मान सकते हैं। और यह जो परमात्मा को अपना मानना है, यही सच्चा भजन है। क्यों? अपना मानने से वह प्यारा लगता है। कोई भाई, कोई बहिन यह नहीं कह सकते कि जिसको हमने अपना माना है वह हमको प्यारा न लगा हो। है किसी का अनुभव? बोलो भाई! तो परमात्मा को अपना मानने से भजन कैसे होता है कि वह प्यारा लगता है अपना मानने से। और जिसका कोई प्रिय है वही ईश्वरवादी है। प्रिय यानी प्यारा लगे। आप जानते हैं, इसमें क्या विलक्षणता होती है? जिसका कोई प्रिय होता है, उसके मन में कभी नीरसता नहीं आती। नीरसता नहीं आती तो काम की उत्पत्ति नहीं होती। काम की उत्पत्ति नहीं होती तो विकारों का जन्म ही नहीं होता। इसलिए हमारा कोई प्रिय है तो हम ईश्वरवादी हैं।

श्रोता-कोई प्रिय से क्या तात्पर्य?

श्री महाराज जी-आपका कोई प्रिय होना चाहिए और संसार में आपका प्रिय कोई हो नहीं सकता, क्योंकि संसार केवल कामना पूर्ति में सहायक होता

है, आपके साथ सदैव रह ही नहीं सकता और आप भी इसके साथ सदैव नहीं रह सकते। प्रिय वही हो सकता है जो सदैव हमारे साथ रह सके अथवा हम उसके साथ रह सकें। तो कोई प्रिय हो सकता है तो वह परमात्मा ही हो सकता है। इसको इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जिसको प्रिय की भूख है उसको परमात्मा की भूख है। अब आया समझ में? यदि किसी को अपने प्रिय की भूख है कि हमारा कोई प्रिय हो तो इसका अर्थ है कि उसको सिवाय परमात्मा के और कोई नहीं मिलेगा। जो सभी का प्रिय हो-ऐसा परमात्मा ही हो सकता है।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि असली भजन जिसको कहते हैं, वह शारीरिक जिमनास्टिक नहीं है। बौद्धिक व्यायाम भजन नहीं है। भजन शरीर धर्म है ही नहीं। पर इतनी बड़ी बात आज न कोई सुनने को राजी है, न मानने को। कहेंगे-"वाह, भगवान का नाम लेंगे, भगवान का ध्यान करेंगे, भगवान के गुण गायेंगे। यह क्या नास्तिक की तरह कहता है कि भजन शरीर-धर्म है ही नहीं।" लेकिन वास्तव में मैं सत्य कहता हूँ कि भजन शरीर धर्म नहीं है। क्योंकि भजन का अर्थ होता है- प्रियता। अब आप एक बात कह सकते हैं यहाँ कि भाई, फिर शरीर का क्या उपयोग करेंगे। हमने भगवान को अपना मान लिया तो भजन तो हमारा आरम्भ हो जायगा, भगवान हमको प्यारा लगेगा ही और प्यार का नाम ही भजन है तो फिर शरीर का क्या करेंगे? तब यह बात सामने आती है कि उसी प्रभु के नाते सबके प्रति सद्भाव रखेंगे और यथाशक्ति सहयोग देंगे। आपके पास स्थूल शरीर है, आपके पास सूक्ष्म शरीर है, आपके पास कारण शरीर है। तीन शरीर हैं-आपके पास। अथवा एक ही शरीर के तीन पहलू हैं। जैसा भी आप समझें। स्थूल शरीर से तो दूसरों को क्रियात्मक सहयोग दो और सूक्ष्म शरीर से सभी के प्रति सद्भाव रखो। अब भाई, कारण शरीर से क्या करोगे?-सभी को प्रभु के नाते अपना मानो। केवल (मोह के नाते) अपना नहीं, प्रभु के नाते। प्रभु के नाते-सभी अपने हो सकते हैं-यह स्वीकृति कारण शरीर के आश्रित है। सभी के प्रति सद्भाव अनिवार्य है-यह स्वीकृति सूक्ष्म शरीर की बात है। और यथाशक्ति सहयोग देना है-यह स्थूल शरीर की बात है।

तो शरीर के द्वारा प्रभु के नाते सबको अपना मान सकते हो, सबके लिए उपयोगी हो सकते हो। इसी को कहते हैं सेवा। भजन में जहाँ प्रेम एक अंग है, वहाँ एक अंग सेवा भी है। एक अंग और भी है भजन का। वह अंग है त्याग। यानी प्यार के बदले में कुछ मत चाहो और सहयोग और सद्भाव के बदले में भी कुछ मत चाहो। जब ये तीनों चीजें इकट्ठी हो जायेंगी तब वास्तविक भजन की पूर्णता होगी। भगवान् हमें प्यारे लगें किन्तु उनसे हमें कुछ

चाहिए नहीं। संसार के प्रति सद्भाव हो, सहयोग हो, हम सभी को अपना मानें, पर बदले में कुछ नहीं चाहें। दूसरे शब्दों में हम पर सभी का अधिकार है, परन्तु हमारा किसी पर अधिकार नहीं है-यह असल में सेवा का मूल मन्त्र है। तो सेवा, त्याग और प्रेम ये तीनों चीजें जब एकरूप हो जाती हैं, एक जीवन में आ जाती हैं तो उसको कहते हैं-भजन। भजन तो जीवन है। सेवा और त्याग उसका सहयोगी साधन है। सेवा और त्याग-ये शरीर से सम्बन्ध रखते हैं और भजन "स्व" से सम्बन्ध रखता है। क्योंकि जब अपना मानोगे तभी तो भगवान प्यारा लगेगा।

हमारे विचार से भजन की प्राप्ति तीन प्रकार से होती है-स्तुति, उपासना, और प्रार्थना से। स्तुति से तात्पर्य है-परमात्मा के अस्तित्व और महत्त्व को स्वीकार करना। उपासना का अर्थ है-परमात्मा से सम्बन्ध स्वीकार करना। और प्रार्थना का बोधार्थ है-परमात्मा के प्रेम की आवश्यकता अनुभव करना। आपने बड़े-बड़े पंडितों से, विद्वानों से सुना होगा कि जब मानव-जीवन का सबसे पहले निर्माण हुआ, तब केवल प्रणव ही वेद था। यह 'ओम्' शब्द (ओंकार) जो है, यही वेद के अर्थ में आता था। यही वेद था। इसमें वेद का सारा अर्थ मौजूद है। फिर बुद्धि कुछ स्थूल हुई तो वेदमाता गायत्री हो गयी। गायत्री ही वेद है। और फिर तो आपने देखे ही हैं कि कितने वेद हैं, उप-वेद हैं, पुराण हैं, ग्रन्थों की कोई सीमा ही नहीं है। एक आदमी अपने जीवनभर में पढ़ ही नहीं सकता सब; इतने ग्रन्थ हैं। लेकिन वास्तव में वेदमाता गायत्री है अथवा प्रणव वेद है। और उस वेद में तीन ही बातें बतायी गयी हैं। परमात्मा है यानी उसका अस्तित्व है और अस्तित्व से निकलती है स्तुति; अर्थात् उसकी महिमा का वारापार नहीं है। और वह अपना है। तथा उसका प्रेम ही हमारी माँग है। यह स्तुति, उपासना और प्रार्थना हो गयी। तो मैं यह निवेदन कर रहा था आपसे कि स्तुति, उपासना, प्रार्थना के द्वारा परमात्मा को माना जाता है, इन्द्रिय-गोचर परमात्मा को नहीं किया जाता। हाँ, जब स्तुति, उपासना, प्रार्थना के द्वारा परमात्मा के साथ आत्मीयता हो जाती है तब तुम हो जाते हो प्रेम और फिर प्रेम होकर परमात्मा से अभिन्न हो जाते हो। फिर परमात्मा की ओर से आने वाला प्रेम भी तुम्हें मिलता रहता है, तुम्हारी ओर से परमात्मा के पास प्रेम जाता रहता है। प्रेम और प्रेमास्पद का जो नित्य विहार है यही परमात्मा की प्राप्ति मानी जाती है। और कोई प्राप्ति होती होगी तो हमको मालूम नहीं है। यह आपसे मेरा निवेदन था।

इसलिए भाई, परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार करो। "परमात्मा है"-यह बात स्वीकार करो। क्यों? गुरुवाणी और वेदवाणी सिद्ध है इसलिए। अन्य किसी प्रकार से सिद्ध नहीं है। या तो गुरुवाणी से है या वेदवाणी से

अथवा अपनी माँग में "परमात्मा है"। यह हम जैसे बिना पढ़े-लिखे साधुओं की बात है कि भाई, हमें तो परमात्मा की माँग है, इसलिए हम परमात्मा को मानते हैं। क्यों? हमको अविनाशी जीवन चाहिए! हमको स्वाधीन जीवन चाहिए!! हमको रसरूप और चिन्मय जीवन चाहिए!!! और जैसा जीवन हमको चाहिए वह संसार में है ही नहीं। अत; संसार हमारे अपने लिए नहीं है। तो फिर? और हमको है माँग। तो परमात्मा अपने लिए है। इस तरह से तो हमने मान लिया। और हमारे जीवन में यही प्रश्न उठा था सबसे पहले। जब हमारे पास परिस्थिति जनित दु:ख आया और दु:ख के प्रभाव से मैं पीड़ित हुआ तो पीड़ित होने पर यही प्रश्न पैदा हुआ कि "क्या कोई ऐसा भी जीवन है जिसमें दु:ख का प्रवेश नहीं होता? कोई ऐसा भी रस रूप, सुखरूप जीवन है जिसमें दु:ख का प्रवेश न हो?" तो सुनने को मिला कि ऐसा जो जीवन है वह महात्माओं को मिला करता है, साधुओं को मिला करता है। तो साधुओं से मिलना जब शुरू किया तो साधुओं के पास सिवाय प्रभु विश्वास के और उससे बढ़िया चीज नहीं है। वैसे तो साधुओं के पास और भी चीजें हैं, जैसे सदाचार है, विवेक है, संयम है। श्रम, संयम, सदाचार, विवेक ये सब सामग्री, साधु कहो चाहे साधक कहो, इनके पास होती हैं। लेकिन सबसे बढ़िया चीज जो साधक के पास होती है, वह होती है प्रभु का विश्वास। प्रभु-विश्वास उनके पास सबसे बढ़िया, कीमती चीज है। तो जब साधुओं के पास गया तो उन्होंने मुझको प्रभु-विश्वास दे दिया, कहा कि "भैया! प्रभु में विश्वास करो, सब प्रकार से उसी के होकर रहो, तुम्हारे सर्व दु:खों की निवृत्ति हो जायेगी।"

तो मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि यह प्रश्न कोई मेरे ही जीवन में ही आया हो, ऐसा नहीं है। यह आप सबके जीवन में है। कोई तो निराश होकर हार मानकर बैठ जाता है और हीन भाव से अपनी जिन्दगी बरबाद करता है। और कोई निराश नहीं होता। वह सजग होकर इस बात को स्वीकार करता है कि जिस जीवन की माँग मुझको है, वह जरूर होना चाहिए, वह जरूर मिलना चाहिए। अगर मेरी माँग में सर्व दु:खों की निवृत्ति है तो सर्व दु:खों की निवृत्ति होनी ही चाहिए। अगर मेरी माँग में जीवन-मुक्ति है तो जीवन-मुक्ति होनी चाहिए। अगर मेरी माँग में भगवद्-भक्ति है तो भगवद्-भक्ति मुझको मिलनी ही चाहिए। माँग कहते ही उसको हैं जिसको पूरा होना ही चाहिए। इस दृष्टि से अगर आप महानुभाव विचार करेंगे तो आपको यह मानना पड़ेगा कि हर भाई को, हर बहन को परमात्मा को मानना अनिवार्य हो जाता है। परमात्मा को पाना अनिवार्य हो जाता है। विवेकी-जन पाकर के मानते हैं, विश्वासी-जन मान करके पाते हैं। इतना ही फर्क है।

किसी ने पहले मान लिया फिर प्राप्त किया। किसी ने प्राप्त कर लिया तब मान लिया। मुझे ठीक मालूम है, आज के युग में बड़े विचारक, जो परमात्मा और आत्मा की चर्चा ही नहीं करते, बल्कि निषेधात्मक बात करते हैं वे हैं-जे० कृष्णामूर्ति। उन्होंने जो आखिरी किताब लिखी है, उसमें लिखा है कि-'प्रेम की जागृति ही मानव के विकास की चरम सीमा है।' यानी प्रेम प्राप्ति मानव जीवन की चरम सीमा है। तो भैया! प्रेम प्राप्ति तो तभी न होगी, जब कोई प्रेमास्पद होगा? प्रेम-प्राप्ति बिना प्रेमास्पद के हो जायेगी क्या?

श्रोता-नहीं।

तो इस तरह से उन्होंने भी अपनी थीसिस में, अपनी खोज में परमात्मा की ओर संकेत किया है।

तो मैं आपसे यह नम्र-निवेदन करना चाहता था कि परमात्मा है इसमें लेश-मात्र भी सन्देह नहीं करना चाहिए। है जरूर; भले ही हम यह न जानते हों कि वह कैसा है। भले ही हम यह न जानते हों कि कहाँ है। ये बातें हम भले ही न जानते हों, पर 'है' इस बात को जरूर मानना चाहिए। जो परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार कर लेता है, महत्त्व को स्वीकार कर लेता है उसमें परमात्मा का अपनत्व आ जाता है। और जब परमात्मा का अपनत्व आ जाता है तो अखण्ड स्मृति, अगाधप्रियता उदित हो जाती है। इसी का नाम भजन है। अभ्यास का नाम भजन नहीं है। स्मृति और प्रियता का नाम भजन है। और वह प्रियता अपनत्त्व से उदित हाती है, आवश्यकता से उदित होती है। आवश्यकता अस्तित्व स्वीकार करने से सजीव होती है। आप कहें आवश्यकता तो है, पर ऐसा है ही नहीं। थोड़ी देर के लिए मान लो ऐसा। तो क्या कहोगे? तो अधीर होकर कहोगे-"अरे भैया, चैन तो है ही नहीं। न कभी मिला है न मिल सकता है। हँसते रहो, रोते रहो। बस यही जीवन है।" ऐसा कहने लग जाओगे। पर ऐसा कहना किसी सजग मानव की बात नहीं है। यह तो हारे हुए मानव की बात है। यह जड़ता में आबद्ध हुए मानव की दशा है। यह दशा है, जीवन का सत्य नहीं है। जीवन का सत्य यही है कि जो चीजें आज हमारी माँग के रूप में हैं, कल वे प्राप्ति रूप में अवश्य होनी चाहिएँ। जो चीज माँग के रूप में है, प्राप्ति के रूप में होनी ही चाहिए। यह जीवन का ध्रुव सत्य है।

तो मैं आपसे यह निवेदन कर रहा था कि क्या आज हम और आप प्रभु का आश्रय ले सकते हैं, प्रभु आश्रित हो सकते हैं? क्या हम और आप आज अकिंचन और अचाह हो सकते हैं। तो भाई उत्तर में कहना पड़ेगा कि अगर होना चाहते हैं तो अवश्य हो सकते हैं। हर भाई अकिंचन हो सकता है, हर बहिन अकिंचन हो सकती है। हर भाई अचाह हो सकता है, हर बहिन

अचाह हो सकती है। हर भाई, हर बहिन हरिआश्रय ले सकती है। इसमें कोई सन्देह की बात नहीं है। क्योंकि "स्व" के द्वारा ही आश्रय लिया जाता है। आश्रय में हेतु विश्वास है और अकिंचन और अचाह होने में हेतु ज्ञान है। ज्ञान का तत्त्व और विश्वास का तत्त्व प्रभु ने मानव-मात्र को प्रदान किया है। हम जानते भी हैं, हम कुछ-न-कुछ मानते भी हैं। यानी मानना भी आता है। मानना आता न हो ऐसी बात नहीं है। क्या राय है? मानना और जानना आता है या नहीं?

श्रोता-आता है।

तो इसका मतलब यह हुआ कि हम, आप सभी बड़ी ईमानदारी से अकिंचन भी हो सकते हैं; अचाह भी हो सकते हैं और प्रभु का आश्रय भी ले सकते हैं, हरिआश्रित भी हो सकते हैं। हरिआश्रय का इतना भारी महत्त्व मालूम होता है मुझे। अगर प्रभुआश्रय हमें प्राप्त हो गया तो भय के लिए कहाँ स्थान है। चिन्ता के लिए कहाँ स्थान है। प्रभु-आश्रय में तो भय प्रवेश कर ही नहीं सकता, चिन्ता प्रवेश कर ही नहीं सकती, निराशा कभी जीवन में आ ही नहीं सकती। अब आप सोचिये कि निराशा निकल जाय, भय निकल जाय, चिन्ता निकल जाय तो कैसा लगेगा आपको? भय, चिन्ता, निराशा से रहित जीवन?

श्रोता-बहुत बढ़िया लगता है।

तो जो सर्वोत्कृष्ट जीवन है, जो सबसे ऊँचा जीवन है, वह हर भाई को, हर बहिन को स्वधर्म और शरीर धर्म का पालन करने से मिल सकता है। यह आज की चर्चा का सार-सर्वस्व निकला।

शरीर धर्म क्या है-सद्भाव, सहयोग और सभी को अपना मानना। सभी को अपना मानना—यह शरीर धर्म है, क्योंकि संसार शरीर के संयोग से भासित होता है। तो संसार को अपना मानना, उसके प्रति सहयोग रखना, उसके साथ सद्भाव रखना और इसकी उत्पत्ति का आधार और प्रतीति का प्रकाशक जो परमात्मा है—उसे अपना मानना, अपने लिए मानना। संसार को अपना मानना सेवा करने के लिए, परमात्मा को अपना मानना प्रेमी होने के लिए। न प्रेमी को कुछ चाहिए और न सेवक को कुछ चाहिए। इसलिए सेवक हो तब भी अचाह हो सकते हो, प्रेमी हो तब भी अचाह हो सकते हो। अचाह हुए बिना शान्ति मिलेगी नहीं, संसार के काम आये बिना करने का राग निवृत्त होगा नहीं, भगवान को अपना माने बिना स्मृति और प्रियता जगेगी नहीं। यह जीवन का सत्य है। इसको स्वीकार करना कहलाता है सत्संग और वह सत्संग मानव का स्वधर्म है।

12

(अ)

मनुष्य को जरूरत है कि उसे ऐसा जीवन मिले जिसमें दुःख न हो। इसकी पूर्ति संसार की सहायता से नहीं हो सकती क्योंकि संसार जनित सुख अवश्य ही दुःख में बदल जाता है।

प्रस्तुत संतवाणी में यह परामर्श दिया गया है कि संसार की कामना छोड़ दो। संसार शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति मे सहायक होता है, माँग की पूर्ति में नहीं, अतः अचाह हो जाओ और मरने से डरो मत तो मरने से पहले अमर हो जाओगो।

अगर हम तीन बातों को मान लेते हैं कि—

(1) किसी को क्षति नहीं पहुँचायेंगे,

(2) यथाशक्ति सहयोग देंगे,

(3) और बदले में कुछ नहीं चाहेंगे,

तो हमें योग और स्मृति प्राप्त हो जायेगी।

मानव जीवन का यह सिद्धान्त है कि दायित्व पूरा करने से माँग पूरी होती है। सत्य को स्वीकार करने का नाम सत्संग है। सत्य की चर्चा करें और सर्वांश में सत्य को स्वीकार न करें तो हमारी माँग पूरी नहीं होगी।

प्रवचन :

"मेरी कोई माँग है या नहीं, मुझ पर कोई दायित्व है या नहीं।" इस सम्बन्ध में यदि विचार किया जाय तो प्रत्येक मानव को यह मानना पड़ता है कि मेरी कोई माँग तो है और मुझ पर कोई दायित्व भी है। अब आप विचार कीजिये कि जिसकी कोई माँग होती है और जिस पर कोई दायित्व होता है, उसका नामकरण क्या किया जाय? यानी कोई व्यक्ति किसी तरह की कोई जरूरत महसूस करे और अपने पर कोई जिम्मेदारी महसूस करे जो उसे क्या कहेंगे आप? क्या नाम रखेंगे उसका?

श्रोता–साधक।

श्री महाराज जी–हाँ, साधक तो अपने यहाँ कहते ही हैं। साधक कहेंगे या कहेंगे यह कोई बड़ा जरूरतमंद आदमी है। पूर्ण तो नहीं है न, और जड़ भी नहीं है; क्योंकि वह जिम्मेदारी महसूस करता है। जड़ जो होता है उसको जरूरत भी अनुभव नहीं होती और जिम्मेदारी भी महसूस नहीं होती। लेकिन हमको जरूरत अनुभव होती है और जिम्मेदारी महसूस होती है। क्या जरूरत अनुभव होती है? कि कोई ऐसा [illegible]लता, जिसमें दुःख न होता अथवा कोई ऐसा जीवन मिलता, जिसमें मृत्यु न होती अथवा कोई ऐसा संयोग मिलता, जिसमें वियोग न होता। क्या ऐसे सुख की माँग आप कभी अपने मन में अनुभव करते हैं कि ऐसा सुख हो जिसमें दुःख शामिल न हो। ऐसा सुख किसी वस्तु के द्वारा मिल सकता है? किसी व्यक्ति के द्वारा मिल सकता है? किसी परिस्थिति के द्वारा?

श्रोता–नहीं मिल सकता।

अब देखिये यह सब आपका अपना ज्ञान है, किसी की सिखाई हुई बात नहीं है। वस्तु के द्वारा ऐसा सुख नहीं मिलता जिसमें दुःख न हो। किसी परिस्थिति विशेष के द्वारा ऐसा सुख नहीं मिलता, जिसमें दुःख न हो। व्यक्ति के द्वारा ऐसा सुख नहीं मिलता जिसमें दुःख न हो। इससे यह सिद्ध हुआ कि हमें जो सुख चाहिए वह शरीर और संसार की सहायता से नहीं मिल सकता।

तो हमें जो सुख चाहिए वह शरीर और संसार की सहायता से नहीं मिल सकता। अगर यह बात आप ईमानदारी से स्वीकार करते हैं, तो फिर क्या हमारे आपके सामने यह प्रश्न नहीं आ जाता कि जो कुछ वस्तु मुझे मिली है वह मेरे लिए नहीं है। क्या राय है? जी! यह प्रश्न आ जाता है कि जो कुछ मुझे मिला है वह मेरे लिए नहीं है। फिर किसके लिए है? उसका क्या उपयोग है? उसका उपयोग तो है, पर वह अपने लिए नहीं है। इसका

अर्थ यह हो जाता है कि वस्तु, जो अपने से अधिक अभाव से पीड़ित है उनके काम आ सकती है। लेकिन उस मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य द्वारा किसी के सर्व दु:खों की निवृत्ति होती है क्या?

श्रोता-नहीं होती।

तो सर्व दु:खों की निवृत्ति के लिए हमें कोई वस्तु नहीं चाहिए, कोई योग्यता नहीं चाहिए, कोई सामर्थ्य नहीं चाहिए। इसका मतलब यह हुआ कि संसार से मुझे कुछ नहीं चाहिए। अर्थात् संसार में मेरा कुछ नहीं है। ऐसी चीज संसार में नहीं है जो मेरे लिए हो। जी! है क्या? अब देखिये, यह कोई ऐसी बात नहीं है जो आप मेरे कहने से मान लें। क्या आपको स्वयं ज्ञान के प्रकाश में ऐसा मालूम नहीं होता कि संसार में मेरे लिए कुछ नहीं है। अगर यह बात आपको मालूम होती है तो फिर अचाह होने में क्या तकलीफ है?

अब जरा अचाह होकर देखिये, तो आपको साफ अनुभव हो जायगा कि अचाह होते ही न तो पराधीनता रहती है और न अशान्ति रहती है। अनुभव तो करो जरा! अब देखिये, अचाह होने से ही पराधीनता और अशान्ति मिटी। पराधीनता, अशान्ति मिटने से क्या प्राप्त होगा-इसे आप स्वयं अनुभव करेंगे या कोई सिखायेगा?

श्रोता-स्वयं अनुभव करेंगे।

तो पहले इस बात का अनुभव करो कि पराधीनता और अशान्ति जीवन में न रहने पर कैसा लगता है। उसको आप वाणी से कह सकते हैं? नहीं कह सकते। उसे समझा सकते हैं? नहीं समझा सकते। लेकिन स्वयं प्राप्त कर सकते हैं कि नहीं?

श्रोता-कर सकते हैं।

कर सकते हैं तो क्यों नहीं करते? अचाह होकर शान्ति और स्वाधीनता क्यों नहीं प्राप्त कर लेते या क्यों नहीं करते? तब आप कहेंगे कि हम क्या बतायें, कभी-कभी हमको शरीर-धर्म सताने लगता है। जैसे प्यास लगी, भूख लगी, नींद लगी इत्यादि-इत्यादि। अच्छा, यह जो शरीर-धर्म हमको सताने लगता है तो "शरीर" और "मैं" एक है या शरीर आपको मिला हुआ है।

श्रोता-मिला हुआ है।

तो मिले हुए के लिए आपको संसार की जरूरत होती है कि अपने लिए? क्या राय है आपकी? मिले हुए के लिए संसार की जरूरत होती है।

अच्छा, एक बात तो बताओ! मिले हुए के लिए हमें संसार की जरूरत तो होती है, लेकिन क्या हमारी संसार को बिलकुल जरूरत नहीं होती?

श्रोता-होती है।

अच्छा संसार को हमारी क्या जरूरत होती है और हमें संसार की क्या जरूरत होती है, इस पर सोचो। तो साफ मालूम होता है कि हमें तो शरीर के निर्वाह के लिए कुछ चाहिए और संसार हमको ईमानदार, उदार, बुराई रहित, स्वाधीन, अचाह और प्रेमी देखना चाहता है। तो संसार हमसे जो आशा करता है वह हमारे लिए सम्भव है या असम्भव?

श्रोता-सम्भव है।

अगर हम अचाह होकर, स्वाधीन होकर, उदार होकर, सभी के प्रति सद्भाव रखकर रहें, तो संसार हमको नापसन्द नहीं करेगा। और जब संसार नापसन्द नहीं करेगा तो वह शरीर हमारा रहा कि संसार का रहा?

श्रोता-संसार का।

लेकिन हम इस बात को भूल जाते हैं। हम मान लेते हैं कि शरीर हमारा है।

शरीर हमारा नहीं है, संसार का है। अत: हम शरीर की सारी जरूरतों को संसार की मर्जी पर छोड़ देंगे और शरीर के द्वारा किसी को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचायेंगे, अपितु यथाशक्ति सहयोग देंगे। इन तीन बातों के मानने में या पूरा करने में हमको क्या कठिनाई है? बोलो भाई! कौन-कौन सी तीन बातें बताईं, बताना जरा?

श्रोता-शरीर के निर्वाह के लिए.....। (श्रोताओं में से कोई भी पूरी बात न बता सका। इस पर स्वामीजी ने कहा) क्या? नहीं, नहीं भाई तुम सुनते नहीं हो गौर से! हम शरीर के द्वारा किसी को क्षति नहीं पहुँचायेंगे। शरीर की सारी आवश्यकतायें संसार की मर्जी पर छोड़ देंगे। हम किसी से कुछ नहीं चाहेंगे। ये तीन बातें क्या हम नहीं पूरी कर सकते? हम शरीर के द्वारा किसी को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचायेंगे। हम शरीर की आवश्यकता को संसार की मर्जी पर छोड़ देंगे और यथा-शक्ति सहयोग देंगे। इतना ही तो काम है न! जिसने शरीर की आवश्यकता को संसार की मर्जी पर छोड़ दिया, वह अचाह हो जायगा कि नहीं। वह निश्चिन्त हो जायगा कि नहीं। वह निर्भय हो जायगा कि नहीं। यही बात हमारे गुरु महाराज ने कही कि, "बेटा! जब तुम आजाद हो जाओगे, स्वाधीन हो जाओगे, अचाह हो जाओगे तो सृष्टि इतनी उदार है कि तुम्हारे शरीर की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए लालायित रहा करेगी।" सृष्टि, व्यक्ति नहीं! आज क्या कारण है, हमारी क्यों ऐसी दशा हो गयी; क्योंकि हमने पराधीनता को पसन्द कर लिया। इसी का

परिणाम यह हुआ कि आज हम सृष्टि से अपनी आवश्यकता पूरी करने के लिए लालायित रहते हैं। अगर हम स्वाधीनता पसन्द कर लें, अगर हम मन-वाणी-कर्म से बुराई-रहित हो जायँ, अगर हम स्वयं को अकिंचन-अचाह अनुभव करें तो शरीर संसार का हो जायगा। और जो जिसकी चीज होती है वह उसका ध्यान नहीं रखता है क्या?

श्रोता-रखता है।

वह उसका ध्यान रखेगा। तो संसार शरीर का ध्यान रखे, संसार शरीर की जरूरत को पूरा करने के लिए लालायित रहे, यह कब होगा? जब हम शरीर के द्वारा किसी को हानि नहीं पहुँचायेंगे और शरीर की जरूरत को संसार की मर्जी पर छोड़ देंगे और उससे कुछ न चाहेंगे, अपितु यथाशक्ति सहयोग देंगे।

भाई! अगर आपमें कुछ करने की शक्ति है तो या तो आप हानि पहुँचा सकते हैं या किसी को आप सहयोग दे सकते हैं। हानि पहुँचायेंगे ही नहीं, यथासम्भव सहयोग देंगे, शरीर के द्वारा। किसको?-संसार को। और इतनी उदारतापूर्वक देंगे कि शरीर की आवश्यकता को संसार की मर्जी पर छोड़ देंगे। सेवक में और नौकर में फर्क क्या होता है? सेवक सेवा करता है, बदले में कुछ चाहता नहीं और नौकर कुछ चाहता है, तब कुछ करता है। नौकर जब कुछ चाहता है और कुछ करता है तो उसमें और सेवक के जीवन में फर्क होगा कि नहीं होगा?

श्रोता-जी, होगा।

सेवक सहयोग देगा और अपना अधिकार नहीं मानेगा। अगर यह नीति हम मान लें कि भाई, संसार के साथ हम जो भी सहयोग कर सकते हैं, करते रहें और अपना अधिकार न मानें, तो हमको कभी क्रोध आयेगा, हममें कोई राग रह जायेगा? और जब हम राग और क्रोध से रहित हो जायेंगे तो योग और स्मृति प्राप्त नहीं होगी-क्या? क्या राय है? तो पहला कदम क्या हुआ? हम शरीर के द्वारा किसी को किसी प्रकार की क्षति न पहुँचायें, अपितु यथा-शक्ति सहयोग दें। यही तो हुआ न! और इस सहयोग के बदले में अपना कोई अधिकार न मानें। अगर इन तीन बातों को हम मान लेते हैं-किसी को क्षति नहीं पहुँचाते हैं, यथाशक्ति सहयोग देते हैं और बदले में कुछ नहीं चाहते हैं-तो हमें योग और स्मृति प्राप्त हो जायेगी। योग अर्थात् जिस जीवन की माँग है, जो हमारी जरूरत है, उसकी पूर्ति हो जायेगी, उसका बोध हो जायेगा, उससे हमारी एकता हो जायेगी, उसमें हमारा प्रेम हो जायेगा। यानी हम योग-पूर्वक, बोध-पूर्वक उस जीवन से अभिन्न हो जायेंगे, जिस जीवन

की माँग है। योग-पूर्वक, बोध-पूर्वक और प्रेम-पूर्वक यह भाषा समझ में आती है?

तो अचाह होने से, बुराई-रहित होने से, यथा-शक्ति सहयोग देने से हमें योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति होती है। अब यह प्रोग्राम कब पूरा करोगे भाई? सबसे पहली चीज क्या होगी? बोलो?

श्रोता-सबसे पहली चीज होगी इसी को पूरा करना।

श्री महाराज जी-इसमें तीन बातें हैं, पहले कौन-सी पूरी करोगे?

श्रोता-संसार को क्षति न पहुँचायें।

हाँ! कभी किसी का बुरा न चाहें, कभी किसी के साथ बुराई न करें, कभी किसी को बुरा न समझें यह पहली बात होगी। जो किसी का बुरा नहीं चाहता है, जो बुराई नहीं करता है, जो किसी को बुरा नहीं समझता है वह भला हो जाता है। कर्तव्यनिष्ठ हो जाता है। यानी हमको हक नहीं है किसी को बुरा समझने का। यह एक साधक की भाषा बोल रहा हूँ। यहाँ राजनीति मत ले जाना कि बुरे को बुरा क्यों न समझें? हमें हक नहीं है किसी को बुरा समझने का। क्यों? अगर हम किसी को बुरा समझेंगे तो हमारे मन में द्वेष पैदा होगा कि नहीं? जब द्वेष की अग्नि जलेगी तो प्रेम उदय होगा क्या? जी! तो हमारे हृदय में द्वेष की उत्पत्ति न हो, इसके लिए हमें यह व्रत लेना पड़ेगा कि हम किसी को बुरा नहीं समझेंगे, हम किसी का बुरा नहीं चाहेंगे, हम किसी के साथ बुराई नहीं करेंगे। बुराई न करना पहली बात, बुरा न चाहना दूसरी बात, बुरा न समझना आखिरी बात। अगर ये तीन बुराइयाँ हमारे जीवन में से निकल जायें; हम निकाल दें, छोड़ दें, तो जीवन कितना सुन्दर हो जाय।

अच्छा बुराई न करने की हमें स्वाधीनता है कि नहीं? भाई, हम यह नहीं कहते कि कोई बुरा है या नहीं है। परन्तु हमें हक नहीं है किसी को बुरा समझने का। हक है क्या?

श्रोता-नहीं है।

बुरा समझने का हमको हक नहीं है। अगर इस सत्य को हम मान लेते हैं कि किसी का बुरा चाहने का हमें हक नहीं है, जबकि हम जानते हैं कि हमारा कोई बुरा न चाहे। किसी के साथ बुराई करने का हमें हक नहीं है, जबकि हम जानते हैं कि हमारे साथ कोई बुराई न करे। ये तीनों बातें हमें ज्ञान के द्वारा स्वतः प्राप्त हैं या नहीं है? अब प्राप्त को अपना लेना, प्राप्त का उपयोग कर लेना, प्राप्त को स्वीकार कर लेना, यही हमारा सत्संग है। तो यह पहली बात हुई। उसका फल क्या होगा कि जब हम मन-वाणी-कर्म से बुराई

रहित हो जायेंगे तो अपने आप शरीर के द्वारा किसी-न-किसी अंश में भलाई होती रहेगी, सद्भाव और सहयोग होता रहेगा। सद्भाव और सहयोग से चित्त शुद्ध होगा। पहले शुद्ध होगा और फिर जब उसके बदले में कुछ नहीं चाहेंगे तो शान्त होगा। अचाह होने से चित्त शान्त होता है और सद्भाव तथा सहयोग से चित्त शुद्ध होता है। सहयोग और सद्भाव तथा अचाह होना-क्या यह जीवन का सत्य नहीं है? बोलो भाई?

श्रोता-है।

इस सत्य को स्वीकार करने से चित्त शुद्ध और शान्त होता है। जब चित्त सर्वांश में शुद्ध हो जाये और सम्पूर्ण रूप से शान्त हो जाये, उसी को योग कहते हैं। अगर यह बात आपको जँच जाये, रुच जाये, पसन्द आ जाये, तो योग की प्राप्ति में कोई भी भाई, कोई भी बहन कभी भी पराधीन नहीं है। अच्छा योग की प्राप्ति में जब आप स्वाधीन हैं तो जिसके साथ हमारा योग होगा, क्या उसका हमें बोध नहीं होगा? क्या उसमें हमारा प्रेम नहीं होगा? तो योग ही बोध और प्रेम के रूप में परिणत हो जायेगा। बोध-अध्यात्म जीवन; योग-भौतिक जीवन के विकास की चरम सीमा और प्रेम आस्तिक जीवन।

देखो, यह जो योग-विज्ञान है यह असल में भौतिक-विज्ञान है। क्योंकि चित्त के शुद्ध और शान्त होने का नाम योग है। क्यों भाई? अब यह चित्त प्राकृतिक है या दैवी है? अरे भाई! यह सृष्टि जिससे बनी है उसी से चित्त बना है कि चित्त किसी और चीज से बना है? जी! तो भौतिक विकास की चरम सीमा योग है और अध्यात्म विकास की चरम सीमा बोध है, और आस्तिक विकास की चरम सीमा प्रेम है। हमें योग भी चाहिए, हमें बोध भी चाहिए, हमें प्रेम भी चाहिए। इस सृष्टि से यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि हमारी यह जो माँग है, जब हम अपने दायित्व को पूरा करेंगे तो माँग पूरी हो जायेगी। इसीलिए मानव का एक नाम साधक भी है। दायित्व पूरा करेंगे तो माँग भी पूरी हो जायेगी। और दायित्व जो हमें पूरा करना है वह ज्ञान-विरोधी है क्या? सामर्थ्य विरोधी है क्या?

श्रोता-नहीं।

तो जो दायित्व ज्ञान-विरोधी नहीं है, सामर्थ्य विरोधी नहीं है, उसे हम वर्तमान में पूरा कर सकते या नहीं?

श्रोता-कर सकते हैं।

तो दायित्व पूरा करने से माँग पूरी होती है, यह सिद्धान्त आपको कैसा मालूम देता है? दायित्व पूरा कर सकते हैं, माँग पूरी हो सकती है। अगर यह

बात हम अच्छी तरह से स्वीकार कर लें और अपने अनुभव के आधार पर स्वीकार कर लें, तो हम सभी अर्थात् मानव-मात्र, बड़ी सुगमतापूर्वक उस जीवन को प्राप्त कर सकते हैं जो जीवन कभी भी, किसी भी ऋषि-मुनि, पीर-पैगम्बर को मिला है। वह जीवन आपको भी मिल सकता है। केवल इन दो बातों से कि दायित्व पूरा कर दें, माँग पूरी हो जायेगी। अब दायित्व पूरा करने का प्रश्न हमारे सामने मौलिक प्रश्न है। और दायित्व हम पर वही है जिसे हम पूरा कर सकते हैं। अब बताओ, उस जीवन से, जिस जीवन को पाकर फिर कुछ और पाना शेष नहीं रहता, क्या हमें-आपको निराश होना चाहिए?

श्रोता-नहीं होना चाहिए।

इसलिए मानव सेवा संघ की प्रणाली में बताया गया कि मानव को नित्य जीवन से, रस-रूप जीवन से, स्वाधीन जीवन से, अमर जीवन से कभी निराश नहीं होना चाहिए। अच्छा, इसके अतिरिक्त और कोई चीज है ऐसी, जिसकी आशा करनी चाहिए?

श्रोता-नहीं है।

कोई चीज आशा के योग्य नहीं है।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि सत्य को स्वीकार करने-मात्र से हमारी-आपकी माँग पूरी हो सकती है और सत्य उसे नहीं कहते, जिसे आप स्वयं अनुभव नहीं कर सकते। देखो, सत्य के लिए प्रमाण अपेक्षित नहीं है। आप स्वयं अनुभव कर सकते हैं कि मिली हुई वस्तु-योग्यता-सामर्थ्य के द्वारा मुझे अविनाशी जीवन नहीं मिल सकता, न मिल सकता है, न मिलेगा। मुझे जो जीवन चाहिए वह मिली हुए वस्तु के द्वारा नहीं मिलेगा, मिली हुई योग्यता के द्वारा नहीं मिलेगा, मिली हुई सामर्थ्य के द्वारा नहीं मिलेगा। अतः मेरे पास जो भी योग्यता, वस्तु, सामर्थ्य है वह समाज-सेवा के लिए है, अपने लिए नहीं है। हमसे भूल क्या होती है कि उस सेवा-सामग्री के द्वारा हम स्वयं सुख भोगने लगते हैं। यह हमसे भूल होती है। जब सेवा-सामग्री के द्वारा हम स्वयं सुख भोगने लगते हैं, तो हमको विवश होकर भयंकर दुःख भोगना पड़ता है। क्या राय है? अगर इस भूल को हम अपने जीवन में से निकाल दें कि वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य द्वारा हम सुख नहीं भोगेंगे, अपितु दूसरों की सेवा करेंगे, तो हम सबको बड़ी सुगमता-पूर्वक वह जीवन मिल जायेगा, जिस जीवन में अभाव की, पराधीनता की, नीरसता की, अशान्ति की गन्ध भी नहीं है। वह जीवन हमको अवश्य मिल जायगा।

12

(ब)

प्रभु का प्रेमी होने के लिए मनुष्य पर यह दायित्व है कि वह परमात्मा को पसन्द करे और जिस संसार के बन्धन से छूटना चाहता है उसकी सेवा करे। सेवा करने से सुख की दासता मिट जाती है और दु:ख के भय का भी नाश हो जाता है। शान्ति भी मिल जाती है।

यह जीवन का सत्य है।

प्रवचन : 1

अब इस सम्बन्ध में अगर किसी भाई-बहिन के मन में कोई प्रश्न उठता हो तो और बात की जाये। बात ही तो करनी है और करना क्या है। अब इसमें क्या कठिनाई है भैया! हम पर जो जिम्मेदारी है उसे पूरा करने में कोई कठिनाई नहीं है। अगर हमें कठिनाई मालूम होती है जिम्मेदारी पूरी करने में, तो यह हमारा कोई भ्रम है। मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के द्वारा हमें वह जीवन नहीं मिल सकता, जिसकी हमें माँग है। मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के द्वारा किसी को क्षति नहीं पहुँचाना; अपितु दूसरों के लिए उपयोगी होना है। इतनी-सी तो बात है। मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य, अपने लिए नहीं है, उसके द्वारा किसी को क्षति नहीं पहुँचानी है, अपितु उपयोगी होना है। इसी को कहते हैं-कर्तव्य-विज्ञान। इसी को कहते हैं धर्म-विज्ञान। उसके बदले में कुछ नहीं चाहिए, इसको कहते हैं—अध्यात्म-विज्ञान। धर्म-विज्ञान की पूर्णता से अध्यात्म-विज्ञान की प्राप्ति होती है। और जिसने हमें यह स्वाधीनता दी है, वही हमारा अपना है, उसकी प्रियता ही हमारा जीवन है। यह आस्तिक-विज्ञान है। इसे हक-परस्ती कहो, ईश्वर-भक्ति कहो कि जिसने हमें यह स्वाधीनता दी है कि हम धर्म-विज्ञान के द्वारा जगत के लिए और अध्यात्म-विज्ञान के द्वारा अपने लिए उपयोगी हो सकते हैं, उस दाता में आत्मीयता स्वीकार करना, उसकी प्रियता, स्मृति जगाना यह आस्तिक-विज्ञान है।

आप संसार को मानकर चलो तो भी साधक, और आत्मा को मानकर चलो तो भी साधक, और परमात्मा को मानकर चलो तो भी साधक। तीनों दृष्टियों से तुम साधक हो। अगर यह बात आपको जंचती हो, रुचती हो, सही मालूम होती हो, कोई इसमें शक और शुब्हा न मालूम होता हो तो इस पर विचार करके, मनन करके, अनुभव करके देख लो। और देखो, यह जीवन का व्रत है कि मिली हुई वस्तु मेरे काम नहीं आयेगी। इसको स्वीकार करना व्रत है। मिले हुए के द्वारा दूसरों की सेवा करना, यह व्रत है। बदले में कुछ नहीं चाहिए यह व्रत है। अगर ये तीन व्रत आप ले लेते हैं तो आपको वह जीवन जिसका कभी नाश नहीं होता, वह जीवन जिसमें जड़ता की गंध नहीं है, वह जीवन जो रस-रूप है, मिल सकता है। इतनी-सी बात है। अब इतनी-सी बात के लिए आप कितना समय लगायेंगे, यह आपकी मर्जी पर है। वास्तव में तो यह वर्तमान की चीज है।

देखो! इस व्रत को स्वीकार करना कि मिला हुआ मेरे लिए नहीं है, इसकी हमें स्वाधीनता है कि नहीं? अब यह शरीर छूटेगा तो मेरी क्षति होगी? मेरी तो नहीं होगी; क्योंकि मेरे लिए यह था ही नहीं। मिला हुआ मेरे लिए नहीं है। इसलिए अगर वह नाश होगा तो मेरी क्षति क्यों होगी! लेकिन हमें

यह क्यों मालूम होता है कि मेरी क्षति हो जायेगी। इसलिए मालूम होता है कि हम मिले हुए के द्वारा किसी-न-किसी प्रकार का सुख भोगते हैं। नेता बनने का शौक, राष्ट्रपति बनने का शौक, गुरु बनने का शौक, प्राइममिनिस्टर बनने का शौक यह जो हम भोगते हैं, इसलिए हमको मालूम होता है कि शरीर नाश हो जायेगा तो हमारा बड़ा भारी नुकसान हो जाएगा। अगर हमें पराधीनता-जनित सुख नहीं भोगना है या हमें पराधीनता-जनित सुख पसन्द नहीं है, तो शरीर के नाश होने से मेरा क्या नुकसान हो जाएगा? कुछ भी नहीं। जैसे अभी लोग कहते हैं कि भाई स्वामीजी की वजह से हमको बड़ी सुविधा मिलती है। तो तुम सुविधा देना सीखो दूसरों को। अगर शरणानन्द ने तुमको सुविधा दी है तो तुम सुविधा दो दूसरों को। आदर दिया है तो आदर दो। प्यार दिया है तो प्यार दो। तो इस प्यार के आधार पर जब तुम कहते हो कि शरणानन्द का शरीर नाश नहीं होना चाहिए तो इस प्यार का महत्त्व है या शरीर का महत्त्व है? अगर आपने भी इन तीनों बातों को मान लिया कि मैं दूसरों को सुविधा दूँगा, आदर दूँगा, प्यार दूँगा तो आप और शरणानन्द एक हो गये कि दो रहे?

श्रोता-एक हो गये?

जब एक हो गये तो आदर देने की भावना, प्यार देने की भावना, सहयोग देने की भावना-यह कभी नाश होगी? यह सत्य है, कभी नाश नहीं होगी। तो यह मैं आपसे निवेदन कर रहा था कि अगर हमको सचमुच कोई आदमी ऐसा मिला है जिसने हमको आदर दिया है, प्यार दिया है, सहयोग दिया है, हमारे प्रति सद्भाव रखा है, तो इन बातों को हम अपना सकते हैं कि नहीं अपना सकते?

एक दिन की घटना सुनायें आपको। हम लोग ट्रेन में जा रहे थे। संस्कृत कालेज के एक प्रिन्सिपल भी उसमें बैठे हुए थे। उनकी नौ साल की भतीजी (भाई की लड़की) का देहान्त हो गया था। उसके मोह में आबद्ध वे सज्जन बहुत दुःखी थे। और ट्रेन में प्रसंगवश, उस लड़की के गुणों का वर्णन कर रहे थे। गुणगान करते-करते उन्होंने यहाँ तक कहा कि एक दफा मैं बीमार हो गया तो वह बच्ची मेरे चारों ओर घूमी और कहा-'हे भगवान ! मेरे चाचा जी अच्छे हो जायें, मैं चाहे मर जाऊँ।' किसी बादशाह की भी यही बात है।

श्रोता-बाबर की है।

मैं मर जाऊँ। तो हमने जब उनको बहुत दुःखी देखा तो मैंने पूछा-पण्डित जी! अगर वह लड़की जिन्दा रहती और बड़ी हो जाती तो उसकी शादी करते कि नहीं? पण्डित जी बोले-'जरूर करते।' तो आपसे अलग होती कि नहीं? बोले-जरूर होती। अगर लड़की के गुण आपको पसन्द हैं तो उन्हें धारण कर लीजिए और यह तो आप जानते ही हैं कि लड़की आप

से अलग होती! तो वही चीज आपसे अलग हुई है, जो होती है। क्या उसके गुण अलग हुए हैं? तो किसके लिए रोते हैं आप? उस चीज के लिए रोते हैं जो अलग होती ही! गुण तो अलग होते नहीं। वे बोले कि इस तरह से मैंने सोचा नहीं था। मैंने कहा-पण्डित जी! अगर आपसे पूछा जाये कि क्या मोह दुःख का मूल है? तो बोले-'इस पर किताब लिख सकता हूँ, लेक्चर दे सकता हूँ। "लेकिन क्या आपने यह अनुभव किया है कि मोह दुःख का मूल है।' पण्डित जी एकदम शान्त और गम्भीर हो गये।

तो मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि अपने शरीर छूटने का दुःख न हमको होना चाहिए, न हमारे शरीर छूटने का दुःख किसी और को होना चाहिए। क्योंकि जिन कारणों से तुम इस शरीर को पसन्द करते थे, वे बातें तो आप अपने में भी रख सकते हो न! क्या राय है? जी! तो मैं आपसे पूछता हूँ कि शरीर गुरु है कि जीवन का जो सत्य है वह गुरु है? अतएव जीवन के सत्य को स्वीकार कर आप सदा-सदा के लिए अपने गुरु से अभिन्न हो सकते हो। अगर यह बात आपको जँचे, रुचे, पसन्द आये तो थोड़ा मनन कर लिया जाए। हमारे जितने पथ-प्रदर्शक हुए हैं, रहनुमा हुए हैं, उनमें जो खूबियाँ थीं, उनमें जो सत्य था, वह सत्य आज नहीं है क्या? हम अपने पथ-प्रदर्शकों के सत्य को अपना नहीं सकते क्या? मानव सेवा-संघ ने मनुष्य का सबसे बड़ा पुरुषार्थ बताया है कि भैया! तुम सत्य को स्वीकार करो और सत्य कोई ऐसा तत्त्व नहीं है जिसे तुम नहीं जानते हो। उदार होना सत्य है, अचाह होना सत्य है, आत्मीयता स्वीकार करना सत्य है। बोले, आत्मीयता किससे स्वीकार करें?-कि भाई, जिसका प्रेम आपको प्राप्त करना हो, उसकी आत्मीयता स्वीकार करना सत्य है। और अचाह होना सत्य है, उदार होना सत्य है, बुराई-रहित होना सत्य है। जो जीवन का सत्य है उसे आप स्वीकार करें, इसी का नाम सत्संग है। और इस सत्संग से ही आपको साध्य की प्राप्ति हो जाएगी, अर्थात् आपकी माँग पूरी हो जाएगी। सत्य को स्वीकार करना आपकी जिम्मेदारी है और माँग पूरी होना स्वाभाविक है। सत्य को स्वीकार करने से माँग पूरी हो जाती है। सत्य को स्वीकार करने का नाम सत्संग है। सत्य की चर्चा करें, सत्य का चिन्तन करें, किसी अंश में सत्यकार्य भी करें, किन्तु सर्वांश में सत्य को स्वीकार न करें तो हमारा काम बनेगा? जी! नहीं बनेगा। इसलिए महानुभाव! हम सभी को मानव होने के नाते, साधक होने के नाते सत्य को सर्वांश में, सदा के लिए अपने द्वारा अभी स्वीकार करना है। यह आज की चर्चा का सार-सर्वस्व है।

तो, जिस प्रभु ने हमें सत्य को स्वीकार करने की स्वाधीनता दी है, उस प्रभु की महिमा गायें और सत्य को स्वीकार कर सदा-सदा के लिए कृत-कृत्य हो जायें। इसी सद्भावना के साथ आप सभी को बहुत-बहुत प्यार।

प्रवचन : 2

संसार को नापसन्द करने में आप स्वाधीन हैं कि पराधीन?

श्रोता-स्वाधीन।

ऐसे ही आप परमात्मा को पसन्द करने में भी स्वाधीन हैं। जो साधक संसार को नापसन्द करने में स्वाधीन है, वही साधक परमात्मा को पसन्द करने में स्वाधीन है। अब कठिनाई क्या होती है कि संसार को तो हम पसन्द करते रहते हैं और परमात्मा से मिलना चाहते हैं। यह कभी सम्भव नहीं होगा। संसार को पसन्द करते हुए परमात्मा से मिलना सम्भव नहीं। हाँ, एक बात है कि संसार के द्वारा हमें जो वस्तु प्राप्त है, उसे संसार की सेवा में लगा दें। जो सामर्थ्य प्राप्त है उसे भी सेवा में लगा दें। योग्यता प्राप्त है वह भी सेवा में लगा दें। हमसे गलती यह होती है कि सेवा तो हम करते नहीं, न वस्तु के द्वारा, न योग्यता के द्वारा, न सामर्थ्य के द्वारा, न सद्भाव के द्वारा। सेवा करते नहीं और चाहते हैं कि संसार हमको नापसन्द हो जाए। सो कैसे होगा भाई? सेवा नहीं करोगे तो सेवा का उल्टा मालूम है क्या होता है?-भोग। तो भोग करोगे। अगर सेवा नहीं करोगे तो भोग करोगे। अगर मिली हुई वस्तु-योग्यता-सामर्थ्य को सेवा-सामग्री नहीं बनाते हो तो वह भोग-सामग्री बन जाएगी। और भोग करोगे तो मोह और आसक्ति में आबद्ध हो जाओगे।

क्या कारण है कि हमारे जीवन का मोह नाश नहीं होता, आसक्ति नाश नहीं होती? इसलिए, कि हम सेवा नहीं करते हैं, भोग करते हैं। भोग होता है ममता से, कामना से, तादात्म्य से। इनके बिना भोग की सिद्धि नहीं होती। यदि हम सेवा करना पसन्द करें, तो सेवा होगी प्राप्त वस्तु से, अप्राप्त से नहीं, प्राप्त से, प्राप्त सामर्थ्य से, प्राप्त योग्यता से प्राप्त से प्राप्त की ही सेवा होती है। क्या राय है? अप्राप्त की सेवा होती है क्या? और प्राप्त के द्वारा ही होती है। तो जो-जो वस्तु प्राप्त हैं, जो-जो व्यक्ति प्राप्त हैं, जो-जो योग्यता, सामर्थ्य प्राप्त हैं-उनके द्वारा प्राप्त व्यक्तियों की सेवा कीजिये अथवा प्राप्त परमात्मा को पसन्द कीजिये। प्राप्त की सेवा कीजिये; और प्राप्त ही परमात्मा को पसन्द कीजिये। तो जो संसार तुम्हें प्राप्त मालूम होता है तो वह तो आपका सेव्य हो गया और परमात्मा जो दिखाई नहीं देता वह आपका प्रिय हो गया। परमात्मा हमारा प्रेम-पात्र है, संसार हमारी सेवा का सेव्य है। तो संसार की सेवा और परमात्मा का प्रेम, अगर आपको पसन्द आ जाए तो अभाव का अभाव हो सकता है। परमात्मा का प्रेम और संसार की सेवा आपको पसन्द आ जाए-यही सार निकला न! समझ में आया कि नहीं?

अब लोग गलती क्या करते हैं? देखिये, हमसे गलती क्या होती है? बड़े-बड़े लोगों से होती है। क्या करते हैं कि संसार की सेवा पसन्द नहीं करते, संसार की सहायता से शरीर को सुख-पूर्वक रखना पसन्द करते हैं। जरा गम्भीरता से सोचिये तो! संसार की सहायता से, हमारे शरीर को भूख लगे तो भोजन मिल जाए, प्यास लगे तो पानी मिल जाय, नींद लगे तो बिस्तर मिल जाय, यानी जो-जो शरीर की जरूरतें पैदा हों वे सब-की-सब पूरी होती जायें, इसको हम पसन्द करते हैं। नतीजा यह होता है कि शरीर की सारी जरूरत कभी पूरी नहीं होती। यह कभी नहीं होगा कि आपको हमेशा भूख लगती रहे और हमेशा ही भोजन मिलता रहे। हमेशा प्यास लगती रहे और हमेशा ही पानी मिलता रहे। हमेशा ही कामना उत्पन्न होती रहे और पूरी भी होती रहे। यही कारण है कि आज का साधक भटक रहा है, बड़ी बुरी तरह से भटक रहा है। किस बात के लिए?-कि साहब किसी तरह से हमारे शरीर की आवश्यकता पूरी हो जाए। मान के रूप में, भोग के रूप में, जरूरत के रूप में। इसलिए भटक रहा है। तो जीवन का जो सत्य है वह हमें प्रेरणा देता है कि शरीर की आवश्यकता को समाज की मर्जी पर छोड़ दो और शरीर के द्वारा यथासम्भव समाज की सेवा करो। शरीर के द्वारा यथा-शक्ति सेवा करते रहो, शरीर की आवश्यकता को समाज की मर्जी पर छोड़ दो। अगर समाज शरीर की आवश्यकता को पूरी न करे, तो तुम्हें कोई घाटा नहीं पड़ेगा। क्यों? क्योंकि, शरीर सदैव तुम्हारे साथ रहेगा ही नहीं। तो तुम्हारा क्या घाटा पड़ेगा? किसी सेवा-परायण शरीर की समाज अगर परवाह नहीं करता, तो समाज की क्षति होती है कि सेवक की क्षति होती है? क्या राय है?

एक साधक-सेवा करने में बड़े झंझट आते हैं।

स्वामी जी-भले आदमी! मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि सेवा करने में झंझट आते हैं तो कौन-सी प्रवृत्ति ऐसी है जिसमें झंझट नहीं हैं। सेवा माने प्रवृत्ति, प्रवृत्ति है दूसरे के हित के लिए। तुम अपने सुख के लिए प्रवृत्ति करते हो, दूसरे के हित के लिए नहीं करते। इसलिए झंझट मालूम होते हैं। मैं आपसे बड़ी नम्रता के साथ यह बात निवेदन करना चाहता हूँ, इस पर लोगों को गम्भीरता से विचार करना चाहिए कि जो लोग यह सोचते हैं कि शरीर हमारी रुचि-पूर्ति का साधन है, वे कभी भी शान्ति नहीं पाते। उनको कहीं भी, कभी भी शान्ति नहीं मिलती। शरीर है सेवा-सामग्री। इसके द्वारा दूसरों की उस रुचि को पूरा करो जो तुम्हारे ज्ञान और सामर्थ्य के अनुरूप है। सेवा का मतलब है कि जो बात तुम्हारी सामर्थ्य के अनुरूप है उसे पूरी करना है। जो कार्य तुम्हारे ज्ञान के अनुसार है उसे करना है। तो मैं आपसे पूछता हूँ कि ज्ञान और सामर्थ्य के अनुसार कार्य करने में भी कोई कठिनाई है? कोई ईमानदार

आदमी नहीं कह सकता है। तुमको सिर्फ उतना ही करना है जो तुम्हारे ज्ञान के अनुसार हो। या वही करना है जो तुम्हारी सामर्थ्य के अनुसार है।

मैं तो आपसे यह नम्र निवेदन करना चाहता हूँ कि मेरे भाई! गम्भीरता से इस बात पर सोचो कि अगर हम सामर्थ्य-विरोधी काम करने से इन्कार नहीं करते हैं, ज्ञान के अनुरूप जो कार्य है उसके करने से इन्कार नहीं करते हैं तो कोई नाराज नहीं होता। नाराज कब होता है? सामर्थ्य है और इन्कार कर दें; ज्ञान के अनुसार है और इन्कार कर दें। सोने के लिए तो तुमको कमरा चाहिए, लेकिन आश्रम नहीं चाहिए! फिर! यहाँ से निकलोगे तब, तो किसी और के बनाये हुए घर में घुसेंगे। तो शरीर की आवश्यकता के लिए तो आपको संसार चाहिए, पर संसार के काम आने के लिए तुम्हारी छाती फटती है। सारी जवानी चल-चलकर बर्बाद करोगे, टुकड़े माँग-माँगकर बर्बाद करोगे, पर काम नहीं करोगे, सेवा नहीं करोगे। तो यह जीवन का सत्य नहीं है। जीवन का सत्य यह है-काम करो कुछ चाहो मत। तब क्या होता है, तब तुम्हारी शारीरिक आवश्यकता सम्मान-पूर्वक पूरी होती है। आज हमको अगर कहीं जाने की जरूरत पड़ जाए तो मोटर माँगनी पड़ती है। श्री ....जी महाराज ने चातुर्मास यहाँ किया, तो सेठ ने पूरे तीन महीने के लिए मोटर दे दी। नया बना हुआ बंगला भी दे दिया रहने के लिए। मोटर भी दे दी और साधुओं की भिक्षा का इन्तजाम भी कर दिया सेठों ने। क्यों कर दिया? इसलिए कि वे सेठों की जरूरत से यहाँ आये, केवल अपनी जरूरत को लेकर नहीं आये। और तुम अपनी जरूरत को लेकर यहाँ आये, आश्रम की जरूरत को लेकर नहीं आये। इसलिए तुम्हें आदर नहीं मिला, प्यार नहीं मिला, सम्मान नहीं मिला। रोटी तो मिली-आठ बरस तक खाई तुमने रोटी।

तो मैं आपसे यह नम्र निवेदन कर रहा हूँ कि यह भ्रम निकाल दो कि तुम रुचि-पूर्ति करते रहो और तुमको शान्ति मिल जाए। यह किसी काल में नहीं मिलेगी और आज तक किसी को नहीं मिली। शान्ति उसी को मिली है जो दूसरों के काम आया है अथवा जो अचाह हो गया, अथवा शरणागत हो गया है। चाहे तो प्रभु के शरणागत होकर प्रभु के नाते सेवा करो। चाहे अचाह होकर आत्मा के नाते सेवा करो। चाहे उदार होकर जगत के नाते सेवा करो। सेवा करने से जान बचेगी नहीं! कितना ही भटक लो। अनुभव कर लो, भटक लो, देख लो। जान नहीं बचेगी। हाँ सुख की दासता, दुःख के भय में बँधे रहोगे, सेवा नहीं करोगे तो। अगर सेवा करोगे तो सुख की दासता भी नाश हो जाएगी, दुःख का भय भी नाश हो जाएगा। परमात्मा भी मिल जाएगा, शान्ति भी मिल जायेगी, मुक्ति भी मिल जायेगी, भक्ति भी मिल जाएगी। यह जीवन का सत्य है।

उपसंहार

"अभी आपने पर-पीड़ा से द्रवीभूत हृदय से निसृत संत-वाणी में मनुष्य के व्यक्तित्व को सम्पूर्णता से प्रकाशित करने वाले चिरन्तन सत्य को सुना।"

व्यक्ति के कल्याण एवं सुन्दर समाज के निर्माण सम्बन्धी कोई ऐसी समस्या नहीं है कि जिसका समाधार श्री महाराज जी की वाणी के अनुसरण से न हो जाए। श्री महाराज जी के अनुसार मानव-जीवन का सुन्दरतम् चित्र यह है कि—

शरीर विश्व के काम आ जाए,

अहम् अभिमान-शून्य हो जाय; और

हृदय परम प्रेम से परिपूर्ण हो जाए।

इस आदर्श को उन्होंने अपने जीवन से हमें दर्शाया और अपने महाप्रयाण से भी यही पाठ पढ़ाया। जब उन्हें यह विदित हो गया कि उनका शरीर अब समाज की सेवा के योग्य नहीं रह गया, तब उस शरीर को त्यागने का समय, तिथि एवम् विधि को भीतर ही भीतर निश्चित कर लिया और कहने लगे—

1. मैं त्रिकाल में भी शरीर नहीं हूँ।
2. शरीर के नाश से मुझे दु:ख नहीं होगा। मैं बहुत आनन्द में रहूँगा।
3. बीच की यह उपाधि हट जायेगी तो भक्त और भगवान के अनन्त मिलन का अनन्त आनन्द रहेगा। इसलिए इस शरीर के छूटने पर शोक-सभाएँ नहीं होंगी, सत्संग-समारोह होंगे।
4. शरीर की बैकुण्ठी नहीं सजेगी, प्रोसेशन नहीं निकलेगा। मैं क्रान्तिकारी सन्यासी हूँ। तुम लोग विधि-विधान में मत पड़ना। कुटी में से पार्थिव शरीर को निकालकर आँगन में रखकर भस्म कर देना। शरीर की भस्मी मिटटी में मिला दी जाएगी, खाद बन जाएगी। घास उगेगी, पशुओं का चारा बनेगा।
5. समाधिस्थल पर कोई चिह्न नहीं बनेगा, फूल नहीं चढ़ेगा।
6. साधना का नाश नहीं होता है। अत: सेवा, त्याग, प्रेम का व्रत विभु होकर जन-समाज में फैलेगा।
7. इस शरीर की सेवा में जिसकी रुचि है, वह मानव-सेवा-संघ की सेवा करे, संघ मेरा शरीर है और वह स्थायी रहेगा।

8. जो लोग मुझे प्यार करते हैं वे भगवान को प्यार करें, क्योंकि भगवत्-प्रेम मेरा जीवन है।
9. जो उपदेष्टा भगवत्-विश्वास की जगह पर अपने व्यक्तित्व का विश्वास दिलाते हैं और भगवत्-सम्बन्ध के बदले अपने व्यक्तित्त्व से सम्बन्ध जोड़ने देते हैं, वे घोर अनर्थ करते हैं।
10. सिवाय परमात्मा के और कुछ नहीं है, कुछ नहीं है..... कुछ नहीं है।
11. व्यक्त-जगत की विविधता के भीतर अव्यक्त नित्य प्रेम-तत्त्व के एकत्व के दर्शी संत ने कहा—
    (क) "कोई गैर नहीं है"-यह धर्म का मंत्र है।
    (ख) "कोई और नहीं है"-यह प्रेम का मंत्र है।

प्रिय साधकों, इस सत्य को मानो। सर्व-समर्थ प्रभु तुम्हारे अपने हैं। उनके होकर रहो, उन्हीं का काम करो। और यह सद्गुरु का आशीर्वचन है कि उन्हीं में तुम्हारा नित्य-वास होगा।

अमृतमयी वाणी को सुनाकर, योग-स्थित होकर नाशवान शरीर को स्वेच्छा से त्याग करके उन ब्रह्मनिष्ठ सन्त ने जीने की और मरकर अमर होने की कला हमें सिखायी।

उन संत-शिरोमणि के चरणों में हमारा शत्-शत् नमन।

प्रार्थना करें—

.....मेरे नाथ! आप अपनी सुधामयी, सर्व-समर्थ, पतितपावनी, अहेतुकी कृपा से, मानव-मात्र को विवेक का आदर तथा बल का सदुपयोग करने की सामर्थ्य प्रदान करें, एवम् हे करुणासागर! अपनी अपार करुणा से शीघ्र ही राग-द्वोष का नाश करें। सभी का जीवन सेवा-त्याग-प्रेम से परिपूर्ण हो जाय।

ॐ शान्ति.....शान्ति.....शान्ति।

प्रवचन सूत्र

(1) परिवर्तनशील जगत की प्रत्येक वस्तु निरन्तर कालरूप अग्नि में जल रही है, अत: वर्तमान में ही योग्यतानुसार प्रयत्न कर प्रेमपात्र से अभेद होने का प्रयत्न करना चाहिए।

(2) अपने को सब ओर से हटाकर अपने में ही अपने प्रेमपात्र का अनुभव करना अनन्य भक्ति है।

(3) स्वधर्म पालन करने में आई हुई कठिनाइयों को प्रसन्नतापूर्वक सहन करना परम तप है।

(4) उन सभी संकल्पों का अन्त कर दो, जिनको जन समाज के सामने निर्भयतापूर्वक प्रकाशित नहीं कर सकते।

(5) अपने आप आने वाले सुख-दु:ख का शासन अपने पर मत होने दो।

(6) सत्य की खोज के लिए सर्वस्व समर्पण कर दो।

(7) निर्बलताओं को मिटाने के लिए व्याकुलतापूर्वक प्रेम-पात्र से प्रार्थना करो।

(8) प्रेम-पात्र के विरह तथा तत्त्व-विचार से हृदय शुद्ध कर लो।

(9) भलाई का चिन्तन भलाई से भी अधिक भलाई है, क्योंकि चिन्तन से दृढ़ता आ जाती है।

(10) विषय-चिन्तन मिटाने के लिये भगवत्-चिन्तन का स्वभाव बनाओ।

(11) स्वार्थ-भाव मिटाने के लिये सेवा करने का स्वभाव बनाओ, क्योंकि सेवा करने से स्वार्थ-भाव मिट जाता है।

(12) उस सुख का त्याग कर दो, जो किसी का दु:ख हो।

(13) उस दु:ख को प्रसन्नतापूर्वक अपनाओ जिससे किसी का हित हो।

(14) सत्य जीवन की जितनी रक्षा करता है उतनी और कोई कर नहीं सकता।

(15) असत्य से जितनी क्षति होती है उतनी और किसी से नहीं होती है।

(16) अहम् के नाश में अनन्त सामर्थ्य निहित है।

(17) संसार से निराश होने में ही संसार के स्वरूप का ज्ञान निहित है।

(18) जिसके न होने की वेदना है वह होने लगता है और जिसके होने की वेदना है वह अपने आप मिट जाता है।

(19) कार्य उसी का सिद्ध होता है जो दूसरों के काम आता है।

(20) जिसकी अपनी कोई आवश्यकता नहीं रहती उसी की माँग सभी को होती है।

सन्त-वाणी

भाग ४

(कैसेट सं० १३ से २२)



मानव सेवा संघ प्रकाशन
वृन्दावन

अनुक्रमणिका

— 卐 —

क्रमाङ्क		पृष्ठ संख्या
१. निवेदन		*iv*
२. अनुक्रमणिका		*v*
३. प्रार्थना		*vi*
४. भूमिका		*vii viii*
५. प्रवचन (कैसेट संख्या	१३ अ—ब)	१
६. प्रवचन (" "	१४ अ—ब)	१३
७. प्रवचन (" "	१५ अ—ब)	३८
८. प्रवचन (" "	१६ अ—ब)	६७
९. प्रवचन (" "	१७ अ—ब)	९४
१०. प्रवचन (" "	१८ अ—ब)	१२०
११. प्रवचन (" "	१९ अ—ब)	१४९
१२. प्रवचन (" "	२० अ—ब)	१८०
१३. प्रवचन (" "	२१ अ—ब)	२०६
१४. प्रवचन (" "	२२ अ—ब)	२२९

भूमिका

श्री महाराज जी के द्वारा अमूर्त सत्य को मूर्त शब्दों में प्रकाशित करने की लीला का संवरण हो चुकने के बाद, संत-प्रेमी, संघप्रेमी और सत्संग प्रेमी भाई-बहनों में यह संकल्प जोर पकड़ने लगा कि संतवाणी को सुरक्षित एवं सुलभ बनाये रखने का प्रयास होना चाहिए। श्रीस्वामी जी महाराज जब तक सशरीर विद्यमान थे, कुछ प्रेमी जनों ने उनकी विशेष स्वीकृति लेकर उनके कुछ प्रवचनों को टेप में रिकार्ड कर लिया था। विशेष स्वीकृति लेने का अर्थ यह है कि सामान्यत: प्रवचनों को टेप रिकार्डिंग करके रखना श्री महाराज जी ने साधकों के लिए विशेष हितकर नहीं माना था। प्रेमीजनों के विशेष आग्रह पर कभी-कभी स्वीकृति दे देते थे। ऐसी दशा में उनके प्रवचनों की *Arranged Recording* कभी नहीं हो सकी। जब जैसा बन पड़ा *Record* कर लिया गया। उनके ब्रह्मलीन हो जाने के बाद उनके ही स्वर में जीवनोपयोगी अनमोल वचनों को सुनकर जीवनदायी प्रेरणा लेने के लिए उनके चुने हुए टेप रिकार्डेड प्रवचनों के *Cassetts* तैयार कराये गये। प्रथम बार बारह कैसेट्स का प्रथम सैट तैयार हुआ। श्री महाराज जी की अमृत-वाणी का यह सैट सत्संग प्रेमियों के द्वारा बहुत पसन्द किया गया। साधकों के साधनयुक्त जीवन के निर्माण का यह एक आधार बन गया। संघ की शाखाओं द्वारा संचालित सत्संग की बैठकों में श्री महाराज जी के वचनों से सजीवता आ गयी। मानव-जीवन पर प्रयुक्त गूढ़ दार्शनिक तथ्यों की सरल अभि-व्यक्ति श्रीमहाराज जी की ही प्रेम-पूर्ण सशक्त ध्वनि में सुनकर प्रेमीजनों के हृदतंत्री के तार स्पन्दित हो उठते हैं। यह तथ्य

आज श्री महाराज जी के साकार विग्रह के लुप्त हो जाने की स्थिति में अत्यधिक अलभ्य उपलब्धि मालूम हो रही है।

जिस समय रिकार्डेड प्रवचनों के कैसेट्स बनाये जा रहे थे उस समय यह विचार भी आया कि कैसेट्स में जो वचन हैं वे इतने गूढ हैं कि उनका अध्ययन,मनन,पठन, पाठन, बारम्बर करते रहने पर ही उनको हृदयंगम किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त जो सत्संग-प्रेमी टेप रिकार्डिंग मशीन तथा कैसेट्स अपने पास नहीं रख पायेंगे उनके लिए भी अनमोल प्रवचन सुलभ होने चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पूरे सैट के प्रवचनों को पुस्तकाकार प्रकाशित किया जा रहा है। सन्तवाणी भाग २(दो)में प्रथम सैट के कैसेट्स संख्या १ से ६ तक के प्रवचन तथा संतवाणी भाग ३ (तीन) में प्रथम सैट के कैसेट्स संख्या ७ से १२ तक के प्रवचन प्रकाशित किये जा चुके हैं। प्रस्तुत संग्रह सन्तवाणी भाग ४ (चार) में द्वितीय सैट के कैसेट्स संख्या १३ से २२ तक के प्रवचन प्रकाशित किये जा रहे हैं। सन्तवाणी माला का यह चौथा पुष्प आपकी सेवा में प्रस्तुत है। इस संग्रह में प्रत्येक प्रवचन बिल्कुल कैसेट में भरे हुए प्रवचन के अनुरूप हैं। कैसेट्स सुनते समय भी जिन-जिन वाक्यों पर आप विशेष रूप से विचार करना, अध्ययन तथा मनन करना चाहें, उन वाक्यों को इस संग्रह में रेखांकित करके सरलता से कर सकते हैं। सत्संग प्रेमी भाई-बहनों को सेवा में सप्रेम समर्पित सन्तवाणी माला का चौथा पुष्प सब प्रकार से आपके लिए हितकारी हो, इसी सद्भावना के साथ–

विनीता :
देवकी

वृन्दावन
२–७–८५



(१३)

जीवन की सबसे आखिरी चर्चा है—ईश्वर की चर्चा।

निर्मम, अचाह, असंग होकर स्वाधीन हो जाना अध्यात्मवाद है।

जो बिना परिश्रम के अपने में प्राप्त हो जाय, उसी का नाम परमात्मा है।

एक समय में व्यक्ति में इच्छायें दो नहीं रहतीं, एक ही रहती है। प्रभु की मांग हो जाय तो और सब कामनायें मिट जाती हैं। बड़ा भारी सत्य है।

कर्म का फल भविष्य में होता है।

ईश्वर को मानने का फल वर्तमान में होता है।

अमर शरीर को ढूंढोगे तो संसार में पाओगे।

अपनी खोज करोगे तो परमात्मा में पाओगे।

बल के द्वारा संसार की सेवा होती है।

ज्ञान के द्वारा मुक्ति मिलती है।

विश्वास के द्वारा परमात्मा का प्रेम मिलता है।



१३

परिचय :

जीवन के अध्ययन के क्रम में, साधन-निर्माण काल में जीवन भर मूल-भूत सत्य के प्रयोग में, एक चित्र उभरकर स्पष्ट हुआ है, स्पष्टतर होता जा रहा है—वह यह कि अपनी ही भूलों के परिणाम से दुःखों के जाल में गुंथी हुई दशा, और अपने ही पुरुषार्थ से दिव्य-चिन्मय-रसरूप अस्तित्व से अभिन्नता का परमानन्द—एक ही अहम् के दो रूप हैं। एक असत् के संग-जनित दोष से उत्पन्न हुआ बड़ा ही कष्टदायक एवं अप्रिय है; दूसरा सत् के संग से अभिव्यक्त अनन्त, असीम आनन्दमय है। दोनों में बड़ा अन्तर है।

फिर भी, महान् आश्चर्य है कि बनने-बिगड़ने वाली दशा की उत्पत्ति एवं चिरन्तन सत्य की अभिव्यक्ति जिसमें होती है वह केन्द्र बिन्दु एक ही है। वह है, व्यक्ति का व्यक्तित्व।

एक ओर सुख-दुःख, जन्म-मरण, हर्ष-विषाद, मान-अपमान, संयोग-वियोग आदि द्वन्द्व की पीड़ा है। दूसरी ओर इन सबसे मुक्त अलौकिक, अविनाशी, आनन्दमय अस्तित्व है, जिसमें रस ही रस है, अभाव नहीं है; पराधीनता नहीं है, प्रत्युत असीम

शान्ति, पूर्ण स्वाधीनता और परम प्रेम है। उस अलौकिकता के अनुभव का वर्णन करते नहीं बनता है। वह अनिर्वचनीय है।

दशायें उत्पन्न होती हैं, अतः मिट जाती हैं। नित्य जीवन विद्यमान है, अतः प्रगट हो जाता है। एक ही व्यक्ति असाधन काल में यह कहता है कि 'मैं बहुत दुःखी हूँ, पराधीन हूँ,असमर्थ हूँ' और भ्रम निवारण के बाद वही अनुभव करता है कि 'मै आनन्द में हूँ।' दशाओं का मिट जाना और जीवन की अभिव्यक्ति, इतनी शीघ्रता से होता है कि समय का पता भी नहीं चलता। अनुभवी संत की वाणी में हमने सुना है कि सत्य की अभिव्यक्ति में काल अपेक्षित नहीं है। यह बात प्रत्यक्ष है, अनुभव गम्य है, आश्चर्य-जनक है; फिर भी सत्य है। इसी में मानव-जीवन की सार्थकता है। इसी उपलब्धि के लिये जीवन मिला है।

एक बार अपने इस वास्तविक अलौकिक जीवन का अनुभव पा लेने के बाद उत्पत्ति, परिवर्तन, और विनाश वाली दशाओं का कोई विशेष अर्थ नहीं रह जाता। ऐसा लगता है कि बहुत ही भयंकर कष्टदायक स्वप्न देखने वाले कष्ट से पीड़ित,भयभीत एवं व्याकुल व्यक्ति की आंख खुल गई हो—नींद से जैसे वह जग गया हो—स्वप्न जनित सारे दुःखों को अपना ही भ्रम जानकर कष्ट-मुक्त और आनन्दित हो गया हो।

दृश्य के संयोग-जनित उत्पीड़न का दुःख-भार ढोना कोरा भ्रम है, केवल भूल-जनित दशा है। फिर भी हम बेचारे उसमें बुरी तरह से उलझे हुए, कराहते हुए उसी को सुलझाने के विफल प्रयास में समय काटते रहते हैं। और अपना ही

सच्चिदानन्द स्वरूप जो वास्तविकता है, नित्य निरन्तर विद्यमान है, सभी का है, सभी के लिये है, अनन्त सामर्थ्य, आनन्द एवं रस-मय जीवन का स्रोत है, उस पर हमारी दृष्टि नहीं जाती। जिस जीवन के हम जन्म-सिद्ध अधिकारी हैं, उससे निराश रहते हैं, अपने को उसके लिये अनाधिकारी मानते हैं। यह बड़ी विडम्बना है। जिस पर अपनी सत्ता आधारित है, उसके प्रभाव से अपने को विमुख रखना और जिसकी त्रिकाल में भी सत्ता सिद्ध नहीं होती, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है ही नहीं, उसमें जीवन-बुद्धि स्वीकार करके सुख-दुःख के भोगी बने रहना—भीतरी और बाहरी दुःख-द्वन्द्व का हेतु है।

अहम् रूपी अणु की अर्थात् 'मैं' की विलक्षणता यह है कि जब चाहे तब 'नहीं' में-से जीवन-बुद्धि को अस्वीकार कर दे अर्थात् अपने जाने हुए असत् के सग का त्याग कर दे और वास्तविक जीवन की शांति, स्वाधीनता तथा परम प्रेम के आनन्द में मस्त हो जाय। ऐसा होता है। यह बहुत बढ़िया बात है।

तत्वज्ञान एवं प्रभु-प्रेम के रस से अभिन्न अहम्शून्य सन्तों एवं भक्तों का हमारे बीच उपस्थित होना, निर्मल प्रेम की अभिव्यक्ति के द्वारा नित्य-जीवन की झलक दिखाकर हमें उसकी याद दिलाना, भव-रोगों की यन्त्रणा से परित्राण के लिये पुरुषार्थ करने का प्रोत्साहन देना—सृष्टि के मंगलमय विधान के मंगलकारी विधायक की मंगलमयी योजना है।

इसी योजना की शृङ्खला में एक नई कड़ी जोड़ने आये थे—ब्रह्मलीन, प्रज्ञाचक्षु, परम पूज्य स्वामी शरणानन्दजी महाराज।

ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित, प्रभु-प्रेम के रस से पूरित, पर-हित की भावना से द्रवित होकर—दुःख-निवृत्ति, चिर शान्ति, जीवन-मुक्ति एवं भगवत्-भक्ति की चर्चा जो इनके द्वारा हुई है, वह मानव-मात्र के लिये क्रान्तिकारी अमर सन्देश है। इनके वचनों में मौलिकता है। इनकी युक्तियाँ अकाट्य हैं, प्रस्तुतिकरण अनूठा है और इनके हृदय में साधक-मात्र के कल्याण की कोमल भावना है।

इनके प्रवचनों को सुनकर आप स्वयं ही अनुभव करेंगे कि कैसा भागीरथ प्रयास इन्होंने किया है—इस बात के लिये कि जीवन की उच्चतम उपलब्धि जो प्रेम तत्व की अभिव्यक्ति है उसका आनन्द मानव-मात्र को मिल जाय।

इनके अनुभव सिद्ध वचन बड़े ही जोरदार हैं। कर्म प्रधान, विचार प्रधान और भाव प्रधान—सब प्रकार के साधकों को सिद्धि दिलाने वाले हैं, रूढ़िगत जड़ता से साधकों को मुक्त कराने वाले हैं, निराशा के अंधकार में जीवन-ज्योति जगाने वाले हैं, असमर्थों को सर्व सामर्थ्यवान का अटूट सहारा देने वाले हैं।

आज उनके साकार विग्रह के लुप्त हो जाने के बाद भी उनके अमृत-वचन से हमें प्रेरणा मिलती रहे, इसी उद्देश्य से सन्तवाणी संरक्षण का कार्य हो रहा है। उनके एक प्रवचन के कुछ अंश प्रस्तुत कर रही हूँ :—

'भौतिकवाद की दृष्टि से जीवन के विकास के लिये यह व्रत लेना चाहिये कि हम पर सबका अधिकार है और हमारा किसी पर अधिकार नहीं है। दूसरों का अधिकार देने से राग का

नाश होता है और अपना अधिकार छोड़ने से क्रोध का नाश होता है। राग का नाश होने से योग प्राप्त होता है। क्रोध का नाश होने से स्मृति प्राप्त होती है—कर्त्तव्य की, निजस्वरूप की, और प्रभु की। बहुत बड़ी बात है, बड़ा भारी विकास है। भौतिकवाद मानव जीवन का अनिवार्य पहलू है। इसका भी एक दार्शनिक सत्य है—यह मनुष्य को बुराई की प्रेरणा नहीं देता, प्रत्युत राग और क्रोध से रहित होने की प्रेरणा देता है।

अध्यात्मवाद की दृष्टि से निर्मम, निष्काम और असंग होकर स्वाधीन जीवन से अभिन्नता होती है। मेरा कुछ नहीं है; मुझे कुछ नहीं चाहिये--इन दो बातों को मानकर हम स्वाधीन हो सकते हैं। किसी प्रकार की पराधीनता शेष न रहे तो यह आध्यात्मिक विकास कहलाता है। शरीर के रहते हुए जीवन-मुक्ति का आनन्द आता है।

परमात्मा अपना है, अपने में है, अभी है, एक ही है, अद्वितीय है और समर्थ है। यह जिसकी महिमा है, उसी को परमात्मा कहते हैं। यह गुरुवाणी, वेदवाणी या शास्त्रवाणी है। अब आप विचार करें कि इस वाणी का अपने ऊपर प्रभाव क्या है ? अपना होने से परमात्मा प्यारा लगना चाहिये। अभी होने से मिला हुआ होना चाहिये। अपने में होने से नित्य-प्राप्त होना चाहिये। अपने को उनके प्रेम-तत्व से अभिन्न होने की आनन्दमयी अनुभूति होनी चाहिये। यह ईश्वरवाद की साधना की पूर्णता है।

ईश्वरीय प्रेम से अभिन्न होने में बड़ी भारी बाधा यह है कि हम उनके आत्मीय सम्बन्ध को सजीवता से मानते नहीं हैं।

सोचो तो सही—परमात्मा अभी है—तो क्या मरने के बाद मिलेंगे ? कि कुछ दिन ध्यान करने के बाद मिलेंगे ? कि आँख बन्द करने और सांस रोकने से मिलेंगे ? ऐसी बात नहीं है भाई ! इस बात को मान ही लो कि—अभी हैं,तो अभी मिलेंगे, अपने हैं, तो प्यारे लगेंगे ही, अपने में हैं, तो तलाश करने बाहर नहीं जाना पड़ेगा। जो बिना परिश्रम के मिलता है, उसी का नाम परमात्मा है। परिश्रम करने में सब व्यक्ति बराबर नहीं हो सकते, परन्तु परमात्मा को अपना मानने में सब बराबर हो सकते हैं। अतः परमात्मा सभी को मिल सकते हैं। यह बात आप में दृढ़ हो जाय, तो परमात्मा से मिलने की उत्कण्ठा तीव्र हो जायेगी। जब परमात्मा की माँग सबल हो जाती है, तो फिर कोई कामना शेष नहीं रहती। जब कामनायें समाप्त हो जाती हैं, तब संसार से सम्बन्ध टूट जाता है। तब पराधीनता, अशान्ति, विषमता और दुःख सब मिट जाते हैं।

परमात्मा हमको अपना करके जानते हैं। हमें उनको अपना मानना है। जो हमें अपना करके जानते ही हैं, वे हमें मिलने से इन्कार नहीं करेंगे। अवश्य मिलेंगे। इस बात में लेशमात्र भी सन्देह नहीं करना चाहिये।

जब आप निस्सन्देह हो जाइयेगा, तब परमात्मा के प्रेमी होने का प्रश्न वर्तमान का प्रश्न हो जायेगा।

दुनियां की जितनी चीजों को आप पसन्द करते हैं, उनके लिये भविष्य की प्रतीक्षा रहती है। जैसे एक फलदार वृक्ष लगाओ, तो उसमें फल लगेंगे भविष्य में। कर्म का फल भविष्य में होता है। परन्तु प्रभु-मिलन की बात वर्तमान की बात है।

चूंकि परमात्मा अपने में हैं, इसलिये उनकी प्राप्ति में श्रम तथा काल की अपेक्षा नहीं रहती।

यदि आप अपने को देखें, तो आपको अपने में परमात्मा के सिवाय और कुछ नहीं मिलेगा। शरीर का विश्लेषण करें, तो शरीर में संसार की ही वस्तु मिलेगी और कुछ नहीं मिलेगा। शरीर विज्ञान के ज्ञाता डाक्टर कहेंगे कि रक्त में लोहा कम हो गया अथवा शक्कर अधिक हो गया। इससे अमुक रोग हो गया। लोहा और शक्कर संसार की चीजें हैं, जो शरीर में पाई जाती हैं। इस दृष्टि से शरीर में संसार ही मिलेगा और कुछ नहीं मिलेगा।

बहुत ध्यान देने की बात है कि शरीर में संसार ही है, शरीर के बाहर चमक है तो भीतर भी है। यह सब ससार ही है। शरीर और संसार कभी अलग हो सकते नहीं।

लेकिन अपने में आप खोजेंगे, तो संसार नहीं मिलेगा, परमात्मा मिलेगा। आप और परमात्मा अलग नहीं हो सकते।

हाँ, यह दूसरी बात है कि अपनी भूल से आप संसार को पसन्द कर लें और उसकी कामना और ममता को अपने में रख लें। तब आपको अपने में संसार की ममता और कामना भले ही दिखाई दे। परन्तु आपके भीतर संसार नहीं मिलेगा। 'मैं' के भीतर संसार कहाँ घुस सकता है? कदापि नहीं।

इस तथ्य के आधार पर आप परमात्मा को अपना मानें तो उनकी आत्मीयता से उदित प्रियता आजायेगी। बड़ी बढ़िया बात है कि आप अपनी खोज करेंगे, तो अपने को

परमात्मा में पायेंगे और शरीर की खोज करेंगे, तो उसे संसार में पायेंगे। जैसे शरीर का संसार से अविभाज्य सम्बन्ध है, वैसे 'मैं' का परमात्मा से अविभाज्य सम्बन्ध है। हम अपनी भूल से संसार से सम्बन्ध जोड़ लेते हैं, वही पर्दा मालूम होता है—हमारे और परमात्मा के बीच में। यदि हम संसार से सम्बन्ध तोड़ लें, तो अपने में परमात्मा को पा जायेंगे।

परमात्मा अपने हैं, यह बात वाणी से भी कह सकते हो, मन से भी कह सकते हो। अच्छा ! मन और वाणी को छोड़ दो, तो अपने द्वारा यह बात मान भी सकते हो। 'मेरे नाथ ! मेरे नाथ !!—वाणी से भी कह सकते हो। अब सोचो, मन और वाणी से कहा हुआ बन्द हो सकता है, परन्तु अपने द्वारा माना हुआ कभी मिट नहीं सकता। सत्य की स्वीकृति सत्य के समान ही अमिट है। परमात्मा को अपना मानने में विश्वास हेतु है और संसार से असंग होने में ज्ञान हेतु है। और संसार की सेवा में बल हेतु है। परमात्मा को अपना मानने में शारीरिक बल हेतु नहीं है। शारीरिक बल से परमात्मा मिलेगा,तो उसका मूल्य रोटी, वस्त्र, दवाई से अधिक नहीं होगा—क्योंकि बल के द्वारा ये ही वस्तुएँ मिलती हैं संसार में। अतः ईश्वर-विश्वास शरीर धर्म नहीं है, स्वधर्म है। ज्ञान के द्वारा आप मुक्त हो जाइये, विश्वास के द्वारा आप भक्त हो जाइये। इसमें आपकी स्वाधीनता है। यह जीवन का सत्य है। यह कल्पना नहीं है। केवल कहने-सुनने की बात नहीं है। यह अनुभूत सत्य है।

विश्वास-पथ के साधक बड़े दुःख के साथ यह कहते हैं कि क्या बतायें—भगवान् में मेरा मन नहीं लगता है। सोचो तो सही, मन कहाँ लगता है ? तो आप कहेंगे कि संसार में लगता

है। कैसी दयनीय दशा है? संसार से हटाना चाहते हैं तो हटा नहीं सकते और भगवान् में लगाना चाहते हैं तो लगा नहीं सकते। इसमें एक रहस्य है—जिसको आप पसन्द कर लेते हैं उसमें-से मन हटता नहीं है, जिसको आप नापसन्द कर देते हैं, उसमें मन लगता नहीं है। संसार को नापसन्द कर दो, तो उसमें-से मन हट जायेगा। परमात्मा को पसन्द कर लो तो उसमें मन लग जायेगा। परमात्मा को पसन्द कर लेने से आप भक्त हो जायेंगे। अतः परमात्मा को पसन्द करना बड़े महत्व की बात है। विचार करो, ऐसी कोई वस्तु, कोई व्यक्ति है क्या जो हर समय, हर परिस्थिति में, हर संकट में तुम्हारे काम आये? स्पष्ट है कि संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है। अतः संसार से हमारा नित्य-सम्बन्ध नहीं हो सकता।

नित्य-सम्बन्ध उन्हीं से हो सकता है, जो कभी हमसे अलग न हों और सदैव हमारे काम आ सकें। ऐसा कोई एक है जरूर। परन्तु वह दुनियां के समान उत्पत्ति-विनाश युक्त नहीं है। वह अनुत्पन्न अविनाशी है। उसी से अपना नित्य-सम्बन्ध है। इस सत्य में विश्वास करने लगो, तो उससे प्यार हो जायेगा। परमात्मा को प्यार करने से, उनकी याद आने लगती है। उनकी स्मृति जागृत होने पर दुनियाँ की विस्मृति हो जाती है। ऐसा नहीं हो सकता कि परमात्मा भी प्यारा लगे और दुनियां भी बनी रहे। ऐसा नहीं हो सकता। परमात्मा सब कुछ कर सकते हैं। अगर आप उनसे विश्वास मांगें तो वे विश्वास दे सकते हैं, प्यार मांगें तो प्यार भी दे सकते हैं। विश्वास करना और विश्वास मांगना, प्यार करना और प्यार मांगना—इनमें कोई

खास अन्तर नहीं है। अगर हम और आप परमात्मा में विश्वास करेंगे, उनको प्यार करेंगे तो वे मिल जायेंगे। परमात्मा से मिलने के लिये मैंने कभी नहीं कहा कि भूखे रहो, नंगे रहो, तपस्या करो, वन में जाओ, इतना जप करो, इतना तप करो—ये कुछ नहीं कहा। यह सब तो दम्भ पूर्वक भी हो सकता है। परन्तु असली बात जो है वह विश्वास करने का है, वह अपने द्वारा किया जाता है।

हाँ, किसी ईश्वर विश्वासी की बात मान कर भी विश्वास किया जाता है। इस तरह से मानना भी आप ही के हाथ की बात हो गई। अतः विश्वास करने में कोई बाधा नहीं है। मीरा जो ने विश्वास किया। ईसा ने विश्वास किया। मुहम्मद ने विश्वास किया। गुरु नानक देव ने विश्वास किया। उनका विश्वास और वे कभी अलग नहीं हुए। उन सबको सफलता मिली। ज्ञान और विश्वास कभी विफल नहीं होते, हमेशा ही सफल होते हैं। ईसा के अन्तिम उद्‌गार क्या थे? "मैं और मेरा बाप एक है।" मीरा के अन्तिम शब्द क्या थे?—"मिल बिछुड़न नहीं कीजै"—आप मिल गये हैं, बिछुड़िये मत। अनन्त परमात्मा से अनन्त मिलन का अनुभव जीवन की सर्वोत्तम उपलब्धि है। यह सबसे ऊँची बात है। अब अपनी ओर देखिये। अगर आपको ऐसा लगता है कि आप में विकल्प-रहित विश्वास की कमी है, तो दूसरे नम्बर की बात है कि आप ईश्वर-विश्वासी थोड़ी-थोड़ी देर बाद बिना वाणी के, मूक भाषा में, प्रभु से मांगिये कि अपना विश्वास दे दो। फिर देखिये, विश्वास मिल जायेगा, प्रेम मिल जायेगा।

मेरा तात्पर्य यह है कि आपकी निराशा आशा में बदल जाय। परमात्मा से मिलने में किसी को कभी भी निराश होने की बात नहीं है। आप उनका विश्वास उनसे मांगेंगे, तो विश्वास मिल ही जायेगा और विश्वास मिल जायेगा, तो वे स्वयं भी मिल जायेंगे। विश्वास आने का तरीका है—विश्वास की जरूरत महसूस करना। आप जरूरत महसूस करेंगे, तो विश्वास मिल ही जायेगा और प्रभु-विश्वास प्रभु-प्राप्ति का अचूक उपाय है। जो परमात्मा को मान लेता है, उसको परमात्मा अवश्य ही अपना लेते हैं।

निवेदिका,
देवकी

१४

जब साधक साधन-तत्व से अभिन्न हो जाय, तब समझना चाहिये कि साधन का निर्माण हो गया। उसकी कसौटी है कि कितना समय आपको विश्राम मिलता है ?

मानव सेवा संघ की साधना-प्रणाली प्रत्येक साधक को विकसित करती है—जैसे भूमि प्रत्येक पौधे को पोषण देती है। विरोध किसी का नहीं है।

विश्राम सम्पादन के लिए चित्त को उसमें लगाओ जहाँ से हटे नहीं और उससे हटाओ जहाँ लगे नहीं। अपने स्वभाव को मन पर आरोप करने से उसमें दोष दिखाई देते हैं। अपने स्वभाव का आरोप हटा लेने से मन की स्वाभाविक निर्विकारता सुरक्षित हो जाती है, विश्राम मिलता है।

जिस प्रकार सूर्य का उदय और अंधकार का नाश युग-पद है; उसी प्रकार असत् का त्याग, सत् का संग, साधन की अभिव्यक्ति और सिद्धि युग-पद है। विश्राम सम्पादन का नाम है—मूक-सत्संग। मूक-सत्संग का अर्थ है—चिन्तन और अचिन्तता दोनों से असंग।

निवृत्ति का अर्थ है—"वृत्ति का स्फुरण न होना।" यह योग है। नित्य-योग सामर्थ्य का, बोध जीवन का और प्रेम रस का प्रतीक है।

जो सुख से असंग नहीं हो सकता वह दुःख से भी असंग नहीं हो सकता। सुख आवे तो उसका भोग करें और दुःख आवे तो उससे असंग हो जायँ, ऐसा कभी हो नहीं सकता। मूक सत्संग का आरम्भ होता है इन्द्रियों की विषय-विमुखता, मन की निर्विकल्पता एवं बुद्धि की समता से। इसकी पूर्णता होती है, शान्ति और समाधि से असंग रह कर स्वाधीनता में सन्तुष्ट न होने से।

विश्राम का एक और उपाय है—शरणागति। अर्थात् नित्य-मुक्त को रस देने की नित-नव लालसा। यह शरणागत की मुक्ति और भक्ति है।

१४

(अ)

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव !

सच बात तो यह है कि जब तक साधक अपने जाने हुए असत् का त्याग नहीं कर सकता, तब तक न तो सत् का ही संग हो सकता है और न साधन की ही अभिव्यक्ति हो पाती है। होता क्या है ? ऊपर से साधन सीख-सीखकर साधन का एक स्वांग करते रहते हैं। सच मानिये, साधन उसका नाम नहीं है जिसको आपने बाहर से भरा है। साधन का असली अर्थ ही यह है कि जिसकी अभिव्यक्ति साधक में-से हो। और वह साधन साधक को साधन-तत्व से अभिन्न करने में समर्थ हो जाय। इसका नाम है–साधन निर्माण। यह साधन निर्माण सत्संग के बिना किसी प्रकार हो नहीं सकता। आप लोग सोचते होंगे कि हम ग्रन्थों से,सन्तों से बहुत-सी बातें सीख लेंगे, रिकॉर्ड कर लेंगे, छपवा देंगे और हम साधननिष्ठ हो जायेंगे। मुझे इसमें हमेशा सन्देह रहता है। साधननिष्ठ तो नहीं हो जायेंगे, पर साधन के संग्रही अवश्य हो जायेंगे। और दूसरी की दृष्टि में इतने समझदार बन जायेंगे, इतने बुद्धिमान कहलायेंगे कि दूसरे लोग यह समझेंगे कि ये बहुत कुछ जानते हैं। किन्तु साधन का जो रहस्य है उससे विमुख रहेंगे। इसलिये भाई, साधक के जीवन का मौलिक प्रश्न यह है कि हम और आप अपने जाने हुए असत् का त्याग करें। आप विचार कीजिये और गम्भीरता से विचार कीजिये कि यह प्रश्न कि हमारा

चित्त सदा के लिये लग जाय जिसमें लगना चाहिये और सदा के लिये हट जाय जिससे हटना चाहिये, किस साधक का नहीं है? प्रत्येक साधक का है। लेकिन कितने साधक हैं जो ईमानदारी से यह कह सक कि हमारा यह प्रश्न हल हो गया? जरा विचार तो करो, क्यों हल नहीं हुआ? क्या हमारा भाग्य ऐसा है कि प्रश्न हल नहीं होगा ? ऐसी बात नहीं है। क्या कोई वस्तु विशेष हमें प्राप्त नहीं है, इसलिये प्रश्न हल नहीं हुआ ? ऐसी बात नहीं है। क्या कोई परिस्थिति विशेष नहीं है, इसलिये ऐसा नहीं हुआ ? ऐसी बात भी नहीं है। क्या किसी व्यक्ति विशेष के द्वारा होगा ? ऐसी बात भी नहीं है। यह साधन तब सिद्ध होगा, जब हम सब अपनी-अपनी दृष्टि में इतने ईमानदार हो जायँ कि जाने हुए असत् से सम्बन्ध न रहे। असत् न रहे, यह आपके वश की बात नहीं है। हाँ ! उसमें विश्वास न रहे, उससे सम्बन्ध न रहे, उसकी कामना न रहे। यह आपके वश की बात है।

तो आज हमें और आपको इस समस्या पर विचार करना है कि भाई, जिसे आप स्वयं असत् कहते हैं, जरा सोचिये तो सही, उस असत् की कहीं कामना तो जीवन में नहीं है ? उस असत् की कहीं ममता तो जीवन में नहीं है ? उस असत् का कहीं दुरुपयोग तो जीवन में नहीं है ? ये तीन बातें देखिये। जिसे आप असत् कहते हैं उसका दुरुपयोग, उसकी ममता, उसकी कामना यदि जीवन में है, तब सत् का संग हो ही नहीं सकता और सत् का संग हुए बिना साधन की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। अब इसका पता कैसे चले? इसका सीधा-सादा पता चलाने का तरीका है कि आप कितनी देर ईमानदारी से विश्राम कर सकते हैं ? कुछ लोग आपसे कहेंगे कि कितना काम कर

सकते हैं। पर शरणानन्द की फिलौसोफी में इस बात का कोई महत्व नहीं है। आपको कितनी देर विश्राम मिलता है, इसका जरा पता तो लगाइए। अधिकतर देखने में तो यह आता है कि हम लोगों के लिए २-३ मिनट भी कठिन हो जाता है। तो विश्राम के बिना सामर्थ्य की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। और विश्राम कब मिलता है? जब असत् की कामना न रहे, असत् की कामना। असत् कहते किसे हैं कि जिससे आपका नित्य सम्बन्ध न रहे। आप विचार कीजिये, जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं है आज हम उसकी कामना का त्याग नहीं कर पाते। यदि आपने कर दिया है, तब तो आपको अपने आप विश्राम मिलना चाहिये। और अगर आपको विश्राम मिला है, तो सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होनी चाहिये और यदि सामर्थ्य की अभिव्यक्ति हुई है, तो स्वाधीनता मिलनी चाहिये। यदि स्वाधीनता मिली है, तो जीवन में जड़ता, पराधीनता, असमर्थता, अभाव—यह नहीं रहना चाहिये। तो अब यही एक मूल प्रश्न रह जाता है कि हम सबको विश्राम कैसे मिले? इसके लिये संघ की नीति के अनुसार जो साधन-प्रणाली है वह आपको निवेदन करना है।

संघ की साधन प्रणाली में किसी मत, सम्प्रदाय की गंध नहीं है और न किसी का विरोध है। क्यों? भूमि, भला बताओ तो सही, किस पौधे का विरोध करती है और किसका पक्ष करती है? भूमि न किसी पौधे का विरोध करती है, न किसी का पक्षपात करती है, अपितु प्रत्येक पौधे को विकसित करती है। उसी प्रकार की साधन-प्रणाली मानव सेवा संघ की साधन-प्रणाली है। आप कहेंगे, कैसे? ध्यान दीजिये। मानव सेवा संघ की प्रणाली में आपसे यह नहीं कहा जायेगा कि आप

अमुक में अपना चित्त लगाइये अथवा आप अमुक से अपना चित्त हटाइये, यह नहीं कहा जायेगा। तो क्या कहा जायेगा ? कि भाई चित्त को उसमें लगाइये जिससे हटे नहीं, और उससे हटाइये जिसमें लगे नहीं। अगर आप अपने चित्त को उसमें लगाते हैं जिससे हटता है अथवा उससे हटाते हैं जिसमें लगता है, तो चित्त का लगना और हटना कुछ अर्थ नहीं रखता। अब यह प्रश्न पैदा होता है कि भई, ऐसा कौनसा है जिसमें हम चित्त को लगायें और वह हटे नहीं ? उसको ढूंढने के लिये, उसका पता लगाने के लिये आपको किसी और की सहायता नहीं लेना है। केवल इतना करना है कि आप उस चित्त पर से अपना शासन हटाइये, उससे ममता हटाइये, और फिर देखिये कि वह चित्त स्वभाव से किसमें लगता है ? जिसमें वह चित्त स्वभाव से लगे, उस समय आप अपने विवेक से यह विचार और कर लीजिये कि यहां से हटेगा तो नहीं! अगर हटता हुआ मालूम हो आपको कि यहां से चित्त अवश्य हटेगा, तब तो यह मालूम होते ही चित्त वहां से हट जायेगा।

तो जहां-जहां चित्त लगे अपने आप, आप लगाने का प्रयास न करें, वहां-वहां अपने ज्ञान से देखें कि यहां से चित्त हटेगा तो नहीं। इसमें तो कोई कठिनाई नहीं है-कोई बालक खेल रहा हो और कोई दूर से देख रहा हो,तो बालक के खेलने का श्रम उस देखने वाले पर तो कुछ नहीं होता—तो चित्त जब अपने आप किसी में लगे तो आप देखिये जहां लगा है वहां से हटेगा तो नहीं ? और जहां से हटे तो देखिये वहां फिर लगेगा तो नहीं ? अगर चित्त की गति आपको ऐसी दिखाई देती रहे कि यह तो वहीं लगता है जहां से हटता है और वहीं से फिर हटता है जहां फिर लगता है—अगर ऐसा मालूम हो, तब फिर आपको

चित्त से असहयोग करना चाहिये। असहयोग का अर्थ क्या है? द्वेष नहीं है, किसी को बुरा समझना नहीं है। असहयोग का अर्थ है—सम्बन्ध-विच्छेद। और किसलिये सम्बन्ध-विच्छेद? कि भाई,तुम वह नहीं करते जो करना चाहिये,इसलिये हमारा-तुम्हारा सम्बन्ध-विच्छेद है। अगर तुम वह करने लगो जो करना चाहिये, तो हम तुम सर्वदा एक हैं। यह मैंने असहयोग का अर्थ समझा। असहयोग का अर्थ मैंने कभी यह नहीं समझा कि असहयोग के माने किसी से स्थायी भेद कायम करना। यह तो प्रीतिका एक प्रकार है। क्या प्रकार है कि देखो भाई,तुम वह नहीं करते जो तुम्हें करना चाहिये। तो हम नहीं तुमसे बोलते, हम नहीं तुमसे सम्बन्ध रखते। इसका मतलब यह नहीं है कि हम नहीं तुमसे सम्बन्ध रखना चाहते। हम तो तुमसे सम्बन्ध कभी तोड़ना ही नहीं चाहते। किन्तु तुम वह नहीं करते जो तुम्हें करना चाहिये। इसका नाम है-असहयोग। तो असहयोग करते ही, आप सच मानिये, जिसे आप अपना मन कहते हैं, जिसे आप चंचल मन कहते हैं, जिसे अशुद्ध मन कहते हैं; वह अपने आप स्थिर हो जायेगा। इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। क्यों भाई, असहयोग करने मात्र से क्यों शुद्ध हो जायेगा? कि मन करण है, कर्त्ता नहीं है।

आप अपने स्वभाव को उसमें आरोप करते हैं, उसमें देखते हैं,किसके द्वारा? सहयोग के द्वारा। जब आपका सहयोग नहीं रहेगा,तब वह मन अपने आप जो स्वभाव से ही निर्विकार है-मैं ऐसा मानता हूँ कि प्रत्येक वस्तु सच पूछिये तो स्वभाव से निर्विकार है किन्तु उसमें जो विकारों का भास होता है वह होता है अविवेक के कारण और अविवेक जो है वह विवेक का अनादर है और कुछ नहीं—इसलिये भाई, जो ज्ञान का प्रकाश

आपको प्राप्त है—किसी पोथी का सीखा हुआ नहीं, किसी गुरु का बताता हुआ नहीं, किसी का सुनाया हुआ नहीं, वरन् स्वयं जो ज्ञान आपको प्राप्त है उस ज्ञान के प्रकाशमें जब आप शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण, बुद्धि आदि से असहयोग कर लेते हैं अर्थात् असंग हो जाते हैं, तब सच मानिये, ये सब निर्विकार हो जाते हैं। कहते तो आप यह हैं कि हमारा मन खराब है। अगर मन में चेतना होती और कहीं वह मुझे अपना वकील बनाता, तो मैं यह सिद्ध कर देता कि तुम्हारी खराबी से मन खराब है। मन किसी भी काल में खराब नहीं हुआ। मैं आपसे पूछता हूँ, जरा ध्यान तो दीजिये,जो शक्ति पर-प्रकाश्य है, वह भली और बुरी हो सकती है ? वह न भली हो सकती है, न बुरी हो सकती है। बुरे के हाथ में आकर वह बुरी मालूम होने लगती है और भले के हाथ में पहुँचकर भली मालूम होने लगती है। जैसे हम लोग उदाहरण देते हैं न ! लोग धन की निन्दा करते हैं, पर वही धन जब उदार व्यक्ति के हाथ में होता है, तब निन्दनीय होता है ! और वही धन जब कंजूस के पास पहुँच जाता है तब आदरणीय होता है ! जरा सोचिये, हम लोग शरीर की निन्दा करते हैं और वही शरीर जब संयमी के पास पहुँच जाता है तब निन्दनीय होता है ! और वही शरीर जब विलासी के हाथ में पड़ जाता है तब आदरणीय होता है !

सोचिये तो सही, गम्भीरता से विचार कीजिये तो सही। आपने और हमने कितना समय इसमें बर्बाद किया कि मन की निन्दा की, शरीर की निन्दा की धन की निन्दा की, वस्तुओं की निन्दा की। और फिर उन्हीं के दास हैं, बड़े आश्चर्य की बात ! आज का पति हमें मिलता है, कान में कहता है, अपनी

पत्नी की खूब निन्दा करता है। है किनका दास ? है उसी का दास। किस बात के लिये ? मेरी दासी बन कर नहीं रहती, इसलिये पत्नी बुरी है। वास्तव में पत्नी बुरी नहीं। ऐसे ही पति वास्तव में बुरा नहीं। लेकिन चूंकि मेरा दास बन कर नहीं रहता, इसलिये बुरा है। इसलिये भाई, जरा सोचो तो सही, इस व्यापार से आज तक आपका चित्त शुद्ध हुआ ? शांत हुआ ? क्या होने की सम्भावना है ? तो भाई,संघ की नीति के अनुसार तो कभी चित्त शुद्ध और शांत नहीं हो सकता, जब तक कि हम अपने दोषों को, अपने विकारों को चित्त में आरोप करते रहेंगे।

आप कहेंगे कि भाई, अपना विकार है क्या ? तो सबसे बड़ा तो अपना यही विकार है कि चित्तके ऊपर,शरीरके ऊपर, प्राणोंके ऊपर,बुद्धिके ऊपर अपने जो ममताका पत्थर लाद दिया है, यह बड़ा भारी अपराध है प्राणीका। बड़ा भारी अपराध है। सच पूछिये तो इससे बड़ा कोई अपराध हो ही नहीं सकता। मैं एक बात आपसे निवेदन कर दूं—बुरा मत मानना–देश का सबसे बड़ा द्रोही कौन होगा ? जिसकी देश में गाढ़ ममता है। वह जरूर देश का नाश कर देगा। क्यों ? उसके जीवन में हो जायेगा भेद और भेद होने से वह संघर्ष को जन्म देगा—देश बर्बाद हो जायेगा। जरा ध्यान दीजिये, गम्भीरता से ध्यान दीजिये—अपने बालक का सबसे बड़ा दुश्मन कौन है ? जो उसे अपना मानता है। अपने वर्ग का सबसे बड़ा दुश्मन कौन है ? जो यह कहता है—मेरा वर्ग, मेरा वर्ग। समझो, सर्व नाश हुआ उस वर्ग का। तो कहने का मेरा तात्पर्य यह है यह हमारा आपका जाना हुआ असत् है कि जिसमें हमारी ममता हो जाती है वह दूषित हो जाती है। जिसमें हमारी ममता

नहीं रहती वह शुद्ध हो जाता है। क्या आज हम इस अपने जाने हुए असत् का त्याग करने को राजी हैं तो सच मानिये, जिस प्रकार सूर्य का उदय और अन्धकार की निवृत्ति और प्रकाश की प्राप्ति युगपद् हैं, उसी प्रकार असत् का त्याग सत् का संग और साधन की अभिव्यक्ति और सिद्धि युगपद् हैं।

किन्तु दुःख की बात तो यह है कि जितनी योग्यता हमारे पास है वह दूसरोंको समझानेके लिये है,अपने समझाने के लिये नहीं है। और जब तक यह दोष रहेगा महाराज ! जो किसी का भी गुरू बनेगा वह अपना गुरू नहीं बन सकता और जो अपना गुरू नहीं बन सकता वह जगत् का गुरू नहीं बन सकता। आप सच मानिये, इसलिये जो व्यक्तियों के गुरू हैं उन शिष्यों ने ही अपने गुरूओं की सबसे बड़ी निन्दा की। आज आप विचार करके देखें, मैं अलोचना की दृष्टि से पूछूँ, सोचूं तो मुझको साफ यह दिखाई देता है कि इस्लाम की निन्दा,मुहम्मद की निन्दा जितनी मुसलमानों के द्वारा हुई, उतनी हिन्दुओं के द्वारा नहीं हुई। और महाराज ! हिन्दू धर्म की निन्दा जितनी हिन्दुओं के द्वारा हुई उतनी मुसलमानों के द्वारा नहीं हुई। बुद्ध धर्म की निन्दा जितनी बुद्धिष्टों के द्वारा हुई उनके द्वारा नहीं हुई जो बुद्धिष्ट नहीं हैं। ईसाई धर्म की निन्दा उन ईसाइयों के द्वारा हुई उतनी उनके द्वारा नहीं हुई जो ईसाई नहीं हैं। क्या कारण है ? और कोई कारण नहीं है भाई मेरे ! यह हमारी आपकी ममता का जो पत्थर है, यह ममता का पत्थर गुरू में लगा दो तो गुरू की निन्दा, सम्प्रदाय में लगा दो तो सम्प्रदाय की निन्दा, देश में लगा दो तो देश की निन्दा, वर्ग में लगा दो तो वर्ग की निन्दा और शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, प्राण में लगा दो तो ये निन्दनीय हो जायं।

इसलिये भाई, बड़ी ही धीरज के साथ, बड़ी ही गम्भीरता और विचार के साथ आज हमें और आपको इस समस्या पर विचार करना है और यह विचार करना है कि जिसको हम शुद्ध नहीं रख सकते, जिसका हम सदुपयोग नहीं कर सकते उससे हमें ममता करने का क्या अधिकार है ? सीधी बात। जिसका सदुयोग नहीं कर सकते, जिसको शुद्ध नहीं रख सकते, उसकी ममता करने का कोई अधिकार नहीं है और संग्रह करने का कोई अधिकार नहीं है। अगर यह बात हम और आप मान लेते हैं तो सच मानिये, आप जानते हैं, प्रकृति का मंगलमय विधान क्या है ? प्रकृति का मंगलमय विधान यह है कि जिसको विश्राम प्राप्त होता है, जिसको शान्ति प्राप्त होती है उसके पास सामर्थ्य बिना बुलाये आती है। और शान्ति क्या संग्रह से मिलती है ? शान्ति क्या ममता से मिलती है ? शान्ति क्या सुख-दुःख के भोग से मिलती है ? कदापि नहीं। आज मानव जीवन का जो मौलिक प्रश्न है बड़ा भारी प्रश्न है वह यह है कि हम और आप शान्ति का सम्पादन करें। और उसी शान्ति के सम्पादन को गतिविधि का नाम मानव सेवा संघ की प्रणाली में मूक-सत्संग बताया गया। यानी हम सब मूक-सत्संग करें। अब आप कहेंगे कि मूक-सत्संग क्या होता है ? तो इसका अर्थ कुछ लोग तो यह समझते हैं कि चुप होकर चिन्तन करो। कुछ लोग समझते हैं कि चुप होकर अचिन्त्य रहो। कुछ लोग समझते हैं कि चुप होकर मन से संघर्ष करो। पर ऐसी बात नहीं है।

मूक-सत्संग का अर्थ यह है कि चिन्तन हो, अचिन्तता हो दोनों से ही असंग रहो। चिन्तन का भी सुख मत भोगो, अचिन्तता का भी सुख मत भोगो, और अगर भुक्त-अभुक्त इच्छाओं के प्रभाव से अपने आप चिन्तन उत्पन्न हो तो उससे

न भयभीत हो जाओ और न उसका सुख लो। जब आप उत्पन्न हुए चिन्तन से भयभीत नहीं होंगे, उसका सुख नहीं लेंगे तब चिन्तन से तादात्म्यता नहीं रहेगी और जब चिन्तन से तादात्म्यता नहीं रहेगी तब वह चिन्तन निर्जीव होकर अपने आप मिट जायेगा। किन्तु एक बात का ध्यान रखिये कि जब वह चिन्तन अपने आप मिट जाय और अचिन्तता आ जाय तो अचिन्तता में चिन्तन की अपेक्षा कहीं अधिक रस है। बड़ा रस है महाराज! साधारण रस नहीं है, बहुत बड़ा रस है। आप उस रस के भोगी मत बनिये। अचिन्तता के रस के भोगी मत बनिये। अर्थात् योग का भोग मत कीजिये। योग, योग के लिये, बहुत ही आवश्यक है परन्तु योग भोग के लिये आवश्यक नहीं है। आप कहेंगे कि योग का भी भोग होता है? हां, जीवन का जब मैं अध्ययन करता हूँ तो मुझे साफ दिखाई देता है कि योग का भी भोग होता है। आप कहेंगे कि योग का भोग कैसा? पहले जरा सोचो तो सही, योग और भोग के भेद पर जरा विचार करो। भोग जिसे कहते हैं?—शक्ति का व्यय और योग किसे कहते हैं?—कि शक्ति का संचय। तो शक्ति का व्यय कैसे होता है-कि प्रवृत्तिसे और शक्ति का संचय कैसे होता है-निवृत्ति से। जैसे आप बोलते हैं तो बोलने की शक्ति का व्यय होता है और जब आप नहीं बोलते हैं तो बोलने का शक्ति का संचय होता है। यही योग विज्ञान है सरकार! और कोई योग विज्ञान नहीं है। चाहे प्राण-अपान के निरोध से करो उसे, चाहे मन के निरोध से करो और चाहे किसी भी प्रकार करो—प्रकार अनेक हो सकते हैं लेकिन योग का असली स्वरूप क्या है? योग का असली स्वरूप है वास्तविक निवृत्ति–निर+वृत्ति–मैं अर्थ करूं उसका अपने ढङ्ग का बेपढ़े का तो निरवृत्ति यानी वृत्ति का स्फुरण न होना। यह हुआ योग। और ये वृत्ति के

स्फुरण न होने की जो बात है यह अस्वाभाविक नहीं है, यह स्वाभाविक है। क्यों ? जब एक बार वृत्ति स्फुरित होकर अपना कार्य कर डालती है या उसका आप उपभोग कर डालते हैं तब वह वृत्ति अपने आप निवृत्ति हो जाती है। प्रत्येक वृत्ति का स्फुरण अपने आप निवृत्ति में विलीन होता है। जिस प्रकार उदाहरण लीजिये—प्रत्येक उत्पत्तिका विनाश अपने आप होता है। विनाश के लिये कोई यत्न नहीं करना पड़ता, उसी प्रकार प्रवृत्ति के अन्त में निवृत्ति अपने आप आती है। प्रवृत्ति के अन्त में जब निवृत्ति अपने आप आती है तो वह निवृत्ति पुनः प्रवृत्ति में क्यों बदलती है तो उसका कारण यह नहीं है कि जैसे लोगों ने कह दिया कि नहीं ! नहीं !! वह तो मन का स्वभाव ही है—यह कारण नहीं है। प्रवृत्ति काल का जो सुख-दुःख है उसका प्रभाव भोग बुद्धि से अपने में अंकित होता है वह अंकित हुआ प्रभाव पुनः निवृत्ति को प्रवृत्ति में बदलता है।

तात्पर्य क्या निकला कि प्रवृत्ति के द्वारा होने वाला जो सुख दुःख है उसका जब तक हम भोग करते रहेंगे तब तक एक घण्टे, दो घण्टे की कौन कहे ! वर्षों की आप समाधि लगाइये, जब उत्थान होगा तब वही प्रवृत्ति उदय होगी कि जिस प्रवृत्ति का आपने भोग किया है। तो तात्पर्य क्या निकला कि होने वाली प्रवृत्ति - होने वाली माने, जिस प्रवृत्ति को आप रोक नहीं सकते, जिस प्रवृत्ति को आप मिटा नहीं सकते—होने वाली प्रवृत्ति के द्वारा हम सुख भोग के स्थान पर तो सेवा का भाव कर दें और दुःख भोग के स्थान पर त्याग का भाव अपनालें कि भाई, बोलने में बड़ा सुख है लेकिन सेवाका भाव कैसे होगा कि भाई, श्रोता के स्वरूप में जो हमारे प्रेमास्पद हैं, वाणी के द्वारा उनकी पूजा करना है, न कि अच्छे व्याख्याता कहला

करके देहाभिमान को बढ़ाना है। तो भाई, जब हमारी और आपकी प्रत्येक प्रवृत्ति भोग-बुद्धि से रहित, सेवा भाव होने लगे – तब क्या होगा ? प्रत्येक प्रवृत्ति का अन्त जो स्वभाव से होता है बिना श्रम के होता है चाहे क्षणिक काल क्यों न हो, वह बिना श्रम के स्वभाव से आने वाली जो निवृत्ति है वह योग को प्रदान कर देती है। अथवा यों कहो कि वही योग है।

वह जो योग है उसका भी हमें भोग नहीं करना है। बोले, उसका भोग न करने के लिये हमें क्या करना होगा ?–कि योग का जो आरम्भ काल है वह जरा सूना-सूना लगता है और फिर धीरे-धीरे वह सूनापन शान्ति में बदलता है और वह शान्ति जो है वह बड़ी गतिशील है। तो शान्ति–बड़े आश्चर्य की बात मालूम होगी आपको। है तो शान्ति, पर बड़ी गति है उसमें महाराज ! बड़ी गति है। इसी आधार पर आपने देखा न ! ऐटम में जो एनर्जी है वह बड़ी-बड़ी चीजों में नहीं है। सूक्ष्म चीज में जो शक्ति होती है वह स्थूल में नहीं होती। क्यों ? स्थूल जो चीज होती है वह सीमित होती है। सूक्ष्म जो वस्तु होती है वह विभु होती है। शान्ति जो है प्रवृत्ति की अपेक्षा, भोग की अपेक्षा सूक्ष्म है और सूक्ष्म होने से विभु है। विभु होने से शक्तिशाली है। तो वह जो शान्ति है—जिस शक्ति का प्रादुर्भाव करेगी, उस शक्ति का आप भोग न करें।

१४

(ब)

तो भोग करना क्या है ? यह अनुभव न करें कि मैं शक्तिशाली हूँ। सबसे बड़ा भोग तो यही होता है । जिस समय व्यक्ति को यह मालूम होता है कि मुझमें सामर्थ्य है, मैं शान्त हूँ, मुझको कुछ नहीं चाहिये, मेरे जीवन में से दुःख निकल गया—यह जो किसी गुण विशेष के साथ जो अहं का सम्बन्ध है, यह क्या है ? यही योग का भोग है। जब हम और आप आये हुए योग का भोग नहीं करेंगे तो योग जो स्वभाव से गतिशील है—वह हमें पराधीनता से स्वाधीनता की ओर ले जायेगा, जड़ता से चिन्मयता की ओर ले जायेगा और अभाव से पूर्णता की ओर ले जायेगा। मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जायेगा यह नियम ही है। तो तात्पर्य यह निकला—योग का भोग न करने से चिन्मय, दिव्य जीवन की प्राप्ति होगी। यह भी बात संकेत से समझना चाहिये - कहना तो यह चाहिये कि दिव्य, चिन्मय जीवन जो है उससे अभिन्नता होगी। उसके और अपने बीच में भेद का नाश होगा। जब भेद का नाश होगा तब अपने आप प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। इसका तात्पर्य क्या निकला कि अपने आप आये हुए योग का भोग न करने से नित्य-योग, बोध और प्रेम की अभिव्यक्ति होगी। तो नित्य-योग जो है यह सामर्थ्य का प्रतीक है। और बोध जो है वह जीवन का प्रतीक है और प्रेम जो है यह रस का प्रतीक

है। अगर जीवन में से रस निकाल दिया जाय तो आपको जीवन अभीष्ट है अगर रस में से जीवन निकाल दिया जाय तो आपको रस अभीष्ट है ? और अगर रस और जीवन में से सामर्थ्य निकाल दी जाय तो आपको वह जीवन प्रिय है ? आप कहेंगे—नहीं। प्रिय क्या है ?—कि भाई, सामर्थ्य भी हो, जीवन भी हो और नित-नव रस भी हो। तो भाई, नित-नव रस की प्राप्ति, जीवन की प्राप्ति और सामर्थ्य की प्राप्ति हम सबको अभीष्ट है। और ये तीनों बातें एक ही जीवन में अलग-अलग नहीं।

कहीं आपको सामर्थ्य दिखाई दे और जीवन न दिखाई न दे—जैसे विचार कीजिये, जिसको आप शक्ति कहते हैं, जिसको आप प्रकृति कहते हैं इसमें सामर्थ्य तो है, पर जीवन नहीं क्योंकि सतत् परिवर्तन है। जिसको आप ज्ञान करते हैं, जिसको आप आत्मा कहते हैं, उसमें जीवन तो है, पर ज्ञान प्रकाशक है कि कर्त्ता ? ध्यान दें, कोई बुरा न माने भाई, ज्ञान प्रकाशक है या कर्त्ता ?—आपको मानना पड़ेगा—प्रकाशक है। तो जो प्रकाशक होता है उसमें वह सामर्थ्य नहीं होती जो पर-प्रकाश्य में होती है। जो पर-प्रकाश्य होता है उसमें वह ज्ञान नहीं होता जो प्रकाशक में होता है। लेकिन अपनी मांग ! अपनी मांग तो सामर्थ्य की भी है और ज्ञान की भी। यह नहीं कि हमको ज्ञान नहीं चाहिये, यह नहीं कि हमको सामर्थ्य नहीं चाहिये। कल्पना करो कि आपको ज्ञान भी चाहिये, सामर्थ्य भी चाहिये तो क्या आपको रस नहीं चाहिये ? हमें रस भी चाहिये। तो रस की जो मांग है उसका प्रतीक है प्रेम। जीवन की जो मांग है उसका प्रतीक है—तत्वज्ञान और सामर्थ्य की जो मांग है उसका प्रतीक है—नित्य योग। जो नित्य-योग,

तत्वज्ञान और परम प्रेम; इन तीनों की जहाँ अभिन्नता है, इन तीनों की जहाँ एकता है, वह क्या है ? वह महाराज ! संघ की भाषा में मानव जीवन है। तो यह जो मानव-जीवन है, जिसमें कि नित्य योग है जिसमें कि तत्वज्ञान है, जिसमें कि परम प्रेम है वह मानव जीवन किसके द्वारा प्राप्त होता है ? वह मानव-जीवन प्राप्त होता है सत्संग के द्वारा। और किस प्रकार के सत्संग के द्वारा प्राप्त होता है ? वह उस प्रकार के सत्संग के द्वारा प्राप्त होता है कि जिसमें लेश-मात्र भी श्रम नहीं है।

जो सुख का सद्व्यय नहीं कर सकता वह दुःख का सद्व्यय कर ही नहीं सकता। आज हमारी दशा क्या है? कि सुख-काल में तो सुख का भोग करें और जब दुःख आये तो असंग होकर के दुःख से मुक्त हो जायें। यह बात कभी नहीं बनेगी। आपको यदि असंग होना है तो सुख से भी असंग होना है और दुःख से भी असंग होना है। केवल दुःख से असंग हो जायँ और सुख का भोग करते रहें, केवल दुःख से असंग हो जायँ और सुख और शान्ति का भोग करते रहें। तो मेरा तो अपना ऐसा विश्वास है कि आपको जहाँ दुःख से असंग होने की बात है वहाँ सुख और शांति से भी असंग होने की बात है। वहाँ स्वाधीनता में भी रमण न करने की बात है। इसलिए, भाई, बड़े ही धीरज के साथ आज हमें इस बात पर विचार करना है कि बिना श्रम के जो सत् का संग है वह हम सब करें। उसके करने का समय प्रत्येक कार्य से पूर्व और प्रत्येक कार्य के अन्त में मुख्य समय है। और सोने से पहले और उठने के बाद। इसी बात को व्यावहारिक रूप देने के लिए जो संघ में बताया गया कि सायंकाल साढ़े सात बजे और प्रातः साढ़े तीन बजे मूक-सत्संग करना है।

इसका मतलब यह नहीं है कि वही उसका समय है। इसका मतलब केवल इतना है कि आपको इस बात की याद आये कि हमको कुछ देर शान्त भी होना है, विश्राम भी करना है। और आप कहें कि विश्राम तो हम नित्य सुषुप्ति में करते हैं। तो जो चीज अपने आप होती है, उसमें कर्तृत्व होता नहीं और जिसमें कर्तृत्व नहीं होता उससे करने से राग का नाश नहीं होता। इसलिये भाई, यह जो सत्संग करने के राग की रुचि है, सत्संग करने का जो राग है उसके लिए हम सबको श्रम-रहित होकर सत् का संग करना है। क्यों? सत् उसे नहीं कहते जिससे देश-काल की दूरी हो। सत् कहते ही उसे हैं जो सर्वत्र हो सर्वदा हो। तो जो सर्वत्र, सर्वदा है उसका नाश कभी नहीं हो सकता। और जिसका नाश कभी नहीं हो सकता वह हमसे दूर कभी हो ही नहीं सकता। जो हमसे दूर नहीं है, उसमें प्रेम हो सकता है, उससे योग हो सकता है, उसका बोध हो सकता है। उसके लिये कोई श्रम अपेक्षित नहीं होता। योग श्रम नहीं है, बोध श्रम नहीं है, प्रेम श्रम नहीं है।

इसलिए जो अविनाशी-तत्व सर्वत्र, सर्वदा ज्यों का त्यों है उसमें हमारा योग हो। तो कैसे होगा? कि जो सर्वत्र, सर्वदा नहीं है उसकी कामना के त्याग से। तो तात्पर्य क्या निकला कि कामना का त्याग योग का साधन है। भाई, कामना का त्याग योग का साधन क्यों हो गया? कि कामना कहते किसे हैं? सोचिये तो सही। कामना का अर्थ क्या है? जो हमारा वस्तु स सम्बन्ध जोड़ दे। चाहे वह वस्तु के स्थान पर शरीर हो, चाहे मन हो, चाहे प्राण हो, चाहे इन्द्रियाँ हों और चाहे बुद्धि हो, चाहे समस्त सृष्टि हो। जो सृष्टि से सम्बन्ध जोड़ने वाली शक्ति है, जो सृष्टि से सम्बन्ध जोड़ने वाली प्रवृत्ति कहो, उसी

का नाम है कामना। आप कहेंगे कि कामना तो कोई प्रवृत्ति नहीं मालूम होती। बड़ी भारी प्रवृत्ति है कामना, महाराज! क्यों जितनी प्रवृत्तियाँ आप देखते हैं उसके बीज रूप में कामना ही तो है? और क्या है? बताइये। शुक्लाजी के मन में कामना उठी कि शरणानन्द को बिहार में बिठालना चाहिए। बेचारे .....जी फँस गये बुरी तरह से। और कैसे फँसे? यह मानकर फँसे कि शरणानन्द को फँसाना है। यह मानकर नहीं फँसे कि मैं फँस रहा हूँ। फँसे तो बड़ी बुद्धिमानी से और यह सोच कर फँसे कि इस आजाद पंछी को पिंजड़े में बन्द करना है और उन्होंने अपने मन की बात पूरी कर भी ली, किसी सीमा तक कर लिया बन्द। लेकिन जरा सोचिये हम लोगों का सम्बन्ध तो उससे है जिसकी प्राप्ति वस्तु से सम्बन्ध विच्छेद करने पर होती है। वस्तु से सम्बन्ध विच्छेद करने का ही दूसरा नाम कामना-रहित होना है।

तो जब कामना-रहित होने से योग की प्राप्ति होती है, तो मैं आपसे पूछता हूँ कि पराधीनता कामना पूर्ति में है कि कामना के त्याग में है? हर भाई-बहिन को यह बात माननी पड़ेगी कि भाई, पराधीनता कामना पूर्ति में है, कामना त्याग में नहीं। हम बोलने में पराधीन हो सकते हैं,न बोलने में नहीं। कोई सुनने में पराधीन हो सकता है किन्तु न सुनने में नहीं। कोई देखने में पराधीन हो सकता है किन्तु न देखने में नहीं। तो यह जो न देखने से, न सुनने से, न बोलने से, न सोचने से जिसका संग होता है वह है मूक-सत्संग। तो कामना-रहित होने से योग की प्राप्ति होगी। और वह योग की प्राप्ति किसी परिस्थिति पर निर्भर नहीं है,किसी देश-काल पर निर्भर नहीं। यह सर्वत्र हो सकती है,सभी को हो सकती है। जब हम कामना-

रहित होकर विश्राम करें या हमको विश्राम मिले, या विश्राम का सम्पादन हो तब कुछ देर के बाद मन में उथल पुथल मचती है। आप लोगों की भाषा बोल रहा हूँ कि मनमें उथल-पुथल मचती है, मेरी अपनी यह भाषा नहीं है। मेरी भाषा तो यह है कि मन में न तो उथल है न पुथल है। जैसे तुम वैसा तुम्हारा मन। तो उथल-पुथल क्या मचती है कि उससे पूर्व जो भुक्त और अभुक्त इच्छाओं का जो प्रभाव है वह प्रभाव मिटने के लिए प्रकट होता है। जिसे आज लोग मन को चंचलता कहते हैं, जिसे आप मन का विकार कहते हैं, वह विकार नहीं है। वह तो भुक्त-अभुक्त इच्छाओं का प्रभाव है, जो दबा हुआ था, मवाद के रूप में, वह प्रकट होता है नाश होने के लिए।

किन्तु हमसे भूल क्या होती है कि जब वह विकार प्रकट होता है नाश होने के लिए, तब उससे भयभीत हो जाते हैं। और भयभीत होकर यह मानने लगते हैं कि हाय! हाय!! हमारा मन तो बहुत खराब। यह जो हमारी मान्यता हो जाती है कि हमारा मन बहुत खराब, तो बेचारा मन थोड़ी देर के लिये दब जाता है। क्यों दब जाता है कि मन नहीं चाहता कि आप उसके द्वारा दुःखी हों। मैं सच कहता हूँ, मन नहीं चाहता कि आप दुःखी हों। दब जाता है। फिर वह अनन्त की कृपा शक्ति फिर देखती है कि अच्छा! इस समय यह शान्त हो गया, यह भयभीत नहीं है तो फिर मन का विकार प्रगट होता है। जिसे आप विकार कहते हैं, वह प्रकट होता है केवल इसलिए कि वह अनन्त की कृपा-शक्ति उसका नाश करदे, और मन को निर्मल बनाकर योग की दृढ़ता कर दे। होती तो वह सब बात इसलिये है, लेकिन हम लोग उससे सहयोग नहीं तोड़ते, उससे भयभीत होते हैं, अथवा उसका सुख लेने लगते

है। तो भाई, उस उत्पन्न होने वाली उथल-पुथल से हमको और आपको भयभीत नहीं होना चाहिये, उससे सुख नहीं लेना चाहिए उससे तादात्म्य नहीं रखना चाहिए। उसके बाद ही मन अपने आप निर्विकल्प हो जायेगा। और मन की जो निर्विकल्पता है वह बुद्धि को समता देने वाली और इन्द्रियों को विषय से विमुख करने वाली है। मन, बुद्धि और इन्द्रियों के बीच की चीज है। जब मन में सकल्प होता है। तब बुद्धि मन के अधीन हो जाती है और मन इन्द्रियोंके आधीन हो जाता है और जब मन इन्द्रियों के आधीन हो जाता है तब इन्द्रियाँ विषयों के आधीन हो जाती हैं। एक क्रम यह है।

और दूसरा क्रम क्या है? कि जब मन निर्विकल्प होता है तब इन्द्रियाँ मन में विलीन होती हैं और जब इन्द्रियाँ मन में विलीन होती हैं तो मन बुद्धि में विलीन होता है और जब मन बुद्धि में विलीन होता है तब बुद्धि सम होती है। एक क्रम है यह। तो यह जो मूक-सत्संग है—बुद्धि की समता कहो, मन की निर्विकल्पता कहो, इन्द्रियों की विषय विमुखता कहो—यहाँ से तो ये आरम्भ होता है और इसका अन्त कहाँ होता है? इसका अन्त होता है शान्ति की असंगता से। समाधि की जो असंगता है, स्वाधीनता में जो सन्तुष्ट न होना है, वहाँ जाकर मूक-सत्संग की समाप्ति होती है। और जहाँ मूक-सत्संग की समाप्ति होती है वहाँ अपने आप परम प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, तत्वज्ञान की अभिव्यक्ति होती है, नित्य-योग की अभिव्यक्ति होती है। अथवा यों कहो कि सामर्थ्य, स्वाधीनता और रस की अभिव्यक्ति होती है। जिसको कि मानव सेवा सघ की भाषा में मानव-जीवन बताया जाता है। मानव-जीवन का जो वास्तविक चित्र है वह वही चित्र है जो आपको विश्राम से प्राप्त हो सकता है।

जरा सोचिये, अब विश्राम कैसे प्राप्त होता है? तो विश्राम का एक और साधन है। वह क्या है ? वह असंगता। असंगता का अर्थ क्या है ? असंगता का अर्थ केवल इतना है कि जिसे आप जानते हो वह आप नहीं हैं, सीधी बात। जो जानने में आता है वह ज्ञाता नहीं है और जो ज्ञाता है वह जानने में नहीं आता। तो आप किसे जानते हो? समस्त सृष्टिको तुम जानते हो। जिस सृष्टि को तुम जानते हो वह सृष्टि तुम नहीं हो। इसका नाम असंगता है। अभी हमारी बहनें कह रहीं थीं— 'मैं ब्रह्म हूँ 'मैं ब्रह्म हूँ'। यह असंगता नहीं है। क्यों ? इस बात का तुम विश्वास कर सकते हो कि मैं ब्रह्म हूँ। पर इस बात का तुम्हें ज्ञान नहीं है। जैसे आपने यह विश्वास किया था कि मैं स्त्री हूँ। जैसे किसी ने यह विश्वास किया था कि मैं हिन्दू हूँ। उसी तरह से आपने यह विश्वास कर लिया कि मैं ब्रह्म हूँ। वास्तव में ज्ञान तुम्हें केवल इतना ही है कि भाई, जो चीज जानने में आती है वह 'मैं' नहीं है, उसका नाम मैं' नहीं हो सकता। 'यह' का नाम 'मैं' नहीं है, 'यह' मैं नहीं है। यह है असंगता का साधन। यह असंगता नहीं है। यह असंगता का साधन है। जब इससे असंगता प्राप्त होती है तो किससे असंगता प्राप्त होती है ? समाधि से असंगता। अब लोग क्या समझते हैं कि हमको कर्म से असंगता प्राप्त हो जाय, चिंतन से असंगता प्राप्त हो जाय। अरे भाई, सोचो तो सही—कर्म से असंगता कर्मकाल में कैसे प्राप्त होगी आपको ? कर्मकाल में कर्म से असंगता प्राप्त नहीं होगी। तो क्या प्राप्त होगी ? तो कर्म के फल से असंगता प्राप्त होगी, कर्म से नहीं। निष्काम भाव से रोटी खाने से पेट न भरता हो, ऐसी बात नहीं है। निष्काम भाव से कपड़ा पहनने से शीत न मिटता हो, ऐसी बात नहीं है। तो कर्म से

असंगता नहीं होती, कर्म के फल से होती है। और असंगता किससे होती है भाई ?

कोई कहे कि हम चिन्तन से असंग हो जायं। तो भाई, चिन्तन से असंगता नहीं होती। चिन्तन जब प्रियता के रूप में बदलता है तब कर्त्तव्य के अभिमान से असंगता होती है। चिन्तन में कर्त्तव्य का जो अभिमान हो जाता है उससे असंगता होती है। अगर कोई कहे तो फिर वास्तव में असंगता किससे होती है ? कि भाई, वास्तव में तो असंगता चिरशान्ति से ही होती है। चिरशान्ति से जो असंगता है वह असंगता है। जरा सोचिये तो सही, जो जीवन चिरशांति से असंग होने पर प्राप्त होगा उस जीवन का आप वर्णन कर सकेंगे? नहीं कर सकते, किन्तु प्राप्त कर सकते हैं। इसलिये भाई, असंगता से भी विश्राम मिलता है। और किस प्रकार विश्राम मिलता है? तो भाई, शरणागति से भी विश्राम मिलता है। बोले, क्यों? शरणागति से कैसे मिलता है? जरा विचार तो कीजिये, जब हम अपने में अपना कुछ नहीं पाते और अपने को भी बिना किसी शर्त के उसको दे देते हैं जिसको सुना है। देखिये—शरणागति का अर्थ क्या है ? शरणागति कोई अभ्यास नहीं है। शरणागति भाव है। शरणागति का अर्थ केवल इतना है कि उस सुने हुए प्रभु के समर्पित अपने को कर देना. वह निराकार है कि साकार है, वह सविशेष है कि निर्विशेष है, वह यहाँ है कि वहाँ है, इसकी कोई चिन्ता नहीं। 'है' बस इतना बहुत पर्याप्त है। 'है' का जो विश्वास है वह विवेक विरोधी विश्वास नहीं है। क्योंकि विवेक कार्य करता है 'यह' पर, 'है' पर नहीं। 'यह' का जो विश्वास है वह विवेक-विरोधी विश्वास है। लेकिन 'है' का जो विश्वास है वह विवेक-विरोधी नहीं है। तो

आप कहेंगे कि उस 'है' का विवेक में समर्थन भी तो नहीं है। बड़ी सुन्दर तर्क है यह। बड़ी ईमानदारी की तर्क है कि मान लिया कि 'यह' का विश्वास विवेक-विरोधी विश्वास है। लेकिन 'है' का विश्वास विवेक-विरोधी विश्वास न सही लेकिन विवेक का समर्थन भी तो नहीं है। लेकिन भाई, जरा सोचो तो सही—यदि विवेक के समर्थन से विश्वास सिद्ध होता तो वह विश्वास मार्ग नहीं हो सकता था। यदि विवेक के समर्थन से विश्वास सिद्ध होता तब तो वह विचार मार्ग उसका नाम होता।

विश्वास एक स्वतन्त्र मार्ग है। किस साधक के लिये? तो जिसका सुने हुए प्रभु में विश्वास हो। चाहे उसने गुरू से सुना हो, चाहे ग्रन्थ से सुना हो। यह नहीं कि अनुभव में आया हो। अनुभव में आया हुआ प्रभु नहीं, जाना हुआ प्रभु नहीं। वह प्रभु जिसको सुना है और जिसमें विवेक का विरोध नहीं है, तो सुने हुए प्रभु में जो आस्था है वह आस्था शरणागति का साधन है। तो शरणागति है क्या? तो सुने हुए प्रभु को अपने को दे देना। आप जानते हैं कि अपने को कौन दे सकता है? वह स्त्री पति को नहीं दे सकती जो पति से सुख की आशा रखती हो। जरा ध्यान दीजिये, नाम लेती है कि मैंने अपने को दिया, वास्तव यह लेने का तरीका है। जैसे आप कहें कि हम भूमि में दाना डालते हैं, तो आप भूमि को दाना देते हैं? अरे! जब लेने को रुचि है तब देते क्या हैं? अपने को देने का उपाय क्या है? उस सुने हुए प्रभु से किसी प्रकार के सुख की आशा न की जाय। क्यों? सुख मिलता है कामना पूर्ति में। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह सुना हुआ प्रभु कामना पूर्ति नहीं कर सकता, यह मैं नहीं मानता हूँ। कामना पूरी कर सकता है। लेकिन जिसे

उसके शरणागत होना है वह सुने हुए प्रभुसे सुखकी आशा नहीं करता। बोले,भाई सुख की आशा न करें, लेकिन सद्गति की आशा तो करें—बोले, वह सद्गति की आशा भी नहीं करता। क्यों सद्गति की आशा नहीं करता ? भला सोचिये, जिसने अपने को शरणागत कर दिया, उसके जीवन में दुर्गति का प्रश्न है ? जरा विचार तो कीजिये—जिसके जीवन में-से सुख की आशा का नाश हो गया उसके जीवन में काम की उत्पत्ति हो सकती है? कदापि नहीं हो सकती। और जब काम की उत्पत्ति नहीं हो सकती तब बन्धन का प्रश्न ही नहीं आता। जब बन्धन का प्रश्न ही नहीं आता तो मोक्ष का महत्व ही क्या रह जाता है ! इसलिये उस सुने हुए प्रभु से सद्गति मत मांगो। और उस सुने हुए प्रभुसे सुख की कामना मत करो कि तुम हमको सुख देना और तुम हमारी सद्गति कर देना। तो अब आप कहेंगे कि उस सुने हुए प्रभु के शरणागत होने का प्रयोजन ? कि शरणागत होने का प्रयोजन तो यह है कि उस प्रभु को ही रस देना है।

जरा ध्यान दीजिये, यह है भक्तों की मुक्ति। नित्य-मुक्त को रस देने की नित-नव लालसा। नित्य मुक्त को, निर्विकार को रस देने की नित-नव लालसा,यह है शरणागत की मुक्ति। यही है शरणागत की भक्ति। तो कहने का मेरा तात्पर्य यह था कि उस सुने हुए प्रभु में यदि आपकी आस्था है—मैं नहीं कहता हूँ कि आप आस्था करें—मुझे क्या जरूरत पड़ी कि आप आस्था करें-यदि आस्था है तो उससे कुछ मांगो मत। न तो सुख मांगो, न शक्ति मांगो और न सद्गति मांगो। क्योंकि ये ही तीन चीजें मांगने की हो सकती हैं। क्यों न मांगें ? कि सुख के लिये तो उन्होंने कर्त्तव्य विज्ञान बना दिया और शान्ति के लिये उन्होंने

कामना का त्याग बता दिया और सद्गति के लिये उन्होंने असंगता प्रदान की है। तो असंग होकर अपनी सद्गति कर लो, कामना रहित होकर शान्ति का सम्पादन कर लो और मिले के सदुपयोग द्वारा सुख सम्पादित कर लो। इन तीन बातों के लिये ईश्वरवाद की कोई आवश्यकता नहीं है। ईश्वरवाद की आवश्यकता किस लिये है? कि अगर आप शरणागत होकर अपने शरण्य को रस देने की लालसा रखते हैं तब आपको प्रभु की सत्ता में आस्था रखनी चाहिये। यह क्या है? इस प्रकार भी हम और आप श्रम रहित हो सकते हैं। क्योंकि शरणागत के जीवन में भी श्रम नहीं है। जिसे असंगता प्राप्त है उसमें भी श्रम नहीं है और जिसने प्राप्त परिस्थिति का फलासक्ति से रहित, कर्त्तव्य के अभिमान से रहित सदुपयोग किया है उसके जीवन में भी श्रम नहीं है।

तात्पर्य क्या निकला? कि प्रवृत्ति द्वारा, निवृत्ति द्वारा, शरणागति द्वारा हम सबको चिर-विश्राम प्राप्त करना है। और चिर विश्राम द्वारा यह सब अपने आप प्राप्त हो जाता है। अब यह रुचि की बात है कि आप पहले चिर-विश्राम को प्राप्त करके तब आप कर्त्तव्य परायण होंगे, असंग होंगे या शरणागत होंगे अथवा कर्त्तव्य परायण होकर, असंग होकर, शरणागत होकर चिर विश्राम प्राप्त करेंगे। ये दोनों ही बातें सम्भव हैं। इसमें आपकी अपनी रुचि है, जो आपको पहले प्राप्त हो सके, उसे प्राप्त कीजिये।

❀ ❀

[१५]

देह से तादात्म्य स्वीकार करना संकल्पों की उत्पत्ति का कारण है।
अपने सुख-दुःख का कारण दूसरों को मान लेना भारी भूल है।
सुख-दुःख की प्रतीति के मूल में अपने देह का अभिमान हेतु है। अतः सत्संग के द्वारा इसका नाश सम्भव है।
अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियां विधान से आती हैं। विधान सदा ही हितकर है। अतः इसका आदर करो। सुख-दुःख को साधन-सामग्री मानें तो राग-द्वेष का नाश हो जायेगा। जगत के नाते, आत्मा के नाते और प्रभु के नाते सभी को प्रेम देने की सामर्थ्य आएगी।
निराश्रय होते ही स्वाश्रय आता है। 'स्व' का आश्रय जीवन देने वाला है, स्वाधीनता देने वाला है, दिव्य चिन्मय जीवन से अभिन्न कर देने वाला है। इसमें हम सभी समान हैं। परिस्थितियों के आधार पर दो व्यक्ति भी समान नहीं हैं। आप मन सोचिये कि हम बड़े-बड़े साधन करेंगे तो सिद्धि मिलेगी। आप साधन का एक अंश स्वीकार करके उसको जीवन में धारण करें, सफलता अनिवार्य है।
मनुष्य का बड़ापन वस्तु, योग्यता, सम्पत्ति में नहीं है। उसका बड़ापन चिरशान्ति में है, अमरत्व में है, परमप्रेम में है। सिद्धि का असली अर्थ भी यही है।

१५

(अ)

देह से जो तादात्म्य भाव स्वीकार कर लेते हैं यही संकल्पों की उत्पत्ति का मूल कारण है। परन्तु जब जीवन में सुख और दुःख की अनुभूति होती है तब हमसे भूल यह होती है कि हम उस दुःख और सुख का कारण दूसरों को मान लेते हैं। अर्थात् वस्तुओं को मान लेते हैं, व्यक्तियों को मान लेते हैं, परिस्थितियों को मान लेते हैं। और उसका परिणाम यह होता है कि हम अनुकूल परिस्थितियों की प्राप्ति के लिये दिन-रात प्रयत्न करते हैं और जो परिस्थिति प्राप्त है उसका सदुपयोग नहीं करते। यही भूल है। इस भूल का परिणाम यह हुआ है कि आज हम अपने को वस्तुओं की दासता से नहीं बचा पाते, व्यक्तियों की दासता से नहीं बचा पाते। और उससे यह होता है कि हमारे जीवन में अपने आप बिना बुलाये पराधीनता आ जाती है और राग-द्वेष आ जाता है। पराधीनता और राग-द्वेष का कारण एकमात्र मुझे तो यही मालूम होता है कि जब प्राणी अपने सुख का, अपने दुःख का कारण जब दूसरों को मान लेता है तब राग-द्वेष रहित हो नहीं सकता। और जब तक हम राग-द्वेष रहित नहीं हो सकते, तब तक किसी के भी सम्बन्ध में सही निर्णय नहीं कर सकते। क्यों ? जिससे राग हो जाता है उसका दोष नहीं दिखाई देता। जिससे द्वेष हो जाता है उसका गुण नहीं दिखाई देता। तो जब गुण और दोष का ठीक-ठीक दर्शन

ही नहीं हो सकता तब बताइये, किसी के सम्बन्ध में हम कोई भी निर्णय कैसे कर सकते हैं?इससे यह सिद्ध होता है कि यदि हमें किसी के सम्बन्ध में कोई निर्णय करना है तो इससे पहले अपने को राग-द्वेष रहित करना है।

राग-द्वेष रहित करने के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम अपने सुख का, अपने दुःख का कारण किसी दूसरे को न मानें। आप कहेंगे कि यह कैसे सम्भव हो सकता है!हमें तो स्पष्ट दिखाई देता है कि धन की प्राप्ति हमारे सुख का कारण है। हम आपसे कहें कि आप यह बताइये कि अगर आपके जीवन में लोभ का दोष न हो तो धन आपको सुख का कारण दिखाई देगा?या हानि आपको भयभीत कर सकेगी?कदापि नहीं। किंतु लोभ का दोष होने से लाभ तो सुख का कारण मालूम होता है और हानि दुःख का कारण मालूम होता है। ऐसे ही मोह का दोष होने से संयोग सुख का कारण मालूम होता है और वियोग दुःख का कारण मालूम होता है। अगर मोह रहित हो जाँय तो न तो संयोग में कोई सुख का भास होगा और न वियोग में कोई दुःख का भास होगा। इसी प्रकार आप देखिये,जब तक हम देहाभिमान को स्वीकार करते हैं तब तक सम्मान सुख का कारण मालूम होता है और अपमान दुःख का कारण मालूम होता है। यह जो सुख और दुःख हमको-आपको प्रतीत होता है इसके मूल में कोई परिस्थिति हेतु नहीं है, कोई अवस्था हेतु नहीं है, कोई वस्तु हेतु नहीं है। इसके मूल में हेतु है अपने देह का अभिमान। तो क्या इसका अर्थ यह है कि देह का नाश कर दिया जाय ? नहीं ! नहीं !! भाई, इसका अर्थ यह नहीं है। जिसको आप सुरक्षित नहीं रख सकते, जिसको आप अजर और अमर नहीं बना सकते उसके नाश का प्रश्न ही जीवन में

नहीं आता। देह तो जैसी है वैसी ही रहेगी, उसमें कोई हस्त-क्षेप नहीं करना है। लेकिन एक बात अवश्य करना है कि उस देह को जो हम अपना मानते हैं अथवा अपने को जो देह मानते हैं, क्या यह मान्यता हमारे और आपके विवेक से सिद्ध है ? आपके ज्ञान से यह बात सिद्ध है कि देह मेरी है अथवा देह 'मैं' हूँ ? अगर यह बात आपके ज्ञान से सिद्ध नहीं है तो जिस विश्वास में आपके ज्ञान का विरोध हो उस विश्वास का त्याग आवश्यक होता है।

तो यदि आज हम और आप एकान्त में बैठकर धीरज के साथ शान्त-चित्त से केवल इसी प्रश्न पर विचार करें कि क्या सचमुच देह मेरी नहीं है ? तो ये जो आपका ज्ञान है, इस ज्ञान का प्रभाव जब आपके जीवन पर होगा, आप सच मानिये, एक दीन से दीन, असमर्थ से असमर्थ, रोग युक्त प्राणी भी उस जीवन का अनुभव करेगा जो संसार के किसी भी व्यक्ति को मिला होगा। किन्तु दुःख की बात तो यह है कि हम बहुत कुछ जानते हैं, बहुत कुछ मानते हैं, बहुत कुछ सीखते हैं और बहुत कुछ सिखाते हैं; किन्तु जो अपने जीवन की मूल समस्यायें हैं उन पर बैठकर विचार नहीं करते। अगर उन पर बैठ कर हम विचार करने लग जाँय तो उसी का नाम मानव सेवा सङ्घ की भाषा में व्यक्तिगत सत्संग है अथवा पारिवारिक सत्संग हो जाता है। भाई,जब तक हम लोग व्यक्तिगत सत्संग नहीं करेंगे, आप सच मानिये, हम वास्तव में सत्संगी नहीं हो सकेंगे। व्यक्तिगत सत्संग करने के लिये किसी गुरू की आवश्यकता मालूम होती हो, किसी बाह्य ग्रन्थ की आवश्यकता मालूम होती हो, किसी वस्तु विशेष की आश्यकता होती हो, किसी परिस्थिति विशेष की आवश्यकता होती हो, ऐसी बात नहीं

है। प्रत्येक भाई, प्रत्येक बहिन स्वाधीनता पूर्वक व्यक्तिगत सत्संग कर सकते हैं। वह जो व्यक्तिगत सत्संग है कि जिसके द्वारा हम अपने जीवन में से अपने ज्ञान विरोधी विश्वासों को निकाल सकें, उसका परिणाम यह होगा कि हम और आप बड़ी ही सुगमता पूर्वक यह बात मान ही लेंगे कि हमारे सुख-दुःख का कारण कोई दूसरा नहीं है।

आप सोचिये, गम्भीरता से सोचिये कि यदि आज मानव-समाज यह बात मान ले कि भाई, हमारे सुख का कारण, हमारे दुःख का कारण कोई दूसरा हो नहीं सकता तो आज जितने इतिहासकारों ने ऐसे इतिहास लिखे हैं जिनको सुन कर, जिनको पढ़ कर, जिनको मान कर कभी तो क्रोध की उत्पत्ति होती है, कभी पश्चात्ताप होता है—वह सारा क्रोध, सारा पश्चात्ताप अपने आप शान्त हो जाय और एक ऐसी जागृति जीवन में आये कि भाई ! जब हमारे सुख का कारण कोई है ही नहीं, हमारे दुःख का कारण कोई दूसरा है नहीं तो ये सुख-दुःख जीवन में हैं क्यों? इसके उत्तर में आपको दो ही बातें मिलेंगी। एक तो ये बात मिलेगी कि भाई, सुख-दुःख से आप घबराते क्यों हैं? सुख-दुःख से आप भयभीत क्यों होते हैं ? सुख-दुःख तो मंगलमय विधान से निर्मित एक परिस्थिति है। क्यों ? यदि ऐसा न होता तो मैं आपसे पूँछता हूँ कि क्या एक भी व्यक्ति नहीं होता सारे संसार में जिसके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता था कि इसके जीवन में सुख-दुःख नहीं है? हमें ऐसा तो कोई व्यक्ति मिला नहीं। तो सोचना चाहिये कि जो वस्तु सभी के लिये है उसमें विधान का भी हाथ होता है। वह विधानसे निर्मित होती है। और विधान जो है, वह हम सबके लिये हितकर है, किसी के लिये अहितकर नहीं है।

देखिये, गम्भीरता से विचार कीजिये, विधान उसे नहीं कहते जो किसी के लिये भी अहितकर सिद्ध हो। विधान उसे भी नहीं कहते जो किसी वर्ग विशेष के लिये हो। जो किसी व्यक्ति विशेष के लिये हो, जो किसी देश विशेष के लिये हो, जो किसी काल विशेष के लिये हो विधान उसे नहीं कहते। विधान वास्तव में उसे कहते हैं जो सर्व देश के लिये हो, सबके लिये हो और जिसमें किसीका अहित न हो। यह जो सुख-दुःख की प्राप्ति जो हमें-आपको दिखाई देती है वह विधान से निर्मित है। जब यह विधान से निर्मित है तो अब यह प्रश्न ही नहीं रहता कि जीवन में सुख-दुःख क्यों है। दूसरी बात और सोचिये-जीवन में सुख और दुःख आता-जाता है, रहता नहीं है। रहता क्या है ? सुख का प्रलोभन और दुःख का भय। यह हमारे-आपके जीवन में रहता है। अहा ! उस दिन हमको बड़ा सुख मिला। उस दिन मिला, अब तो नहीं है ? कि अब तो नहीं है; लेकिन उसका प्रलोभन है। आप जानते हैं ? सुख का प्रलोभन जो है वह सुख के राग को जन्म देता है और सुख का राग जो है वह दुःख को जन्म देता है। यह बड़ा भारी सत्य है। जिसके जीवन में सचमुच सुख का राग नहीं है उसके जीवनमें दुःख की उत्पत्ति ही नहीं होती। नहीं तो, आप ऐसा सुख बताओ जिसके मूल में दुःख न हो और जिसके अन्त में दुःख न हो। ऐसा कोई सुख बता ही नहीं सकते। समस्त सुखों के मूल में कोई-न-कोई दुःख रहता है और समस्त सुखों के अन्त में किसी-न-किसी प्रकार का दुःख रहता है।

तो सच पूछिये, जिस सुख का हम प्रलोभन करते हैं वह है क्या ? वह सुख के आदि और अन्त में दुःख हो और मध्य में एक दशा विशेष आती है जिसे हम सुख के नाम से कहते हैं। अब

आप कहें कि नहीं! नहीं!! ऐसी दशा नहीं, सुख तो वस्तुस्थिति है। कैसी वस्तुस्थिति है ? कि हम औरों की अपेक्षा सुखी हैं, क्योंकि हमारे पास आवश्यक सामान है, हमारे पास आवश्यक योग्यता है, हमारे पास आवश्यक सामर्थ्य है। हम औरों की अपेक्षा सुखी हैं। तो हम कहेंगे कि भैया ! किसी की अपेक्षा दुःखी हो या नहीं ? आपको विवश होकर मानना पड़ेगा कि अगर आप किसी की अपेक्षा अपने को सुखी मानते हैं तो आपको विवश होकर किसी की अपेक्षा दुःखी मानना पड़ेगा। तब जब आप स्वयं दुःखी हैं तब आप कैसे कह सकते हैं कि हम सुखी हैं? भाई, सुख जिसे आप कहते हो वह दुःख की देन है,वह दुःख का प्रभाव है। दुःख का एक प्रभाव होता है जिसे लोग सुख कहने लगते हैं। अब प्रश्न क्या है ? प्रश्न यह है कि सुख-दुःख से अतीत का जो जीवन है, सुख-दुःख की निवृत्ति में जो जीवन है, क्या उस जीवन को मानव-मात्र प्राप्त कर सकता है ? तो मेरा अपना ऐसा ख्याल है कि अवश्य कर सकता है। निःसंदेह कर सकता है। क्यों कर सकता है? कि सुख-दुःख जो है वह साधन सामग्री है। परन्तु कब यह साधन सामग्री है ? जब हम सुख-दुःख का कारण किसी दूसरे को न मानें। या तो यह मानलें कि भाई, विधान से निर्मित सुख-दुःख आता ही है या यह मान लें कि भाई, इस सुख-दुःख का कारण कोई दूसरा नहीं है।

अब देखिये, बात और बड़ी सीधी, बड़ी सच्ची और बड़ी सरल। आज इसी क्षण से यदि हम और आप यह मानलें कि हमारे सुख-दुःख का कारण कोई दूसरा हो नहीं सकता तो जो हमारे चित्त में किसी के प्रति राग, किसी के प्रति द्वेष जो ठहरा हुआ है, चाहे वह कितना ही पुराना हो, वह अभी-अभी नाश

हो सकता है। और जब वह नाश हो जाता है तो आप सच मानिये कि राग के नाश होते ही योग की प्राप्ति और द्वेष के नाश होते ही प्रेम की प्राप्ति होती है। साधारण बात नहीं। मैं कभी-कभी अपने ईश्वरवादी मित्रों से कहा करता हूँ कि सच बताओ, तुम ईमानदारी से सभी को प्रेम कर सकते हो ? तो सम्भव है कि तुम प्रभु से प्रेम कर सको। अगर किसी के प्रति भी तुम्हारे हृदय में प्रेम की कमी होती है या प्रेम तुम नहीं दे सकते हो तो तुम प्रभु से प्रेम तो नहीं कर सकते। प्रायः ऐसा कहता हूँ कि पतित से पतित प्राणी को भी तुम प्रेम कर सकते हो कि नहीं ? बुरे से बुरे व्यक्ति को भी तुम प्रेम कर सकते हो कि नहीं ? तो भाई, अगर कर सकते हो तो प्रभु-प्रेम के अधिकारी हो सकते हो। अगर आपको यह दिखाई देता है कि यह अच्छा आदमी है, यह बुरा आदमी है, यह हमारे प्रेम का अधिकारी है, यह हमारे प्रेम का अधिकारी नहीं है। वस्तुओं के सम्बन्ध में यदि आप किसी का अधिकार-अनाधिकार देखते तो कोई आपत्ति नहीं थी, लेकिन प्रेम के सम्बन्ध में भी ! जरा हृदय पर हाथ धरके तो देखिये, आप भगवान् को तो मानते ही हैं, आत्मा को मानते हो हैं; ब्रह्म सत्य, जगत् मिथ्याका पाठ पढ़ते हो हैं—शिवोहं और अहं ब्रह्मास्मि—का ध्यान करते ही हैं। लेकिन ईमानदारी से बताओ, जैसे तुम्हें अपने लड़के को देख कर प्रसन्नता होती है, जैसे तुम्हें अपने घर को देखकर प्रसन्नता होती है, क्या दूसरे को देखकर होती है ? यदि होती है तो मैं यह कह सकूँगा कि कम-से-कम आपने अपने को इतना सुन्दर तो बना लिया है कि सारे विश्व के साथ एकता रख सकते हैं। सभी को प्रेम दे सकते हैं। तो जब आप सभी को प्रेम दे सकते हैं तब कहीं आपका उस सूची पर नाम लिखा जायेगा कि आप प्रेम के पथ पर चल सकते हैं।

आप कहेंगे कि क्या यह सम्भव है ? यह तो अप्राकृतिक है कि भाई, सभी को प्रेम किया जाय। अरे भाई, यह अगर अप्राकृतिक है तो आज सूर्य का प्रकाश उसको नहीं मिलता जिसको आप प्रेम नहीं दे सकते। आज वायु उसे स्वांस नहीं लेने देती जिसे आप प्रेम नहीं दे सकते। आज आकाश उसे अवकाश नहीं देता जिसे आप प्रेम नहीं दे सकते। परन्तु आप यह तो देख ही सकते हैं कि इन वस्तुओं का अधिकारी प्रत्येक प्राणी रहता है। सोचिये कि आपके पास पंच भूत के अतिरिक्त क्या वस्तु है ? भाई, जरा सोचो तो सही—जिस वाणी से आप बोलेंगे प्यार भरी बात, क्या वह वाणी समष्टि शक्तियों से निर्मित नहीं है ? जिन आँखों से आप प्रेम भरी दृष्टि से देखेंगे, क्या वे आँखें समष्टि शक्तियों से निर्मित नहीं है ? जरा विचार तो कीजिये। आपको मानना ही पड़ेगा कि आपके पास जो कुछ है वह समष्टि शक्तियों का है। समष्टि के नाते वह सबका है। लेकिन यह बात आप भूल जाते हैं और यह सोचने लगते हैं कि प्यार भरी वाणी तो उसी से बोलने की है जिससे हमारी ममता है। बस यही सर्वनाश की जड़ है। इसलिये भाई, आप अपनी वस्तु किसी को दीजिये या मत दीजिये, हमारे संघ की नीति में इस बात का बहुत ध्यान रखा जाता है कि जिसके करने में आपको जरा भी हिचक है, संघ की नीति कभी भी नहीं कहती कि आप कीजिये। अगर हम कहें कि आप अपना धन निर्धनों को दे दीजिये तो आपको हिचक लगेगी। परन्तु यदि हम आपसे कहें कि आप निर्धनों को भी प्यार दीजिये, निर्धनों को भी आदर दीजिये, उनका भी बुरा मत चाहिये तो बताइये, आपको कोई हिचक लगने की बात है ? इसमें आपकी कोई हानि होती है ? कोई हानि नहीं होती।

यदि आप सभी को प्रेम दे सकते हैं तब आप सच मानिये, द्वेष से रहित हो सकते हैं। अथवा यों कहो कि जब आप द्वेष से रहित हो सकते हैं तब सभी को प्रेम दे सकते है। और द्वेष से रहित होने का उपाय? सीधा-सादा,बड़ा सरल उपाय-अगर आप अपने दुःख का कारण किसी और को नहीं मानते तो आपके हृदय में द्वेष की उत्पत्ति हो नहीं होगी। जब द्वेष की उत्पत्ति नहीं होगी तब जहाँ द्वेष निवास नहीं करता वहाँ प्रेम निवास करता है। ऐसे ही जहाँ राग निवास नहीं करता वहाँ त्याग निवास करता है। कहने का तात्पर्य यह था कि राग-रहित होने से योग की प्राप्ति होगी और द्वेष-रहित होने से प्रीति की अभिव्यक्ति होगी। अब योग क्या चीज है भाई? किस योग की प्राप्ति होगी? क्या प्राप्त होगा? योग का असली अर्थ जो मैंने समझा है अभी तक,वह तो मुझे ऐसा मालूम होता है कि योग का अर्थ है—पराश्रय का त्याग। 'पर' का जो आश्रय रहता है जीवन में उसका त्याग। 'पर' का आश्रय नहीं रहता। जब 'पर'का आश्रय नहीं रहता तब भाई, किसका आश्रय होता है? आप कहेंगे कि 'पर' का आश्रय तो पर' का ही है। सच पूछिये, आश्रय जो दिखाई देता है जीवन में, वह तो 'पर' का ही दिखाई देता है। जब 'पर' का आश्रय नहीं रहेगा तब हम निराश्रय हो जायेंगे। निराश्रय हो जायेंगे तब तो हमारा अस्तित्व ही नहीं रहेगा—ऐसा भय एक बार आता है जीवन में। कब आता है? जब इस विचार की उत्पत्ति होती है कि भाई, हम पराश्रय को स्वीकार नहीं करेंगे। एक दम यह मालूम होता है कि जहाँ हम टिके हुए थे वह तो सब डूब गया, वह सब समाप्त हो गया।

एक घटना हम आपको सुनाए कि एक साधक आया किसी

सत्पुरुष के पास। तो आप जानते ? आजकल एक बात चलती है लोगों के मन में-वह यह कि कोई ऐसा गुरु मिल जाता जो हमारा ध्यान करा देता,जो हमारी समाधि करा देता,जोहमारे चित्तको शान्त कर देता। तो महापुरुष कोई-कोई करुणित होकर ऐसा कर भी बैठते हैं। यद्यपि ऐसा करने से कोई विशेष लाभ नहीं होता, पर कर बैठते हैं। एक महापुरुष कर बैठे–सो जो उसके चित्त का आधार टूटा, एक दम दृश्य का आधार टूटा–वह एक दम घबरा कर खड़ा हो गया। बोला, महाराज जी, मैं नहीं करूँगा ध्यान। क्यों-क्यों क्या बात हो गई ? तुम तो ध्यान करना चाहते थे। बोले, महाराज जी ! सब डूब गया, सारा संसार डूब गया। वह तो एक दम घबरा गया, काँप गया। आप विचार करके देखेंगे, यही दशा तब होती है जब आपकी कोई प्रिय वस्तु नाश होती है। आपके पास बहुत सी वस्तुऐं हैं, बहुत से आपके साथी हैं; लेकिन बहुत-सी वस्तुओं में से कोई एक वस्तु, बहुत से साथियों में से कोई एक साथी जिस वक्त आपसे अलग होता है या जिस वक्त उसका नाश होता है तो आप एक दम इतने अधीर क्यों हो जाते है? आप इतने घबरा क्यों जाते हैं? यह बात नहीं कि वस्तु के नाश होने से घबराहट हुई। आपका बड़ आश्रय बना हुआ था, वह आश्रय टूटता है। जब अनेक आश्रय में से एक आश्रय टूटने पर आदमी अस्तव्यस्त हो जाता है तो जब सभी आश्रय टूटते होंगे तब क्या दशा होता होगी? वहाँ एक बड़ी विचित्र दशा होती है। और इस दशा को सहन करने ही के लिये वैराग्य की बात पहले ही से सिखाई जाती है, ज्ञान की बात पहले ही से सिखाई जाती है, प्रभु विश्वास की बात पहले ही से सिखाई जाती है। जहां कहीं निराश्रयता आ जाय तो आदमी घबरा न जाय।

तो इस निराश्रय का जो आरम्भ काल है वह बड़ा ही भय देने वाला होता है,लेकिन वह भय है बिल्कुल निरर्थक। मिथ्या भय है। इसमें वास्तविकता कुछ नहीं है। तो भाई, निराश्रय होते ही एक स्वाश्रय मिलता है। स्वाश्रय का अर्थ बहुत से लोग तो यह मान लेते हैं कि आत्मरति,आत्मतृप्ति,आत्मसंतुष्टि। यह भी स्वाश्रय का अर्थ है। लेकिन इससे भी विचित्र एक स्वाश्रय का अर्थ मुझे ऐसा मालूम होता है—'स्व' कहते हैं 'अपने को' और 'अपने को' उसे कह सकते हैं जो किसी भी प्रकार से दूर हो ही नहीं सकता। जो हमसे किसी भी हेतु से दूर नहीं हो सकता और हम जिससे दूर नहीं हो सकते। जो हमारा त्याग नहीं कर सकता, हम जिसका त्याग नहीं कर सकते। तो जिसका त्याग हम कर ही नहीं सकते, जो हमारा त्याग कर ही नहीं सकता, जिससे हमारी दूरी हो ही नहीं सकती—उसका आश्रय प्राप्त होता है। उसे अन्तरात्मा भी कह सकते हैं। उसे आप विश्वात्मा भी कह सकते हैं। उसे आप सर्वाधार भी कह सकते हैं। उसे आप सर्व का ज्ञाता भी कह सकते हैं। न जाने क्या-क्या कह सकते हैं। जितना भी कह सकते हैं उससे उसका पूरा अर्थ व्यक्त होता हो, ऐसा मैं नहीं मानता हूँ। लेकिन हाँ, आंशिक अर्थ उससे व्यक्त होता है। तो वह जो 'स्व' का आश्रय है वह स्व का आश्रय सामर्थ्य देने वाला है, जीवन देने वाला है, स्वाधीनता देने वाला है, दिव्य चिन्मय जीवन से अभिन्न कर देने वाला है। तो वह 'स्वाश्रय' हमको और आपको अभी-अभी मिल सकता है। क्यों? जब राग-द्वेष नहीं रहा, तब चित्त के लिये आने-जाने के लिये कोई स्थान ही नहीं रहा।

ये जो हमारे बहुत से भाई कहा करते हैं कि क्या बतायें! हमारा मन तो ठहरता ही नहीं है। यह जो वर्णन है यह

सैद्धान्तिक वर्णन नहीं है। यह वस्तुस्थिति का वर्णन है। यह एक दशा का वर्णन है कि हमारा मन ठहरता ही नहीं है, कि हमारा मन हमारे आधीन रहता ही नहीं है। यह बात ठीक है—अरे भाई, तुमने राग-द्वेष को तो कर लिया है जमा। राग-द्वेष इसलिये जमा होता है कि तुम्हें सुख-दुःख भोगना पड़ता है, राग-द्वेष जमा इसलिये होता है कि आप इसका कारण दूसरे को मान लेते हैं। अथवा आप सुख-दुःख को मंगलमय विधान से निर्मित नहीं मानते हैं। इन सब कारणों से राग-द्वेष जमा होता है। राग-द्वेष के रहते हुए आज तक न किसी का चित्त शान्त हुआ और न शुद्ध हुआ और न स्थिर हुआ और न होने की सम्भावना है। हो ही नहीं सकता। जैसे कोई ड्राइवर हो, गाड़ी को स्टार्ट तो कर दे और फिर रोये कि हाय-हाय रे! गाड़ी ठहरती ही नहीं, कि हाय-हाय रे! गाड़ी ठहरती ही नहीं। आप कहेंगे कि पागल हो गया है। स्टार्ट कर दिया है, बन्द कर दे, गाड़ी ठहर जायेगी। उसी तरह की यह बात है कि हमने राग-द्वेष को तो रख लिया है जमा, फिर कहते है कि हमारा चित्त ठहरता ही नहीं, हाय-हाय रे! हमारा चित्त शान्त होता ही नहीं। तो कहने का मेरा तात्पर्य यह था कि इसलिये भाई, यह जीवन का एक मौलिक प्रश्न है कि जो हम और आप दिन-रात सोचते रहते हैं कि साहब, अमुक व्यक्ति के द्वारा हमें बड़ा सुख मिला, अमुक वस्तु से हमें बड़ा आराम मिला और अमुक वस्तु से हमें बड़ा कष्ट मिला, यह सोचना बिल्कुल निरर्थक है और अपना जाना हुआ असत् है।

इसलिये भाई, इसका त्याग करके आज हम सब को यह व्रत लेना चाहिये कि हमारे सुख का कारण, हमारे दुःख का

कारण कोई और नहीं हो सकता। और जीवन में जो सुख और दुःख है वह साधन सामग्री है। उसी के सदुपयोग से हम सुख-दुःख से अतीत के जीवन को प्राप्त कर सकते हैं। इस दृष्टि से आये हुए सुख का भी आदर करना है और आये हुए दुःख का भी आदर करना है। न सुख का प्रलोभन रखना है, न दुःख से भयभीत होना है। यह क्या है ? यह है—साधन प्रणाली। इस साधन प्रणाली के अनुसार जब हम निराश्रय होकर 'स्वाश्रय' को प्राप्त होते हैं तब फिर प्रयत्न की आवश्यकता नहीं रहती। प्रयत्न-रहित साधन। आप जानते हैं? जैसे-जैसे प्राणी अप्रयत्न होता जाता है वैसे ही वैसे अभिन्न भी होता चला जाता है। वैसे ही वैसे अभेद भी होता चला जाता है। क्योंकि अप्रयत्न में ही अभिन्नता और अभेदता है। लेकिन क्यों भाई! प्रयत्न के रहते हुए हम अभिन्न क्यों नहीं हो पाते? हमारे भेद नाश क्यों नहीं होते?क्योंकि प्रयत्न में अहंकृति हेतु होती है। अहं रूपी अणु प्रयत्न के साथ लगा रहता है। अहं रूपी अणु जब तक जीवन में रहेगा तब तक न तो भिन्नताका नाश होगा और न भेद का नाश होगा;और जब तक भेद और भिन्नता का नाश नहीं होगा तब तक न निश्चिन्तता आयेगी न निर्भयता आयेगी और न आत्मीयता आयेगी।

आप जानते हैं ? कि निश्चिन्तता के बिना आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति नहीं होती, निर्भयता के बिना प्राप्त सामर्थ्य का सद्व्यय नहीं होता और आत्मीयता के बिना परम प्रेम की प्राप्ति नहीं होती। अब आप सोचिये कि क्या आज हम निश्चिन्तता, निर्भयता, आत्मीयता प्राप्त करने में भी असमर्थ हो गये ! इसमें भी हम पराधीन हो गये! अरे भाई, पराधीनता

बड़ी-बड़ी कोठी बनाने में हो सकती है। पराधीनता बहुत सा सामान इकट्ठा करने में हो सकती है। पराधीनता दूसरों के विनाश करने में हो सकती है, दूसरों से कुछ प्राप्त करने में हो सकती है। लेकिन क्या आज हम निश्चिन्त भी नहीं हो सकते? क्या आज हम निर्भय भी नहीं हो सकते?क्या आज हमें आत्मीयता भी प्राप्त नहीं हो सकती ? अवश्य मिल सकती है। किन्तु आज हमने स्वयं अपने प्रमाद से अपनी निश्चिन्तता को भंग किया है, अपने प्रमाद से अपने को भयभीत किया है और आत्मीयता से विमुख हुए हैं। नहीं तो भाई, ये तीनों बातें हर भाई को, हर एक बहिनको सदैव प्राप्त हो सकती हैं और इनके प्राप्त होने पर जिस जीवन में हमारा प्रवेश होता है, यह वही जीवन है जो संसार के किसी भी मानव को मिला हो अथवा भविष्य में किसी भी मानव को मिले। इस दृष्टि से मानव-मात्र समान है।

१५

(ब)

किन्तु अगर हम इस बात को छोड़कर परिस्थितियों के आधार पर समानता की खोज करें, वस्तुओं के आधार पर समानता की खोज करें, तो नहीं कर सकते। तो आज हमें और आपको इस मौलिकप्रश्न पर बहुत गम्भीरता से विचार करना है कि हम अपने सुख-दुःख का कारण जो दूसरों को मानते हैं, वह नहीं मानेंगे, नहीं मानेंगे, नहीं मानेंगे। और इस बात को स्वीकार करने का जो फल होगा, सच पूछिये उसका महत्व मैं व्यक्त नहीं कर सकता। और न आप किसी के व्यक्त किये हुए महत्व को जान सकते हैं। यह तो जब आप प्राप्त कर लेंगे तभी उस महत्व को जानेंगे और इस महत्व को जानकर आपको एक पश्चात्ताप होगा और एक हंसी आयेगी कि हाय ! हाय !! ऐसा सुनहरा मानव जीवन ! ऐसा सुन्दर मानव जीवन ! जिसको हमने केवल इस भूल से बर्बाद कर दिया कि हमारे सुख का कारण अमुक वस्तु है, अमुक व्यक्ति है, इत्यादि-इत्यादि। कहने का तात्पर्य यह था कि देखिये, साधन में एक बात का बड़ा ध्यान रखना चाहिये कि आप यह बात मत सोचिये कि हम बहुत भारी-भारी साधन करेंगे, बहुत बड़े-बड़े साधन करेंगे। कुछ नहीं कर पावेंगे। आप केवल एक बात अपने सामने रखिये कि कोई भी साधन का एक अंश आप स्वीकार कीजिये। स्वीकार करके उसको जीवन में रखिये।

देखिये, साधन का जीवन में रखना श्रम-साध्य नहीं है।

साधन का जीवन में रखना स्वीकृति-साध्य है। जहाँ आपने यह स्वीकार कर लिया कि अब हम किसी को भी अपने सुख-दुःख का कारण नहीं मानेंगे। अब यहाँ कोई भाई तर्क कर सकता है कि भई, यह बात कैसे हो सकती है जबकि हम इन्द्रियों के द्वारा जानते हैं कि अमुक व्यक्ति हमको दुःख दे रहा है, और हम जानते हैं कि अमुक व्यक्ति से हमको सुख मिल रहा है? मैं तो यह भी कह दूँगा कि इस जानकारी को आप मिथ्या मान लीजिये,झूंठ मानिये,अपनी इन्द्रियोंके ज्ञानका धोखा मानिये। बोले क्यों? मैं पूछता हूँ कि अगर आप गम्भीरता से इस बात पर विचार करें कि अमुक वस्तु हमें सुख दे सकती है—रसगुल्ला खाने से हमें बड़ा सुख मिला—मैं पूछता हूँ, भूख न होती तो?उस वक्त जी मिचला रहा हो तो सुख मिलता? नहीं मिल सकता था। एक बात। दूसरी बात सोचिये—वस्तु जो मिलती है वह किसी विधान से न! मिलती है। विधान जो बनता है,वह हमारे हित को लेकर न! बनता है। अगर आपको सुख मालूम भी होता है कि अमुक व्यक्ति ने हमें सुख दिया और आपको मालूम भी होता है कि अमुक व्यक्ति ने हमें दुःख दिया तो भी आपको यही सोचना चाहिये कि यह तो ऊपरी बात है।

सुख-दुःख तो किसी और के द्वारा भेजा हुआ है और जिसके द्वारा भेजा है वह हमारा अपना ही है। किसलिए भेजा है? तो सदुपयोग के लिये भेजा है। क्यों भेजा है? कि अगर सदुपयोग नहीं करेंगे तो सुख-दुःख से अतीत का जो जीवन है उसमें प्रवेश नहीं होगा। यह सुख-दुःख तो हमारे विकास में हेतु है। हमारे अपने प्यारे का भेजा हुआ है। जिस प्यारे का भेजा हुआ सुख-दुःख है, अगर उसमें आपकी दृष्टि है तो बताइये कि सुख के

उपयोग में, दुःख के उपयोग में आपको कोई कठिनाई होगी ? कोई कठिनाई नहीं होगी। आज हमसे भूल क्या होती है कि सुख-दुःख का भोग करने लगते हैं, उसका उपयोग नहीं करते। उसे साधन-सामग्री नहीं मानते। उसे अपना जीवन मान लेते हैं और ये मान लेते हैं कि मानो ये जबरदस्ती हमारे ऊपर लाद दिया गया है। बात वास्तव में ऐसी नहीं है। यदि आज हमारे मन में बोलने का राग न होता तो श्रोता के रूप में प्रभु कभी नहीं आते। अगर आपके मन में सुनने का राग न होता तो कोई वक्ता कभी नहीं आता। यह नियम ही है। तो जो कुछ आपको मिलता है आपकी राग-निवृत्ति के लिये मिलता है और जो कुछ छिनता है वह भी सरकार ! राग-निवृत्ति के लिये छिनता है। राग-निवृत्ति के लिये ही सुख-दुःख का उपयोग है और इसका कोई उपयोग नहीं है भाई। इसलिये भाई ! राग-रहित होने में हम लोग तत्पर हो जायँ। धीरे-धीरे नहीं, अभी। अगर इस कार्य को आप धीरे-धीरे करेंगे तो मैं समझता हूँ, नहीं कर पायेंगे। अगर आप अभी करना पसन्द करेंगे तो प्रत्येक भाई कर सकता है। वस्तु न मिले, लेकिन वस्तु का राग मिटा सकते हैं। मिटा सकते हैं कि नहीं मिटा सकते ?

तो भाई! राग-रहित होने का उपाय क्या है ? द्वेष रहित होना और द्वेष-रहित होने का उपाय क्या है? अपने दुःख का कारण किसी और को नहीं मानना। जो अपने दुःख का कारण किसी और को नहीं मानता है वह अपने सुख का कारण भी किसी और को नहीं मानता है। ऐसे ही जो अपने सुख का कारण किसी और को नहीं मानता है वह अपने दुःख का कारण भी किसी और को नहीं मानता है। इन दोनों में से जो भी आपको सुगम मालूम हो—कि हम आज से अपने दुःख का

कारण किसी और को नहीं मानेंगे। अगर यह बात भी आपको मालूम हो जाय तो भी आप बड़ी सुगमता पूर्वक द्वेष से रहित होकर प्रेम की प्राप्ति करेंगे। और जब आपको यह बात मालूम हो जाय कि अगर हमारे सुख का कारण कोई वस्तु हो ही नहीं सकती, कोई व्यक्ति हो ही नहीं सकता। सारी सृष्टि मिलकर हमें सुख दे ही नहीं सकती। क्यों ? हमारी जो वास्तविक मांग है, हमारी जो आवश्यकता है उसकी पूर्ति में सृष्टि सर्वदा असमर्थ है। आप कहेंगे कैसे ? विचार तो कीजिये कि सारी सृष्टि में कौन-सी वस्तु आपको ऐसी मालूम पड़ती है जो स्वयं-प्रकाश हो, जिसमें परिवर्तन न हो, जिसका वियोग न हो ? है कोई ऐसी वस्तु? किसी भाई-बहिन को मालूम होती है? नहीं मालूम होती। नहीं है। जब नहीं है तब पर-प्रकाश्य वस्तु स्वयं-प्रकाश को महत्व प्रदान करेगी। जरा सोचिये।

आज तो महाराज! उल्टी गंगा बह गई। मानव-जीवन तो इतना सुन्दर जीवन था कि जिससे वस्तु आदर पाती थी। महाराज ! आज कितना दुःख होता है कि आज का मानव वस्तु के आधार पर सोचता है कि हमारा महत्व हो गया। इस प्रमाद ने मानव को 'मानव' नहीं रहने दिया और भाई मेरे,जब तक मानव, मानव नहीं हो पाता तब तक न उसे चिर-शान्ति मिलती है,न उसकी सद्गति होती है और न उसे प्रभु की प्राप्ति होती है। यह निर्विवाद सत्य है। इसलिये भाई, आज आप वस्तुओं के द्वारा जो अपना महत्व आंकते हैं,मत आंकिये, अपितु अपने द्वारा प्राप्त वस्तुओं का सदुपयोग कीजिये जिससे वस्तु का महत्व बढ़े, व्यक्ति का महत्व बढ़े। लेकिन आप जो यह सोचने लगते हैं कि हाय ! हाय रे ! हमारे पास वस्तु नहीं होगी तब

तो हम संसार के आदमी नहीं रह सकते। और अगर रह भी सकते हैं तो अभागे हैं, दीन हैं, दुःखी हैं। मैं सच कहता हूँ कि वस्तु को अपने से अधिक महत्व देने वाला व्यक्ति चाहे अरबपति हो, खरबपति हो, महादीन है ! महादीन है !! क्यों? अरे भई, इससे बढ़कर क्या दीनता होगी? कि वह जो जवाहरात पत्थर का टुकड़ा है, जो कि यह नहीं कह सकता कि मैं जवाहरात हूँ, उसको पहन कर आप यह समझते हैं, बड़े आदमी हो गये? तो वह पत्थर का टुकड़ा बड़ा आदमी हुआ महाराज ! लोहे-लंगड़ में बैठकर आप कहते हैं, हम बड़े आदमी हो गये। ईंट, मिट्टी में कैद होकर आप कहते हैं हम बड़े आदमी हो गये। कीड़ों के पाखाने को पहन कर आप कहते हैं कि हम बड़े आदमी हो गये। जानवरों की ऊन पहनकर आप कहते हैं कि हम बड़े आदमी हो गये। मल-मूत्र-पूर्ण शरीर को सजाकर आप कहते हैं कि हम बड़े आदमी हो गये। सोचिये तो सही, यदि मल-मूत्र-पूर्ण शरीर को सजानेसे बड़े आदमी होते हैं, तो मैं तो ऐसे बड़ेपन को भाई, नमस्कार करता हूँ।

आप सोचिये ! आपका एक अपना बड़ापन है। आपका एक अपना महत्व है। आपकी एक अपनी सुन्दरता है। और वह सुन्दरता राग द्वेष रहित हुए बिना प्राप्त नहीं होती। इसलिये भाई, आज इस जीवन के आवश्यक प्रश्न पर विचार करना होगा कि हम और आप कैसे बड़े आदमी हो सकते हैं? आदमी तो बड़ा होता ही है। क्या बड़ापन हमारा हो सकता है ? वह बड़ापन है चिर-शान्ति की अभिव्यक्ति में। वह बड़ापन है अमरत्व की अभिव्यक्ति में। वह बड़ापन है परम प्रेम की अभिव्यक्ति में। जिसकी प्राप्ति में मानव-मात्र सर्वदा स्वाधीन

है। कभी पराधीन हुआ नहीं। कभी पराधीन हो सकता नहीं। क्यों ? उससे जातीय एकता है, स्वरूप की एकता है। जिससे हमारी जातीय एकता है, स्वरूप की एकता है उसकी प्राप्ति में हम कभी भी पराधीन नहीं हैं और जिससे हमारी मानी हुई एकता है, जातीय एकता नहीं है उसकी प्राप्ति में हम कभी भी स्वाधीन नहीं हैं।

इतना ही नहीं, मानी हुई एकता से जब हम अपना महत्व आंकते हैं तब हमारा महत्व यही होता है कि वस्तु की एकता से महत्व होता है, लोभ की उत्पत्ति। व्यक्ति की एकता से महत्व होता है-मोह की उत्पत्ति और परिस्थितियों की एकता से महत्व होता है—परिच्छिन्नता की उत्पत्ति। और यह जो परिच्छिन्नता जीवन में आ गयी, मोह आ गया, लोभ आ गया, काम आ गया,तो क्या आप समझते हैं कि यही महत्वपूर्ण जीवन है ? अगर यही महत्वपूर्ण जीवन है तो भाई, निन्दनीय जीवन कौन-सा हो सकता है ? मैं तो नहीं समझ सकता कि इसके अतिरिक्त कोई निन्दनीय जीवन हो सकता है। तो भाई, हमें और आपको इस बात पर विशेष ध्यान देना है कि हमारा अपना जो महत्व है, हमारी जो वास्तविक सुन्दरता है उससे विमुख न हों। उस रहस्य को न भूलें। हमारा जो वास्तविक महत्व है उसे न भूलें। हमारा आपका महत्व है—राग-द्वेष-रहित होने में। राग-द्वेष-रहित होकर हम और आप अपनी वास्तविक सुन्दरता को भी जान सकते हैं, अपने वास्तविक महत्व को भी जान सकते हैं। और उसके प्राप्त करनेका उपाय है एकमात्र अपने सुख-दुःख का कारण किसी दूसरे को न मानना।

यह बात जब हम और आप स्वीकार कर लें, तो उसके

पश्चात् क्या होगा ? कि जो चित्त इधर-उधर भटक रहा था-सुख की आशा के लिये और दुःख से बचने के लिये—वह चित्त सब ओर से हटेगा और हट करके अपने आप, अपनी ओर बढ़ेगा। अपनी माने—'स्व' की ओर बढ़ेगा। जैसा-जैसा चित्त 'स्व' की ओर बढ़ता जायेगा, वैसा-ही-वैसा चित्त सुन्दर भी होता जायेगा और स्वस्थ भी होता जायेगा। सच पूछिये तो समर्थ भी होता जायेगा। और जैसे-जैसे चित्त समर्थ होता जायेगा, वैसे-ही-वैसे वास्तविक जीवन से जो दूरी मालूम होती है, भेद मालूम होता है, वह दूरी और भेद मिटता जायेगा। दूरी और भेद के मिटते ही जो आज यह मालूम होता है कि यह हमारा चित्त है वह विभु हो जायेगा। विभु होने से वह जो आपकी सुन्दरता है, वह जो आपकी महत्ता है, वह महत्ता, वह सुन्दरता भी विभु हो जायेगी। जब वह महत्ता और सुन्दरता विभु हो जायेगी तो सच मानिये, समस्त विश्व में सुन्दरता की अभिव्यक्ति होने लगेगी। तब फिर सुन्दरता से भिन्न और कुछ रह ही नहीं जायेगा। सुन्दरता कहते किसको हैं? जिसका त्याग न कर सकें। बहुत से भाई कहते हैं कि यह स्थान बड़ा सुन्दर है, लेकिन थोड़े दिन बाद चलने लगते हैं। हम उनसे पूछते हैं भैया ! सुन्दर छोड़ कर क्यों जाते हो? कहते हैं—अब नहीं रह सकते। तो असुन्दर होगा न? जिसका आप किसी भी प्रकार से त्याग कर सकते हैं वह सुन्दर नहीं हो सकता। इससे यह सिद्ध हुआ कि हमें उसको प्राप्त करना है कि जिसका हम त्याग कर ही नहीं सकते। जरा सोचिये, जिसका आप त्याग कर ही नहीं सकते, क्या उसमें प्रेम नहीं होगा ? क्या उससे योग नहीं होगा ? क्या उसका बोध नहीं होगा ? अवश्य होगा।

किन्तु जब तक हम उसकी ओर देखते हैं जो हमारा त्याग

करता है, जरा ध्यान दीजिये,तब तक भाई, हमारी गति-विधि उस ओर हो ही नहीं सकती जिसमें अनन्त सौन्दर्य है। अनन्त सौन्दर्य की ओर हम तभी मुड़ सकते हैं कि जब हम उसकी ओर न देखें जो हमारे बिना रह सकता है। अब आप विचार कीजिये कि आपके बिना कौन रह सकता है ? तो आपके बिना वही रह सकता है जो अपने को अपने आप प्रकाशित करने में हेतु नहीं है, समर्थ नहीं है। अपने को अपने आप प्रकाशित करने में कौन समर्थ नहीं है? आपका प्यारा हाथ,आपकी प्यारी इन्द्रियाँ, आपका प्यारा प्राण, आपका प्यारा मन, आपकी प्यारी बुद्धि अपने को अपने आप प्रकाशित करने में समर्थ नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि इन सबके बिना हम रह सकते हैं, ये हमारे बिना रह सकते हैं। एक आपको विचित्र बात बतायें-- जिस समय आप इन सबके बिना रह सकते हैं, और आप जब अपनी ममता का पत्थर इन सब पर से हटा लेते हैं तब मालूम है क्या होता है ? एक ऐसे अलौकिक जीवन की अभिव्यक्ति होती है कि ये सब अपना भेष बदल-बदल कर अपने अस्तित्व को खो-खोकर आपके अस्तित्व से अभिन्न होने लगते हैं। जब ये आपके अस्तित्व से अभिन्न होने लगते हैं तब आप फिर क्या होते हैं ? तो आप अनन्त की प्रीति हो जाते हैं। क्यों ? इनके संयोग से आप हो गये आसक्त और इनके वियोग से आप होजायेंगे प्रीति। तो आपका अस्तित्व क्या हुआ? उस अनन्त की प्रीति। प्रीति जिसकी होती है उसी की जाति की होती है।

लेकिन एक उसमें विलक्षणता होती है प्रीति में। वह क्या? कि प्रीति मिली रहती है। प्रीति का नित्य योग रहता है। नित्य-योग रहने पर भी नित्य-वियोग भी रहता है। नित्य-योग से

क्या होता है ? नित्य-योग से चिर-शान्ति मिलती है, अमरत्व मिलता है, दिव्य-चिन्मय जीवन मिलता है । और नित्य-वियोग से क्या मिलता है? बोले, नित्य-वियोग से अगाध-अनन्त रस की अभिव्यक्ति होती है । अगाध अनन्त रस की अभिव्यक्ति, दिव्य-चिन्मय-जीवन की प्राप्ति मानव-मात्र को हो सकती है । और उसका सीधा-सादा उपाय क्या निकला?-राग-द्वेष-रहित होना । राग-द्वेष रहित होने का उपाय क्या निकला ?—अपने सुख-दुःख का कारण किसी और को न मानना । इतना सहज साधन और इतना सुगम साधन भी यदि हम नहीं कर सकते तो क्या साधन कर सकते हैं ? आज हम बड़े-बड़े तप करने की सोचते हैं, बड़े-बड़े जप करने की सोचते हैं, बड़े-बड़े अनुष्ठान करने की सोचते हैं, बड़े-बड़े दान करने की सोचते हैं । लेकिन यह भी कभी सोचते हैं?कि ये जो हम कर रहे हैं यह अपने द्वारा कर रहे हैं? कि प्राप्त वस्तुओं के द्वारा कर रहे हैं? कि प्राप्त व्यक्तियों के द्वारा कर रहे हैं? आपको मानना पड़ेगा कि जो वस्तुओं के द्वारा आप कर रहे हैं,जो व्यक्तियों के द्वारा जो आप कर रहे हैं वह आपकी चीज नहीं है । आपकी चीज तो वही हो सकती है जिसे आप अपने द्वारा कर सकें । अपने आप हम और आप यही कर सकते हैं कि अपने दुःख का कारण किसी और को न मानें । हम अपने सुख का कारण किसी और को न मानें । यह बात प्रत्येक भाई, प्रत्येक बहन अपने द्वारा कर सकता है, इस बात को करने के लिये हाथ हिलाने की जरूरत नहीं, पैर हिलाने की जरूरत नहीं, कुछ सोचने और समझने की जरूरत नहीं । यह बात तो हम और आप अपने ही द्वारा कर सकते हैं । जो साधन अपने द्वारा कर सकते हैं उस साधन के करने में पराधीनता नहीं रह सकती ।

दूसरी बात है कि अपने द्वारा जो साधन किया जायेगा उसका फल अपने ही को मिलेगा। और दूसरों के द्वारा जो साधन किया जायेगा उसका फल दूसरों को ही मिलेगा। विचार कीजिये—वस्तुओं के सदुपयोग से आपको बहुत सी चीजें मिल जाती हैं। वस्तुओं के द्वारा वस्तु की ही प्राप्ति न! हुई। जब वस्तु की प्राप्ति हुई तब वस्तु तो आपको प्राप्त थी ही। यही न! कहेंगे कि मात्रा कम थी वह बढ़ गई। मात्रा अधिक-कम होने से कोई वास्तविकता में अन्तर नहीं होता। कोई वास्तविकता में अन्तर होता तो आज तक हमें कोई न कोई धनी ऐसा मिलता जो कह देता कि अब हम धन का उपार्जन नहीं कर रहे हैं। हमें तो सच पूछिये, वास्तविकता की दृष्टि से एक साधारण मजदूर और मिल-ओनर एक मालूम होता है। मजदूर भी सोचता है कि पैसे कुछ बढ़ जायँ। मिल-आनर भी सोचता है कि पैसे कुछ बढ़ जायँ। किसान भी सोचता है कि हमारे खेत की पैदा हुई वस्तु मंहगी बिके और मिल-ओनर भी। हमें तो वस्तु-स्थिति में कोई अन्तर नहीं मालूम होता। क्यों? वह जो अपने द्वारा जो चीज नहीं की गई है उसका फल समान रहता है। अतः साधन वही सार्थक सिद्ध होता है जो अपने द्वारा किया जाता है। अपने द्वारा किये साधन में दो-तीन बातें हो सकती हैं। पहली बात तो यही हो सकती है कि हम किसी को अपने सुख-दुःख का कारण न मानें—यह अपने द्वारा हो सकता है। दूसरा कि भाई, हम किसी में श्रद्धा करलें—यह भी अपने द्वारा हो सकता है। अथवा हम किसी की ममता तोड़ दें—यह अपने द्वारा होसकता है। तो ममता-रहित होना अपने द्वारा होसकता है, किसी में श्रद्धा करें—यह अपने द्वारा हो सकता है। अपने सुख-दुःख का कारण किसी और को न मानें—यह अपने द्वारा

होसकता है। किसी का बुरा न चाहें–यह अपने द्वारा होसकता है। सभी का भला चाहें– यह अपने द्वारा हो सकता है।

कहने का मेरा तात्पर्य यह है कि जो साधन अपने द्वारा होता है उसी साधन से सिद्धि होती है। जो साधन अपने द्वारा नहीं होता, पराश्रय से होता है, उस साधन से बाह्य-विकास तो दिखाई देता है लेकिन अपने को कुछ नहीं मिलता।

इसलिये भाई, आज हमें और आपको अपने द्वारा साधन करने की बात भी सोचना चाहिये। और विचार करना चाहिये कि भाई, कल्पना करो कि हमारे में बोलने की शक्ति न रहे तो भी साधन कर सकते हैं कि नहीं! सुनने की शक्ति न रहे तब हम साधन कर सकते हैं कि नहीं! देखने की शक्ति न रहे तब हम साधन कर सकते हैं कि नहीं! हमारे पास कोई बाह्य वस्तु न रहे तब हम साधन कर सकते हैं कि नहीं! हाथ-पैर न रहें तब साधन कर सकते हैं कि नहीं–इस प्रकार से जब आप विचार करेंगे और जब आप इस निर्णय पर पहुँच जायें कि हां, कर सकते हैं तो वह जो साधन होगा उस साधन में लेश-मात्र भी पराधीनता नहीं होगी। जिस साधन में पराधीनता नहीं होती उस साधन में असमर्थता नहीं होती, उसके करने में बहुत सुविधा रहती है। जिसके करने में बहुत सुविधा रहती है, वह कभी भी असिद्धि देने वाला नहीं होता। इसलिये भाई, अपने द्वारा हम क्या कर सकते हैं? इस पर विचार करने की जरूरत है। इसका निर्णय आप जितनी जल्दी कर लेंगे, जितना इसको अपना लेंगे, उतनी ही जल्दी आपको सिद्धि होजायेगी। बहुत से लोग सोचते हैं कि सिद्धि कितने दिन में होगी! कितने समय में होगी! सच ईमान-

दारी की बात तो यह है कि सिद्धि समय पर निर्भर नहीं है। चूँकि हम लोग जीवन में समय के अस्तित्व को स्वीकार करके क्रियात्मक साधन के आधार पर समय का महत्व मानते हैं। वास्तव में सिद्धि के लिये कोई समय अपेक्षित नहीं है। क्या अपेक्षित है ? कि जब हम और आप अपना जाना हुआ असाधन छोड़ देंगे बस, साधन की अभिव्यक्ति होजायेगी और जहाँ साधन की अभिव्यक्ति होजायेगी वहां सिद्धि होगी।

मैं ऐसा मानता हूँ कि असाधन का त्याग, साधन की अभिव्यक्ति और सिद्धि युगपद् है। इसलिये भाई, हम सब जब चाहें तब सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु यह बात इसलिये समझ में नहीं आती कि हम लोगों ने सिद्धि के सम्बन्ध में न जाने क्या-क्या सुन रखा है। साधन के सम्बन्ध में न जाने क्या-क्या सुन रखा है। सीधी-सादी बात है भाई, सिद्धि का असली अर्थ क्या है?–नित्य-योग की प्राप्ति। सिद्धिका असली अर्थ क्या है?–अमरत्व की प्राप्ति। सिद्धि का असली अर्थ क्या है?–परम-प्रेम की प्राप्ति। तो मैं आपसे पूछता हूँ कि नित्य-योग की प्राप्ति क्या कालान्तर में होगी? अगर कालान्तर में होगी तो वह योग नहीं है। तो फिर योग कैसे होगा?अमरत्वकी प्राप्ति क्या उसके द्वारा होगी जो अब नहीं है ? क्या प्रेम की प्राप्ति उसके द्वारा होगी जो अब नहीं है? मानना ही पड़ेगा—कि प्रेम 'है' से ही हुआ करता है। योग 'है' का ही हुआ करता है। बोध 'है' का ही हुआ करता है।

तो भाई, जो 'है' अब उससे योग करना है। जो 'है'उसका बोध होना है। जो 'है' उसमें प्रेम होना है। तो योग, बोध,प्रेम की प्राप्ति वर्तमान की वस्तु है। किन्तु हो क्यों नहीं पाता ?

इसका एक-मात्र कारण यही है कि राग-द्वेष रहित नहीं होते। और राग द्वेष-रहित क्यों नहीं होते हैं? कि अपने सुख-दुःख का कारण दूसरों को मानते हैं। इस दृष्टि से हमें और आपको बड़े धीरज के साथ, बड़ी गम्भीरता के साथ आज इस समस्या को हल करना है कि भाई अब हम कभी भी अपने सुख-दुःख का कारण किसी दूसरे को नहीं मानेंगे। यह जो आपका मानना होगा इसमें एक बड़ा रहस्य होगा—आपकी यह मान्यता आपको इतना सुन्दर बनायेंगी कि आपके द्वारा किसी को भय नहीं होगा। और जब आपके द्वारा किसी को भय नहीं होगा तब आपको किसी के द्वारा भय नहीं होगा। अर्थात् आप सभी को भय से रहित करेंगे और स्वयं भय से रहित हो जायेंगे। जो देश दूसरे देश को अपने दुःख का कारण मानता है वह स्वयं भयभीत रहता है और दूसरे देश को भयभीत करता है। जो वर्ग दूसरे वर्ग को अपने दुःख का कारण मानता है वह स्वयं भयभीत रहता है और दूसरों को भयभीत करता है। जो व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को अपने दुःख का कारण मानता है वह स्वयं भयभीत होता है और दूसरों को भयभीत करता है। जो अपने दुःख का कारण किसी और को नहीं मानता वह न स्वयं भयभीत होता है,न उससे कोई दूसरा ही भयभीत होता है। आज जो आप देखते हैं कि संसार में लड़ाई का सामान बड़ी शीघ्रता के साथ खरीदा जा रहा है। इसके मूल में क्या है? भय! भय!! और कुछ नहीं। भयभीत होकर ही प्राणी दूसरों को भय देने की सोचता है। इसलिये भाई, हम सबको अभय होना है और सभी को अभय कर देना है। सभी को आप अभय कब कर सकते हैं? जब आप स्वीकार कर लें ईमानदारी से कि हमारे सुख-दुःख का कारण दूसरा हो ही नहीं सकता।

अनेक युक्तियों व अनेक प्रकार से यह बात सिद्ध हो जाती है कि जब तक हम इस महामन्त्र को नहीं अपनायेंगे, राग-द्वेष-रहित हो ही नहीं सकते। जब तक राग-द्वेष-रहित नहीं होते तब तक जो करना चाहिये वह होगा नहीं और जो नहीं करना चाहिये उसका नाश नहीं होगा। तो अकर्त्तव्य का नाश और कर्त्तव्य की अभिव्यक्ति हो ही नहीं सकती। कर्त्तव्य की अभिव्यक्ति के बिना, मिले हुये का सदुपयोग नहीं होगा और जाने हुए का प्रभाव नहीं होगा। सुने हुए में श्रद्धा नहीं होगी। और उसके हुए बिना, न हम जगतके लिये उपयोगी सिद्ध होंगे, न हम अपने लिए उपयोगी सिद्ध होंगे और न हम प्रभु के लिए उपयोगी सिद्ध होंगे। यह क्या है? यह है जीवन का एक मौलिक प्रश्न कि भाई, हम सबको अपने लिये, जगत के लिये, प्रभु के लिये उपयोगी सिद्ध होना है और हम हो सकते हैं। नहीं हो सकते हैं, ऐसी बात नहीं। जो हो सकता है उसको न करना और जो नहीं हो सकता है उसे करने की सोचना यही सबसे बड़ा असाधन है।

❀ ❀

१६

ज्ञान के तीनों स्तर सुरक्षित हैं—इन्द्रिय-ज्ञान, बुद्धि-ज्ञान और बुद्धि से अतीत का ज्ञान।

इन्द्रिय-ज्ञान अल्प है और बुद्धि से परे का ज्ञान विशेष है। जीवन पर अल्प ज्ञान का प्रभाव हो और विशेष ज्ञान का प्रभाव न हो तो इसी का नाम अविवेक है। इन्द्रिय-ज्ञान का उपयोग किया जाय और बुद्धि-ज्ञान के प्रभाव को अपनाया जाय तो इसमें अपना विकास है।

योग क्या है? कामना-निवृत्ति।

भोग क्या है? कामना के अनुसार प्रवृत्ति भोग है और योग में विरोध है। परन्तु योगी और भोगी दोनों एक ही व्यक्ति बनता है। जो भोग का आश्रय लेकर भोगी बनता है वही योग का आश्रय लेकर योगी बनता है।

विश्वास मार्ग एक स्वतन्त्र मार्ग है। जिसे इन्द्रिय-ज्ञान एवं बुद्धि ज्ञान से विषय नहीं कर सकते उसमें विकल्प-रहित विश्वास होता है।

१६

(अ)

विधान के अनुसार उस देखे, सुने, माने हुए में बाधा आ जाती है अर्थात् जब हमारी कामनायें पूरी नहीं होतीं और उनके पूरा न होने से जो दुःख होता है तब स्वभाव से ही इन्द्रिय-जन्य-ज्ञान में सन्देह होता है। किन्तु वह सन्देह यदि सर्वांश में हो जाय तब तो बड़ी ही सुगमता पूर्वक प्राणी अपना विकास कर लेता है। पर होता क्या है ? वह सन्देह सर्वांश में नहीं होता। जैसे मैं अपने जीवन को सामने रख कर जब सोचता हूँ तो ऐसा मालूम होता है कि जब अकस्मात आँखें खराब हो गईं और पढ़ने के संकल्प में बाधा हो गई तब यह भास नहीं हुआ कि आज अगर देखने की शक्ति नाश हो गई है तो बोलने-सुनने की शक्ति भी नाश हो सकती है—ऐसा भास नहीं हुआ। तो हुआ क्या? कि अगर १/५ भाग समाप्त हुआ है, तो अभी ४/५ से काम चल सकता है। ये जो दशा है यह दशा दुःख को अधिक काल तक जीवित रखने वाली दशा है। उच्च कोटि के जो महापुरुष होते हैं वे किसी भी एक बात से सारी बातों को जान लेते हैं। जैसे कहावत है न ! कि हांड़ी में एक चावल देखा जाता है और उससे यह पता चल जाता है कि सारा चावल पक गया। ऐसी वस्तुस्थिति जिन व्यक्तियों की होती है वे तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक इन्द्रिय-जन्य-ज्ञान के

प्रभाव से मुक्त हो जाते हैं और मुक्त होकर समस्त कामनाओं से रहित हो जाते हैं।

कामनायें हैं क्या ? इन्द्रिय-जन्य ज्ञान के प्रभाव से जिनकी उत्पत्ति होती है उन्हीं को कामना कहते हैं। उन कामनाओं में से सभी कामनायें आज तक किसी की पूरी नहीं हुई, किन्तु कुछ कामनायें अवश्य पूरी हो जाती हैं। कुछ कामनायें जो पूरी हो जाती हैं,यह है इन्द्रिय-जन्य ज्ञान अथवा इस ज्ञान में जो विश्वास है, वह विश्वास समस्त कामनाओं की निवृत्ति के लिये प्रेरणा नहीं दे पाता अथवा यों कहो कि हम सभी कामनाओं का नाश करना चाहते हैं—यह बात वर्तमान जीवन से सम्बन्धित नहीं हो पाती। तो होता क्या है? प्रायः लोग यह कहा भी करते हैं कि अभी तो मौज में हैं भविष्य में देखा जायेगा क्या होगा! बात तो ठीक है। अभी तो मौज है इसमें सन्देह नहीं। जिस समय हमारा संकल्प पूरा होता है उस समय सभी को मौज मालूम होती है। पर देखा जायेगा भविष्य में क्या होगा?—यह प्रश्न सुख के प्रलोभन से हमें बाँध देता है और हम जो वास्तव में होने वाली बात है उसको जानना ही नहीं चाहते। और यदि जानने में आ भी जाय तो उसका प्रभाव नहीं होने देते। और यदि किसी कारण प्रभाव हो भी जाय तो फिर ऐसी बातें सोचने लगते हैं कि अरे भाई, मरना तो है ही, बिना खाये क्यों मरें ! बिना अमुक काम किये क्यों मरें ! मरना तो है ही।

ऐसी बातें सोच-सोच कर हम उस ज्ञान का प्रभाव जो ज्ञान इन्द्रिय-ज्ञान को खा सकता है, मिटा सकता है, उस ज्ञान के प्रभाव को नहीं होने देते। प्रभाव होता न हो, ऐसी बात नहीं। प्रभाव होता तो है। देखिये, जिस काल में इन्द्रिय-ज्ञान

है, उसी काल में बुद्धि का ज्ञान भी है। और सच पूछिये तो बुद्धि से अतीत का ज्ञान भी है। ज्ञान के तीनों स्तर ज्यों के त्यों सदैव सुरक्षित हैं। इन्द्रिय-ज्ञान भी, बुद्धि-ज्ञान भी और बुद्धि से अतीत का ज्ञान भी। जैसे कोई दिन में दीपक भी जला दे, बल्ब भी जला दे और सूर्य का प्रकाश भी हो। तो इस उदाहरण में तो यह बात मालूम होती है कि सूर्य का प्रकाश बल्ब और दीपक के प्रकाश को अपने में विलीन कर लेता है और अपने को ही प्रकाशित करता है।

किन्तु ज्ञान के सम्बन्ध में ऐसा नहीं होता। ज्ञान के सम्बन्ध में तो ऐसा होता है कि इन्द्रिय-ज्ञान भी है, बुद्धि का ज्ञान भी है और बुद्धिसे अतीत का ज्ञान भी है। परन्तु अधिकतर हमारे जीवन पर जो प्रभाव रहता है वह इन्द्रिय-ज्ञान का रहता है। और वह इन्द्रिय-ज्ञान बुद्धि-ज्ञान की अपेक्षा अल्प है। और बुद्धि-ज्ञान बुद्धि से अतीत के ज्ञान की अपेक्षा अल्प है। अल्प-ज्ञान का प्रभाव हो और विशेष-ज्ञान का प्रभाव न हो, इसी का नाम है—अविवेक। और अविवेक कुछ नहीं। विशेष-ज्ञान का प्रभाव न होना और अल्प-ज्ञान का प्रभाव रहना, यह जो अविवेक है, यह साधन का निर्माण नहीं होने देता। जब साधन का निर्माण नहीं होता तो साधन में अस्वाभाविकता भी मालूम होती है, कठिनाई भी मालूम होती है और वह पूरा हो भी नहीं पाता। ऐसी दशा में हम लोग यह सोचते हैं कि अरे भाई, जो हो गया वह ठीक है। यही क्या कम है कि हम थोड़ी देर सत्संग में बैठ जाते हैं! अपना एक घण्टा अच्छा कट गया। बात तो ठीक है। लेकिन सोचना तो यह है कि भाई, आखिर यह मानव-जीवन

जब सिद्धि के लिये मिला है तो फिर यह बात कब तक हम टालते रहेंगे? सिद्धि प्राप्त करने वाली बात हम कब तक टालते रहेंगे? हमारा तो ऐसा विश्वास है भाई! और अनुभव भी है कि जब तक हम अपनी सिद्धि को वर्तमान की वस्तु नहीं मानेंगे तब तक भाई, सिद्धि होने की सम्भावना है नहीं। और जिस समय हम सिद्धि को वर्तमान की वस्तु स्वीकार करेंगे, उस समय हमारी पूरी शक्ति लग जायेगी।

अब आप कहेंगे कि आप किस सिद्धि की बात कहते हैं?वह सिद्धि क्या है? सिद्धि का वास्तविक रूप क्या है? यह तो जब प्राप्त होगी तभी आप जान सकेंगे। लेकिन संकेत-भाषा में यह कहा जा सकता है कि बुद्धि से अतीत का जो ज्ञान है, अथवा बुद्धि का जो ज्ञान है उसका प्रभाव हो जाय जीवन में और इन्द्रिय-ज्ञान का उपयोग हो जाय। बुद्धि के ज्ञान का तो हो प्रभाव और इन्द्रिय के ज्ञान का हो उपयोग। आप कहेंगे, जरा इसे उदाहरण से स्पष्ट कीजिये। बुद्धि-ज्ञान ने हम सबको यह बताया कि संयोग में ही वियोग है। यह बात बुद्धि के ज्ञान से स्पष्ट होती है,लेकिन प्रभाव इसका नहीं होता। प्रभाव किसका होता है ? कि अभी तो हम लोग इकट्ठे हैं हीं, चाहे पिता-पुत्र के रूप में हों, चाहे पति-पत्नी के रूप में हों; चाहे दो मित्र के रूप में हों; चाहे दो बन्धुओं के रूप में हों। बोले भाई, अभी तो हम हैं, हमारा भाई है और हम हैं, हमारा बेटा है और हम हैं, हमारी पत्नी है और हम हैं और हमारा पति है और हम हैं। अभी तो हम हैं।

ऐसा कभी नहीं सोचते कि आज जिस प्यार से हम लोग बैठे बात कर रहे हैं, एक दिन विवश होकर हम सबको अलग

हो जाना पड़ेगा और अपना कोई वश नहीं चलेगा। इस बात का जीवन में प्रभाव होता है क्या ? यदि इस बात का प्रभाव हो जाय तो हमारी-आपकी वस्तुस्थिति क्या हो जायेगी ? अरे भाई ! देखो, थोड़ी देर का साथ है इसलिए एक दूसरे के साथ जो करना है वह करो। क्योंकि हमेशा के लिए तो साथ है नहीं। जैसे आये हुए मेहमान को कष्ट सह कर भी अच्छा भोजन दे देते हैं, स्थान दे देते हैं, उसी प्रकार हमारे प्रत्येक व्यवहार में यह प्रभाव आ जाय कि भाई! थोड़ी देर का साथ है आखिर तो अलग होना ही है। इसलिये थोड़ी देर के लिए हम क्यों ऐसी बात करें जो करने की नहीं है ! तो जीवन में एक बड़ी ही क्रान्ति आ आय, प्रकाश मिल जाय। पर ऐसा नहीं हो पाता। क्यों नहीं हो पाता ? कि बुद्धि का ज्ञान तो है किन्तु उसका प्रभाव स्वीकार नहीं करते। आप कहेंगे कि इस प्रभाव को स्वीकार करने वाला कौन सा देवता है ? मैं आपसे सच कहता हूँ कि वह कोई देवता हो, लेकिन वह तुम्हीं हो। तुम्हीं एक ऐसे देवता हो जो इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव को भी स्वीकार कर सकते हो, बुद्धि-ज्ञान के प्रभाव को भी स्वीकार कर सकते हो और बुद्धि से अतीत के ज्ञान से भी अभिन्न हो सकते हो।

तो वह जो तुम हो जिसके ऊपर अनेक प्रकार के प्रभाव अंकित हैं उसकी वस्तुस्थिति क्या है ? उनकी वस्तुस्थिति मुझे तो ऐसी मालूम होती है कि भाई, अगर सब प्रकार के प्रभाव मिटा दिये जायँ तब न! उसका ज्ञान होगा। इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव जब मिटे, बुद्धि-ज्ञान का प्रभाव होकर के अपना फल देकर के जब समाप्त हो जाय तब आप पता चला सकते हैं

कि यह प्रभाव किसने स्वीकार किया था। हम लोग इन्द्रिय-ज्ञान के होते हुए, बुद्धि-ज्ञान के होते हुए, बुद्धि-ज्ञान से अतीत के ज्ञान को जानते हुए चाहते हैं कि हम उस देवता का पता लगालें जिस देवता ने इन सबको स्वीकार किया है। उसी का नाम किसी ने 'जीव' रख दिया। उसी का नाम किसी ने 'व्यक्तित्व' रख दिया। उसी का नाम किसी ने कुछ रखा, किसी ने कुछ रक्खा। वास्तव में वह क्या है ? इसको जान सकते हैं, पर उसका वर्णन नहीं कर सकते। और अगर वर्णन कर भी सकते हैं तो केवल इस अंश में कर सकते हैं कि भाई, जिसमें कामना है उसी में जिज्ञासा भी है। कामना के रहते हुए तो जिज्ञासा पूरी नहीं होती। आप कहें कि कामना तो कभी नाश होगी नहीं। ऐसी बात नहीं है। कामना तो कहते ही उसको हैं कि जिसमें प्रवृत्ति हो और जिसकी निवृत्ति हो और पूर्ति न हो।

कामना की जो वास्तविक परिभाषा है, मुझे तो ऐसा ही मालूम होता है कि उसकी निवृत्ति भी होती है और उसके अनुरूप प्रवृत्ति भी होती है। निवृत्ति और प्रवृत्ति ये दो अवस्थायें हैं। निवृत्ति से क्या मिलता है? कि भाई, शान्ति मिलती है। प्रवृत्ति से क्या मिलता है? कि शक्ति का ह्रास होता है। शक्ति का ह्रास कामना के अनुरूप प्रवृत्ति में और शक्ति का संचय कामना की निवृत्ति में। जिसमें एक का नाम भोग रख लो तो दूसरे का नाम योग रख लो। योग और भोग जिसके प्रकाश से प्रकाशित हैं, वह कौनसा देवता है? और वह कौनसा देवता है जो अपने को भोगी और योगी कहता है? और भोग व योग क्या है? तीन प्रश्न बने, भाई। एक तो यह प्रश्न—योग और

भोग का प्रकाशक कौन है ? योगी और भोगी कौन है ? और योग और भोग क्या है ? इस सम्बन्ध में यदि हम और आप विचार करें तो योग और भोग का जो प्रकाशक है उसे 'मैं' नहीं कह सकते, उसे 'है' कह सकते हैं। जिसको 'है' कह सकते हैं, उसका कभी नाश नहीं हो सकता। और जिसका नाश नहीं होसकता वह सभी का सब कुछ रहता है। और सब कुछ होने पर भी सभी से अतीत भी है। जो सभी से अतीत है, सभी का सब कुछ है वही प्रकाशक है। किसका? योग और भोग का।

तो योग क्या है?—कामना की निवृत्ति और भोग क्या है ? कि कामना के अनुरूप प्रवृत्ति। तो प्रवृत्ति का नाम हुआ भोग और निवृत्ति का नाम हुआ—योग। और वह योगी और भोगी कौन है? उसको आप कहते हैं—'मैं'। मैं भोगी भी हूँ और योगी भी हूँ। ध्यान तो दीजिए कि भोग और योग में तो परस्पर विरोध है। वह अगर प्रवृत्ति है तो वह निवृत्ति। वह अगर शक्ति का ह्रास करता है तो उससे शक्ति का संचय होता है। भोग अगर पराधीनता की ओर लेजाता है तो योग स्वाधीनता की ओर लेजाता है। भोग यदि जड़ता में आबद्ध करता है तो योग चिन्मयता की ओर ले जाता है। बिल्कुल विरोध है। लेकिन क्या योगी और भोगी दो हैं ? जरा ध्यान दीजिये, कैसी विचित्र बात! कैसी अलौकिक बात ! भोगी और योगी एक और भोग और योग में विरोध। किन्तु जो अपनेको भोगी कहता है वही अपने को योगी कहता है। तो पता चला कि जिसको आप 'मैं' कहते हैं उसका ऐसा कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मालूम होता जो 'पर' के बिना प्रकाशित हो जाय। जैसे भोग के बिना भोगी प्रकाशित होजाय, योग के बिना योगी प्रकाशित होजाय। जिज्ञासा के बिना जिज्ञासु प्रकाशित होजाय। प्रेम के

बिना प्रेमी प्रकाशित हो जाय—ऐसा भासित नहीं होता, ऐसा अनुभव भी नहीं होता।

अतः तात्पर्य यह निकला कि भाई! हमें भोग का आश्रय लेकर अपने अस्तित्व को रखना है? अथवा योग का आश्रय लेकर अपने अस्तित्व को रखना है? अथवा जिज्ञासा का आश्रय लेकर अपने अस्तित्व को रखना है?अथवा प्रेम का आश्रय लेकर अपने को रखना है? इन चारों में से किसी एक का आश्रय लेना ही पड़ेगा। आप ध्यान दीजिये, जब हम भोग का आश्रय लेते हैं तब सुख भोगते हैं रुचि से, लेकिन दुःख भोगना पड़ता है विवशता से। सुख कोई विवशता से नहीं भोगते। लेकिन दुःख विवश होकर भोगना पड़ता है। तो जब विवश होकर दुःख को भोगते-भोगते हम इतने दुःखी होजाते हैं कि भाई,अब तो हमसे दुःख नहीं भोगा जाता! तो भाई, जब तुमसे दुःख नहीं भोगा जाता तो सुख का भोगना बन्द करो। बोले, यह अपने वश की बात नहीं है। तो भैया! अगर तुम्हारे यह वश की बात नहीं है कि सुख का भोगना बन्द कर सको तो यह भी तुम्हारे वश की बात नहीं है कि दुःख के भोग से बच सको। यह किसका सत्य नहीं है? कौन भाई-बहन ऐसा है जिसका यह सत्य नहीं है? कि सुख को भोगते हुए दुःख को भोगना ही पड़ता है! अब दुःख को हम चाहते नहीं।

तो भाई, यह कौनसा देवता है? कि हम तो दुःख को चाहते नहीं और मजबूर होकर हमारे पास दुःख भेज देता है। वह कौनसा देवता है? बोले, आज तक उसका पता नहीं चला कि वह कौनसा देवता है। लोग तो ये कहने लगे कि भाई, ऐसा विधान ही है। यह तो होनहार ही है। यह तो होगा ही। भाई,

जो विधान होता है उसका कोई आधार होना चाहिये। उसका कोई प्रकाशक होना चाहिए। यह आपकी मर्जी की बात है कि आपको विधान तो मानना ही पड़ता है, लेकिन अब आप यह नहीं मानते कि कोई इसका आधार है अथवा यह किसी का विधान है। इसके न मानने से जिसका यह विधान है उसका कोई मूल्य घटता नहीं और इसके मानने से कि भाई, ये किसी का विधान है उसका कोई मूल्य बढ़ता नहीं। परन्तु ध्यान तो इस बात पर देना है कि जब आपको विधान मानना ही पड़ता है तो वह किसी का विधान है, इसके मानने में आपको आपत्ति क्या है ? आप कहें कि हमें आपत्ति हो, न हो, पर हम नहीं स्वीकार करते। बड़ी सुन्दर बात। लेकिन विधान को ? वह तो विवश होकर स्वीकार करना ही पड़ता है। बहुत ठीक बात। किसी ने कहा कि हम प्रकाश को तो मानते हैं लेकिन सूर्य को नहीं मानते। और बोले, उष्णता को तो मानते हैं लेकिन सूर्य को नहीं मानते। तो इसमें अपनी कोई हानि नहीं मालूम होती। सूर्य को भी कोई अनादर नहीं मालूम होता।

लेकिन एक बात तो बताओ कि विधान के अनुसार सुख-दुःख का भोक्ता किसको मानते हो ? आपको कहना ही पड़ेगा—अपने को मानते हैं। अच्छा भाई, सुख से अलग सुख का भोक्ता कभी तुमने देखा है अपने को ? आपने दुःख से अलग दुःख का भोक्ता कभी अनुभव किया? बोले, सो तो नहीं किया। एक ओर तो आपकी इतनी उदारता है कि जिसको आज तक नहीं देखा उसके अस्तित्व को आप मानते हैं और दूसरी ओर आपकी यह न्याय-प्रियता है कि प्रकाश प्रत्यक्ष है, पर सूर्य को नहीं मानते। हमारे मानव-सेवा-सङ्घ की नीति में किसी को मानने का लेश-

मात्र भी नियम नहीं है। अपनी बात दूसरों पर लादने का लेश-मात्र भी आग्रह नहीं है। आप मानिये अथवा मत मानिये। लेकिन आप जो स्वयं सुख-दुःख के भोक्ता हैं—हम इतना जानना चाहते थे कि दुःख से अलग करके आपका अस्तित्व क्या है ?, सुख से अलग करके आपका अस्तित्व क्या है ? अवस्था से अलग करके आपका अस्तित्व क्या है? परिस्थिति से अलग करके आपका अस्तित्व क्या है ? वस्तु से अलग करके आपका अस्तित्व क्या है ? इस से कृपा-सिन्धु ! आप विचार करें। जब इस दृष्टि से आप विचार करेंगे तो दुःख से अलग होकर आप अपने को दुःखी नहीं कह सकते। सुख से अलग होने पर आप अपने को सुखी नहीं कह सकते। वस्तु से अलग होकर आप अपने को व्यक्ति नहीं कह सकते। अवस्था से अलग होने पर आप अपने को परिच्छिन्न नहीं बना सकते। कहने का मेरा तात्पर्य यह है कि सुख, दुःख, वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि जो आपको इन्द्रिय-ज्ञान से प्रकाशित प्रतीत होते हैं यानी जिनकी प्रतीति इन्द्रिय-ज्ञान के आधार पर है वही सुख-दुःख, वस्तु अवस्था, परिस्थिति बुद्धि-ज्ञान से परिवर्तनशील हैं। कौन परिवर्तनशील है ? सुख, दुःख, वस्तु, अवस्था, परिस्थिति। जब ये परिवर्तन-शील हैं तो उस परिवर्तनशीलता का ज्ञान जिस ज्ञान से होता है उसका नाम है—बुद्धि का ज्ञान।

किन्तु जब आप, कोई और नहीं ! इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव से उत्पन्न हुई कामना का सुख भोगना चाहते हैं तब बुद्धि का ज्ञान मन के आधीन हो जाता है। और फिर मन इन्द्रियों के आधीन हो जाता है और इन्द्रियाँ विषयों के आधीन हो जाती हैं। तात्पर्य क्या निकला ? कि इन्द्रिय-जन्य ज्ञान के प्रभाव से उत्पन्न हुई कामना की पूर्ति आपको असीम से असीम की ओर, अव्यक्त से

व्यक्त की ओर, स्वाधीनता से पराधीनता की ओर, चिन्मयता से जड़ता की ओर ले जाती है। अन्त में परिणाम क्या होता है? कि दुःख का प्रभाव आपके जीवन में एक चेतना प्रदान करता है। वह चेतना आपको विवश करती है जड़ता से चिन्मयता की ओर, पराधीनता से स्वाधीनता की ओर और अनित्य से नित्य की ओर अग्रसर होने के लिये। यह द्वन्द्वात्मक स्थिति किसकी है ? आपको मानना पड़ेगा—मेरी है। वह जो 'मैं' है, जिसकी यह द्वन्द्वात्मक स्थिति है, वह जब तक सुख-दुःख का भोगी रहता है तब तक कामनाओं की उत्पत्ति का प्रवाह चलता ही रहता है। और जब वह सुख-दुःख का भोगी जिज्ञासु होता है तब कामनायें मिटने लगती हैं।

लेकिन यह ध्यान देने की बात है कि किसी अंश में तो है जिज्ञासु और किसी अंश में है भोगी तब तक बड़ी भयंकर स्थिति रहती है महाराज ! कैसी भयंकर स्थिति ? जैसे एक अबोध बालक जानना भी चाहता है कि पापा ! यह क्या है ? मम्मी ! यह क्या है ? जानना भी चाहता है और जो कुछ उसे दीखता है उसे मुंह में भी रखना चाहता है। आप देखते हैं न!एक बालक की वस्तुस्थिति देखते हैं न! कि जो चीज उसको दीखती है उसको हाथ में पकड़ेगा, मुँह में रखेगा, आँख से देखेगा—तो इन्द्रिय-ज्ञान का भोग भी करना चाहता है और जानना भी चाहता है। अगर यही वस्तुस्थिति बाल्यकाल के बाद भी बनी रहे, जरा ध्यान दीजिये, तो चाहे साठ वर्ष का हो,चाहे सौ वर्ष का, वह बालक ही है। जो बालक है उसमें भाई जड़ता रहेगी ही। उसे तो रोना भी पड़ेगा, हँसना भी पड़ेगा। उसमें तो पराधीनता रहेगी। बालक कोई भी स्वाधीन नहीं होता।

उसके पास दो ही अस्त्र रहते हैं—कभी हँसना, कभी रोना। क्या वही वस्तुस्थिति आज अपनी नहीं है ? जरा ध्यान तो दीजिये।

कहने का मेरा तात्पर्य था कि जिज्ञासा और कामना दोनों जब तक साथ में रहती हैं तब तक जीवन की समस्या हल नहीं होती। और जब जिज्ञासा इतनी सबल होती जाती है कि वह कामनाओं को खाने लगती है, मिटाने लगती है, तो नियम ऐसा है, मंगलमय विधान ऐसा मालूम होता है कि जिस काल में समस्त कामनायें नाश होती हैं उसी काल में जिज्ञासा की पूर्ति होती है। आज हम जिज्ञासा-पूर्ति के लिये बड़े-बड़े ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं। कोई भाई यह न समझ बैठे कि मैं स्वाध्याय का विरोधी हूँ। अगर स्वाध्याय का विरोधी होता तो स्वयं किताब क्यों लिखाता। स्वाध्याय का विरोधी नहीं। विचार इस बात पर करना है कि बाह्य ज्ञान के द्वारा, सुनी हुई बातों के द्वारा क्या आपकी जिज्ञासा पूरी हो सकती है ? अगर जिज्ञासा पूरी हो सकती होती तो अब तक हो ही गई होती। कारण क्या है? एक ही ग्रन्थ का अनेक व्यक्ति अध्ययन करते हैं और अनेक व्यक्तियों पर उस ग्रन्थ का अनेक प्रकार का प्रभाव होता है। ऐसा आपने नहीं देखा होगा कि एक ही ग्रन्थ का अनेक पर एकसा प्रभाव पड़े। बात तो सोचो, क्या कारण है ? कि ग्रन्थ एक और प्रभाव अनेक! उसका एक-मात्र कारण मानना पड़ेगा कि प्रत्येक जिज्ञासु की वस्तुस्थिति अलग-अलग है, रुचि अलग-अलग है, योग्यता अलग-अलग है, सामर्थ्य अलग-अलग है।

तो रुचि भेद से, योग्यता भेद से, सामर्थ्य भेद से बाह्य

ज्ञान का प्रभाव एकसा नहीं रहता और जब तक प्रभाव एकसा नहीं रहता, तब तक उसको निःसन्देहता नहीं कह सकते। तात्पर्य क्या निकला ? कि बाह्य ज्ञान के आधार पर हम सब निःसन्देह नहीं हो सकते। तो क्या हो सकते हैं? आप कहेंगे कि बाह्य ज्ञान के आधार पर भी तो निःसन्देह होते हैं। किसके सम्बन्ध में ? जो इन्द्रिय-ज्ञान, बुद्धि-ज्ञान का विषय नहीं है। जिसके सम्बन्ध में जिज्ञासा जाग्रत नहीं हुई है उसके सम्बन्ध में यदि कोई बात आप सुनते हैं तब उसमें विश्वास होता है। वह जो विश्वास विकल्प-रहित होने से ज्ञान के समान फल देता है। पर सच मानिये, वह ज्ञान नहीं होता।



१६

[ब]

आप कहेंगे कि भले ही ज्ञान न हो पर जब वह ज्ञान के समान फल देता है तो हम उसे ज्ञान क्यों न मानें ? ज्ञान मत मानो, उसे विश्वास-मार्ग मानलो। विश्वास-मार्ग भी एक स्वतन्त्र मार्ग है, एक प्रशस्त मार्ग है। लेकिन वह विश्वास किस पर किया जा सकता है ? जिस पर आज तक सन्देह न हुआ हो। जरा ध्यान दीजिये—आज एक बालक को अपनी माँ पर क्यों विश्वास होजाता है कि मेरी माँ है?क्योंकि उसने अपने ज्ञान से अपनी माँ को विषय नहीं किया, अपने ज्ञान से अपने पिता को विषय नही किया। तो जिसको अपने ज्ञान से विषय नहीं करता और उसको जब सुन लेता है तो उसमें विकल्प-रहित विश्वास होजाता है। ऐसे ही जगत के प्रकाशक को जगत ने विषय नहीं किया, बुद्धि के प्रकाशक को बुद्धि ने विषय नहीं किया, इन्द्रियों के प्रकाशक को इन्द्रियों ने विषय नहीं किया। तो जिसको हम विषय नहीं कर पाते उसके सम्बन्ध में जब कोई बात सुनते हैं तब उसमें विकल्प-रहित विश्वास हो जाता है। चाहे उसे गुरु-विश्वास कहो, चाहे उसे शास्त्र विश्वास कहो। लेकिन जिसको आप विषय करते हैं उसको अगर कोई कहे कि मान लो तो उसको आप नहीं मान सकते।

तात्पर्य क्या निकला ? कि उस पर यदि हम विश्वास करें जिसको आज तक इन्द्रिय-ज्ञान से विषय नहीं किया, बुद्धि-ज्ञान से जिसे विषय नहीं किया तो उसका जो विश्वास है वह विश्वास साधन-रूप है। लेकिन जिसे इन्द्रिय-ज्ञान से विषय करते हैं, उसका जो विश्वास है वह साधन-रूप विश्वास नहीं है।

कहने का मेरा तात्पर्य था कि प्रत्यक्ष-वाद की दृष्टि से भी इन्द्रिय-ज्ञान अधूरा ज्ञान है, पूरा ज्ञान नहीं। तो जब अधूरा ज्ञान है तो अधूरे ज्ञान के प्रभाव का नाम ही सरकार ! अज्ञान है। जो अज्ञान है उसी का फल अकर्त्तव्य है और जो अकर्त्तव्य है उसी का फल है —विनाश। उसी का फल है–अभाव। उसी का फल है—ह्रास। अकर्त्तव्य के बिना ह्रास नहीं हो सकता। तो कहने का मेरा तात्पर्य यह था कि भाई ! इन्द्रिय-ज्ञान का उपयोग करें, उसके प्रभाव से प्रभावित न हों। जब उसके प्रभाव से प्रभावित नहीं होंगे तब किसका प्रभाव होगा?तो तब बुद्धि-ज्ञान का प्रभाव होगा। तो बुद्धि-ज्ञान के प्रभाव से हमें क्या मिलेगा ? कि इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव से उत्पन्न हुई जो कामनायें थीं उनका नाश हो जायेगा। बुद्धि-ज्ञान के प्रभाव से इन्द्रिय-ज्ञान के आधार पर उत्पन्न हुई कामनाओं का नाश हो जायेगा। बोले कब? जब बुद्धि मन के अधीन न रहे। अब आप कहेंगे—अजीब झगड़ा लगा दिया—तब किसके अधीन रहे ? मानव सेवा संघ की भाषा में उसको कहा जाता है—विवेकवित्—विवेक के अधीन। किस विवेक के अधीन ? कि वह ज्ञान जिस ज्ञान से आप बुद्धि के परिवर्तन को जानते हैं। बुद्धि का परिवर्तन क्या ? कि बुद्धि का परिवर्तन ये कि जरा

ध्यान तो दीजिये, कि वही बुद्धि किस काम में लगी ? जब हम और आप बच्चे होते हैं न ! तो मन के विरुद्ध जब बात होती है तब आपस में लड़कर एक दूसरे के चाँटा मारते हैं। अब यह आपकी अनुभूति है कि हमारे मन के विरुद्ध जो काम करेगा हम उसे पीटेंगे या हमने जिसके मन के विरुद्ध बात की उसने हमें पीटा।

अब यह पीटने की मनोवृत्ति लेकर आप बड़े विज्ञानवेत्ता बने। बोले कि भाई ! हाथ से तो चाँटा ही मारते थे अब ऐटम बम से करोड़ों आदमियों को मारेंगे। मैं आपसे पूछता हूँ कि यह जो भावना है कि हम ऐसे यन्त्रों का अविष्कार करें, ऐसी वस्तुओं का आविष्कार करें जो सारे संसार को नाश करने में हेतु बन जाय, क्या यह उसी अवस्था का परिचय नहीं है? कौन सी अवस्था? कि जब मन के विरुद्ध होने से हमने किसी को पीटा था या हमको किसी ने पीटा था। तो आपके विज्ञान का क्या विकास हुआ ? कि चाँटा मारना ऐटम बम मारने में बदल गया। यही न ! विकास हुआ। और क्या विकास हुआ ? जो एक फर्लांग, दो फर्लांग की बात सुन सकते थे वह सैकड़ों मील की सुन सकते हैं। इन्द्रिय-ज्ञान को ही आपने विकसित किया, एनलार्ज किया। जरा ध्यान दीजिये—ऐसा जो विज्ञानवेत्ता है जो इन्द्रिय-ज्ञान के आधार पर ही अपना सारा जीवन निर्भर रखता है वह बड़े से बड़ा विद्वान भी एक अबोध बालक से अधिक महत्व नहीं रखता। इस दृष्टि से उस बुद्धि का कोई महत्व नहीं है महाराज ! जो इन्द्रिय-ज्ञान के आधीन होकर कार्य करती है।

किस बुद्धि का महत्व है ? जो विवेकवित् होकर कार्य करती है।

इसलिये मानव सेवा संघ की भाषा में अथवा यों कहो कि मानव-दर्शन में यह बात ही नहीं कही कि आप बुद्धि के ज्ञान पर विश्वास कीजिये। सिर्फ यह बात कही गई कि विवेक-विरोधी कार्य मत कीजिये—चाहे वह कार्य इन्द्रिय-जन्य हो, चाहे वह कार्य बुद्धि-जन्य हो। जिसमें विवेक का विरोध हो वह मत कीजिये। किस विवेक का विरोध ? जिस विवेक ने दो बातें बताईं हमें और आपको कर्त्तव्य के क्षेत्र में—कौनसी दो बातें ? कि एक तो हम ऐसी बात न करें जो अपने लिये नहीं चाहते—यह कर्त्तव्य विज्ञान; और एक जिस विवेक ने यह बताई कि किसी भी वस्तु से हमारा नित्य सम्बन्ध नहीं रह सकता और एक विवेक ने यह बताई कि वस्तु-विश्वास से काम नहीं चल सकता—गलत विश्वास है। तो जिस विवेक ने हमें और आपको यह प्रकाश दिया है और वह विवेक प्रत्येक भाई-बहिन के पास है। सच पूछिये, हमारे यहाँ जो गुरू की महिमा का वर्णन किया जाता है वह गुरू विवेक ही है। जब वह मूर्तिमान होकर व्यक्ति के रूप में प्रकट होता है अथवा ऐसे महापुरुष जब अवतरित होते हैं जिनके जीवन और विवेक में एकता है साधारण व्यक्ति देहाभिमान के कारण उन व्यक्तियों को भी गुरू मान लेते हैं। लेकिन संघ की नीति में गुरू एक तत्व है और वह गुरु-तत्व विवेक के रूप में आपको प्राप्त है। यह गुरू और शिष्य की जो स्वाधीनता है जिसमें पराधीनता की गन्ध भी नहीं है, तो आज हम उस विवेक के अधीन नहीं रहते हैं।

हमसे भूल क्या होती है? कि हम सुखी भी रहते हैं, दुःखी भी रहते हैं,भोगी भी मानते हैं; योगी भी मानते हैं,जिज्ञासु भी मानते हैं, लेकिन विवेक के अधीन होकर नहीं मानते। यदि आज हम और आप अपने-अपने विवेक के आधीन हो जायं तब हमारी बुद्धि विवेक-वित् हो जायेगी, तो मन के आधीन नहीं रहेगी। यह नियम है कि जब तक बुद्धि की स्वीकृति मन को नहीं मिलती तब तक मन संकल्प-पूर्ति में प्रवृत्त नहीं होता और जब तक मन संकल्प-पूर्ति में कार्य नहीं करता तब तक इन्द्रियों के आधीन नहीं होता और जब तक इन्द्रियों के आधीन नहीं होता तब तक मन पराधीन नहीं होता। सीधी-सादी बात। इसलिये भाई ! हम सबको विवेक के आधीन होना है अथवा यों कहो कि हम सबको विवेकी होना है।

देखिये, अहं जो है, जरा ध्यान दीजिये, कोई उसका ऐसा स्वतन्त्र अस्तित्व आपने देखा नहीं; दिखा सका नहीं कोई आज तक। विश्वास तो बहुत दिलाया—किसी ने जीव कह कर विश्वास दिलाया महाराज ! बुरा मत मानना और किसी ने ब्रह्म कह कर विश्वास दिलाया और किसी ने व्यक्ति कह कर विश्वास दिलाया और किसी ने कुछ नहीं कह कर विश्वास दिलाया-कुछ नहीं ! कुछ नहीं!! चाहे कुछ नहीं कहो,चाहे जीव कहो, चाहे ब्रह्म कहो, चाहे व्यक्ति कहो, तो अहं के साथ मिली हुई वस्तु अहं को पुष्ट करती है और अपने को उसके आधीन बना देती है। इस दृष्टि से जब हम और आप निष्पक्ष भाव से विचार करेंगे तो भाई,उस अहं का स्वरूप निकलेगा–पराश्रय। एक हमने कहानी सुनी थी। बहुत से लोग कई प्रकार का साज बजा रहे थे साज, अनेक प्रकार के साज। कई प्रकार के साज बज रहे थे साज—जैसे तबला है, सारङ्गी है, सितार है,

मृदंग है आदि-आदि बज रहे थे। एक सज्जन के पास एक टेढ़ी-मेढ़ी लकड़ी थी। जब सब साज बजें और बजाने वाले जब मस्त हों तो वह भी मस्त होकर अपनी लकड़ी पर खूब हाथ चलाये तेजी से। तो किसी ने पूछा कि इस बाजे का क्या नाम है ? तो कहा—मिल बाजा है। इसका स्वर और ताल क्या है? इसका स्वर और ताल तभी निकलता है जब सब बाजे बजते हैं।

सच पूछिये, हमको यह कहानी ऐसी मालूम हुई कि मानों किसी ने अहं के सम्बन्ध में लिखी है। सुख के साथ मिलादो तो —मैं सुखी, दुःख के साथ मिलादो तो—मैं दुःखी, भोग के साथ मिलादो तो—मैं भोगी, योग के साथ मिलादो तो—मैं योगी, सन्देह के साथ मिला दो तो—मैं जिज्ञासु, भगवान् के साथ मिला दो तो—मैं भक्त, प्रेम के साथ मिलादो तो—मैं प्रेमी। और सबको निकालदो तो-कुछ नहीं। और कुछ नहींके साथ मिलादो तो कुछ नहीं। यही न! हुआ। बुद्ध ने कह दिया-कुछ नहीं, अहं जैसी कोई वस्तु नहीं। शंकर ने कह दिया—ब्रह्म। जैनियों ने कह दिया—जीव। भौतिकवादियों ने कह दिया-व्यक्ति। मैं उदाहरण दिया नहीं करता हूँ अपने व्याख्यान में कभी। तो आप सोचिये, गम्भीरता से सोचिये आप लोग। क्या ? कोई कहता है कि मैं अमुक का पति हूँ, मैं अमुक की पत्नी हूँ कि कोई कहता है कि मैं अमुक का बेटा हूँ। अरे लाला! जिस वीर्य से तुम पैदा हुए वह तीन बार बदल गया तब भी बेटा हो ? जरा ध्यान दो। तो भाई, इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का यह प्रभाव है। सुना हुआ, इन्द्रियों के द्वारा ही न ! सुना जाता है, इन्द्रियों द्वारा ही न! देखा जाता है। तो इन्द्रिय-जन्य ज्ञानके प्रभाव में आबद्ध प्राणी अपने को नहीं जानता। जो अपने को नहीं जानता सच पूछिये—वह किसी को

नहीं जानता। करता क्या है ? मानता है। अपने को भी मानता है,औरों को भी मानता है। संसार को भी मान लिया। लेकिन न अपने को जाना, न जगत को जाना।

कहने का मेरा तात्पर्य था कि इस इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का प्रभाव उपयोग के लिये होना चाहिये, ज्ञान के लिये नहीं। इन्द्रिय-ज्ञान के आधार पर आप जो अपने को ज्ञानी मान बैठते हैं। देखिये न ! साइन्स सच पूछिये कर्म है कर्म। और आपने अनुवाद कर दिया—विज्ञान। विज्ञान कहते किसको हैं? विशेष ज्ञान को। जिसमें ज्ञान की गन्ध भी नहीं है उसका नाम—विज्ञान ! आप कहेंगे कि ज्ञान की गन्ध क्यों नहीं है ? तो वही तो मैंने आपसे निवेदन किया न! सैकड़ों मील का देख भी सकें, सैकड़ों मील घण्टों में चल भी सकें, दूर की सुन भी सकें,लाखों आदमियों को मार भी सकें—वह तो इन्द्रिय-ज्ञान का व्यापार है। अरे भाई, ३/४ को ७५/१०० करने से वजन बढ़ता है क्या? वजन तो कुछ नहीं बढ़ता। तो विशेष ज्ञान तो हुआ नहीं। वही अधूरा ज्ञान रहा,अल्प ज्ञान रहा। बस उसका उपयोग बढ़ गया। उपयोग बढ़ जाने से ज्ञान नहीं बढ़ जाता,उपयोग घट जाने से ज्ञान नहीं घट जाता। इसलिये भाई! जिसे आप साइंस कहते हैं जिसका अनुवाद हिन्दी में विज्ञान करते हैं उसमें ज्ञान की गन्ध भी नहीं है। क्यों ? ज्ञान कहते किसे हैं? जरा सोचो तो सही—जिससे निःसन्देहता प्राप्त हो। तो क्या आज विज्ञान से निस्संदेहता प्राप्त है? किसीको निःसन्देहता प्राप्त नहीं है। तो विज्ञान है क्या ? बल है बल। बल जो होता है वह हमेशा चेतना-शून्य होता है। बल में चेतना नहीं होती। अगर बल में चेतना होती तो बल के द्वारा आप निर्बल को खा नहीं सकते थे।

कहने का मेरा तात्पर्य यह है कि जो वास्तव में ज्ञान है आज उस पर हमारी दृष्टि नहीं जाती। जहाँ दर्शन नहीं है वहाँ जीवन नहीं है महाराज ! वहाँ मृत्यु है, वहाँ अभाव है, वहाँ जड़ता है, वहाँ पराधीनता है, वहाँ कुछ नहीं है। तो कहने का तात्पर्य यह है भाई ! कि इन्द्रिय-ज्ञान का उपयोग करना है। बुद्धि-ज्ञान के द्वारा इन्द्रिय-ज्ञान पर विजयी होना है। लेकिन कब ? जब बुद्धि विवेकवित् हो तब। जो आज अपने को दुःखी मानता है, सुखी मानता है, भोगी मानता है, योगी मानता है, यदि वह विवेकी होजाय विवेकवित् होकर; जैसे भोगवित् होकर भोगी हुआ, योग वित् होकर योगी हुआ, सुख वित् होकर सुखी हुआ, दुःख वित् होकर दुःखी हुआ, ऐसे ही जो उसे नित्य प्राप्त है, स्वतः प्राप्त है, उस नित्य एवं स्वतः प्राप्त विवेक द्वारा यदि वह विवेक वित् होकर विवेकी हो जाय। तो विवेकी किसे कहते हैं भैया ? जहाँ अविवेक की गन्ध न रहे। जहाँ अविवेक की गन्ध नहीं रहती वहाँ क्रियात्मक रूप में अकर्त्तव्य नहीं रहता। अविवेक का नाश होते ही अकर्त्तव्य का नाश होता है। और अकर्त्तव्य के नाश में ही कर्त्तव्य-परायणता है। और कर्त्तव्य परायणता में ही, विद्यमान राग की निवृत्ति है।

कर्त्तव्य परायणता का महत्व क्यों हैं? अकर्त्तव्य का विरोध क्यों है ? सही अर्थ में पति हुये बिना पत्नी के राग से नहीं छूट सकता। सही अर्थ में पिता हुये बिना सन्तान के राग से नहीं छूट सकता। सही अर्थ में मित्र हुये बिना मित्र के राग से नहीं छूट सकता। सही अर्थ में व्यक्ति हुये बिना समाज के राग से नहीं छूट सकता। मुझे इसे कहने में भी आपत्ति नहीं है कि सही अर्थ में जीव हुये बिना ईश्वर के राग से नहीं छूट सकता है। लेकिन अनुराग से युक्त होसकता है। राग से छूटने

पर ही अनुराग से युक्त होता है। अनुराग चाहे पिता-पुत्र के बीच में हो, चाहे पति-पत्नी के बीच हो, चाहे व्यक्ति और समाज के बीच में हो, चाहे जीव और ईश्वर के बीच में हो। अनुराग रसरूप है। और अनुराग का रस स्वाधीन रस है। अनुराग का रस नित्य रस है; किन्तु राग का रस अनित्य रस है और पराधीनता में आबद्ध करने वाला है। तो कर्त्तव्य ने हमें क्या बताया ? कर्त्तव्य ने हमें यह बताया कि राग को अनुराग में बदल दिया। ध्यान तो दीजिये—अगर कोई पिता के लिये पुत्र है अथवा पुत्र के लिये पिता है। और न तो पिता होकर पुत्र से सुख की आशा करता है, न पुत्र होकर पिता से सुख की आशा करता है। तो सुख की आशा से रहित किया हुआ जो प्रेम है, जो सेवा है, वह सेवा कितनी सुन्दर होगी ! जरा ध्यान तो दीजिये—आज यदि हम सुख की आशा से रहित अपने सम्बन्धियों से प्रीति करने लग जायँ, उनकी सेवा करने लग जायँ तो क्या हमारा-आपका व्यक्तिगत जीवन सुन्दर नहीं होगा? इतना सुन्दर होगा महाराज ! कि जिसके लिये राष्ट्र की भी अपेक्षा नहीं होगी और सच मानिये, उसके लिये मजहब की भी अपेक्षा नहीं होगी। किन्तु हमसे भूल क्या होती है? कि हम अपने व्यक्तिगत जीवन को विवेकी हुये बिना—और कोई कारण नहीं—अविवेकी होकर उस व्यक्तिगत जीवन को राग में आबद्ध कर लेते हैं।

हमारे एक मित्र कहते हैं कि आप हमको राग-रहित कर दीजिये—कि राग-रहित तो विवेकी होता है। और किसी दूसरे के करने से कोई हुआ नहीं, हो सकता नहीं, कभी होगा नहीं। हाँ! यह दूसरी बात है कि विवेकियों के सम्पर्क में विवेक

का महत्व बढ़ता है और जब विवेक का महत्व बढ़ता है तब विवेक तो प्राप्त है ही है। हुआ क्या ? अविवेक का महत्व बढ़ने से हम अविवेकी हो गये। विवेक का महत्व बढ़ने से हम सब विवेकी हो सकते हैं। विवेकी हो सकते हैं तब कर्त्तव्यनिष्ठ हो ही सकते हैं। और जब कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकते हैं तो राग रहित हो ही जायेंगे। जब राग रहित होंगे तब अनुराग युक्त होने में क्या देर है ? जहाँ राग नहीं है वहाँ अनुराग है। जहाँ राग नहीं है वहाँ योग है। क्योंकि राग से ही भोग होता है। तो योग, अनुराग, बोध, इन सबकी प्राप्ति में कोई भी भाई, कोई भी बहन पराधीन नहीं है। और सच पूछिये तो भोग वर्तमान की वस्तु नहीं है महाराज ! आपको अगर चाय पीनी होगी आठ बजे तो आठ बजना वर्तमान की वस्तु नहीं है। वह भविष्य की वस्तु है। उसमें आप स्वाधीन नहीं हैं। उसमें आप पराधीन हैं। क्यों ? भोगने की शक्ति रहे तब न ! भोगोगे। भोग्य वस्तु रहे तब न ! भोगोगे। लेकिन योग में पराधीनता नहीं है। योग वर्तमान की वस्तु है। तो जो वर्तमान की वस्तु है जिसमें पराधीनता नहीं है उससे आज हम निराश हैं निराश—भला हम साधारण, पतित प्राणी क्या योगी हो सकते हैं ! मैं आपसे पूछता हूँ कि जब हम साधारण प्राणी योगी नहीं हो सकते तो क्या सातवें आसमान के व्यक्ति योगी हो सकते हैं ? जरा ध्यान तो दीजिये !

कहने का तात्पर्य मेरा यह था कि आज हम इन्द्रिय-जन्य ज्ञान के प्रभाव में इतने प्रभावित हो गये हैं कि कर्म का नाम विज्ञान रख लिया। बल का नाम ज्ञान रख लिया। अरे भाई ! कर्म से आपको अरुचि होती हो, घबराते हो तो बल का नाम ज्ञान रख लिया। बल कभी ज्ञान नहीं है। व्यावहारिक दृष्टि

में यदि आप क्रियात्मक रूप देखेंगे वहाँ भी बल को स्वाधीन नहीं रखा। हम एकदफा सोचने लगे कि क्या कारण है कि पुलिस गोली नहीं चला सकती? जब तक मजिस्ट्रेट का आर्डर न हो। क्यों नहीं चला सकती ? तो पुलिस है—बल और मजिस्ट्रेट है—न्यायाधीश। न्यायाधीश हो सकता है—विवेक। और बल और विवेक के बीच में बल को हमेशा विवेक के आधीन रहना चाहिये। आज हमसे भूल क्या हुई ?–बल के आधीन विवेक हो गया। उदाहरण लीजिये—एक छोटा सा प्रश्न था कि यह जो वेजीटेबिल बनाया जाता है इसमें एक रंग डाल दिया जाय—तो धन के आधीन कौन हो गया ? वह साइन्सवेत्ता जो रंग डाल सकता है, नहीं डाल सका। और धन के आधीन कौन हो गया ? वह पावर जिसको इलैक्शन के लिए रुपया लेना है। अब सोचिये—अंग्रेजो राज्य में हम लोग जब यह कहते थे कि जब हिन्दुस्तान आजाद हो जायेगा तब इस प्रकार की वस्तुयें देश में नहीं मिलेंगी। आज क्या दशा हो गई ? आप कितना ही रुपया दीजिये क्या शुद्ध घी ले सकते हैं ? नहीं ले सकते।

तो सारे संसार को ईमानदार बनाने का दम भरता है आज का राष्ट्र; लेकिन स्वयं इलैक्शन के आधीन होकर, धन के आधीन होकर, मिल-औनर का गुलाम हो गया। मिल-औनर का गुलाम और कौन हो गया ? वह साइन्सवेत्ता जो कहता है—मैं ज्ञाता हूँ, मैं सब कुछ जानता हूँ और वह पढ़ा-लिखा राजनीतिज्ञ—मैनेजर बन गया महाराज! मैनेजर। कोई कैमिस्ट बन गया इन्जीनियर बन गया। दशा क्या हुई ? तो करोड़ों आदमियों को निकिल धातु खिलाकर आंतों की बीमारी पैदा कर दी महाराज ! यह किसके द्वारा हुआ ? यह विवेक के विरोध से न ! हुआ। यह बल के आधीन होने से न ! हुआ। जब

मनुष्य बल के आधीन होता है और विवेकवित् नहीं रहता तब उसके जीवन में महाराज ! कर्त्तव्य नहीं रहता। और जब जीवन में कर्त्तव्य नहीं रहता तो कोई कानून हमें कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं बना सकता। कोई मजहब हमें कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं बना सका।

मुझे मालूम है एक पूँजीपति जो कि बड़े अच्छे आदमी माने जाते हैं उनसे किसी ने फोन पर कहा—बेजीटेबिल फैक्ट्री खोलो। तो उन्होंने इन्कार कर दिया। पर आज उन्हीं की कई बेजीटेबिल फैक्ट्री हैं मतलब क्या ? किस वक्त इन्कार किया ? जब जीवन में धर्म था तब इन्कार किया। जब धर्म नहीं रहा, कर्त्तव्य नहीं रहा, पैसा आ गया—तो जिस जीवन में पैसा आयेगा ही कैसे ? जरा ध्यान दीजिये। जिस जीवन में पद निवास करता है उस जीवन में कर्त्तव्य कैसे आयेगा ? जिस जीवन में सुख की दासता निवास करती है उस जीवन में कर्त्तव्य कैसे आयेगा ?

जिस जीवन में दुःख का भय निवास करता है उसमें कर्त्तव्य कैसे आयेगा ? कदापि नहीं। इसलिये भाई ! आज हमें और आपको सचमुच मानव होना है,सचमुच सिद्ध प्राप्त करनी है तो हर एक भाई को, हर एक बहन को विवेकी होना होगा। और जब आप विवेकी हो जायेंगे तब वस्तुओं की दासता से मुक्त हो जायेंगे, तब देहाभिमान से भी मुक्त हो जायेंगे। जब देहाभिमान से मुक्त हो जायेंगे तब पद-लोलुपता से भी मुक्त हो जायेंगे। तात्पर्य क्या निकलेगा कि संसार की कोई भी शक्ति आपको अपने आधीन नहीं बना सकती और जिसको संसार

अपने आधीन नहीं बना सकता; मजबूर होकर संसार उसके आधीन होजाता है। जिसके आधीन संसार है वह है—मानव जीवन और जो संसार के आधीन है उसका नाम आप रखना मुझे कुछ नहीं मालूम। कहने का तात्पर्य यह था कि आज हम सबको विवेकी होकर कर्त्तव्यनिष्ठ होना है। कर्त्तव्यनिष्ठ होकर राग रहित होना है। राग रहित होकर अनुराग प्राप्त करना है और अनुराग प्राप्त करके अपने जीवन को अपने लिये, जगत के लिये, प्रभु के लिये उपयोगी सिद्ध करना है। और जिसका जीवन सभी के लिए उपयोगी है उसी का नाम है-मानव जीवन और भाई मेरे ! इसी का नाम सिद्धि है।



१७

विश्राम से युक्त, स्वाधीन, चिन्मय, अनन्त-रसमय जीवन की मांग हम सभी को है। उस जीवन की अभिव्यक्ति वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति के आश्रित नहीं है। करुणा से भोग की रुचि और प्रसन्नता से काम का नाश होजाता है। यह भौतिक विकास की पराकाष्ठा है।

भोग वासना से रहित होने पर इन्द्रियों की शक्ति मन में और मन की शक्ति बुद्धि में विलीन होजाती है। बुद्धि सम होजाती है। उसके बाद अहम्-रूपी अणु में इन्द्रिय-जन्य स्वभाव का प्रभाव जब तक रहता है तब तक वह चिन्मय जीवन में नई दुनियां बनाता है। कहता है—उसमें बड़ा प्रकाश है, बड़ा रस है। प्यास बुझे नहीं, रस घटे नहीं, पेट भरे नहीं—जब तक इतनी गहरी प्रियता न होजाय तब तक यह समझना चाहिये कि सत्य के दरवाजे पर नहीं पहुँचे।

अहम्-रहित ज्ञान सिद्ध ज्ञान है, अहम्-रहित बोध सिद्ध बोध है, अहम्-रहित योग सिद्ध योग है और अहम्-रहित प्रेम सिद्ध प्रेम है।
प्रेम की प्राप्ति में जीवन की पूर्णता है।

१७

(अ)

मानव जीवन का मौलिक प्रश्न क्या है ? इस पर विचार करें। तो मुझे ऐसा मालूम होता है कि जहाँ हमारे सामने जीवन का प्रश्न है वहाँ स्वाधीनता का भी प्रश्न है और अनन्त-रस का भी प्रश्न है। किसी भी भाई से या बहिन से पूछा जाय कि तुम्हें ऐसा जीवन चाहिए जिसमें पराधीनता हो ? तो कहेगा—नहीं। ऐसा जीवन चाहिये जिसमें नीरसता हो ? तो कहेगा—नहीं। ऐसा जीवन चाहिये जिसमें सीमित रस हो? तो कहेगा—नहीं। तात्पर्य क्या निकला?—जीवन ऐसा चाहिये जिसमें अनन्त रस हो और पराधीनता तथा जड़ता एवं अभाव की गन्ध न हो। इसके साथ-साथ श्रम साध्य न हो, विश्राम से साध्य हो। आप कहेंगे–श्रम-साध्य क्यों न हो? कि भाई! श्रम-साध्य जो वस्तु होती है वह अखण्ड नहीं होती,नित्य नहीं होती। तो क्या आलस्य से साध्य हो ? कि नहीं भाई ! आलस्य में और विश्राम में बड़ा अन्तर है। आलस्य जो है वह प्राणी को जड़ता में, व्यर्थ चिन्तन में आबद्ध करता है। विश्राम न जड़ता में आबद्ध करता है, न चिन्तन में आबद्ध करता है । कारण, कि चिन्तन के रहते हुए, जड़ता के रहते हुए, पराधीनता के रहते हुए, विश्राम की अभिव्यक्ति नहीं होती। तो विश्राम से युक्त हो, स्वाधीन हो, चिन्मय हो,अनन्त रस हो। इसी जीवन में वह जीवन हमको और आपको चाहिये।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या ऐसा जीवन किसी परिस्थिति विशेष में आबद्ध है ? कहना पड़ेगा–नहीं। क्यों ? परिस्थिति कोई ऐसी नहीं होती जो सब प्रकार से पूर्ण हो। परिस्थितियाँ सभी अपूर्ण होती हैं। आप जानते हैं? बुद्धिमानों से कौनसी भूल होती है? हम साधारण व्यक्तियों से छोटी भूल होती है पर बुद्धिमान से सबसे बड़ी भूल यह होती है कि वह यह सोचता है कि इस समय जो परिस्थिति हमारे सामने है, यदि मैं ये बदल दूंगा तो मेरे उद्देश्य की पूर्ति हो जायेगी। यह वह भूल है महाराज ! जिसमें दुनियाँ के बड़े-बड़े लोग थक गये। परिस्थिति बदलने से हम सबको वास्तविक जीवन की उपलब्धि हो जायेगी—यह बड़ी ही भ्रमात्मक बात है। मैं और की क्या कहूँ ! अपने जीवन की बात जानता हूँ। सन् १९१४-१५ से लेकर ३२ तक, ऐसा मेरा अनुमान है कि मैं ये कभी-कभी सोचता था कि जब हिन्दुस्तान में अंग्रेजी राज्य नहीं रहेगा, परिस्थिति बदल जायेगी तो न जाने देश कितना सुन्दर होजायेगा ! ऐसा सोचता था। और यह सोचा करता था कि हमारे जीवन में जितने अभाव हैं, जितनी कठिनाइयाँ हैं,जितने दुःख हैं, उसका कारण दूसरे लोग हैं—चाहे वे हमारे साथ के हों, पड़ौस के हों, देश के हों, विदेश के हों। ये दो बातें सोचता था। पर भाई! ये दोनों बातें गलत निकलीं। मैं अपनी बीती बात बताता हूँ। एक तो ये बात गलत निकली कि जो भाई-बहन यह सोचते हैं कि दूसरों ने हमारा विनाश किया है, दूसरे हमारी अवनति के कारण हैं—यह बात मुझको बिल्कुल गलत मालूम होती है। और एक यह बात कि परिस्थिति बदलने से जीवन की उपलब्धि होगी—यह बात भी गलत मालूम होती है। क्यों गलत मालूम होती है?कि भाई! परिस्थिति जीवन है ही नहीं। परिस्थिति है क्या ? व्यक्तिगत विकास के साधन की सामग्री।

लोग आज घबराते किससे हैं ? कि हाय ! हाय ! हमें ऐसी नौकरी मिली है कि उसमें वक्त ही नहीं मिलता। यानी वे समझते हैं कि हमें ऐसी नौकरी मिल जाती कि हमें वक्त मिले तो शायद हम शान्ति का सम्पादन कर लेते। बिल्कुल गलत बात। कुछ लोग सोचते हैं कि हाय ! हाय! हम क्या बतायें,हमें शरीर ही अच्छा नहीं मिला। कोई सोचते हैं ..... समझ ही अच्छी नहीं मिली। कोई सोचते हैं, साथी अच्छे नहीं मिले। यहाँ तक कि लोग सोचते हैं कि जब तक अनुकूल कुटिया नहीं मिलेगी—ध्यान नहीं लगेगा। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि यह सब मैंने अपने जीवन में बहुत सोचा है, समझा है, विचार किया है। लेकिन भैया सब गलत साबित हुआ। अगर आप मानव हैं तो आप जहाँ है वहीं अपने जीवन को पा सकते हैं। क्योंकि जीवन आपका है। आपके जीवन को आपसे कौन अलग कर सकता है भाई? किन्तु इस बात पर दृष्टि नहीं जाती। दृष्टि किस बात पर जाती है ? कुछ लोग सोचते हैं कि हमारी जो लड़कियाँ हैं न ! उनका जब विवाह हो जायेगा और हमको एकान्त में २० एकड़ जमीन मिल जायेगी,उस पर साग-तरकारी पैदा कर लेंगे, तब हम बहुत बड़ी शान्ति सम्पादन कर लेंगे। भला यह तो बताओ, जिनको ये सब चीजें प्राप्त हैं,उनको शान्ति मिली है क्या? दुनियाँ में ऐसे आदमी नहीं हैं? कि जिनके पास बड़े-बड़े फार्म हैं एकान्त में और वह बम्बई-कलकत्ता की गन्दी हवा में पड़े रहते हैं और वहाँ पहुँच भी नहीं पाते।

आप कहेंगे कि जिनके पास यह परिस्थिति है उन्हें समझ नहीं है और हमारे पास समझ है, परिस्थिति नहीं है। रोये जाओ जीवन भर ! मैं तो भाई, ऐसा नहीं मानता हूँ। मुमकिन

है परिस्थिति आने पर तुम्हारी समझ बिगड़ जाय तो! विचार करो, जो परिस्थिति आज है, जिस परिस्थिति का हमने आह्वान किया, जब यह परिस्थिति नहीं थी तब जो हमारी भावनायें थीं, तब जो हमारे विचार थे, तब जो हमारी ईमानदारी थी, वह परिस्थिति आते ही बिदा होने लगी। क्या आप यह दावा करते हैं कि वह परिस्थिति जब आपके पास आ जावेगी तब ऐसे ही समझदार बने रहेंगे जैसे आज इस परिस्थिति में हैं ? इस परिस्थिति की सराहना नहीं करते हैं जिसने इतनी समझ दी आपको। इसलिये भाई, मैं तो इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि हम सबका वर्तमान हम सबके विकास में हेतु है। चाहे दुःखमय है वर्तमान चाहे सुखमय है। अगर हम अपने वर्तमान को विकास का हेतु नहीं मानेंगे तो जिस भविष्य की हम आशा करते हैं वह भविष्य वर्तमान से बनता है, सरकार !

इसलिये आज प्रत्येक भाई-बहन को दृढ़ आस्था करनी पड़ेगी कि जो हमें मिला है, जो हम जानते हैं, उसी से हमारा विकास होगा। जो नहीं जानते हैं उसके जानने की जरूरत नहीं है। जो नहीं मिला है उसके प्राप्त करने की जरूरत नहीं है। क्यों? यह जो चीज हमको-आपको मिलती है न ! वह किससे मिलती है ? इस पर थोड़ा विचार कीजिये। भौतिक दृष्टि से आपको मानना पड़ेगा कि किसी विधान से मिलती है। आस्तिक दृष्टि से मानना पड़ेगा कि प्रभु से मिलती है। आध्यात्म दृष्टि से मानना पड़ेगा कि हम में किसी वस्तु की मांग ही नहीं है। ये तीन ही दृष्टि हो सकती हैं जीवन में। तो भैया! जिस विधान से मिलती है शक्ति, सामर्थ्य, योग्यता, वस्तु वह विधान बेईमान नहीं है, जिस चीज की हमको जरूरत होगी अवश्य मिलेगी। जिस प्रभु से मिलती

है वह प्रभु किसी और का नहीं है। वह यह नहीं कह सकता है कि ये जो शरणानन्द है वह मेरा अपना नहीं है। क्यों ? अगर वह ऐसा कह दे तो उसकी अखण्डता का साम्राज्य ही समाप्त हो जाय। आप विचार कर देखिये-जिसके राज्य में दूसरा स्वतन्त्र अधिकारी बन गया, उसका राज्य रहा क्या ? तो भगवान् में यह सामर्थ्य नहीं है जो कहदे कि दुनियां में कोई भी प्राणी ऐसा है जो मेरा नहीं है। और विधान में बेईमानी होती नहीं। और भैया ! शरीर और विश्व का विभाजन हो सकता नहीं। व्यक्ति और समाज का विभाजन हो सकता नहीं। जीव और ईश्वर का विभाजन हो सकता नहीं। प्रत्येक जीव को ईश्वर के साम्राज्य में रहना पड़ेगा। और प्रत्येक जीव के लिये ईश्वर को अपना मानना पड़ेगा। अगर किसी भी जीव को ईश्वर कहता है—मेरा नहीं है तो उसका साम्राज्य अधूरा हो जायेगा। इसलिये भाई ! बड़े ही धीरज के साथ, बड़ी ही गम्भीरता के साथ इस बात पर विचार करना है कि आपकी जो वर्तमान परिस्थिति है उसको अपने विकास के लिये सर्वोत्कृष्ट परिस्थिति स्वीकार करो। किस रूप में ?—साधन रूप में, साध्य रूप में नहीं।

मैं यह नहीं कहता हूँ कि आप भूखे बैठे हैं तो विश्वास करलें कि भूखा रहना हमारे लिये उचित है। ऐसा नहीं। उस भूख का उपयोग करो। भूख का उपयोग क्या होगा ? जब तक खिलाने वाले को प्रसन्नता न हो तब तक किसी का छीन कर मत खाओ। किसी खाते हुए को देख कर ईर्ष्या मत करो। अपितु प्रसन्नता प्रकट करो। यह आपकी चीज है महाराज ! समाज का ह्रास मालूम है क्यों हुआ? दुनियाँ में कोई राष्ट्र प्रणाली चाहे वह जनता के पेट से मिनिस्टर निकले,

चाहे रानी के पेट से राजा निकले। चाहे वह सेठानी के पेट से सेठ निकले और चाहे वह मजदूर के पेट से सेक्रेटरी निकले। दुनियाँ में कोई भी राष्ट्र प्रणाली उस समय तक शान्ति की स्थापना नहीं कर सकती, जिस समय तक मानव यह न स्वीकार कर ले कि वह अपने से सुखी को देखकर प्रसन्न हो जाय एक दम। और दुखियों को देखकर करुणित हो जाय। यह विश्व-शान्ति का महामन्त्र है। हम लोग क्या सोचते हैं कि जब हमारी प्रणाली संसार में आ जायेगी तब शान्ति आ जायेगी। अच्छा भैया ! किसी देश को आज हमें ऐसा बतादो जिस देश को लड़ाई का सामान न इकट्ठा करना पड़ता हो या जिस देश ने लड़ाई के सामान में ज्यादा अर्थ व्यय न किया हो। है कोई विकसित देश ऐसा? कोई देश ऐसा है जिसमें सी० आई० डी० की जरूरत न रही हो ? न्यायशाला को जरूरत न रही हो ? फौज की जरूरत न रही हो ? पुलिस की जरूरत न रही हो ? अगर आप यह मानते हैं कि फौज की जरूरत है तो आपको मानना पड़ेगा कि आपके देश का चरित्र बहुत नीचा है। अगर आप यह मानते हैं कि आपके देश में न्यायशाला है तो आपको मानना पड़ेगा कि आपके देश में बेईमान आदमी रहते हैं। अगर आप सी० आई० डी० रखते हैं तो आपको मानना पड़ेगा कि आपकी जनता को आप पर विश्वास नहीं है या आपको जनता पर विश्वास नहीं है। तो क्या यही सुन्दर समाज है ? मैं ऐसा नहीं मानता हूँ।

मैं तो ऐसा मानता हूँ कि जब सुन्दर समाज का निर्माण होगा तब मानव-समाज को सबसे पहले इस बात को सिद्ध करना पड़ेगा कि हम बिना राष्ट्र के रह सकते हैं। और भैया ! जब सत्य का दर्शन होगा तो सबसे पहले स्वीकार करना पड़ेगा कि बिना मत के लेबिल लगाये लोग सत्य को पा सकते हैं। यह

पहचान है। जीवन के दो भाग—बाह्य शान्ति के लिये यदि राष्ट्र की अपेक्षा है तो आप मानव नहीं हैं। और अन्तर-शान्ति के लिये यदि किसी लेबिल की अपेक्षा हो गई है तो आप ठीक मानव नहीं हैं। आप जानते हैं सत्य क्या है? सत्य वह है जिसका आप त्याग नहीं कर सकते। उसका नाम सत्य है। और जिसका आप त्याग नहीं कर सकते वह सत्य आपको अभी प्राप्त है। आप विचार करें—जब आपके जीवन में सुख की घड़ियाँ आती हैं तब क्या आप यह आशा करते हैं कि आपके आस-पास के भाई-बहन आपको देखकर ईर्ष्या करें? बताओ भैया! किस भाई-बहन के मन में यह बात आती है कि हमारे सुख को देख कर दूसरे लोग ईर्ष्या करें और हमारे दुःख को देख कर करुणित न हों? है किसी की यह माँग? आपको मानना पड़ेगा कि मानव-मात्र की यह माँग है कि जब जीवन में दुःख आये तो साथी करुणित हो जायं और जब जीवन में सुख आये तो साथी प्रसन्न हो जायं। कल्पना करो कि आज हमें ऐसे साथी नहीं मिले हैं—मान लिया ठीक है—लेकिन क्या हम अपने साथियों के लिये स्वयं अच्छे नहीं हो सकते हैं? आप विचार करें। जैसा साथी हम ढूंढ़ना चाहते हैं वैसे ही हम दूसरों के लिये वैसे साथी नहीं बन सकते हैं? इसमें तो हम और आप पराधीन नहीं हैं भाई! जितना आपका समाज-सुधार का काम चल रहा है वह मालूम है किस पर चल रहा है? दुःखियों को देख कर हृदय करुणित हो जाय, सुखियों को देख कर चित्त प्रसन्न हो जाय। अगर सुन्दर समाज का निर्माण न हो जाय तो तुम जो चाहो सो करना। पर जब तक भैया, हाय! हाय!! समाज में जितना अमुक आदमी का सम्मान है, हमारा तो है नहीं - क्या होगा? ऊपर से करोगे खुशामद और भीतर से कहोगे कि इससे

हम आगे बढ़ जाते तो अच्छा होता। यह सुन्दर समाज के निर्माण का साधन नहीं है, बल्कि समाज के बिगाड़ने का साधन है। क्यों ? आप दूसरों के सम्मान को, दूसरों के आदर को, दूसरों के प्यार को, दूसरों के सुख को क्यों नहीं सहन करते?

एक घटना हमें याद आ गई। हमारे बड़े अच्छे मित्र थे। बड़े अच्छे आदमी थे। महाराज ! वेदान्त को चाटे बैठे थे। आप आश्चर्य करेंगे कि उनकी स्त्री भी वेदान्ती थीं। दूसरी बात बतायें आपको, तीस वर्ष की आयु से वे लोग ब्रह्मचर्य से रहते थे। इतना संयम, इतना सदाचार, इतना वेदान्त। घटना क्या घटी! उनके पति की मित्रता हुई किसी महिला से—चरित्र-हीनता को लेकर नहीं—सिर्फ इस बात को लेकर कि वह उन्हें गुरू मानती थी। गुरू-भाव सम्मान-आदर को लेकर। महाराज! पति-पत्नी में वह कलह हो गई जिसकी हद नहीं। पत्नी ने की शिकायत। हमने उनसे कहा कि तुम्हारा पति यदि किसी खिलौने से प्रसन्न होता है तो तुम्हें सहन क्यों नहीं होता? अरे! सारा जगत मिथ्या है तो यह बात कौन सत्य है ? उनसे कहा कि भले आदमी! तुम्हें गुरू बनने का शौक है तो उसी की चेली बना देते उसे। गुरू का काम तुम करते और चेली उसकी बनाते। यह दशा हो गई आज हमारे व्यक्तिगत जीवन की कि आज की पत्नी ईमानदारी से पति की खुशी में भाग नहीं ले सकती। आज का पति ईमानदारी से पत्नी की प्रसन्नता में भाग नहीं ले सकता। जब यह दशा है जीवन की तो समाज का उत्थान होगा ? अरे ! व्यक्ति का पतन हो और समाज का उत्थान हो जाय ! यह कभी सम्भव नहीं है। इसलिये भाई ! अपने से सुखियों को देख कर आप प्रसन्न हो जायं। अपने से

दुःखियों को देख कर आप करुणित हो जायं। जिस हृदय में करुणा निवास करती है उस हृदय में भोग की रुचि नहीं रहती। और जिस चित्त में प्रसन्नता निवास करती है उसमें काम की उत्पत्ति नहीं होती। आप हो जायेंगे भोग की वासना से रहित और काम से रहित। यह भौतिक जीवन की पराकाष्ठा हो गई।

जिस क्षण आप काम से रहित होते हैं, भोग की रुचि से रहित होते हैं, उसी क्षण जो शक्ति बुद्धि के स्तर पर आकर मन में,और मन के स्तर पर आकर इन्द्रियों में और इन्द्रियों के स्तर पर आकर प्रवृत्ति की ओर जाती थी, गतिशील होती थी, वह स्वभाव से शक्ति उल्टी हो जाती है और उल्टी होकर इन्द्रियों की शक्ति उसके मन में विलीन होती है, मन उसका निर्विकल्प होता है,बुद्धि उसकी सम होती है और इन्द्रियां विषय-विमुख होती हैं। लेकिन वहां एक बड़ा विघ्न रह जाता है शेष अहं रूपी अणु। वह जो अहं रूपी अणु है उसमें इन्द्रिय-जन्य स्वभाव का जब तक प्रभाव रहता है तब तक वह चिन्मय जीवन में एक नई दुनियां बनाता है। ऐसी नई दुनियां बनाता है, कहता है—बड़ा प्रकाशमय है, बड़ा दिव्य है, बड़ा सौन्दर्य है और उसमें बड़ा रस है। और वह इस बात को अच्छी तरह जानता है कि भोग में उसकी प्रवृत्ति नहीं है और उसके जीवन में पराधीनता भी नहीं है। उसे अपने ही भीतर एक चिन्मय जगत की अनुभूति होती है। वहां उसे सन्देह होता है कि क्या यही जीवन है या इससे और भी कोई जीवन है? हां भाई! इससे और भी जीवन है। क्या जीवन है? कि यदि तुम्हारे सामने यह बता दिया जाय कि यह जीवन है तो तुम्हारा अहं उसी को आरोप कर लेगा। देखिये! यह जो सन्त-मत में

और आस्तिक मत में जो अनेक प्रकार के वर्णन हैं, कि ऐसा है, कि ऐसा है, वह गलत नहीं हैं। सब ठीक है। लेकिन भाई! जितना कहा गया, जितना समझ में आया, जितने का अनुभव हुआ—उससे आगे भी है। तो उसमें प्रवेश कैसे हो? उसके लिए एक युक्ति बड़ी सुन्दर।

एक दफा हमारी एक बड़े प्रतिष्ठित समझदार धार्मिक आदमी से भेंट हुई। उन्होंने शिष्टाचार के नाते हमसे कह दिया कि हमें अच्छी बात सुनाइये। हम सोचने लगे कि यह हमको बीसों वर्ष पढ़ायेगा, ये तो बड़ा योग्य है, प्रतिष्ठित है, क्या सुनायें! हमने उससे एक बात कही कि एक बात बताओ—जो जीवन तुम्हें सबसे अच्छा लगता है, उसके सदैव न रहने की व्यथा क्यों नहीं है तुम्हारे जीवन में? बताओ जो बात तुम्हें चौबीस घण्टे में सबसे अच्छी लगी कि इससे अच्छा और कुछ नहीं है, उसके सदैव न रहने का दुःख क्यों नहीं है? जो चीज तुमको अच्छी नहीं लगती है उसके आजाने का दुःख क्यों नहीं है? बड़े आदमी तो थे ही, समझदार-विद्वान थे ही। बड़े चकराये। अगर हम किसी अंग्रेजी साहित्य की बात कहते तो बीस सुना देते प्रमाण में। संस्कृत साहित्य की बात कहते तब भी सुना देते, क्योंकि पढ़े-लिखे थे, विद्वान थे, समर्थन कर देते और कह देते कि आप जो बात कहते हैं हम भी जानते हैं। आपको मालूम है बड़े आदमी का सत्संग? आज कल मालूम है कैसा होता है? भीतर से बड़े अभाव को अनुभूति करते हैं। समाज में मिल गया ऊँचा स्थान, अब भय के मारे अपनी कमजोरी किसी के सामने रख नहीं सकते।

मैंने अबकी गीता प्रेस के सत्संग में यह कहा कि हम यह चाहते हैं कि जो लोग गुरुपद को प्राप्त कर चुके हैं, वे और हम

जरा मिल कर विचार-विनिमय करें। एक भी गुरु नहीं आया महाराज ! सारी दुनिया को बहकायें और दिल खोल कर परस्पर बात नहीं करेंगे। मतलब क्या होगा ? जब जरा गुरु बन कर विचार-विनिमय करेंगे तब पता चलेगा—लाला कहाँ हैं ! तो भाई इसका साहस लोगों को नहीं होता। मेरा निवेदन यह था कि भीतर से तो वे सज्जन परेशानी का अनुभव करते थे ही—कहा कि आपने बड़ी अच्छी बात कही और कह कर चुप हो गये। क्या कही ? कुछ नहीं कहा। कैसे कहें ! इस पर थोड़ा विचार करें। यह तो आप जानते हैं कि ध्यान करने वाले को ध्यान में पूरा समय अच्छा नहीं लगता। कुछ काल आता है तब कहता है कि बड़ा अच्छा लगा। विचार करने वाले को विचार में पूरा विचार उसको अच्छा नहीं लगता। कुछ समय आता है जब कहता है—बड़ा अच्छा था। ऐसे ही चिन्तन करने वाले को चिन्तन में पूरा समय एकसा अच्छा नहीं लगता। कुछ समय आता है जब उसको सबसे अच्छा लगता है। ऐसे ही जिन्हें अनुभूतियां आती हैं, चमत्कार दिखाई देते हैं, उन्हें भी सभी अनुभूतियां, सभी चमत्कार अच्छे नहीं लगते। कोई सबसे अच्छा लगता है। तो जो सबसे अच्छा लगता है यदि वह सदैव रहता है, हटता नहीं, मिटाने से मिटता नहीं और तृप्ति कभी होती नहीं और प्रीति उत्तरोत्तर उसमें बढ़ती हो। ऐसा भी एक जीवन है जो घटता, मिटता नहीं है लेकिन उसमें भी प्रीति उत्तरोत्तर नहीं बढ़ती है। रस की अभिव्यक्ति उत्तरोत्तर नहीं होती है।

तो जब तक ऐसी दशा न हो जाय—भाषा तो संकेत है उसमें, अर्थ पर दृष्टि रखिये—कि किसी को बड़े जोर की प्यास लगी हो और उसी समय मधुर, शीतल, बड़ा सुन्दर जल उसको प्राप्त हो जाये; लेकिन जल कैसा हो कि कभी घटे नहीं,

प्यास कैसी हो कि कभी बुझे नहीं और तृष्णावन्त का पेट कैसा हो कि जो भरे नहीं। क्या कहेंगे ?—जल घटता नहीं, प्यास बुझती नहीं, पेट भरता नहीं। कहेंगे—नित नव रस है। महाराज ! प्रत्येक घूंट में नित-नव रस है। और रस की अनुभूति भी है। तो जब तक इतनी गहरी प्रियता पैदा न हो जाय भैया! तब तक यह समझना चाहिये कि सत्य के दरवाजे पर नहीं पहुंचे।

जब तक इतनी गहरी प्रियता—आप जानते हैं ! उसकी प्रियता में क्या दशा होती है ? —कोई-कोई प्रेमी तो यह कहते हैं कि हम क्या बतायें ! इन आँखों ने (भौतिक आँखों ने नहीं, वह भीतरी आँखें) जब से उस रूप माधुरी को देखा हमें छोड़ कर चली गईं। आँख लग गई माधुरी-रूप में हम रह गये ठन-ठनपाल। इस वाणी ने जब से उसके गुणानुवाद का रस चखा, वाणी हमें छोड़ कर चली गई। तात्पर्य है कि यह जो रस-अनुभूतियाँ होती हैं वह रस की अनुभूति करने वाली शक्ति चिन्मय होने पर भी हमारे पास नहीं है। दिव्य होने पर भी हमारे पास नहीं है। और भैया ! उस रस का पारावार नहीं है, घटता नहीं है, मिटता नहीं है, पूरा होता नहीं है। आप ही बताओ ! कौन आदमी गवाह मिलेगा ? क्या ठीक है! गवाह तो उसका न ! मिलेगा, वर्णन उसका न ! होगा, जो वर्णन करने वाली शक्ति के किसी अंश में होगा।

१७

[ब]

वर्णन करने वाली शक्ति जिसके एक अंश में है, आप विचार करो ! उसका वह वर्णन कैसे कर सकेगी ? इसलिए भाई ! जो सबसे अच्छा लगता है, उसको सदैव रहने दो। देखिये, एक-एक चीज के रस का वर्णन कोई नहीं कर सकता। और बात जाने दीजिये, स्मृति को ले लीजिए। एक स्मृति ऐसी होती है कि चिन्तन का रूप धारण करके तन्मय कर देती है। और एक स्मृति मालूम है कैसी है ? कि एक बार-एक बार हाय ! निकल जाय, एक बार तो महाराज ! शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण और पाँचों कोषों को ठुकराकर पार हो जाती है। वह भी तो एक स्मृति है और यह भी स्मृति है कि तोते की तरह रटते रहें। क्रिया के वेग बहुत अधिक। और एक ऐसी स्मृति है कि क्रिया का वेग घटता जाता है, भाव का रस बढ़ता जाता है। और एक ऐसा कि भाव का रस बढ़ता जाता है, अहं गलता जाता है। भैया ! जब तक भाव का रस इतना न बढ़ जाय कि अहं को खा जाय। जब तक प्रीति इतनी न हो जाय कि अहं को खा जाय। जब तक ज्ञान इतना न हो जाय कि अहं को खा जाय। जब तक योग इतना न हो जाय कि अहं को खा जाय। योग अहं-रहित, बोध अहं-रहित, प्रेम अहं-रहित। तो अहं-रहित जो योग है वह सिद्ध

योग है। और अहं-रहित जो ज्ञान है वह सिद्ध ज्ञान है। और अहं-रहित जो प्रेम है वह सिद्ध प्रेम है। तो जहां सिद्ध प्रेम है वहाँ सिद्ध बोध है, वहां सिद्ध योग है। इन तीनों में कभी विभाजन नहीं होता। क्यों विभाजन नहीं होता ? अगर आप बोध में से योग और प्रेम को निकाल दें तो असमर्थता और अभाव आ जायेगा। अभाव कहो या शून्यवाद आ जायेगा। बोध में से, ज्ञान में से प्रेम को निकाल दीजिये तो शून्य आ जायेगा, अभाव आ जायेगा। महाराज! प्रेम में से ज्ञान निकाल दीजिये तो काम आ जायेगा। और ज्ञान और प्रेम में से योग को निकाल दीजिये, असमर्थता आ जायेगी।

इसलिये भाई ! न तो ज्ञान में से प्रेम का विभाजन हो सकता है और न प्रेम में से ज्ञान का विभाजन हो सकता है। और न ज्ञान और प्रेम में से योग का विभाजन हो सकता है। इनमें से किसी एक का भी विभाजन नहीं कर सकते। विभाजन करने वाली कौन सी चीज है ? जिसने योग के रस का भोग किया, वह कहता है—"मैं योगी"। तो जब "मैं योगी"—तो तत्वज्ञ कैसे हो सकता है? भैया ! फिर— "मैं प्रेमी"—कैसे हो सकता है ? तो योग के रस का भी भोग नहीं करना है, बोध के रस का भी भोग नहीं करना है, प्रेम के रस का भी भोग नहीं करना है। तो भाई ! प्रेम से क्या करना है ? कि भाई ! प्रेम तो प्रेमास्पद को रस देने के लिए है। यह जो प्रेम है जीवन में, वह अपने रस के लिए नहीं है। प्रेम है प्रेमास्पद को रस देने के लिए। और बोध है भेद के नाश के लिये, अहं के नाश के लिए। और योग ? योग है असमर्थता का नाश करने के लिए। योग के बिना असमर्थता का नाश नहीं होगा।

बोध के बिना न तो अहं का नाश होगा और न भेद का नाश होगा। और प्रेम के बिना प्रेमास्पद को रस नहीं दे पाओगे। तो प्रेम प्रेमास्पद को रस देने के लिए है। बोध अहं और भेद के नाश के लिए है। योग असमर्थता के नाश के लिए है। तो ये हैं क्या ? ये तीनों उस अनन्त की विभूतियां हैं। ये तीनों विभूतियां मानव को प्रभु ने कृपा करके प्रदान की हैं। आप कहेंगे—यह बात गलत मालूम होती है। भला, मानव तो हम सब हैं। न हमको योग प्राप्त है, न हमको बोध प्राप्त है और न प्रेम प्राप्त है। तो भाई ! क्यों नहीं प्राप्त है ?—इसलिए कि हमने मानव जीवन में जो मानवता बीज रूप से प्राप्त है, उसे विकसित नहीं किया। बीजरूप से क्या मानवता प्राप्त है ?—मानवता तीन रूप से आती है। पहला उसका रूप है—मिले हुए का सदुपयोग, दूसरा उसका रूप है—जाने हुए का प्रभाव, तीसरा उसका रूप है—सुने हुए में अविचल आस्था।

ये तीन मानव की विभूतियां हैं। योग-बोध-प्रेम ये अनन्त की विभूतियां हैं। और ये तीन विभूतियां मानव को प्रभु ने दी हैं। कौन-कौन सी ?—कि प्रत्येक भाई मिले हुए का सदुपयोग कर सकता है, प्रत्येक भाई-बहन के जीवन में जाने हुए का प्रभाव हो सकता है, प्रत्येक भाई-बहन सुने हुए में आस्था रख सकता है। ये जो तीन आपकी विभूतियां हैं, मानव को मिली हैं। इन तीनों विभूतियों को अपनालो और निर्णय कर लो कि बल जो है यह निर्बल की सेवा के लिए है। आज बल का प्रयोग किस पर होता है ? हम किसी बड़े-से-बड़े नीतिज्ञ से बात करें, जो समाज विज्ञान का बड़ा पण्डित हो उससे हम पूछें—

भैया ! तुम जो लड़ाई का सामान इकट्ठा कर रहे हो, क्या इस बल से तुम समान बल वाले पर विजयी हो जाओगे ? भैया ? कोई सिद्ध कर सकता है ? या बल के द्वारा कोई समान बल पर विजयी हो सकता है ? अधिक बल वाले पर तो प्रश्न ही नहीं आता। तो जो लोग यह सोचते हैं कि हम बल के द्वारा अपनी रक्षा करेंगे; समाज में, विश्व में शान्ति की करेंगे तो आप सोचिये कि जो अधिक बल वाला होगा उस पर विजयी नहीं हो सकते। और समान बल वाले पर विजयी नहीं हो सकते। तो बल का उपयोग किसमें होगा ? संघर्ष में कि सेवा में ? अगर आप विश्व की शान्ति चाहते हैं तो बताओ ! अगर बल का उपयोग यदि सेवा में होगा तो आप ही बताइये कि लड़ाई के सामान की क्या जरूरत है भैया ? अगर बल का उपयोग सेवा में करना है तो जीवन की रक्षा वाली सामग्री का संग्रह करना चाहिए, उत्पादन करना चाहिए, न कि लड़ाई का सामान। जो देश लड़ाई का सामान तैयार कर रहा है वह इस बात को प्रकाशित कर रहा है कि मैं निर्बल को खा जाऊँगा। निर्बल क्या कर रहा है ? कि हम अनेक निर्बल एक होकर इतने सबल हो जायेंगे कि तुम्हें खा जायेंगे। यह विकास का साधन है कि ह्रास का ?

आप विचार करें, गम्भीरता से विचार करें कि जब तक हम और आप बल का सदुपयोग नहीं करेंगे—लोगों ने आक्षेप किया कि महाजन लोग बल का दुरुपयोग करते हैं। मैं आपसे पूछता हूँ कि मजदूर लोग क्या बल का सदुपयोग करते हैं ? अच्छा भैया ! कौनसा मजदूर दल का लीडर है जो किसी सेठ से कम आराम से रहता हो ? बताओ ! है कोई ? यानी

मजदूर दल का लीडर टेलीफोन से बात करता है, हवाई जहाज में सफर करता है, है मजदूर दल का लीडर। तो जब तक मानव समाज लीडरों के जाल में रहेगा इसका कभी विकास नहीं होगा। और जब तक आस्तिक समाज गुरु के जाल में—माफ कीजिये, मैं गुरु का खण्डन नहीं कर रहा हूँ। गुरु का जाल अलग, गुरु अलग है। गुरु की तो मैं महिमा गाता हूं। गुरु का जाल मालूम है क्या है? गुरु-जाल किसको कहते हैं? जो गुरु यह कहे कि देखो! अगर तुम हमारे सिद्धान्त को नहीं मानोगे तो तुम्हारा उद्धार नहीं होगा। ऐसा गुरु! कि देखो! कलमा नहीं पढ़ोगे तो जान से मार देंगे। देखो! बाइबिल नहीं पढ़ोगे तो जान से मार देंगे। कि देखो! तुम ईश्वर को नहीं मानोगे तो तुम्हारा नाम नास्तिक में लिख देंगे। यानी वह गुरु जो एक देशीय साधन का समर्थक—इसको कोई भाई यह न समझ बैठे कि जितने मत हैं, सम्प्रदाय हैं, उनके साधन में मैं श्रद्धा नहीं रखता हूँ। मैं हर एक साधन को सत्य मानता हूं। किसी साधन को गलत नहीं मानता। मत सत्य है, मत-वाला पागल है। मत है सत्य और मत होता है पथ। और पथ होता है उद्देश्य तक पहुँचने का साधन। आज लोग क्या कहते हैं? कि देखो! हमारे स्वामी जी से दीक्षा नहीं लोगे तो तुम्हारा उद्धार नहीं होगा। अरे भैया! तुम्हारा हो न हो, पर तुम्हारे स्वामी जी का उद्धार नहीं होगा। ये बात जब तक आस्तिक समाज में रहेगी। —हाँ, अपने मत के द्वारा तुम अपना उद्धार कर लो। बहुत ठीक, बहुत सुन्दर बात! जिस साधन में तुम्हारी आस्था हो, उस साधन के द्वारा तुम अपना उद्धार करलो। इसका विरोध नहीं करता। लेकिन अगर आप यह फैलाते हैं मानव समाज में कि नहीं! नहीं!! जो बात

हम कहते हैं उसको नहीं मानोगे तो तुम्हारा उद्धार नहीं होगा। यह बात गलत है। यह बात सही नहीं है। तो क्या कहना चाहिये ? कि जो तुम जानते हो उसको मानो। तो हम सब जानते हैं कि बल निर्बल की सेवा के लिए है। हम सब जानते हैं। जब बल निर्बल की सेवा के लिए है तो मैं आपसे पूछता हूँ कि राष्ट्र की क्या जरूरत होगी ? अगर आपने यह मान लिया कि हम अपने बल का कभी दुरुपयोग नहीं करेंगे, कभी निर्बल को नहीं सतायेंगे तो राष्ट्र की बिल्कुल आवश्यकता नहीं है।

आज की जो भयंकर परिस्थिति है उसमें यह बात अत्यन्त आवश्यक है कि मानव-मात्र इस बात को स्वीकार करे कि हम बिना राष्ट्र का समाज निर्माण करेंगे। यह बहुत जरूरी है यदि विश्वशान्ति चाहते हो तो। उसका साधन है—मिले हुए बल का दुरुपयोग मत करो। तुम्हारी सौ बार गरज हो सदुपयोग करो, मत करो, लेकिन दुरुपयोग मत करो। जब बल का दुरुपयोग नहीं होता तो राष्ट्र अपेक्षित नहीं रहता। ऐसे ही दूसरी बात—जाने हुए का अनादर मत करो। अगर जाने हुए का अनादर नहीं करते तो बाह्य गुरू, ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं रहती। कोई गुरू, कोई ग्रन्थ आपको उससे अधिक नहीं बता सकता जो तुम जानते हो। क्या तुम नहीं जानते कि उत्पन्न हुई वस्तु से हमारा नित्य सम्बन्ध नहीं है ? कौन-सा वेदान्त-दर्शन इससे ज्यादा बता देगा ? मैं पूछता हूँ आपसे ! आप भी जानते हो कि उत्पन्न हुई वस्तु से हमारा नित्य सम्बन्ध नहीं है। अस्वीकार कर दो, निर्वासना प्राप्त होगी। तत्व-साक्षात्कार होगा। फिर ग्रन्थ में देखो, वह तुम्हारे अनुभव

का समर्थन करेगा। इस नाते ग्रन्थ की पूजा करो, आदर करो। लेकिन ग्रन्थ की प्रक्रिया रट ली, सीख ली और अपने जाने हुए का किया अनादर। अरे! एक जन्म नहीं, अनेक जन्म रटो, कोई लाभ नहीं होगा। इसलिये जाने हुए का आदर करने पर दर्शन तुम्हारे जीवन में अवतरित होगा। तीसरी बात—हम सबने ईश्वर को नहीं सुना क्या? अगर सुने हुए प्रभु में तुम आस्था करलो भाई! तो आप जानते हैं? जहां आस्था होती है वहां विश्वास आ जाता है और विश्वास का फल है कि वह सम्बन्ध जोड़ देता है। और प्रभु-प्राप्ति विश्वास के आधीन है।

आप झगड़ा किस बात पर करेंगे? कि नहीं! नहीं!! हम निराकार मानेंगे, हम राम को मानेंने, हम कृष्ण को मानेंगे, हम शिव को मानेंगे। अरे भाई! क्यों लड़ते हो? तुम चाहे जिसको मानो। सुने हुए प्रभु में जब तुम्हारी आस्था होजायेगी तब विश्वास उदय होगा। जब विश्वास उदय होगा तब विश्वास के आधीन है 'सम्बन्ध' और सम्बन्ध के आधीन है 'स्मृति' और स्मृति के आधीन है 'प्रीति' और प्रीति के आधीन है 'प्राप्ति'। तो प्रत्येक प्रभु-विश्वासी को प्रभु की प्राप्ति हो सकती है। जो अपने ज्ञान का आदर करेगा उसे तत्व-ज्ञान हो सकता है। जो मिले हुए का सदुपयोग करेगा वह कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकता है। तात्पर्य क्या निकला? कि हर एक भाई-बहन कर्त्तव्यनिष्ठ होकर जीवन को जगत के लिए उपयोगी सिद्ध कर सकते हैं। प्रत्येक भाई, प्रत्येक बहन जाने हुए का आदर करके जीवन को अपने लिये उपयोगी सिद्ध कर सकते हैं।

आज हमारा जीवन अपने लिए उपयोगी क्यों नहीं है ? क्योंकि जाने हुए का आदर नहीं करते। हम और आप जानते हैं कि किसी भी वस्तु से हमारा नित्य सम्बन्ध नहीं है, पर उसकी ममता का त्याग नहीं करते। तो जब अहंता और ममता का त्याग नहीं करते तब निर्वासना प्राप्त नहीं होती। जब निर्वासना प्राप्त नहीं होती तब तत्व-ज्ञान प्राप्त नहीं होता,तत्व-ज्ञान की अभिव्यक्ति नहीं होती। दूसरी बात—सुने हुए प्रभु में आस्था नहीं रखते। जब आस्था नहीं रखते तो वस्तु-विश्वास नहीं टूटता, व्यक्ति विश्वास नहीं टूटता तो निर्विकारता नहीं आती। जब प्रभु विश्वास नहीं करते तो स्मृति उदय नहीं होती। कहने का तात्पर्य है कि यह जो मानव जीवन की तीन विभूतियाँ हैं—कि प्रत्येक भाई मिले हुए का सदुपयोग कर सकता है, जाने हुए का आदर कर सकता है,सुने हुए में आस्था रख सकता है। तो भाई हम सबको तीन बातें प्राप्त हो सकती हैं;—भौतिक-दृष्टि से—विश्व प्रेम की प्राप्ति, अध्यात्म-दृष्टि से—तत्वनिष्ठा औप आस्तिक-दृष्टि से—प्रभु प्रेम। ये तीनों मिल सकते हैं। मिला क्या?–प्रेम। प्रेम प्राप्त हुआ। अब जहां प्रेम की अभिव्यक्ति है जीवन में, आप ही बताओ ! प्रेम ने प्रेमास्पद से भिन्न को कभी देखा? कोई भी प्रेमी इस बात को सिद्ध कर सकते हैं क्या ? कि प्रेमी को दृष्टि में प्रेमास्पद से भिन्न कोई और हो ! अच्छा, कोई भी प्रेमी यह सिद्ध कर सकते हैं क्या ? कि प्रेमी ने प्रेमास्पद से कुछ मांगा हो ? कोई सिद्ध नहीं कर सकता। किसी ने प्रेमास्पद से कुछ नहीं मांगा और किसी प्रेमी की प्रेमास्पद से भिन्न पर दृष्टि नहीं गयी। तात्पर्य क्या निकला ?—ऐसा कोई प्रेमी आपको मिले जो आपसे प्रेम करे और आपसे कुछ न मांगे। आप उसको प्रेम करेंगे कि नहीं ?

करेंगे। तो प्रेमास्पद प्रेमी हो गया और प्रेमी प्रेमास्पद होगया। लेकिन क्या प्रेमी यह चाहता है कि मेरा प्रेमास्पद प्रेमी हो जाय ? यह प्रेमी की मांग नहीं है। प्रेमी यह नहीं कहता कि मेरा प्रेमास्पद प्रेमी हो जाय। लेकिन यह प्रेमास्पद का स्वभाव है कि प्रेमास्पद प्रेमी हो जाता है। क्यों ? प्रेमास्पद कहते ही उसको हैं जो सब प्रकार से पूर्ण है। जो सब प्रकार से पूर्ण है वह चाह से रहित है। और इधर प्रेमी ! प्रेमी कहते ही उसे हैं जो पूर्ण न होने पर भी न चाहे। यही तो तारीफ की बात है।

आप जानते हैं ? जीव का जन्म-सिद्ध अधिकार है—मोक्ष प्राप्त करना। जीव का जन्म-सिद्ध अधिकार है—भोग प्राप्त करना। उत्कृष्ट भोग की प्राप्ति जीव को होती है न ! भाई। यदि ब्रह्म-लोक का सुख मिलेगा तो जीव को ही मिलेगा। इन्द्र-लोक का जो सुख मिलेगा वह जीव को मिलेगा। देश की स्वाधीनता का जो सुख मिलेगा वह जीव को मिलेगा। सुख का भोगी जीव होगा कि परमात्मा सुख का भोगी होगा? जीव के दो अधिकार—उत्कृष्ट भोग और मोक्ष। लेकिन जब उसे प्रेम की प्राप्ति होती है तब न भोग चाहता है न मोक्ष चाहता है। तो भोग और मोक्ष को जब ठुकरा देता है जीव, तब उसमें प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। और जब उसमें प्रेम की अभिव्यक्ति होती है तो उस प्रेम के लिये ही प्रेमास्पद ने मानव का निर्माण किया। वह प्रेम जो भोग और मोक्ष की वासना से रहित होने पर प्राप्त होता है, वह प्रेम जीव में व्यक्त होता है। और उस प्रेम को पाने के लिए आप जानते हैं ! वह ब्रह्म जो निर्विशेष है, वह मैया यशोदा की गोद में आकर खेलता है। वह ब्रह्म श्रीदामा के साथ आकर मित्रता

करता है। वह ब्रह्म अम्मा कौशल्या की गोद में आकर खेलता है। वह ब्रह्म निषाद को सखा बनाता है। किसलिये भैया ?—प्रेम-रस के आस्वादन के लिए। तो जिस प्रेम-रस के आस्वादन के लिए ब्रह्म तरसता है उस प्रेम-रस में कितना रस होगा ! इसका कोई वर्णन कर सकता है ? नहीं कर सकता। वह प्रेम कब प्राप्त होता है ?—अब आयें हम मतवाले पन पर। मैं भी तो मतवाला हूँ। वह प्रेम तब प्राप्त होता है जब प्राणी एक बात मानले। कौनसी बात ?—हम पर जो प्रभु का अधिकार है उसे हम पूरा करेंगे और अपने अधिकार का त्याग करेंगे। हम पर जो समाज का अधिकार है उसे हम पूरा करेंगे और अपने अधिकार का त्याग करेंगे। हम पर जो हमारे साथियों का अधिकार है उसे पूरा करेंगे और हम अपने अधिकार का त्याग करेंगे। यह क्या है? यह कर्त्तव्य परायणता है—दूसरों के अधिकारों की रक्षा और अपने अधिकार का त्याग। इस बात को अपनाते ही, आप जानते हैं क्या होगा ? राग-रहित होजायंगे और क्रोध-रहित होजायेंगे। आप कहेंगे कैसे?

यह मानव जीवन का सबसे पहला विकास है—राग-रहित होना और क्रोध-रहित होना। क्रोध कब आता है ? जब कोई हमारे अधिकार का अपहरण करता है। अपहरण नहीं किया और पूरा किया तब ? तब नवीन राग पैदा नहीं होता। तो हमारी तो समझ में नहीं आती कि आज का समझदार मानव अधिकार-लालसा को विकास मानता है। जब अधिकार लालसा की पूर्ति विकास है तब मेरी समझ में नहीं आता कि ह्रास किसका नाम है ! तो भैया ! अधिकार-त्याग की बात अगर आप नहीं अपनाते हैं तो नवीन राग की उत्पत्ति होगी।

आज की स्त्री समझती है कि हमने बड़ा विकास कर लिया।

क्यों ? बोले—पति से अधिकार ले लिया। पति समझता है कि हमने बड़ा विकास कर लिया। अरे ! अधिकार ले लिया कि अधिकार के भोग करने से पति की सदा के लिये दासी बन गई जो स्वामिनी थी ! अधिकार-त्याग करके स्त्री पति की स्वामिनी और अधिकार मांग करके दासी बन जाती है महाराज ! जो समाज से अधिकार मांगता है वह समाज का दास, जो अधिकार देकर अपना अधिकार छोड़ता है वह समाज का स्वामी। तो भैया ! अगर अधिकार-त्याग की बात नहीं अपनाते हैं, तो क्या होगा ? अगर अधिकार पूरा होगया तो नवीन राग की उत्पत्ति। हमने देखा है बड़े-बड़े सेठों को किसका चिन्तन करते हैं ?—कि क्या बतायें हुक्मी चला गया तब से हमको बड़ा कष्ट है। हुक्मी की हैसियत क्या ? कि एक छोटा-सा नौकर रोटी बनाकर देता है। और आप ?—कि हम तो मिल-ओनर हैं। तो मिल-ओनर के मन में चिन्तन किसका होता है ?—उस मजदूर का होता है जिसने उनके अधिकार की रक्षा की। बोले—महाराज जी ! हुक्मी इतना अच्छा आदमी था कि खिलाते समय इतने प्यार से खिलाता था, चाहे उसके लिए कुछ न बचे, तब भी खिला देता था। अब आप सोचिये ! उस मजदूर ने मिल-ओनर को अपना गुलाम बना लिया। तात्पर्य यह था कि अधिकार लालसा से रहित मजदूर मिल-ओनर का स्वामी हो सकता है, निः सन्देह हो सकता है। ऐसे ही भैया ! अधिकार-लालसा से रहित भक्त भगवान् का भगवान् हो सकता है। लेकिन यह मान मत लेना कि भगवान् का भगवान् होता है। यह मत सोच लेना वरना चौपट हो जायेगा।

मैं आपसे पूछता हूँ कि भगवान् श्याम सुन्दर ने किससे यह कहा कि तुम एक बार कह दो कि मैं तुम्हारा हूँ—उन बेपढ़ी-

लिखी गोपियों से कहा महाराज ! क्यों कहा ? क्योंकि उन्होंने अपना अधिकार छोड़ दिया था । उनके अधिकार की रक्षा की थी । तो भैया मेरे ! इस बात को अगर आप नहीं अपना सकते कि हम पर जो दूसरों का अधिकार है—जीव होकर ईश्वर के अधिकार की रक्षा, व्यक्ति होकर समाज के अधिकार की रक्षा, शरीर होकर विश्व के अधिकार की रक्षा और सम्बन्धी होकर सम्बन्धी के अधिकार की रक्षा,और अपने अधिकार का त्याग । यह है कर्त्तव्य परायणता । इस कर्त्तव्य परायणता की भूमि में क्या प्राप्त होता है?—योग प्राप्त होता है । कैसे ? विचार करें- जिस समय हमारे अधिकार की रक्षा नहीं होती तब आता है- क्रोध । क्रोध का फल है-विस्मृति । तीन बातों की विस्मृति होती है—कर्त्तव्य की, अपने स्वरूप की, अपने प्रेमास्पद की । जहाँ क्रोध आयेगा महाराज ! वहाँ विस्मृति आ जायेगी । अधिकार पूरा हुआ तो राग आ जायेगा । जहाँ राग होगा वहाँ पराधीनता और जड़ता जरूर आ जायेगी ।

आप ही सोचो—'जड़ता, पराधीनता और विस्मृति' हमको आपको अभीष्ट है? जी?—नहीं है। तो अधिकार-त्याग अनिवार्य होगया कि नहीं? यदि अधिकार-त्याग नहीं करते तो न पराधीनता से बचते हैं, न विस्मृति से । इसलिये भाई, मानव जीवन में अधिकार लालसा का कोई स्थान नहीं है । किन्तु भाई! यदि तुम यह सोच लो कि हमने अपना अधिकार छोड़ दिया, दूसरों का क्यों दें! तो गड़बड़ हो जायेगी । क्योंकि विद्यमान राग नाश नहीं होगा । अधिकार लालसा नवीन राग को जन्म देती है । और दूसरों के अधिकार को न देना यह विद्यमान राग को सुरक्षित रखता है । लेकिन अपने को होना है—राग-रहित । क्योंकि राग-रहित हुए बिना मानवता का विकास नहीं होता ।

राग-रहित होने से क्या लाभ होगा ? जहाँ आप राग-रहित हो गये तब अपने आप योग प्राप्त होगा। जैसे राग की भूमि में भोग वासना की उत्पत्ति होती है ऐसे ही राग-रहित भूमि में योगका उदय होता है। वह योग यह मत सोचिये कि मिल औनर को होगा, मजदूर को नहीं—ऐसी बात नहीं है; कि ब्राह्मण को होगा और क्षत्रिय को नहीं – ऐसी बात नहीं; कि हिन्दुस्तानी को होगा कि पाकिस्तानी को नहीं–ऐसी बात भी नहीं। इतना ही नहीं, राग-रहित भूमि में योग ईश्वरवादी को मिलेगा,अनीश्वरवादी को नहीं मिलेगा—ऐसी बात नहीं; कि अध्यात्मवादी को मिलेगा, अनअध्यात्मवादी को नहीं– ऐसी बात नहीं है। आप चाहे जो कुछ मानते हों, चाहे नहीं—आप राग-रहित हो जायेंगे। राग-रहित होते ही सबको योग मिल जायेगा। ऐसा योग कि जिसमें श्रम की गंध नहीं है। लेकिन एक बात ध्यान रखनी पड़ेगी कि जब योग की प्राप्ति होती है, सबसे पहले वहाँ शान्ति रस की अभिव्यक्ति होती है।

जब शान्ति रस का भोग नहीं करेंगे तो स्वाधीनता का रस मिलेगा। और जब स्वाधीनता में सन्तुष्ट नहीं होंगे तब प्रेम की अभिव्यक्ति होगी। इसलिये भाई ! प्रेमास्पद कैसे हैं ?–इस पर दृष्टि मत डालो। तुम जैसा जानते हो वैसे भी हैं,उससे विलक्षण भी हैं। लेकिन तुम्हें प्रेम की अभिव्यक्ति करनी है। प्रेम की अभिव्यक्ति में जीवन की पूर्णता है। जीवन का आरम्भ कहाँ से हुआ ? कर्त्तव्य परायणता से। मध्य कहाँ रहा ? —स्वाधीनता में, सामर्थ्य में। अन्त कहाँ हुआ ?–प्रेम की अभिव्यक्ति में। जब प्रेम की अभिव्यक्ति हो जायेगी तब प्रेमास्पद कैसे हैं ? यह प्रश्न ही समाप्त हो जायेगा,हल हो जायेगा। इसलिये भैया! प्रेम की प्राप्ति में जीवन की पूर्णता है – ऐसा विश्वास है।

१८

जाने हुए असत् के संग के त्याग से सत्संग होता है।

सत्संग से साधन का निर्माण होता है।

साधनमय जीवन में शान्ति की अभिव्यक्ति होती है।

अतः सत्संग के द्वारा वर्तमान में सिद्धि मिलती है।

बिना सत्संग के साधन करने के प्रयास में बहुत समय निकल जाता है सिद्धि नहीं मिलती है।

असत् के संग का त्याग एवं सत् का संग करने पर वर्तमान में असाधनों का नाश एवं साधन का निर्माण होता है।

मानव अपने जाने हुए असत् के संग का त्याग करने में स्वाधीन है।

विवेक-विरोधी कर्म के त्याग से सुन्दर समाज का निर्माण,

विवेक-विरोधी सम्बन्ध के त्याग से निर्विकारता, और

विवेक-विरोधी विश्वास के त्याग से प्रभु-विश्वास वर्तमान में होता है।

अतः मानव जीवन में सिद्धि वर्तमान में मिलती है।

१८

(अ)

यह नियम है कि जिस कार्य में अस्वाभाविकता नहीं रहती वह कार्य रुचिकर हो जाता है। जो कार्य रुचिकर हो जाता है उसमें मन लग जाता है। जिसमें मन लग जाता है उसमें रस की अभिव्यक्ति होने लगती है, यह हम सभी का दैनिक अनुभव है।

अब विचार यह करना है कि जब साधन-निर्माण अत्यन्त सुगम है और हमारे-आपके वर्तमान जीवन की वस्तु भी है, तो फिर हम साधन-निर्माण क्यों नहीं करते? इसका एकमात्र कारण यह है कि असाधन-जनित जो सुख-लोलुपता है वह हमें साधन-निर्माण करने में पराधीन बना देती है। यद्यपि हम सब साधन-निर्माण में स्वाधीन हैं। पराधीनता है रुचिकर परिस्थिति की प्राप्ति में। वस्तु की प्राप्ति में, व्यक्ति विशेष की प्राप्ति में पराधीनता है। साधन-निर्माण में पराधीनता नहीं है। हमारे जीवन में जो यह अप्राप्त वस्तु की रुचि रहती है, अप्राप्त परिस्थिति की जो रुचि रहती है उसके मूल में एक ही भूल रहती है। वह भूल यह है कि हम अपने संकल्प को पकड़े रहते हैं। हम सोचते रहते हैं कि जगत् के द्वारा हमारे संकल्प की पूर्ति हो, प्रभु के द्वारा हमारे संकल्पकी पूर्ति हो। क्योंकि संकल्प की पूर्ति ही सुख का भोग है। सुख का भोग और कुछ नहीं। यद्यपि एक भी व्यक्ति समस्त विश्व में ऐसा नहीं मिलेगा जो ईमानदारी से कह सके कि मेरे सभी संकल्प पूरे हो गये। और कोई ऐसा

व्यक्ति भी नहीं मिलेगा जो कहे कि मेरा कोई संकल्प पूरा नहीं हुआ। इतना ही नहीं, प्रातःकाल से लेकर सायंकाल तक हमारे आपके सभी के अनेक संकल्प पूरे होते हैं और कुछ ऐसे भी हैं जो पूरे नहीं होते। संकल्प-पूर्ति और अपूर्ति एक परिस्थिति है। यह विधान का अनादर है। एक अपना प्रमाद है। आज लोग स्वाधीनता के बड़े गीत गाते हैं। स्वाधीनता का अर्थ क्या है ? विधान की पराधीनता ईमानदारी से स्वीकार कर लो तो स्वाधीन हो जाओगे। जो विधान की पराधीनता स्वीकार नहीं करता, वह कभी स्वाधीन नहीं हो सकता। तो विधान क्या है ? कि सभी संकल्प किसी के पूरे नहीं होंगे और कुछ संकल्प सभी के पूरे होंगे। इससे यह सिद्ध हुआ कि संकल्प-पूर्ति जीवन नहीं है। तो फिर संकल्प पूर्ति है क्या ? संकल्प पूर्ति उन संकल्पों की वास्तविकता का ज्ञान कराने वाली वस्तु है कि जिन संकल्पों को हम विचार से नहीं मिटा सकते। अब हम सबको यह बात मान ही लेनी चाहिये कि अपने जीवन में अपना कोई भी संकल्प नहीं रखना है। आप कहेंगे कि जब हमारा कोई संकल्प ही नहीं होगा, तो फिर जीवन क्या होगा ? भाई ! सच बात यह है कि तभी से जीवन आरम्भ होगा।

हम आपसे यह नहीं कहते कि आप अपना संकल्प हमको दे दें। इतना अवश्य कहते हैं कि जिसको चाहें उसको दें। अपने पास अपना संकल्प न रखें, कुटुम्बी जनों को दे दें, पड़ौसियों को दे दें; समाज को दे दें, विश्व को दे दें, प्रभु को दे दें। जो आपको अच्छा लगे, जो आपको प्यारा लगे उसको अपना संकल्प दे दें। आप कहेंगे कि इसका उपाय क्या ? इसका बहुत सरल उपाय है और वह उपाय यह है कि आप

थोड़ी-थोड़ी देर के लिये निर्विकल्प रहने का प्रयास करें। जब आपको निर्विकल्पता के रस की अनुभूति होने लगेगी तब आपको संकल्प रखना भार हो जायगा, असह्य हो जायगा। जैसे आँख में मिट्टी का करकना असह्य हो जाता है, वैसे ही संकल्प को रखना असह्य हो जाता है। किनको ? जो निर्विकल्पता के रस को पा लेते हैं। कहने का मेरा तात्पर्य यह था कि निर्विकल्पता-प्राप्ति में तो हम सब सर्वदा स्वाधीन हैं, पराधीन नहीं है। उसी निर्विकल्पता-प्राप्ति के लिये लोग अपने कुछ संकल्पों का त्याग करके और किसी संकल्प को ग्रहण करके, एकान्तवास करते हैं; बड़े-बड़े कार्य करते हैं। लेकिन उसके मूल में क्या है ? किसी भाई से पूछो कि तुम जो चाहते हो वह चाह पूरी होने के बाद क्या तुम उसी स्थिति में नहीं आ जाते जिस स्थिति में चाह की उत्पत्ति से पूर्व थे ? सभी विचारकों को यह बात माननी पड़ेगी कि अवश्य प्रत्येक भाई,प्रत्येक बहन संकल्प-पूर्ति के अन्त में उसी स्थिति में आता है जिस स्थिति में संकल्प-उत्पत्ति के पूर्व थे। तो मिला क्या भाई?मिला तो वही जो दाद को खुजलाने वाले को मिलता है--खुजलाने में रस और परिणाम में जखम। इसके अतिरिक्त किसी भी संकल्प-पूर्ति के बदले में किसी भी भाई को कुछ नहीं मिल सकता क्योंकि यह वैज्ञानिक सत्य है, दार्शनिक सत्य है; यह काल्पनिक बात नहीं है। इसलिये आज हमें अपने सभी संकल्पों को अपने विश्वास-पात्र को समर्पित करना है। चाहे आप विश्व में विश्वास करें, कोई आपत्ति नहीं। चाहे आप प्रभु में विश्वास करें, कोई आपत्ति नहीं। चाहे आप अपने में विश्वास करें, कोई आपत्ति नहीं। अपने सभी संकल्पों का त्याग कर दो। विश्व के लिये अपने सभी संकल्पों का त्याग कर दो। प्रभु के

के लिये अपने सभी संकल्पों का त्याग कर दो। उसके पश्चात् अपने आप आपके जीवन में एक विचित्र अनुभूति होगी। और वह यह होगी कि जिन संकल्पों को पूरा होना ही है, जिन संकल्पों की पूर्ति के बिना आपका अस्तित्व रह ही नहीं सकता, वे सभी संकल्प दूसरों के हो-होकर पूरे हो जायेंगे। यहाँ तक कि आपका भोजन करना, भोजन कराने वाले का संकल्प रहेगा। यहाँ तक कि आपका मिलना, मिलने वाले का संकल्प रहेगा। यहाँ तक कि आपकी प्रत्येक प्रवृत्ति दूसरों के संकल्प से पूरी होगी। जब हमारे और आपके जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति दूसरों के संकल्प से पूरी होने लगती है, तब संकल्प-पूर्ति में पराधीनता का दर्शन नहीं होता है।

जरा ध्यान दीजिये, और गम्भीरता से ध्यान दीजिये, कि क्या आज हम इस जीवन को भी प्राप्त नहीं कर सकते? क्या आज का पति, पत्नी के संकल्प से घर में नहीं रह सकता? क्या आज का भाई, भाई के संकल्प से घर में नहीं रह सकता? क्या आज का प्रोफेसर विद्यार्थियों के संकल्प से प्रोफेसर नहीं रह सकता? क्या आज का नागरिक समाज के सकल्प से नागरिक नहीं रह सकता? अवश्य रह सकता है। परन्तु हमने आज इस बात पर ध्यान ही नहीं दिया। हम सोचने लगे कि जब तक हमारे मन की बात पूरी नहीं होगी, जीवन कुछ रहेगा ही नहीं। तो भाई मेरे! आज हमें और आपको अपने इस जाने हुए असत्य का त्याग करना है कि अपने पास अपना संकल्प रखते हुए, पराधीनता से रहित नहीं हो सकते, जड़ता से रहित नहीं हो सकते, अभाव से रहित नहीं हो सकते। यह निर्विवाद सत्य है। तो क्या हम और आप अपने इस जाने हुये असत् को सदा के लिये

बनाये रखेंगे? नहीं ! नहीं !! प्रभु ने हमें और आपको मानव-जीवन दिया है। और मानव-जीवन के नाते हमको और आपको विवेक मिला है; जिस विवेक ने हमें यह बतलाया कि संकल्प-पूर्ति के समान और कोई दीनता नहीं है,संकल्प पूर्ति के समान और कोई अभाव नहीं है।

आप कहेंगे महाराज ! संकल्प तो शुद्ध भी होते हैं, आवश्यक भी होते हैं। बात ठीक है। जो संकल्प शुद्ध होते हैं, वे दूसरे के संकल्प से पूरे होते हैं। जो संकल्प आवश्यक होते हैं, वे अनायास पूरे होते हैं। उन संकल्पों के रखने, न रखने का जीवन में कोई प्रश्न ही नहीं आता। यही तो देखना है कि हमारे और आपके आवश्यक और शुद्ध संकल्प अपने आप पूरे हो जायं और हम और आप निर्विकल्प बने रहें। यही तो एक जीवन है—जिस जीवन में राष्ट्रपति और चपरासी एक हो जाते हैं; जिस जीवन में महाजन और मजदूर एक हो जाते हैं, जिस जीवन में दुनियाँ का बड़े से बड़ा आदमी और छोटे से छोटा आदमी एक हो जाता है। इसी जीवन के लिये तो यह वर्तमान जीवन है। इसलिये भाई मेरे! आज हमको और आपको बड़े ही धीरज के साथ, बड़ी ही गम्भीरता के साथ, बड़े ही विचार के साथ अपने सभी संकल्प दे देना है। क्या आज हम अपना संकल्प भी नहीं दे सकते ? जरा सोचिये तो, तब दे ही क्या सकते हैं ? और तो अपने पास कुछ है ही नहीं। आप विचार करके देखें, जिस किसी वस्तु को आज हम अपना मानेंगे,वह वस्तु विश्व-भगवान् की है, समाज की है; वह व्यक्तिगत नहीं है। तो समाज की वस्तु का देना, क्या देना होगा? हमारी वस्तु अगर कोई है,तो केवल यही मालूम होती है कि हम अपना भी कोई संकल्प रखते

हैं। इसलिए भाई ! आज हमें और आपको अपना कोई संकल्प नहीं रखना है।

जिस समय आस्तिकवादी अपना कोई संकल्प नहीं रखेगा, उसे स्वतः प्रभु की संकल्प-पूर्ति का अनुभव होगा। भौतिकवादी जब अपना संकल्प नहीं रखेगा तो उसे स्वतः समाज की संकल्प-पूर्ति का अनुभव होगा। अपने जीवन से, अपनी प्रत्येक चर्या से, उसे यह भास होगा कि मेरी चर्या तो समाज के संकल्प की प्रतिक्रिया है, प्रभु के संकल्प की प्रतिक्रिया है, अथवा यह स्वतः अपने आप हो रही है। इन तीन-दृष्टिकोणों में से किसी एक दृष्टिकोण का अनुभव प्रत्येक भाई-बहिन को हो सकता है। किन्तु कब ? जब हम सत् के संगी बनें तब। आज तो सत्संग के नाम पर व्याख्यान दिया जाता है। गुरू बन कर बात कही जाती है, नेता बनकर बात कही जाती है। आज सुधार के नाम पर शासक बनने की बात कही जाती है। पर भाई ! मानव सेवा संघ की नीति के अनुसार कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं है जो अपना गुरू नहीं है, कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं है जो अपना नेता नहीं है। कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं है जो अपना शासक नहीं है। आज हम से अगर कोई असावधानी हुई तो यही हुई कि हमने अपना गुरू बनना छोड़ दिया, दूसरों का गुरू बनना स्वीकार कर लिया। हमने अपना नेता बनना छोड़ दिया, दूसरों का नेता बनना स्वीकार कर लिया। हमने अपने पर अपना शासन नहीं किया, दूसरों पर शासन करने लगे। इस भूल का परिणाम यह हुआ है कि हमारे जीवन में सदैव दूसरों के कर्त्तव्य का ध्यान रहता है और अपने अधिकारका ध्यान रहता है। मेरे भाई! जरा सोचो तो सही, कि क्या वह भी हमारा अधिकार है जो दूसरों

का कर्त्तव्य न हो ? और क्या वह भी हमारा कर्त्तव्य है जो दूसरे का अधिकार न हो ? जब हमारा कर्त्तव्य दूसरे का अधिकार है, तो दूसरा हमसे अलग हो ही कैसे सकता है ? हमारे उसके बीच में भेद रह ही कैसे सकता है ? कदापि नहीं रह सकता। जब दूसरे का कर्त्तव्य ही हमारा अधिकार है, तो अधिकार पाने में हम स्वाधीन हो ही कैसे सकते हैं ? कभी नहीं हो सकते। किन्तु आज हम अपने अधिकार सुरक्षित रखने के लिए क्या नहीं करते हैं ? वह भी करते हैं जो किसी दृष्टि से करना चाहिए। वास्तव में तो कुछ नहीं करना चाहिए अपनी अधिकार-पूर्ति के लिए; किन्तु परम्परागत प्रथा के अनुसार जो कुछ करना चाहिए वह भी हम करते हैं; और वह भी करते हैं जो नहीं करना चाहिए। पर भाई ! अधिकार-लालसा की आपके द्वारा पूर्ति नहीं हो सकती। आज तक बड़े-से-बड़े आदमी के जीवन को सामने रख कर सोचिये। सभी संकल्प जब किसी के पूरे नहीं हुए, तो हमारा अधिकार भी तो संकल्प ही है; उसको पूरा करना क्या हमारे हाथ में है ?

हम आपसे पूछते हैं कि अगर सूर्य देवता यह कहें कि हमारा अधिकार था हमने तुम्हें आँखें दीं, लेकिन तुमने दी हुई आँखों का गलत उपयोग क्यों किया? अगर पञ्चभूत यह कहें कि देखो, तुमको शरीर दिया था, लेकिन हमारे दिये हुए शरीर का तुमने गलत उपयोग क्यों किया ? क्या आपके पास कुछ उत्तर है ? जिसने हमें सब कुछ दिया उसने आज तक हमारे ऊपर कोई अधिकार-लालसा का विधान नहीं लगाया। हमें बोलने की शक्ति दी, सुनने का ज्ञान दिया। सच बोलना चाहिए—यह ज्ञान भी दिया और हमें मीठा बोलना चाहिये—यह ज्ञान भी

दिया। उसी दाता के सामने उसी की दी हुई वाणी से झूठ बोला, कटु बोला ! लेकिन अगर वह अपना अधिकार मानता तो जिस समय झूठ बोलने का संकल्प होता,उसी समय वाणी रुक जाती। लोग कहेंगे—ऐसा विधान होता तब तो बड़ा सुन्दर होता; कोई झूठ बोल ही नहीं पाता। लेकिन जरा सोचो तो सही, ऐसा विधान बना देने के बाद क्या तुम्हें बोलने का रस मिलता ? क्या तुम बोलने की शक्ति का उपयोग स्वाधीनता पूर्वक कर सकते ? आपको मानना पड़ेगा कि नहीं कर सकते। यदि तुम कुछ भी नहीं कर सकते तो क्या तुम्हारा अपना कोई अस्तित्व होता ? और जब तुम्हारा अपना अस्तित्व ही नहीं होता तो तुम्हारे और दाता के बीच में जो प्रीति होनी चाहिये, तुम्हारे और दूसरों के बीच में जो स्नेह होना चाहिये, उसका रस क्या आपको मिलता ? क्या प्रेम के आदान-प्रदान का रस आपको मिलता ? कदापि नहीं मिलता। इसलिये भाई मेरे ! हमें अपनी इस दैनिक अनुभूति से यही सीखना है यही समझना है कि जिसने सब कुछ दिया, उसने अपने को छिपा लिया और एक विधान दे दिया। वह भी विधान यह नहीं कि आप यह कह सकें कि हम नहीं जानते हैं कि झूठ नहीं बोलना चाहिये। हम जानते हैं कि हमें किसी को धोखा नहीं देना चाहिये। हम जानते हैं कि हमें किसी का अहित नहीं करना चाहिये। यह ज्ञान उसका नहीं मालूम होता कि किसी ने हमारे ऊपर लाकर एक विधान लाद दिया है। हम सब को यही मालूम होता है कि यह हमारा अपना ही ज्ञान है। किन्तु फिर भी हम अपने उस ज्ञान का आदर नहीं कर पाते। जो अपने ज्ञान का आदर नहीं कर पाता मेरी समझ में यह बात नहीं आती कि वह असत् का त्याग कैसे कर सकता है ? वह सत् का

संगी कैसे हो सकता है ? जो सत् का संगी नहीं हो सकता उसके जीवन में साधन की अभिव्यक्ति कैसे हो सकती है? कदापि नहीं हो सकती। इसलिये भाई ! सत्संग मानव जीवन का आरम्भ है और साधन-परायणता मानव जीवन का अन्त है। तो सत्संग के द्वारा हम सब बड़ी सुगमता के साथ साधन का निर्माण कर सकते हैं। इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है।

वह सत्संग कैसे प्राप्त होता है? इस पर थोड़ा आज विचार करलें। मेरा अपना ऐसा ख्याल भी है, विश्वास भी है, और अगर यह निरभिमानता-पूर्वक कहूँ कि अनुभूति भी है,तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं है कि सत्संग के लिये किसी प्रकार के श्रम की अपेक्षा नहीं है। जरा विचार तो करो, क्या वह भी सत् है जो सर्वत्र नहीं है ? क्या वह भी सत् हो सकता है जो सर्वदा न हो ? आप विचार करें–जो सर्वत्र है, सर्वदा है, वह वहाँ भी है जहाँ हम हैं। तो जो हमसे दूर नहीं है, क्या उसकी प्राप्ति श्रम-साध्य है ? कदापि नहीं। वह साध्य है—केवल श्रम-रहित होने से। जीवन में श्रम का उद्गम-स्थान है—केवल असत् की कामना, असत् में विश्वास और असत् से सम्बन्ध, असत् का दुरुपयोग। इन सब कारणों से श्रम की उत्पत्ति होती है। यदि हमें और आपको वास्तव में सत्संग करना है, तो उसके लिये सबसे पहला प्रयास क्या होगा? कि जब आपकी सुषुप्ति जागृति में बदले, तो उसी समय बिस्तर पर उसी दशा में, जैसे आपको सुख मिले, थोड़ी देर के लिये जाग्रत अवस्था में ही सुषुप्तिवत् विश्राम कीजिये। उसका परिणाम यह होगा कि अगर आपको दो-तीन मिनट की आदत विश्राम करने की आ जायेगी, तो आपका ध्यान स्वतः हो जायेगा, अपने आप हो जायेगा; दस-

बारह सैकिण्ड में धारणा हो जायेगी, आधे घण्टे में समाधि हो जायेगी। यह निर्विवाद सत्य है। इसलिये भाई, पहला उपाय है सत्संग करने का कि हम और आप श्रम-रहित हो जायं। परन्तु जब हम श्रम-रहित होने की कोशिश करते हैं अथवा कुछ काल के लिये श्रम-रहित हो जाते हैं—अप्रयत्न द्वारा, तब क्या होता है कि दो-चार सैकिण्डके बाद ही संकल्प-विकल्पों का एक प्रवाह चलने लगता है। यह बात भी उन सभी साधकों को मान्य होगी जिन्होंने साधन किया है। जब वह संकल्प-विकल्पों का प्रवाह चलने लगे, तब आप उनसे असहयोग करें। असहयोग का अर्थ यह नहीं होता कि उनसे द्वेष करें। असहयोग का पहला अर्थ होता है कि उनसे तादात्म्य न रखें। दूसरा अर्थ होता है कि उनका अपने पर प्रभाव न हो। कल्पना करो कि अगर अशुद्ध संकल्प उठ रहे हों, तो भयभीत न हो जायं और शुद्ध संकल्प उठ रहे हों, तो उनका सुख न भोगने लग जायं। जब हम बुरे संकल्पों से भयभीत नहीं होंगे और भले संकल्पों का सुख नहीं भोगेंगे, तब वे संकल्प अपने आप मिटने लगेंगे।

अब आप कहेंगे कि वे संकल्प उठते ही क्यों हैं? ऐसा प्रश्न हो सकता है। इस प्रश्न पर विचार करते हुए हमें यह समझना चाहिये कि वे संकल्प उठ नहीं रहे हैं। हमारे जीवन में जो संकल्प-पूर्ति-अपूर्ति का सुख-दुःख होता रहा है, जिसको हम भोगते रहे हैं, यह उसी सुख-दुःख के भोग का प्रभाव है, वह संकल्प नहीं है। वह प्रभाव प्रकट होता है जब आप श्रम-रहित होते हैं,अर्थात् जब आप सत् के संगी होते हैं,तब वह प्रभाव प्रकट होता है, मिटने के लिये। हमसे भूल क्या होती है कि हम उस प्रभाव को वास्तविक मान लेते हैं। हम कहने लगते हैं कि हाय-हाय रे! हमारा मन तो बड़ा खराब है। पर भाई,पहले यह तो

सिद्ध करलो कि तुम्हारा मन है। जब यही सिद्ध नहीं हुआ तो पराये मन पर खराबी का एक लांछन लगा देना क्या न्याय-संगत बात है ? बिल्कुल अन्याय है। इसलिये भाई, मन न कभी खराब होता है और न मन कभी अच्छा होता है। फाउण्टेन पेन न खराब है, न अच्छा है। कोई भाषा न खराब है, न अच्छी है। अच्छाई और खराबी जो कुछ होती है, वह लेखक में होती है, फाउण्टेन पेन में नहीं होती, भाषा में नहीं होती। तो कहने का मेरा तात्पर्य यह है कि लेखक की बुराई को आप भले ही फाउण्टेन पेन पर लगा दें, लेखक की भलाई को आप भले ही किसी भाषा में लगादें; वास्तव में तो भलाई और बुराई कर्त्ता में होती है, करण में नहीं होती। जब करण में नहीं होती, तब मन कर्त्ता है ही नहीं, वह तो करण है। जब मन कर्त्ता है ही नहीं तब हम और आप किस न्याय से, किस ईमानदारी से अपने मन को भला और बुरा बतलाते हैं ? हम भले होते हैं, मन भला होता है। हम बुरे होते हैं, मन बुरा होता है। हम भले कब होते हैं ? जब अपना कोई संकल्प नहीं रखते। हम बुरे कब होते हैं ? जब अपना कोई संकल्प रखते हैं। जब हम अपना कोई संकल्प नहीं रखेंगे, तो सच मानिये, मन अपने आप अमन हो जायेगा और जब मन अमन हो जायेगा तब जीवन अपने आप चमन हो जायेगा। यह निर्विवाद सत्य है। कहने का तात्पर्य यह है कि वह जो संकल्प-विकल्पों का प्रभाव आपको दिखाई देता है, वह भुक्त-अभुक्त इच्छाओं का प्रभाव है और कुछ नहीं। और जब आप उससे असहयोग कर लेते हैं, जब आप उससे तदात्म्यता नहीं रखते हैं, तो वह प्रभाव समय पाकर अपने आप मिट जाता है।

इस पर कुछ साधकों को ऐसा सन्देह होता है कि भाई,हमें

तो इतने दिन हो गये, लेकिन क्या वह प्रभाव अभी तक नहीं मिटा ! अरे, जरा विचार तो करो कि इतने दिन हो गये मिटा तो नहीं, लेकिन यह भी तो सोचिये कि दिन में आप कितनी बार नया संकल्प पूर्ति का सुख भोग लेते हैं,कितनी बार संकल्प अपूर्ति से क्षोभित होते हैं ! अजी, वह प्रभाव तो मिट जाता, लेकिन आप तो नये-नये प्रभाव उस मन पर जमा करते रहते हैं। इसलिये हमें संकल्प-पूर्ति का सुख नहीं भोगना है, संकल्प-पूर्ति में जिसके द्वारा संकल्प पूरा हुआ है, उसे आदर देना है, उसे प्यार देना है और उसे आदर और प्यार देकर, उसे धन्यवाद देकर, अपने को उस संकल्प पूर्ति के सुख से मुक्त रखना है। मुक्त रखने पर भी संकल्प पूरे होंगे और संकल्प पूर्ति का भोग करने पर भी संकल्प पूरे नहीं होंगे। तो कहने का तात्पर्य यह कि आपकी वस्तु-स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता इस बात से कि आपका कोई अपना संकल्प है अथवा नहीं है। अगर आपका कोई संकल्प नहीं है, तो अन्तर पड़ेगा इस बात में कि आप सभी संकल्पों से अतीत जो वास्तविक जीवन है, उसकी ओर आपकी गति होगी, उसमें आपकी मति होगी, उसमें आपकी प्रीति होगी, उसका आपको बोध होगा। यह तो अन्तर पड़ेगा, लेकिन व्यावहारिक जीवन में अपना संकल्प न रखने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। यह कहना कि यदि हम अपना संकल्प नहीं रखेंगे, तो कालिज में ठीक से नहीं पढ़ा सकेंगे; हम अपना संकल्प नहीं रखेंगे तो व्यापार ठीक नहीं कर सकेंगे, कुटुम्बीजनों को सही रास्ते पर चला न सकेंगे—यह बात कुछ नहीं होती। ईमानदारी से देखो तो सही, कोई पति क्या आज अपनी पत्नी को भी समझा सका ? कोई बाप अपने बेटे को भी समझा सका ? कोई भाई आज अपने भाई को भी अपना बना सका? जब तक कि वह स्वयं नहीं बनता। कोई

ऐसा नहीं कर सका, शेखी भले मारो। मुझे तो ऐसा कहने में भी आपत्ति नहीं है कि दुनियाँ का कोई भी गुरू ऐसा नहीं हुआ जो अपने जैसा अपने शिष्य को बना सका हो। हाँ, ऐसा तो देखने में मिलेगा कि कोई-कोई शिष्य गुरू से ऊँचा हो जाय, कोई-कोई विद्यार्थी अपने प्रोफेसर से ऊँचा निकल जाय, लेकिन यह दावा कोई गुरू नहीं कर सकता कि वह शिष्य को अपना जैसा बना देगा। नहीं तो आज बौद्धों में करोड़ों बुद्ध दिखाई देते, ईसाइयों में करोड़ों ईसा दिखाई देते,मुसलमानों में करोड़ों मुहम्मद दिखाई देते, हिन्दुओं में करोड़ों शंकराचार्य दिखाई देते, चैतन्य महाप्रभु दिखाई देते,कबीर पंथियों में कबीर दिखाई देते, मीरा के अनुसरण करने वालों में मीरा दिखाई देतीं। लेकिन सुनते तो सब हैं, समझते तो सब हैं। सब पूजा भी करते हैं। लाखों आदमी उनके पीछे भी चलते हैं और उनके बाह्य जीवन की नकल भी करते हैं। जो भाषा बुद्ध बोलते थे, वह हम भी बोलते हैं। जो मन्त्र हमारे गुरू-परम्परा से चलता है, वह हम भी जपते हैं। लेकिन जैसा गुरू का जीवन था, क्या हमारा वैसा जीवन है? जब यह बात आप सिद्ध नहीं कर सकते अपने जीवन से, तब यह दावा कि "हम दूसरे का सुधार कर लेंगे, हम दूसरे को सही रास्ते पर ले जायेंगे"-ऐसी ही बात है जैसी कि अपनी कमजोरी को दूसरे पर आरोपित करके देखना।

हाँ, यह बात हम कर सकते हैं, और वह यह कि हम अपने जीवन को इतना सुन्दर बना सकते हैं, कि सम्भव है कि उस सुन्दरता को देख कर,समाज के मन में एक रुचि पैदा हो,सुन्दर होने की, एक लालसा जागृत हो भला बनने की। इसके अतिरिक्त कोई भी भाई, कोई भी बहन, कोई भी गुरू, कोई भी

नेता कुछ कर सकता है, ऐसा मेरा व्यक्तिगत विश्वास नहीं है। लेकिन एक बात पर ध्यान दीजियेगा कि व्यक्तिगत विश्वास अनेकों का अविश्वास हो सकता है। व्यक्तिगत सत्य अनेकों के लिये असत्य हो सकता है। मेरा आग्रह नहीं है कि जो बात मैंने निवेदन की है वह आप मान ही लें। लेकिन प्रार्थना यह है कि उसको न मान कर, इस बात को सिद्ध कर दें, जरा जीवन से, कि हमने अपने साथी को अपना जैसा चाहा वैसा बना लिया। लेकिन अगर जीवन से आप सिद्ध नहीं कर सकते, तब तो आपको भी किसी न किसी रूप में यह बात माननी होगी। इसका अर्थ यह नहीं है कि हमारे मन में दूसरों की हित-कामना न रहे, दूसरों के विकास की भावना न रहे। इसका अर्थ केवल यही है कि अपने सुधार के द्वारा ही दूसरे के सुधार की आशा करें। अपने बिना सुधार किये, हम दूसरे के सुधार की आशा करेंगे तो सम्भव है कि हम सफल न हों, और सफल न होने से हमें आघात लगे जीवन में, हम कहें कि हे प्रभू! अब तू इस संसार में हमें मत रख, क्योंकि जो हम चाहते हैं वह हुआ नहीं, हो नहीं रहा है।

१८

(ब)

जो नहीं हो रहा है, उसके दुःख मे हमें दुःखी होकर, जो हो चाहिये, उसकी भावना कर सकते हैं, उसकी लालसा कर सकते हैं। लेकिन "हम करा सकते हैं"—यह बात मेरी अपनी समझ में अभी तक नहीं आई है। जब आयेगी,तब अवश्य मान लूंगा। कहने का मेरा तात्पर्य यह है कि भाई! आज हम और आप अपना एक संकल्प रखते हैं हर बात में,कि खाना खायेंगे तो अपने मन का, बात कहेंगे तो अपने मन की। भाई! जरा सोचो तो सही कि जो बिचारी तुम्हें खाना खिलायेगी, उसके मन की ओर भी तो देखो,कि वह तुम्हें खिलाना चाहती है कि नहीं, कैसा खिलाना चाहती है? बोले, उनके मन की ओर क्यों देखेंगे? हम बाहर से कमा कर जो लाते हैं। कमा कर लाते हो तो नोट चबा लिया करो। चाय पीने की क्या जरूरत है? नोट चबाओ। जरा सोचो तो सही, कि जिन साधनों से तुम कमाते हो, वे साधन क्या तुम्हारे हैं? जब तुम पैदा हुये थे, तब क्या कमाने के लायक थे? तब कमाने के लायक नहीं थे। तुम्हें किसी से खुराक मिली, किसी से नर्सिंग मिली, किसी से शिक्षा मिली, किसी से पोषण मिला। तब, जब कुछ करने लायक हुये, तब आप यह सोचते हैं कि हम अपनी कमाई

अपनी पत्नी को खिलाते हैं, अपने पुत्र को खिलाते हैं ! हम अपनी कमाई से बड़े-बड़े सामाजिक काम करते हैं !

जरा सोचो ! इसमें ईमानदारी कितनी है ? अगर सचमुच आप ईमानदार हैं, तो आप यही कह सकते हैं कि हमने पहले लिया था, अब उस लिये हुये में से कुछ भाग देते हैं। आप जानते हैं ? किसी सेठ से जाकर पूछो, जो कोई कुछ लेता है तो कुल वापिस करने के बाद भी उस पर ब्याज रह जाता है। और यदि जितना लेता है, उसमें से कुछ कम दे और देने का अभिमान करे, तो उसे सब क्या कहेंगे ? सब कहेंगे कि मिला हुआ सब देने के बाद भी ब्याज रहता है। फिर क्या इस अभिमान के लिए कोई स्थान रह जाता है? कि हम अपने खानदान का पोषण करते हैं, हम समाज के बड़े-बड़े काम करते हैं। यह रह जाता है ? नहीं रह जाता। ईमानदारी तो यह है कि हम जो कुछ करते हैं, वह कम करते हैं। उतना नहीं करते जितना करना चाहिये।

इसलिये भाई,आज हमें और आपको अपने सभी संकल्प छोड़ कर, इस बात पर विचार करना है कि हमारे साथियों का जो संकल्प है या तो उसे पूरा करें, और अगर पूरा नहीं कर सकेंगे तो क्षमा मांगेंगे—कि हम असमर्थ हैं, आपके संकल्पों को पूरा करने में। किस संकल्प के लिए क्षमा मागेंगे? कि जिनमें दो बातें हों–एक तो यदि वे संकल्प हमारे अपने ज्ञान का विरोध करते हैं, दूसरे यदि वे हमारे सामर्थ्य के बाहर हों। सामर्थ्य के बाहर का अर्थ यह मत रखिये कि हजारों रुपये एकाउण्ट में हैं और सौ रुपये हमारे सामर्थ्य के बाहर की बात है। यह तो बेईमानी

हो जायेगी। सचमुच जो सामर्थ्य के बाहर हो, और सचमुच जिसमें अपने विवेक का विरोध हो। रुचि के विरोध को कहीं विवेक का विरोध मत मान लीजियेगा। कभी-कभी हम लोग अपनी रुचि के विरोध को अपने विवेक का विरोध मान लेते हैं। भाई, रुचि के विरोध में और विवेक के विरोध में बड़ा अन्तर होता है। विवेक का विरोध तो उस कार्यमें होता है जो अहितकर है, जो पराधीनता की ओर ले जाने वाला है, जो जड़ता की ओर ले जाने वाला है, जो अभाव में आबद्ध करने वाला है,वह संकल्प विवेक-विरोधी संकल्प होता है, अथवा जो दूसरों के लिये अहितकर है। वह संकल्प कभी विवेक-विरोधी नहीं होता जो अपने लिए और दूसरों के लिए हितकर हो, अथवा स्वाधीनता की ओर लेजाने वाला हो,चिन्मयता की ओर लेजाने वाला हो।

तो विवेक-विरोधी संकल्प के लिये हम क्षमा मांग सकते हैं। सामर्थ्य के बाहर जो संकल्प है उसके लिए क्षमा मांग सकते हैं। ईमानदारी की बात यह है कि जो संकल्प विवेक-विरोधी न हो, सामर्थ्य के बाहर न हो, असली मानव उसे समझना चाहिये कि उसके लिए इन्कार करने की बात ही कभी उसके मन में न आये। किस संकल्प को पूरा करने के लिये ? कि जिसमें उसके विवेक का समर्थन है और सामर्थ्य के अनुसार भी है। इसलिए भाई हमारा और आपका जीवन ऐसा होना चाहिये कि हम दूसरों के उन संकल्पों को पूरा करने से अपने को न बचायें, जो विवेक-विरोधी नहीं हैं और सामर्थ्य के अनुसार हैं। आप कहेंगे कि फिर अपना संकल्प तो बना ही रहेगा। नहीं ! नहीं !! इस प्रकार के संकल्प,दूसरों

की ओर से आपके सामने अपने आप आयेंगे। वे आपके संकल्प नहीं होंगे। हाँ, अगर आप प्रभु की सत्ता स्वीकार करते हैं तो प्रभु के संकल्प होंगे, अगर आप जगत की सत्ता स्वीकार करते हैं, तो वे जगत के संकल्प होंगे।

आप सोचिये, क्या कोई हमसे वह आशा करता है जो हम नहीं कर सकते? कोई हमसे वह आशा नहीं करता जो हम नहीं कर सकते। तो फिर, जो कोई हमसे आशा करेगा, वह उसी की आशा करेगा जिसे हम कर सकेंगे। यदि कोई बेसमझी से ऐसी आशा कर बैठता है जो हम नहीं कर सकते, तो उसके लिए क्षमा मांगने में अपना क्या बिगड़ता है? क्या उसमें कोई अनादर की बात है? क्या उसमें कोई भय की बात है? न भय की बात है, और न अनादर की बात है। हम प्रीति पूर्वक यह कह सकते हैं—कि हम क्षमा चाहते हैं, हम ऐसा नहीं कर पायेंगे, हमारे जीवन में इसके लिए कोई स्थान है नहीं, कोई योग्यता है नहीं। इस प्रकार से अगर हम उन संकल्पों के लिए क्षमा मांगें जिनको पूरा नहीं कर सकते। और उन संकल्पों को उन्हीं के संकल्प समझ कर—अगर भक्त हैं तो भगवान् का संकल्प जानकर, अगर तत्वज्ञ हैं तो उसको माया-मात्र जानकर, अगर भौतिक दर्शन पर श्रद्धा रखते हैं तो विश्व के संकल्प को मानकर, उन संकल्पों को पूरा होने दो। लेकिन, एक बात पर बड़ा ध्यान रखना है, वह यह बात है कि जब संकल्प चाहे अपने संकल्प से पूरा हो, चाहे दूसरों के संकल्प से पूरा हो, संकल्प पूरे होने का जो सुख है उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता।

आप अपने मन से खाना खाइये, अथवा किसी व्यक्ति के मन से खाना खाइये, खाना खाने में जो सुख होगा उसमें कोई अन्तर नहीं। केवल जब हम अपने मन से भोजन करेंगे तब उस भोजन करने का जो सुख है वह हमारे चित्त पर अंकित होगा और हमारे जीवन में उसकी दासता आ जायेगी। और जब हम अपने संकल्प से भोजन नहीं करेंगे तो भोजन कराने वाले के प्रति प्यार होगा, आदर होगा और उस भोजन करने का जो सुख है उसका राग अंकित नहीं होगा। भाई, संकल्प तो पूरे होते ही रहते हैं। लेकिन जिन संकल्पों की पूर्ति का राग अंकित हो जाता है, वही रोग को जन्म देते हैं, वही भोग को जन्म देते हैं, वही अभाव को जन्म देते हैं, वही जड़ता में आबद्ध करते हैं। जिन संकल्पों की पूर्ति का राग अंकित नहीं होता, वे संकल्प निर्विकल्पता में विलीन हो जायेंगे। अतः सभी संकल्प जब निर्विकल्पता में विलीन हो जायेंगे, तब प्रत्येक कार्य के अन्तमें शान्ति का सम्पादन होगा, स्वाधीनता की अभिव्यक्ति होगी, प्रेम की प्राप्ति होगी। यह निर्विवाद सत्य है। और यही वास्तव में जीवन है।

यदि जीवन में शान्ति का सम्पादन नहीं हुआ, अगर स्वाधीनता की अभिव्यक्ति नहीं हुई, अगर प्रेम की प्राप्ति नहीं हुई, तो मैं आपसे पूछता हूँ क्या सुख-दुःख का भोगना ही जीवन है? यदि है, तो सुख-दुःख तो भैया, सच पूछो ईमानदारी से, तो मानव की अपेक्षा पशुओं को अधिक सुख मिलता है। मैं तो कहता हूँ कि कीर्ति भी कभी-कभी पशुओं की अधिक हो जाती है। जैसे कि जिस कुत्ते को अन्तरिक्ष में उड़ाया गया था, उसे जितने लोगों ने जाना उससे अधिक यहाँ बैठे हुए

लोगों में से कितने को लोगों ने जाना? उस कुत्ते को मैं समझता हूँ कि आज के संसार में बहुत बड़े भाग ने जाना कि कुत्ता उड़ा था, इतना ऊंचा उड़ा था। वैसे भी यदि आप जीवन में देखें, तो ऐसी बातें आपको देखने को मिलेंगी कि मानव के अतिरिक्त अन्य को भी सुख भोगने का अवसर मिलता है, दुःख भोगने का अवसर मिलता है। लेकिन आये हुये सुख-दुःख का उपयोग मानव को ही मिलता है। यही न ! मानव जीवन की विशेषता है।

सुख जीवन में आयेगा। सुख माने संकल्प पूरे होंगे, यही तो सुख है। लेकिन उस सुख का भोग करना अथवा उसका उपयोग करना—उपयोग कैसे होगा? और भोग कैसे होता है? भोग यदि उस संकल्प का करेंगे तब नवीन संकल्प का जन्म हो जायेगा। संकल्प पूर्ति के सुख का भोग नवीन संकल्प को जन्म देता है। जब हम संकल्प-पूर्ति का उपयोग करेंगे, तब हमें इस बात का बोध हो जायेगा कि संकल्प-अपूर्ति-काल में जो वेदना थी, संकल्प-पूर्ति-काल में जो सुख है, क्या उस संकल्प-पूर्ति-काल के सुख में पराधीनता नहीं है ? अगर आपको पराधीनता का दर्शन हो गया तो आपने संकल्प पूर्ति का उपयोग कर लिया। जब पराधीनता का दर्शन कर लेंगे, तब संकल्प पूर्ति का सुख नहीं रह जायेगा। जब वह सुख नहीं रह जायेगा, तो संकल्प-पूर्ति की वास्तविकता का ज्ञान करा कर, निर्विकल्पता आजायेगी। संकल्प-पूर्ति उतनी बुरी चीज नहीं। संकल्प-अपूर्ति कोई बुरी चीज नहीं है। संकल्प-पूर्ति के सुख का भोग हमें पराधीन बनाता है। संकल्प-अपूर्ति के दुःख का भय हमें चैन से नहीं रहने देता।

तो पराधीनता का रहना और बेचैनी का रहना, क्या कोई जीवन है ? यह जीवन नहीं है। इसलिए भाई ! संकल्प-अपूर्ति के दुःख से भयभीत नहीं होना है, और संकल्प-पूर्ति के सुख का भोग नहीं करना है।

तब अपने आप, बिना ही प्रयत्न के, स्वभाव से सभी को, किसी एक को नहीं, कि यह बात ईश्वरवादी के लिए हो, कि यह बात अध्यात्मवादी के लिए हो, कि यह बात भौतिकवादी के लिए हो, कि यह बात किसी वर्ण विशेष के लिए हो, कि यह बात किसी वर्ग विशेष के लिए हो, ऐसी बात नहीं। प्रत्येक मानव-मात्र के लिए, भाई हो, बहन हो, किसी वर्ग और देश विशेष का हो, किसी मत और विचारधारा का हो, सभी के लिए संकल्प-निवृत्ति की स्थिति आयेगी। किन्तु संकल्प-निवृत्ति का जो आरम्भ काल है, वह भले ही सूना-सूना दिखाई दे, परन्तु थोड़े काल के बाद वह संकल्प-निवृत्ति शान्ति प्रदान करेगी। यदि हम उस शान्ति में रमण न करें, तब सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होगी, क्योंकि वह वास्तव में सामर्थ्य की प्रतीक है। जहाँ शान्ति का सम्पादन होता है वहाँ सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। सामर्थ्य स्वाधीनता की जननी है। जहाँ सामर्थ्य होती है वहाँ स्वाधीनता होती है।

स्वाधीनता का अर्थ क्या है ? स्वाधीनता का व्यावहारिक दृष्टि से यह अर्थ है कि भाई, स्वाधीन वही है जो नहीं करना चाहिए उसकी उत्पत्ति न हो, और जो करना चाहिए वह स्वभाव से हो जाय। यह सामर्थ्य-जनित स्वाधीनता है। उसका अर्थ यह नहीं है कि जो हम चाहें सो कर डालें। प्रत्युत जो

नहीं करना चाहिए वह न हो, और जो करना चाहिये वह स्वतः होने लगे, अर्थात् विवेक-विरोधी कर्म की उत्पत्ति न हो, और जिसमें विवेक का विरोध नहीं है, वह स्वतः हो जाय। यह सामर्थ्य-जनित स्वाधीनता का बाह्य रूप है। लेकिन सामर्थ्य का आन्तरिक रूप है—स्वाधीनता की अभिव्यक्ति। जहां सामर्थ्य होगी वहां स्वाधीनता आजायेगी। स्वाधीनता का अर्थ क्या है ?—दिव्य चिन्मय जीवन की प्राप्ति। यदि हमने शान्ति में रमण नहीं किया तो निस्संदेह सामर्थ्य के द्वारा हम कर्त्तव्यनिष्ठ भी हो जायेंगे और स्वाधीनता भी मिलेगी। यदि हमने स्वाधीनता में ही सन्तोष नहीं कर लिया तो वह प्रेम भी प्राप्त होगा कि जिसकी प्राप्ति के लिए जीव की तो कौन कहे ! ब्रह्म तरसता है।

प्रेम में एक बड़ा रस है, आप कहेंगे,—क्यों ? देखिए, जीवन में रस की मांग है, और रस के अनेक स्तर हैं। जैसे भोग में भी रस है सबको मान्य है यह बात। भोग में भी रस है, लेकिन उस रस में बाधा यह है कि वह अनित्य है, और वह पराधीन बना देता है। इसलिये उस रस से ऊँचा रस है—योग का रस वह शान्ति-रस है, और स्वाधीनता की ओर अग्रसर करता है। उसके बाद है—ज्ञान का रस। यहां ज्ञान से मतलब तत्वज्ञान से है। तत्वज्ञान का रस हमें सचमुच अमर बना देता है और स्वाधीनता में सन्तुष्ट कर देता है, किन्तु उस रस में अखंडता तो होती है, नित्यता भी होती है, चिन्मयता भी होती है, लेकिन उस रस की वृद्धि नहीं होती। तो फिर इससे आगे जो प्रेम का रस है, वह ज्ञान के रस के समान अखंड भी है, नित्य भी है, साथ-साथ अनन्त भी है। अनन्त-रस की उपलब्धि

प्रेम में ही है। इसी बात को मैंने अनेक बार कहा है कि जब हम कर्तव्यनिष्ठ हो जाते हैं, तब हम सबको राग-रहित भूमि प्राप्त होती है। उस राग-रहित भूमि में अपने आप योग-रूपी वृक्ष लग जाता है,और उस योग-रूपी वृक्ष पर अपने आप तत्व-ज्ञानरूपी फल लग जाता है, जो प्रेम-रस से परिपूर्ण है। यह हमारा और आपका मानव-जीवन है, और वह मानव-जीवन मानव-मात्र को प्राप्त हो सकता है।

किन्तु इस जीवन में हमारा प्रवेश नहीं होता,इसका कारण हमारा प्रारब्ध नहीं है। उसका कारण परिस्थिति की प्रतिकूलता नहीं है,उसका कारण कोई और नहीं है। उसका कारण एकमात्र हमारी एक ही भूल है, और वह भूल यह है कि हम संकल्प-पूर्ति के सुख को महत्व देते हैं और अपने जीवन में अपना भी संकल्प रखते हैं। यदि संकल्प-पूर्ति को हम महत्व न दें और अपने जीवन में अपना संकल्प न रक्खें, तो बड़ी सुगमता पूर्वक आवश्यक और शुद्ध सकल्प पूरे हो-होकर मिट जायेंगे और अनावश्यक और अशुद्ध संकल्प उत्पन्न नहीं होंगे,तब अपने आप स्वभाव से ही, निर्विकल्पता आयेगी। वह शान्ति प्रदान करेगी, और उस शान्ति में यदि हमने रमण नहीं किया, तो वह शान्ति हमें स्वाधीन बनायेगी। और यदि हम स्वाधीनता में सन्तुष्ट नहीं हुए, तो फिर, अपने आप प्रेम की अभिव्यक्ति होगी। प्रेम कोई अभ्यास नहीं है। प्रेम कोई अनुष्ठान नहीं है। प्रेम कोई दर्शन नहीं है। प्रेम है रस का प्रतीक, और रस है जीवन की मांग। इससे यह सिद्ध हुआ कि—प्रेम है जीवन।

अब आप विचार कीजिये कि वह प्रेम, जो कि जीवन है, उसकी प्राप्ति के लिए क्या कुछ करना पड़ता है? करना नहीं

पड़ता, होने लगता है। करने का बोझा तो उसी क्षण नष्ट हो जाता है जिस क्षण हम संकल्प नहीं रखते। उस प्रेम की प्राप्ति का एक सुगम उपाय यह भी है कि हम जिसकी सत्ता स्वीकार करते हैं, उसमें हमारा अविचल-विश्वास हो; जिसमें हमारा विश्वास हो उससे हमारा नित्य सम्बन्ध हो, उसमें हमारी आत्मीयता हो। तो आत्मीयता के द्वारा की प्रेम भी अभिव्यक्ति होती है। और क्रमशः विकास के द्वारा की प्रेम भी अभिव्यक्ति होती है। प्रेम की माँग मानव-मात्र को है, प्राणी-मात्र को है, क्योंकि प्रेम के आदान-प्रदान में रस ही रस है। अगर आप किसी को प्रेम देते हैं, तब भी आपको रस मिलता है। और यदि कोई आपको प्रेम देता है, तब भी आपको रस मिलता है। क्या आज हम प्रेम के आदान-प्रदान में भी असमर्थ हैं? कदापि नहीं। किन्तु आज जिसमें हम समर्थ हैं, उसी से हम विमुख रहते हैं, और जिसमें हम असमर्थ हैं, उसी की दासता में हम आबद्ध रहते हैं। सभी संकल्पों की पूर्ति में सभी असमर्थ हैं। अतः संकल्प-पूर्ति का मानव जीवन में कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं है। वह तो मार्ग की एक बात है। वह तो रास्ते की एक बात है, कि भाई, चलते-चलाते रास्ते में जरा संकल्प-पूर्ति के वैभव को देखलो, परन्तु उसमें सार कुछ नहीं है।

इसलिए भाई! यह मानव-जीवन सत्संग के लिए मिला है। और सत्संग तभी हो सकेगा जब हम प्रति दिन अपने-अपने जाने हुए असत् के त्याग में तत्पर रहें। तो आज हमने किस असत् की बात की? केवल इस असत् की बात की, कि भाई! संकल्प-पूर्ति को जीवन मान लेना, संकल्प-पूर्ति को महत्व देना, संकल्प-पूर्ति के बिना चैन से न रहना, यह सब हमारा-आपका जाना हुआ असत् है। इस

असत् का त्याग कैसे करेंगे ? आज हम इस बात पर विचार करें कि भाई, संकल्प पूर्ति का जीवन में क्या स्थान है ? केवल इतना स्थान है कि वह किसी दूसरे का संकल्प बन,पूरा होकर मिट जाय । इसके आगे संकल्प-पूर्ति का कोई स्थान नहीं है ।

भाई ! जीवन की प्राप्ति के लिए हमें सबसे पहले इस बात पर दृढ़ आस्था रखनी होगी, दृढ़ विश्वास करना होगा और उसको अपने ज्ञान से जानना भी होगा कि संकल्प-पूर्ति से अतीत भी जीवन है । संकल्प-निवृत्ति से अतीत भी जीवन है । जब हम इन दोनों बातों को भली-भांति अनुभव कर लेंगे कि संकल्प-पूर्ति से अतीत भी जीवन है, संकल्प-निवृत्ति से अतीत भी जीवन है, तो न हमारे-आपके जीवन में सुख की दासता रहेगी, न शान्ति का रमण रहेगा । आप कहेंगे कि भाई ! सुख की दासता तो पराधीन बनाती है, यह बात हम मान लेते हैं । लेकिन शान्ति का रमण क्या हानि पहुंचाता है ? भाई, शान्ति का रमण सीमित अहं को पुष्ट करता है और सीमित अहं भेद को जन्म देता है और भेद वासनाओं को उत्पन्न कर देता है । जब तक हम भेद स्वीकार नहीं कर लेते, तब तक वासनाओं की उत्पत्ति नहीं होती है और वासनाओं की उत्पत्ति हमारा वस्तुओं से, अवस्थाओं से, परिस्थितियों से, व्यक्तियों से, देश से सम्बन्ध जोड़ देती है । परिणाम यह होता है कि संकल्प-निवृत्ति की गई थी वस्तु, अवस्था आदि से सम्बन्ध तोड़ने के लिए, किन्तु शान्ति के रमण ने कालान्तर में वही रोग उत्पन्न कर दिया । इतना ही नहीं, शान्ति के रमण ने ही अनेक पद्धतियों की ममता को जन्म दिया । 'यह हमारा मत, यह हमारा सिद्धान्त, यह हमारा मजहब,यह हमारी विचार-धारा' इत्यादि । विभिन्न विचार-धाराओं में प्रीति की एकता अहं के

ही रहने से नहीं रहती। इसलिए भाई ! शान्ति को सम्पादित करना है, किन्तु उसमें रमण नहीं करना है। उसमें रमण न करने से हम सब एक अनुपम स्वाधीनता से अभिन्न होंगे, जिसमें पराधीनता की गंध भी नहीं है, अभाव की गंध भी नहीं है, भेद की गंध भी नहीं है।

वह स्वाधीनता भी हमारा जीवन है। उसका हम त्याग नहीं कर सकते। उससे हम अलग नहीं हो सकते, किन्तु उसके आधार पर भी हम अगर सन्तुष्ट होते हैं, तो वही मृतक अहं वहाँ भी आ जाता है और इसी आधार पर ही न ! अनेक दार्शनिक भेद रहते हैं। इसलिये भाई ! स्वाधीनता प्राप्त होगी। स्वाधीनता ही हमारे जीवन का लक्ष्य है, स्वाधीनता में ही सब कुछ है—यह भ्रम मिटाने के लिए ही यह कहा जाता है कि स्वाधीनता में सन्तुष्ट न रहो। जब स्वाधीनता में सन्तुष्ट नहीं रहते, तब अहं की गंध नहीं रहती। और जब अहं की गंध नहीं रहती तब प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। वही प्रेम उस अनन्त का स्वभाव है और कुछ नहीं। वही प्रेम प्रेमियों का अपना जीवन है। जो अनन्त का स्वभाव है, जो प्रेमियों का जीवन है, उस प्रेम की प्राप्ति में मानव जीवन की पूर्णता है। इसी बात को मैं अपनी बोलचाल की भाषा में कहूं, तो ऐसा कहूंगा कि भाई ! प्रत्येक भाई को कामनाओं का नाश करना है, अर्थात् अपना कोई संकल्प नहीं रखना है। प्रत्येक भाई को जिज्ञासा की पूर्ति करनी है, अर्थात् निःसन्देह होना है और प्रत्येक भाई-बहन को प्रेम प्राप्त करना है। इस दृष्टि से साधन का आरम्भ कहां से हुआ ? वह हुआ जाने हुए असत् के त्याग से। जब हमने इस जाने हुए असत् का त्याग किया, कि भाई ! आज से, अभी से, हम अपना कोई संकल्प नहीं रखेंगे, तो

एक भय पैदा होगा पहले कि यदि हम अपना संकल्प नहीं रखेंगे तो श्रीमती जी समय पर भोजन नहीं देंगीं और जब वे भोजन देंगीं नहीं तो समय पर कालेज पहुँचेंगे नहीं और जब कालेज ठीक समय पर पहुँचेंगे नहीं तो नौकरी नहीं रहेगी। और जब नौकरी नहीं रहेगी तो पैसे नहीं मिलेंगे और समाज में स्थान भी नहीं मिलेगा–ऐसा भय आता है। ऐसा भय मत कीजिये।

अगर श्रीमती जी आज भोजन नहीं देंगीं तो तेरह दिनों तक का तो मुझे अनुभव है कि बिना भोजन के भी आदमी रह सकता है, काम कर सकता है। जल तो प्रभु ने दिया ही है, सूरज की धूप दी है, हवा भी मिलेगी। तो आप बड़े प्यार के साथ धीरजपूर्वक बिना भोजन किये, चले जाइये। आप सच मानिये, घर आते ही आपको बहुत बढ़िया भोजन मिलेगा और स्वास्थ्य भी अच्छा हो जायेगा। और श्रीमती जी दूसरे दिन से समय पर भोजन देने लगेंगीं। लेकिन बिचारी भोजन बनवाते समय—आजकल बनवाने का रिवाज ज्यादा हो गया है, बना सकती हैं तब भी नहीं बनातीं इसमें शान समझती हैं बनवाने में। हालांकि यह बड़ी भारी भूल की बात है। अपने प्यारे को अगर अपने हाथ से बना हुआ भोजन नहीं दे सकतीं तो बताइये, भोजन देने का अर्थ ही क्या रह गया? यह तो होटल में भी मिल सकता था। यह हमारे यहाँ की चीज नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि दूसरे दिन से वह अपने आप आपके भोजन के संकल्प को अपना संकल्प मान लेंगीं, यह निर्विवाद सत्य है। और ऐसा नहीं किया तो क्या होगा? भय लगा रहेगा। चलते-फिरते ऐसा भय रहेगा कि—कभी खीझ आयेगी, कभी क्रोध आयेगा, कभी भय होगा, क्योंकि भयभीत आदमी प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग नहीं कर सकता। चिन्ता-युक्त आदमी में नवीन सामर्थ्य की अभिव्यक्ति नहीं

होतो। इसलिये हमारे जीवन से समाज में भय का जन्म हो जायेगा, चिन्ता का जन्म हो जायेगा। अगर हमने अपने सभी संकल्प छोड़ दिये; कल्पना करो—भूखे रहते-रहते प्राण चले गये, तो क्या खाते-खाते प्राण नहीं जायेंगे? जरा सोचिये—भूखे रहते-रहते प्राण चले गये, तो क्या आपत्ति है? निर्विकल्प होकर प्राण चले जांय या संकल्पों की दासता में आबद्ध होकर प्राण चले जांय—इसमें विशेषता किसमें रहेगी? अपना हित किसमें रहेगा? तो हम सबको यह मानना पड़ेगा कि भाई, निर्विकल्प होकर ही मरना है, क्योंकि संकल्प लेकर तो जन्म हुआ। तो जैसे आये वैसे ही गये, तो मिला क्या? जरा सोचिये—जैसे आये वैसे ही गये, तो मिला कुछ नहीं।

इसलिये भाई! हम सबके शरीर की अभिव्यक्ति हुई है, उत्पत्ति हुई है संकल्प को लेकर, तो मरना है—निर्विकल्प होकर। उसका सीधा सुगम उपाय है कि संकल्प-पूर्ति का महत्व जीवन से निकल जाय। जब संकल्प-पूर्ति का महत्व जीवन से निकल जायेगा, तो आवश्यक संकल्प पूरे होकर मिटेंगे और अनावश्यक उत्पन्न ही नहीं होंगे, अर्थात् हमारे और आपके जीवन में स्वभाव से ही निर्विकल्पता रहने लगेगी। तो आप सच मानिये, निर्विकल्पता सामर्थ्य की जननी है, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं। और सामर्थ्य के द्वारा ही हम सब अपने-अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं, अर्थात् योग, ज्ञान और प्रेम की प्राप्ति हो सकती है। उसी के लिए जीवन मिला है। इससे हमें और आपको यह मानना ही पड़ेगा कि मानव जीवन बड़े महत्व का जीवन है। और जीवन का जो सबसे पहला पुरुषार्थ है, वह है—अपने जाने हुए असत् का त्याग कर, असाधन का नाश कर, सत् का संग कर, साधननिष्ठ होकर, जो प्राप्त करना है, वह प्राप्त हो जाय—ऐसा मेरा विश्वास है।

१६

जाने हुए असत् के त्याग से साधन का निर्माण होता है।

साधन निर्माण में मानव-मात्र स्वाधीन है।

संकल्प-पूर्ति जीवन नहीं है।

संकल्प-रहित होने में जीवन है।

संघ की नीति के अनुसार अपना गुरु, शासक और नेता व्यक्ति स्वयं है।

सत्संग मानव-जीवन का आरम्भ है और साधन-परायणता मानव-जीवन का अन्त है।

सत्संग की विधि—

आपकी सुषुप्ति जागृति में बदले, तो थोड़ी देर जाग्रत अवस्था में सुषुप्ति-वत् विश्राम लीजिये। ध्यान, धारण, समाधि हो जायेगी।

इसमें व्यर्थ-चिन्तन की समस्या आती है। जो आपके बिना किये होरहा है, उसे होने दीजिये, आप विश्राम में रहिये।

ऐसा नियम आरम्भ करने के बाद भी संकल्प-पूर्ति के सुख एवं अपूर्ति के क्षोभ से आक्रान्त होते रहने के कारण व्यर्थ-चिन्तन बना रहता है। अतः इसका अन्त करना होगा। तब शान्ति से स्वाधीनता और स्वाधीनता से प्रेम की ओर प्रगति होगी। प्रेम से अनन्त रस की उपलब्धि होती है।

९७

१६

(अ)

मेरे निज स्वरूप उपस्थित महानुभाव,

मानव अपने निर्माण में असमर्थ तथा पराधीन नहीं है। परन्तु फिर भी आज हम अपने वर्तमान परिवर्तनशील जीवन की ओर देखते हैं, तो ऐसा मालूम होता है,कि मानो स्वाधीनता और सामर्थ्य की गन्ध भी नहीं है। ये जो पहेली जीवन में प्रतीत होती है, आज इसी समस्या पर विचार करना है। यदि सचमुच हम अपने निर्माण में पराधीन हैं तो फिर साधन का प्रश्न ही नहीं आता, और यदि स्वाधीन हैं, तो असाधन नहीं रह सकता। प्रत्येक भाई,प्रत्येक बहन के जीवन में साधन की लालसा है और असाधन की प्रतीति है। साधन की लालसा रहते हुए जो असाधन की प्रतीति है, वह नाश क्यों नहीं होती ? नियम तो यही है न ! कि एक काल में अनेक लालसा नहीं रह सकतीं। साधन की लालसा भी हो, और असाधन भी बना रहे–ऐसा होता नहीं है। किन्तु आप-हम अपने जीवन में यही विचित्रता देखते हैं कि साधन की लालसा भी है, और असाधन में प्रवृत्ति भी है। ये जो द्वन्द्वात्मक स्थिति दिखाई देती है उसका कारण क्या है ? उसका कारण मुझे जो मालूम होता है वह तो यह है, कि जिसे हम असाधन मानते हैं उसके द्वारा भी सुख का भोग करते हैं। यदि असाधन-जनित सुख

का प्रलोभन जीवन में न होता तो जीवन में असाधन की उत्पत्ति ही नहीं होती।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होगा, कि भला कहीं सुख का भी त्याग किया जा सकता है ? जबकि सुख प्राणी-मात्र को स्वभाव से प्रिय है। बात ठीक है, सुख का त्याग नहीं किया जा सकता। यह प्रश्न किसका हो सकता है? यह प्रश्न उसका हो सकता है जिसके जीवन में केवल सुख हो, लेकिन सुख के आदि में व अन्त में दुःख ही दुःख होता हो, क्या उसका यह प्रश्न होसकता है ? यदि उसका यह प्रश्न हो सकता है, तो यह कहना पड़ेगा कि सुख के सुरक्षित रहते हुए यदि कोई सत्य मिल जाय तो, तब तो हम उसे चाहते हैं, और यदि सुख देने पर कोई सत्य मिले, तो उसकी हमें मांग नहीं है—एक बात।

दूसरी बात यह सोचिये, कि क्या कोई भी भाई, कोई भी बहन किसी सुख का भोग कर सकते हैं, जब तक कि वे दुःखी न हों ? और दुःख का अनुभव न करें ? अथवा कोई भी सुख ऐसा हो सकता है कि जिसका परिणाम दुःख न हो ? अथवा कोई भी क्या सुख ऐसा हो सकता है कि सुख के भोग काल में सुख में क्षति न हो, और सुख भोग की शक्ति का ह्रास न हो? यदि ये बातें सिद्ध हो जाय, तब तो निर्विवाद बात होजाती है कि भाई ! सुख जैसी वस्तु छोड़ने की नहीं है। किन्तु इन सब बातों के होते हुए आज न सही कल, कल न सही परसों, हरेक भाई को, हरेक बहन को सुख से निराश होना ही पड़ेगा।

मुझसे कुछ लोग कहते हैं कि आपकी बातें बहुत अच्छी लगती हैं। पर एक बात समझ में नहीं आती कि आप कहते हैं

कि सिद्धि वर्तमान जीवन की वस्तु है, यह कैसे होसकता है ? अगर यह होसकता होता, तो हम सब को सिद्धि क्यों नहीं मिलती ? मैं उन साधकों से यह निवेदन करना चाहता हूँ कि जब मैं वर्तमान की वस्तु बताता हूँ, तो उससे पहले क्या कहता हूँ, इसका भी आपको ध्यान है ? उससे पहले यह निवेदन कर देता हूँ कि हम और आप अपने जाने हुए असत् का त्याग कर सकते हैं, तो सिद्धि वर्तमान की वस्तु है। यह तो मैं कभी नहीं कहता कि आप अपने जाने हुए असत् का त्याग मत कीजिए, और आपको सिद्धि मिल जायेगी। अब आप स्वयं सोचिए, कि क्या आपने अपने जाने हुए असत् का त्याग कर दिया?यदि कर दिया हो, और फिर आप इस बात को देखें, कि सिद्धि वर्तमान की वस्तु नहीं है, तब आप प्रश्न कर सकते हैं। लेकिन आप तुरन्त कह देंगे,कि भला, कहीं अपने जाने हुए असत् का त्याग वर्तमान में होसकता है ? तो भाई ! सच मानिये, यदि कोई साधक मान लेता है, कि हम अपने जाने हुए असत् का त्याग भी वर्तमान में नहीं कर सकते, तो उसे यह भी मान लेना चाहिये, कि कभी उसके जीवन में साधन की अभिव्यक्ति भी नहीं हो सकती। तो असाधन के त्याग के बिना, साधन की अभिव्यक्ति भी नहीं होती।

आप कहेंगे, कि हम तो इस बात को नहीं मानते। हमारे जीवन में असाधन भी रहता है और साधन भी रहता है, विषय-चिन्तन भी रहता है और भगवद्-चिन्तन भी रहता है, भोग की रुचि भी रहती है और योग की लालसा भी रहती है– ऐसा आप कहेंगे, कि स्वार्थ-भाव भी रहता है और कभी-कभी सेवा-भाव भी रहता है। तो असाधन के साथ-साथ किया

हुआ जो साधन है, वह एक ऐसे बड़े असाधन को जन्म देता है महाराज ! कि जिसके समान और कोई असाधन नहीं है। आप कहेंगे, कि वह कौनसा असाधन है ? वह है—मिथ्या अभिमान। आप सोचने लगते हैं, कि हम रोज पूजा करते हैं और रोज गायत्री का जप करते हैं। कोई सोचता है, कि हम रोज कलमा पढ़ते हैं। कोई सोचता है कि हम नवाज पढ़ते हैं। कोई सोचता है कि हम गिरजा में जाते हैं। तो ये जो बातें हम और आप सोचते रहते हैं, असाधन के साथ-साथ साधन का जो अभिमान करते रहते हैं—सच मानिये ! सबसे बड़ा असाधन यही है।

बात तो सच्ची यह है कि जिस समय असाधन का त्याग होगा, उसी समय साधन की अभिव्यक्ति होगी, उसी समय साधन-परायणता आजायेगी। और साधन-परायणता में ही सिद्धि है। तो ये जो बात समझ में नहीं आती कि भला, वर्तमान में सिद्धि कैसे हो सकती है। उसका और कोई कारण नहीं है। इसका एकमात्र कारण यह है कि हम अपने जाने हुए असाधन का त्याग ईमानदारी से नहीं करते, सच्चाई के साथ नहीं करते। आप कहेंगे कि अपना जाना हुआ असाधन क्या है ? तो मैं ये आपसे पूछता हूँ—किसी भी वस्तु को आप जो अपना मानते हैं, क्या इसमें आपके विवेक का समर्थन है ? कोई भाई बताये, कोई बहन बताये। अरे ! अभी न बता सको तो जब तीसरे पहर का सत्संग होता है उसमें बतायें, कि भाई ! किसी भी वस्तु को अपना मानना, यह आपके ज्ञान से समर्थित है ?—नहीं है। यदि आपका ज्ञान इसका समर्थन कर देता तो कभी नहीं कहता कि आप किसी वस्तु को अपना मत

मानिये—एक बात। दूसरी बात—आप सोचिये कि किसी भी वस्तु को जहां आप आप अपना नहीं मानते हैं तो बताओ, क्या विकार आपके जीवन में रहता है ? आप कहते हैं कि वर्तमान में सिद्धि नहीं हो सकती। आप मुझे बतायें कि जब आप किसी भी वस्तु को अपना नहीं मानते हैं तो लोभ रहता है आपके मन में ? मोह रहता है आपके मन में ? काम रहता है आपके मन में ? अगर आप ठीक-ठीक ईमानदारी की बात करेंगे तो ममता-रहित होते ही निर्विकार जीवन रहता है।

जब आप कहते हैं कि वर्तमान में तो निर्विकारता प्राप्त ही नहीं हो सकती, धीरे-धीरे अभ्यास से प्राप्त होगी। तो भाई, सच बात तो यह है कि अभ्यास करते-करते ही जीवन का बहुत बड़ा भाग बीत गया। और हिन्दू धर्म के अनुसार तो न जाने जितने जन्म बीत गये होंगे। लेकिन दु.ख की बात तो यह है कि सार्वजनिक वस्तुओं में भी हम ममता छोड़ना नहीं चाहते। जरा ध्यान दीजिये ! व्यक्तिगत जो वस्तुएँ थीं उनमें ममता न छोड़ते तो एक बात थी, कि भाई ! कैसे छोड़ें ? हम तो यह देखते हैं कि सार्वजनिक जो वस्तुएँ हैं उसमें भी ममता कर लेते हैं। और फिर यह सोचते हैं कि भाई, इसमें तो हमारी ही बात चलनी चाहिये। अरे भाई ! तुम्हारी बात क्यों चलनी चाहिये ?—इसलिए चलनी चाहिये कि हमारा जो व्यक्तित्व है वह औरों की अपेक्षा हमारे लिए अधिक समीप है। जरा सोचिये तो सही, इस असाधन के रहते हम साधन का अभिमान नहीं कर सकते और यही कारण है, और कोई कारण नहीं है वर्तमान में सिद्धि में। हम अपने जाने हुए असाधन का त्याग नहीं करते।

इसी प्रकार जरा सोचिये ! किसी साधक से पूछो कि भाई, तुम ईमानदारी से बताओ, कि तुमने किसकी सत्ता स्वीकार की है ? हम नहीं कहते कि हमारे कहने से की है या किसी और के कहने से की है। तुमने अपने आप किसकी सत्ता स्वीकार की है ? और जिसकी आपने सत्ता स्वीकार की है, उसमें आपका विश्वास होना चाहिए कि नहीं ? जरा ध्यान दीजिए ! जिसकी सत्ता हम स्वीकार करें उसी में हमारा विश्वास न हो, तो यह किसका दोष है ? किसी और का दोष है ? यह किसी के भाग्य का दोष है ? या यह किसी परिस्थिति का दोष है ?—न यह भाग्य का दोष है भाई, न यह परिस्थिति का दोष है। यह तो अपना ही दोष है। तो अपने ही दोष का त्याग हम न करें, और कहें कि वर्तमान में सिद्धि कैसे हो सकती है ? तो यह नियम है भाई, कि जिसकी हम सत्ता स्वीकार करेंगे उसमें विश्वास कभी भी कठिन नहीं है, न अस्वाभाविक है। अरे भाई ! जिसकी सत्ता स्वीकार कर लेते हैं उसमें विश्वास हो ही जाता है। और जिसमें विश्वास हो जाता है उससे सम्बन्ध हो जाता है। और जिससे सम्बन्ध हो जाता है उसकी स्मृति उदय होती है। और जिसकी स्मृति उदय होती है उसमें प्रीति होती है। और जिसमें प्रीति होती है उससे न दूरी रहती है, न भेद रहता है, न भिन्नता रहती है। इस दृष्टि से आपने जिसकी सत्ता स्वीकार की है, उसकी प्रीति वर्तमान की वस्तु हो गई।

आप कहेंगे, कि अच्छा भाई, हमने तो जगत की सत्ता स्वीकार की।—बड़ी सुन्दर बात है ! जगत की न ! सत्ता स्वीकार की है, कहीं अपने व्यक्तिगत मकान की तो सत्ता स्वीकार नहीं की? अगर जगत की सत्ता स्वीकार की है तब तो आपका

हृदय विश्व-प्रेम से भर जायेगा। क्यों ? क्योंकि जगत से ही सम्बन्ध रहेगा, जगत में ही प्रीति रहेगी। आप कहेंगे—नहीं ! नहीं !! हमने तो जगत की भी सत्ता को अस्वीकार कर दिया, केवल अपनी ही सत्ता स्वीकार की है। —बड़ी सुन्दर बात ! इसमें कोई आपत्ति नहीं। अगर आपने अपनी ही सत्ता स्वीकार की है तब आपकी प्रियता अपने ही में होगी। जब अपने में प्रियता होगी तब सभी अवस्थाओं से, सभी वस्तुओं से, सभी परिस्थितियों से असंगता आजायेगी। और असंगता आते ही सिद्धि मिल जायेगी। अब कोई कहे, कि नहीं ! नहीं !! हमने तो प्रभु की सत्ता स्वीकार की है। —तो फिर उस प्रभु में विश्वास, प्रभु से नित्य सम्बन्ध, प्रभु की अखण्ड स्मृति, प्रभु में परम प्रियता स्वतः जागृत होगी। आप सोचिये तो सही, कौनसा आप कारण ऐसा बता सकते हैं कि जिससे सिद्धि वर्तमान की वस्तु नहीं है ? हाँ, आप यही कहेंगे, कि भाई ! समझने से तो हम जानते हैं कि सारा जगत एक है। लेकिन जितनी एकता हमें अपने बनाये हुए मकान में, अपने पैदा किये हुए बच्चों में, अपने शरीर में मालूम होती है उतनी एकता जगत में नहीं मालूम होती, पर जानते तो हम यह हैं कि सारा जगत एक है।

तो तात्पर्य क्या हुआ ? कि जो हम जानते हैं उसी को हम नहीं मानेंगे। तो भाई ! इस बात को सामने रख कर तो आप भविष्य में भी सिद्धि नहीं पा सकेंगे। जो जानते हैं और उसी को नहीं मानेंगे, इसको स्वीकार करते हुए तो भविष्य में भी सिद्धि नहीं मिल सकती। तात्पर्य क्या निकला ? कि यदि हम सिद्धि प्राप्त करना चाहते हैं, तो जो जानते हैं उसको मानना

ही पड़ेगा। जब उसको मान लेते हैं तब सिद्धि वर्तमान की वस्तु हो जाती है। आज की कठिनाई क्या है? आज की सबसे बड़ी कठिनाई यही है कि हम जो जानते हैं उसी को नहीं मानेंगे। लेकिन उसके साथ-साथ जानने का प्रयत्न करते रहते हैं। आप जानते हैं? जब हम अपने जाने हुए को नहीं मानते हैं, तब जाने हुए का प्रभाव निर्जीव हो जाता है, जाने हुए का प्रभाव सजीव नहीं रहता। क्यों? —जो जानते हैं उसी को नहीं मानते, तो फिर जाने हुए में एक चमत्कार कैसे मालूम होगा? अभी हम एक दिन एक साधक से बातें कर रहे थे। और बात करते-करते जब असंगता का विवेचन आया—व्यक्तिगत बातचीत थी—तो एक दम शान्त होकर कहने लगे—ये तो ऐसा मालूम हुआ मुझे, मानो, जैसे घोर अंधेरा था, अब प्रकाश होगया। बात तो ठीक ही है। सत्संग जो है, भाई! वह वर्तमान में ही सिद्धि देता है। इसमें कोई सन्देह की बात नहीं। किन्तु दुःख की बात तो यही रह जाती है कि हम सत्संग के नाम पर तो सत् की चर्चा करते हैं और संग करते हैं असत् का। चर्चा सत् की और संग असत् का, तब क्या होता है? एक द्वन्द्वात्मक स्थिति बनती है। द्वन्द्वात्मक स्थिति क्या बनती है? कि चर्चा के नाम पर हमारे मस्तिष्क का तो बड़ा विकास हो जाता है और दूसरों को समझाने के लिए हम भरपूर गुरू बन जाते हैं। लेकिन वस्तुस्थिति जो यह रहती है—असत् के संग की—उससे फिर अपने आप अपनी दृष्टि में निन्दनीय हो जाते हैं, आदरणीय नहीं रहते। और सोचने लगते हैं कि हाय! हाय!! क्या करें, अभी तक हमें तो कोई सिद्धि नहीं मिली।

मेरे कहने का तात्पर्य यह था कि सत् की चर्चा करते-करते बहुत समय बीत गया। मैं यह नहीं कहता हूँ कि आप सत् की चर्चा न करें। अवश्य करें, क्योंकि सत् की चर्चा नहीं करेंगे तो क्या असत् की चर्चा करेंगे? सत् की चर्चा करें, लेकिन इसके साथ-साथ सत् का संग भी करें। और वह सत् का संग किया कैसे जाता है? इस पर थोड़ा विचार कीजिये।—हमारे एक साथी हैं वे रोज हमसे कहते हैं, पैरों चिपकते हैं और कहते हैं, कि महाराज! हमें राग-रहित कर दीजिये। हम कहते हैं—अच्छा भाई! तुम बताओ, तुममें इस समय क्या राग है? मैंने विनोद में कहा—भैया! तुम तो राग-रहित हो, बताओ क्या राग है? तो आप बतायेंगे भूत काल की घटना के आधार पर। हमने कहा कि यह जो बात तुम कह रहे हो, भूत काल की है, कि वर्तमान काल की? कहता है—भूत काल की। तो हमने तो पहले ही तुमसे कहा था कि भूत काल सदोष है, निर्दोष है ही नहीं। तो तुम भूत काल के आधार पर वर्तमान की निर्दोषता को क्यों दूषित करते हो? उत्तर कुछ नहीं, किन्तु स्वीकृति भी नहीं। एक सज्जन कल हमसे कहने लगे, कि कहीं आप बोलते बोलते चुप होगये तो बड़ी मुश्किल हो जायेगी।—क्या मुश्किल हो जायेगा?—कि हमको कौन बतायेगा! हमने कहा—भाई! अगर आपने हमारी बात सुनी है तो आप सच मानिये कि आपको अपने लिए किसी भिन्न गुरु की आवश्यकता नहीं होगी।

आज इस बात को कितने भाई-बहिन मानने को राजी हैं? इस बात को आप मानने को राजी हैं, कि हम अमुक को गुरू बना लें। वह भी किसलिये? यह भी नहीं कि उस बनाये

हुए गुरू की भी बात मान लें। बात उसकी भी नहीं मानेंगे, और बात अपनी भी नहीं मानेंगे। जरा ध्यान तो दीजिये, जब हम अपनी भी न मानें और दूसरे की भी न मानें, किसी ग्रन्थ की भी न मानें, युक्ति से भी न मानें, विश्वास से भी न मानें, तो यह क्या है ? यह असाधन है, कि साधन है ? न मानने का रोग हमको लगा है। और किस बात के न मानने का ? उस बात के न मानने का, जिसको हम जानते हैं। फिर भी दूसरों को समझाने के लिए कितने सुन्दर हम सिद्ध होते हैं भाई ! कितने अच्छे मालूम होते हैं दूसरों को समझाने के लिये ! और अपने को समझाने के लिए ?—कि अपने को समझाने के लिए तो हम कुछ भी नहीं हैं। तो वर्तमान में सिद्धि नहीं होती उसका कारण एक मात्र यह है,कि आज हम दूसरों को समझाने का तो पेशा करते हैं,और अपने समझने से हार स्वीकार करते हैं। अपने को नहीं समझा सकते—ऐसी बात नहीं है। अपने को समझा सकते हैं। किन्तु पहले ही से हार स्वीकार कर लेते है, कि भला यह कैसे हो सकता है !

मैं आपसे पूछता हूँ, कि यह नहीं होसकता है तो आप साधन करने की क्यों सोचते हैं ? अगर आप यह मानते हैं, कि सिद्धि नहीं होसकती तो साधन करने की क्यों सोचते हैं ? आप कहेंगे कि साधन करने की तो इसलिए सोचते हैं कि कालान्तर में जन्म-जन्मान्तर में हमको सिद्धि मिलेगी। इसका अर्थ यह हुआ कि अभी हम असाधन-जनित सुख का भोग करना चाहते हैं। सीधी-सादी बात। मनोविज्ञान का एक बड़ा भारी सिद्धान्त है। और वह सिद्धान्त यह है जहां तक मैंने समझा है, सोचा है, विचार किया है, कि अगर हमें अपनी वस्तुस्थिति का ठीक

परिचय होजाय और हम उसको जान लें कि हम ऐसे ही हैं,तो वह वस्तुस्थिति बदल जाती है। वह बदल जाती है, रहती नहीं। तो अगर हम इस बात को भी मान लें, कि भाई! अभी तो हम असाधन-जनित सुख का ही भोग करना चाहते हैं— इस बात को भी स्पष्ट रूप से जान लें और स्वीकार कर लें तो मैं सच कहता हूँ कि असाधन-जनित सुख की दासता नाश हो जाय।

तो आज की जो समस्या साधक के सामने है तो वह यह समस्या नहीं है कि वह सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता। वह समस्या यह है कि वह सिद्धि प्राप्त करने के लिए वर्तमान में राजी है ? यदि राजी है, तो उसे सिद्धि मिल सकती है, मिल सकती है। इसमें लेश-मात्र भी सन्देह नहीं। तो वर्तमान में हम सिद्धि के लिए राजी हैं, इसकी कसौटी क्या होगी? इसकी कसौटी केवल यही होगी कि हम और आप अपने जाने हुए असाधन का त्याग कर देंगे, अर्थात् उससे हमें अरुचि हो जायेगी। और कल्पना करो, कि यदि किसी असाधन का त्याग भी नहीं कर सकें, तो त्याग न करने की एक व्यथा जागृत हो जायेगी, एक वेदना पैदा होजायेगी। आप जानते हैं ? कौनसी निर्बलता ऐसी है जो वेदना की अग्नि में भस्मीभूत नहीं होजाती ?–कोई निर्बलता नहीं, कोई पाप ऐसा नहीं, कोई बुराई ऐसी नहीं जो वेदना की अग्नि में जल नहीं जाती। और यह बात कितनी स्वाभाविक है ! कि जो बात हम चाहते हैं और वह बात यदि नहीं होती है,तो व्याकुलता स्वाभाविक है। व्याकुलता में लेश-मात्र भी अस्वाभाविकता नहीं। लेकिन हम कहें तो यह, कि हम राग-रहित होना चाहते हैं और जीवन कैसा हो? कि भाई!

राग-युक्त। जो भोग की रुचि है उसकी भी पूर्ति चाहते हैं। भोग की रुचि की पूर्ति और राग-रहित जीवन—ये दोनों हम चाहते हैं एक साथ। इसलिए भाई! हमें और आपको सिद्धि वर्तमान की नहीं मालूम होती। नहीं तो, राग-रहित होने में तो कोई भी प्राणी कभी भी पराधीन नहीं है। भोग की रुचि की पूर्ति में कोई भी प्राणी कभी भी स्वाधीन नहीं है।

हमारी वास्तविक स्थिति क्या है? कि पराधीन जिसमें हैं उसको भी चाहते हैं, और स्वाधीन जिसमें हैं उसको भी चाहते हैं। ऐसा नहीं चाहते कि जिसमें पराधीन हैं उसको तो नहीं चाहते, जिसमें स्वाधीन हैं उसी को हम चाहते हैं। यही एक कारण है कि वर्तमान में सिद्धि नहीं दिखाई देती। वास्तव में तो यह मानव-जीवन सिद्धि के लिए ही मिला है। अगर सिद्धि न हो सकती होती, तो मैं आपसे पूछता हूँ,कि मानव-जीवन की आवश्यकता ही क्या थी? मानव-जीवन हमको मिलता ही क्यों? अब इसमें आप अपनी एक बुद्धिमानी लगायेंगे,और यह कहेंगे, कि मानव जीवन में भी अनेक श्रेणियां हैं। एक श्रेणी के हम सब मानव नहीं हैं। इस सम्बन्ध में मेरा अपना यह विश्वास है अथवा विचार है कि अनेक श्रेणियों के कारण अनेक साधन हैं, न कि सिद्धि में पराधीनता है। आप लोग इस बात को नहीं मानते और ऐसा मान लेते हैं, कि एक बेपढ़ा-लिखा आदमी, जाहिल आदमी कहता है कि वर्तमान में सिद्धि है। भला ग्रन्थों में तो लिखा है कि अनेक जन्मों में सिद्धि होती है। —भाई! तुम्हारे पास यह लिख कर के आगया है कि तुम्हारे अनेक जन्म नहीं हो चुके? मैं तुमसे पूछता हूँ कि क्या तुम्हें मालूम है कि तुम्हारे अनेक जन्म नहीं होचुके? मैं तो ऐसा ही

मानता हूँ कि अनेक जन्मों के बाद ही मानव-जीवन होता है। और जब अनेक जन्मों के बाद मानव-जीवन होता है, तो उसमें सिद्धि होती है।

अब आप कहेंगे, कि उन ग्रन्थों में ऐसा भी तो लिखा है कि भाई ! अगर साधन करते-करते यह शरीर छूट जाता है या प्राण शक्ति नाश होजाती है,तो हमें एक उत्कृष्ट घर में,एक ऊँचे घर में जन्म मिलता है, और फिर हम साधन करने लगते हैं। मैं तो मानता हूँ,कि यह सब बात भगवान् वेद व्यास ने इसलिये लिखी हैं, कि साधक निराश होकर के घबरा न जाय, साधन आरम्भ करदे। जैसे किसी बालक से कहा, जब कान छेदना हो तो—लो, लड्डू खाओ। लड्डू मुँह में दिया और कान छेद दिया। अरे भाई ! साधन आरम्भ तो कर दो, सिद्धि तो हो ही जायेगी। स्वयं भूल जाओगे, कि अनेक जन्मों की बात नहीं है, वर्तमान की बात है। स्वयं भूल जाओगे। परन्तु हम लोग अपनी निर्बलता को पोषित करने के लिए, अथवा अपने दोषों को गुण का रूप देने के लिए इस प्रकार के बहाने भर लेते हैं दिमाग में और फिर सोचने लगते हैं, कि भला वर्तमान में सिद्धि कैसे हो सकती है ! आप सच मानिये, सिद्धि वर्तमान ही में होती है। भविष्य में कभी सिद्धि नहीं होती। भविष्य में तो उसकी प्राप्ति होती है जो वर्तमान में नहीं है, अर्थात् जिसकी उत्पत्ति हो। और जिसकी उत्पत्ति हो, उसका विनाश होगा ही। और जो उत्पत्ति-विनाशयुक्त है, उसकी प्राप्ति सिद्धि नहीं है। सिद्धि कहते ही उसको हैं, कि हमें उसकी प्राप्ति हो जो वर्तमान में है। तो जो वर्तमान में है, जरा सोचिये, साध्य तो हो वर्तमान में, और साधक यह माने कि हमें भविष्य में

मिलेगा। जरा ध्यान दीजिये, साध्य तो है वर्तमान में, और मिलेगा भविष्य में ?

और एक बात सोचिए, कि भोग-प्राप्ति का विधान क्या है? और साध्य-प्राप्ति का विधान क्या है ? भोग-प्राप्ति का तो विधान यह है कि वर्तमान का कर्म भविष्य में भोग की उपलब्धि कराता है। और साध्य-प्राप्ति का विधान क्या है? कि वर्तमान की आवश्यकता साध्य को वर्तमान में मिला देती है। तो जो सिद्धि आवश्यकता-मात्र से प्राप्त होती है उसके लिए तो भविष्य की आशा करना, और जो भोग कर्म-अपेक्षित है उसके लिए आशा रखना कि जरूर मिल जायेगा! आप विचार कीजिये, जितना हम लोग इस बात पर विश्वास करते हैं, कि निर्माण निकेतन में अच्छी-अच्छी बिल्डिंग्स बन जायेंगीं, क्या उतना इस बात पर विश्वास करते हैं कि यहां बैठ कर हम सिद्ध हो जायेंगे ? जरा ध्यान तो दीजिये, कितने लोग ऐसे हैं जो इस बात पर विश्वास करते हैं ?

१६

[ब]

सत्य जिस किसी को मिला है वह तब मिला है, कि जिस परिस्थिति में वह था, उस परिस्थिति का सदुपयोग करके उससे जब ऊपर उठा, तब उसे सत्य मिला। इसलिए भाई ! आपको अगर वर्तमान में सिद्धि प्राप्त करना है तो घर से निर्मम होकर यहां आकर बैठ जाओ, और उसी क्षण सिद्धि न होजाय, तो हमें फांसी लगाओ। उसी क्षण सिद्धि हो जायेगी। लेकिन आप कहेंगे कि हम निर्मम कैसे होसकते हैं ! तो हम आपसे कहेंगे, कि आप ममता को कैसे सुरक्षित रख सकते हैं ? अगर आप निर्मम नहीं हो सकते, तो आप ममता को कैसे सुरक्षित रख सकते हैं ? हां, यह बात कर सकते हैं, कि वस्तु तो नहीं रहेगी, ममता रह जायेगी। वस्तु तो नहीं रहेगी, सम्बन्ध रह जायेगा। तो बिना वस्तु के सम्बन्ध रखने में, बिना वस्तु के ममता करने में हमारा जीवन बीता जा रहा है भाई ! यही कारण है कि सिद्धि नहीं होती। सिद्धि के लिए इस बात की बड़ी भारी आवश्यकता है कि आप अपने जाने हुए असत् का त्याग करें। और जिस समय आप अपने जाने हुए असत् का त्याग करते हैं उसी समय साधन की अभिव्यक्ति होती है। और साधन की अभिव्यक्ति होने से ही सिद्धि मिलती है।

हमारे धर्म प्रचारकों ने, आधुनिक धर्म प्रचारक जो हैं उन्होंने हर भाई के मन में दो बातें बड़े जोर से बैठा दी हैं। चालीस-चालीस, पचास-पचास वर्ष हो गया लोगों को प्रचार करते हुए, कि भाई, किसी वस्तु को अपना मत मानो, अपना मत मानो। लेकिन जब किसी मजदूर को मजदूरी देते हैं तब, अरे भाई ! तुम्हें नहीं मालूम है? यह धर्म का काम है। मतलब यह कि धर्म का काम है तो और जगह अगर तुम्हें ज्यादा मिलता है, उससे कम लो। इसमें किसका महत्व बढ़ा ? उसी पैसा का। और है किसका ? बोले—हमारा बिल्कुल नहीं है। पैसा हमारा नहीं है, लेकिन मजदूरी पूरी देने में धर्म के काम का बहाना लेते हैं—अरे भाई ! कम खर्च करो। आज कल तुम्हें मालूम है ? क्या है ? कि जिनके पास करोड़ों रुपया है वे कहते हैं, कि कम खर्च करो। किस बात में ? कि चार तरकारी खाते थे अब दो खायेंगे। सिद्धि मिलेगी ? अरे, कम खर्च करने से सिद्धि अगर मिलती तो कम खर्च तो हमेशा करते ही रहे हैं आप। औरों के ऊपर कम खर्च का प्रयोग करते हैं कि नहीं ?

आज का मिल-ओनर क्या करता है ? मजदूर के ऊपर कम खर्च का प्रयोग करता है। आज का मजदूर क्या करता है ? कि काम करने में कमी रखने का रोज प्रयत्न करता है कि कम से कम काम करना पड़े और ज्यादा-से-ज्यादा पैसा मिल जाय। तो न कम खर्च करने से सत्य मिलता है, और न अधिक खर्च करने से सत्य मिलता है। सत्य मिलता है—वस्तु को अपना न मानने से। और यह साधन आज हमारे लिए बड़ा दुर्लभ होगया। क्यों ? अपना न मानना इतना दुर्लभ होगया है

कि ईमानदारी से हम इस बात को नहीं मान पाते। अगर ईमानदारी से आप इस बात को मान लेते हैं, तो लोभ का दोष चित्त में नहीं रहेगा, और मोह का दोष चित्त में नहीं रहेगा, और काम का दोष चित्त में नहीं रहेगा। मान लीजिये आप, अभी मान लीजिये कि कोई वस्तु हमारी नहीं है। फिर देखें, आपके चित्त में विकार किस तरह पैदा हो जाय! कभी विकार पैदा नहीं हो सकता। लेकिन इस बात को मानने से पूर्व हम कहते हैं, कि बताओ, वर्तमान में सिद्धि कैसे होसकती है? तो सच बात है, नहीं हो सकती। क्योंकि हम अपने जाने हुए असत् का त्याग नहीं कर सकते, इसलिये सिद्धि नहीं होसकती। और यदि हम जाने हुए असत् का त्याग कर सकते हैं, तो सिद्धि अवश्य हो सकती है।

कहने का मेरा तात्पर्य यह था, कि आज की साधन-प्रणाली क्या है? आज की साधन-प्रणाली यह है कि मोहवश घर में शासन किया, अब चले धर्म कमाने, तो धर्म के नाम पर भी करेंगे शासन। सेवा नहीं करेंगे। निरभिमानता को नहीं अपनायेंगे। वहां भी एक सुन्दर-सा अभिमान रखेंगे। क्यों? हमने ज्यादा रुपया दिया है,तो हमको ज्यादा अधिकार मिलना चाहिये। हम ज्यादा समय लगाते हैं, तो हमारी ज्यादा बात चलनी चाहिये। और अगर कोई यह कहे, कि अच्छा भाई! देखो, तुम्हारी ही बात चलेगी। तब भय लगता है। क्यों? अपने पर विश्वास नहीं है कि हम इस बात को निभा सकते हैं। क्यों विश्वास नहीं है? इसलिए विश्वास नहीं है, कि ईमानदारी से हमने अपने जीवन को किसी को दिया नहीं। और जब तक हम ईमानदारी से किसी को अपना जीवन नहीं दे सकते, तब

तक बताइये, हम अपनी सारी शक्ति कैसे लगा लगा सकते हैं ? और जब तक हम अपनी सारी शक्ति नहीं लगा सकते, तब तक हमें अपने में कैसे विश्वास होसकता है ? कि हम काम कर सकते हैं। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि जिस वक्त आप अपनी सारी शक्ति लगा देंगे, कोई समस्या आपकी ऐसी हो नहीं सकती जिसको आप हल न करलें। लेकिन अपनी सारी शक्ति लगायेंगे नहीं, उसका परिणाम होगा कि अपने में विश्वास होगा नहीं। और जिसको अपने में विश्वास नहीं होता, उसे सच मानो तो, किसी में विश्वास नहीं होता। यह नियम है। दूसरे पर हम विश्वास कर सकते हैं। इसलिए नहीं करते कि दूसरा विश्वास के योग्य नहीं है। इसलिये अविश्वास करते हैं, कि हमें अपने ही में विश्वास नहीं है।

आज का साधक अपने संकल्प पर कितना अविश्वास करता है ! किस पर ? कि मैं भगवान् का हूँ, भगवान् मेरे हैं। मैं आपसे पूछता हूँ कि इसमें क्या कठिनाई थी आपको? लेकिन इसी संकल्प में विकल्प क्यों होता है ? कि अपने में विश्वास नहीं। नहीं ! तो, मैं यह कहता हूँ कि भगवान् भी आकर यह कहते कि 'नहीं-नहीं,तुम हमारे नहीं हो, हम तुम्हारे नहीं हैं।' तब भी हंस कर यह कहते कि 'आप भूल सकते हैं, मैं नहीं सकता हूँ, तुम भी हमारे हो और हम भी तुम्हारे हैं।' यह बल कब आता है जीवन में ? यह बल तब आता है कि जब साधक अपने पर अविश्वास नहीं करता। हमसे सबसे बड़ी भूल यही होती है महाराज ! कि हम अपने पर अविश्वास कर बैठते हैं। और जब हम अपने पर अविश्वास कर बैठते हैं तो अपनी भावना में भी अविश्वास कर बैठते हैं, और अपनी जानकारी

में भी सन्देह कर बैठते हैं। इसलिये अगर आपको वर्तमान में सिद्धि प्राप्त करना है तो अपने पर अविश्वास मत कीजिए। आप इस बात को मानिये, कि यदि मैंने यह कह दिया है—कि हे प्रभु ! मैं तेरा हूँ। तो किसी का साहस नहीं है, कि इस संकल्प को तोड़ सके, इस विश्वास को तोड़ सके। क्योंकि मैंने कह दिया है कि मैं तेरा हूँ। यदि मैंने यह स्वीकार कर लिया है, कि कोई वस्तु मेरी नहीं है, तो संसार की शक्ति नहीं है कि मुझमें किसी वस्तु की ममता को लगा सके। आप सच मानिये, जिस समय आप अपने में विश्वास करके दृढ़ता पूर्वक अपनी किसी साधना को स्वीकार करेंगे, तो सिद्धि वर्तमान में होगी। लेकिन भाई ! जब तक हम और आप अपने ही पर अविश्वास करेंगे, अपने ही सम्बन्ध पर अविश्वास करेंगे, अपनी ही जानकारी पर सन्देह करेंगे, अपनी ही मान्यता में विकल्प करगे, तब तक बताइये, सिद्धि कैसे होसकती है?

कहने का मेरा तात्पर्य था, कि सिद्धि तो वर्तमान की वस्तु है। पर कब ? जब हम जो जानते हैं, और मानते हैं, और जो कर सकते हैं, उसमें न बचायें। अब आप कहेंगे, कि हम जो जानते हैं उसको मानलें, तो इसके लिये हमें क्या करना है ? जरा ध्यान तो दीजिये, साधन का अगर आप साधन ढूंढ़ते रहेंगे, तो साधन कभी नहीं होगा। क्योंकि साधन कहते ही उसको हैं जिसको आप कर सकें। तो आप अपनी रुचि, योग्यता, सामर्थ्य के अनुसार किसी एक साधन के सम्बन्ध में यह निर्णय कर लीजिये, कि यह हम जरूर करेंगे। वह साधन चाहे जैसा हो, चाहे जिस मत के अनुसार हो, चाहे जिस विचारधारा के अनुसार हो, उसकी आप चिन्ता न करें। आप

अपना कोई साधन, यह निर्णय कर लीजिये कि यह हम कर सकते हैं। जिसके सम्बन्ध में आप यह न कह सकें कि इसमें हमारा मन नहीं लगता, इसमें हमको विश्वास नहीं है, यह हमारी सामर्थ्य के बाहर है। यह तीन बातें न कर सकें, जिस साधन के सम्बन्ध में, तो साधन चाहे जैसा हो, उसको आप स्वीकार कीजिये। आपको वर्तमान में सिद्धि मिलेगी।

लेकिन भाई! जब आप किसी भी साधन के करने में अपने को समर्थ नहीं मानते हैं, किसी भी साधन में आप विकल्प-रहित विश्वास नहीं करते हैं, कोई भी साधन आपको रुचिकर नहीं है। तो जब साधन ही रुचिकर नहीं है, तो जरा सोचिये, तो सिद्धि हो कैसे? सिद्धि में बाधक यह नहीं है कि आपने अमुक साधन नहीं किया, यह चीज सिद्धि में बाधक नहीं है। सिद्धि में बाधक यह है कि कोई भी एक साधन आपको पूरा कर देना चाहिए, जिसमें आपकी रुचि हो, जिसमें आपको सन्देह न हो, जो आपकी सामर्थ्य के अनुसार हो, कोई भी साधन। इसी का नाम है—मानव सेवा संघ की साधन-प्रणाली।

कल मुझसे कुछ लोग बात कर रहे थे, तो मैंने उनसे कहा कि भाई, देखो! मानव सेवा संघ के आश्रम में किसको रहना चाहिए? तो मैंने उनसे कहा कि कम से कम उस साधक में एक उदारता अवश्य हो। वह क्या? कि वह अपने मत, अपनी विचार-धारा का बोझा दूसरों के ऊपर न लादे। और उसमें इतनी ईमानदारी हो इस बात के लिए कि भाई, चाहे हम ईश्वरवादी हैं, आप भले ही अनीश्वरवादी हैं, हम आप से कभी इस बात पर जोर नहीं डालेंगे कि आप भी ईश्वरवादी होजाइए। और अनीश्वरवादी कभी इस बात पर जोर न डाले

कि आप अनीश्वरवादी हो जाइये। एक बात पर जोर डालें कि जो बात हम मानते हैं, जो बात हम जानते हैं, उसके द्वारा हम अपने को इतना सुन्दर बनायें कि हमारी सुन्दरता दूसरों के लिए हितकर सिद्ध हो जाय, उपयोगी सिद्ध हो जाय। ऐसे व्यक्तियों की यहाँ रहने की आवश्यकता है। ऐपे व्यक्तियों की आवश्यकता नहीं है जो यहाँ बैठ कर यह मिथ्या-अभिमान करें कि हमारे सिद्धान्त को सारा संसार मान ले।

जरा सोचो तो सही मेरे भाई! आज तक कोई ऐसा हुआ कि जिसके सिद्धान्त को सारे संसार ने मान लिया हो? और आप जिस अपने मत को, जिस अपने साधन को सारे संसार को मनाना चाहते हैं, क्या अपनी पत्नी को भी मना सके? अपने पुत्र को भी मना सके? और उसी साधन को क्या आप अपने जीवन में पूर्ण रूप से मना सके? जिस साधन को हम अपने जीवन में नहीं मना सके, जिस साधन को हम अपने कुटुम्बियों के जीवन में नहीं मना सके, उस साधन का हम दम भरते हैं कि हम सारे संसार में फैला देंगे? बिल्कुल झूठी बात। और इसी दोष से महाराज! आज मजहब असफल हुआ। और हमारी पार्टी हो संसार में शान्ति की स्थापना कर सकती है, हमारी ही पद्धति सबको शान्ति दे सकती है—इसी ममता और इसी अभिमान से राष्ट्र असफल हुआ। और इस असफलता को मिटाने के लिए सच पूछो भाई मेरे! मानव सेवा संघ का प्रादुर्भाव हुआ कि जीवन राष्ट्र के होते हुए असफल! सम्प्रदाय और मजहब के होते हुए असफल! उस असफलता का कारण क्या है? उस असफलता का एक-मात्र कारण यह है कि हम अपनी पद्धति से संसार को सुन्दर

बनाना चाहते हैं। और प्रत्येक व्यक्ति में जो एक अपनापन, एक व्यक्तिगत जो उसका सत्य है, उसकी व्यक्तिगत जो एक रुचि है, उसके द्वारा उसे सत्य का अनुभव नहीं करने देते, सत्य को प्राप्त नहीं करने देते। तभी तो लोग दिन-रात सिखाने के फेर में लगे रहते हैं।

मैं तो सच कहता हूँ आपसे, आप लोगों के सम्पर्क से कहिये अथवा कोई मेरी अपनी निर्बलता मान लीजिये कि जो मैं आपसे यह कहता हूँ कि आपको यह करना चाहिए। यह बात कहना ही दूसरे के साथ बहुत बड़ा अन्याय करना है। कहना तो क्या चाहिए? कि भाई! जो तुम कर सकते हो उसके द्वारा तुम अपने को सुन्दर बनाओ, जो तुम जानते हो उसके द्वारा तुम अपने को सुन्दर बनाओ, जो तुम मानते हो उसके द्वारा तुम अपने को सुन्दर बनाओ। इस प्रकार की सद्भावना को लेकर, जो मानव सेवा संघ की नीति के अनुसार आश्रम में रहेगा, सच मानिये, वह तो सिद्ध हो ही जायेगा, इसमें तो सन्देह है ही नहीं, और उसके द्वारा लोक का बहुत बड़ा हित होगा। और अगर आपने भीतर से तो कुछ और रखा और ऊपर से—कौन हैं साहब? बोले, हमने मानव सेवा संघ को जीवन दिया है। कौन हैं साहब? —हम मानव सेवा संघ की कार्यकारिणी के सदस्य हैं। बहुत ठीक! बड़ी सुन्दर बात कि आप कार्यकारिणी के सदस्य हैं। लेकिन आपका जीवन क्या है? कि जीवन तो यह है कि दूसरे लोगों को हमारा ही सत्य मानना चाहिए। जब आपका यह जीवन है तो आप माफ कीजिये, आपके द्वारा मानव सेवा संघ कलंकित हो सकता है, प्रकाशित नहीं हो सकता। और आप मानव सेवा

संघ के द्वारा अपना विकास नहीं कर सकते। मानव सेवा संघ को साधन-प्रणाली के सम्बन्ध में स्पष्ट नीति है, और वह नीति यह है कि प्रत्येक भाई साधन करने में समर्थ है और प्रत्येक भाई को सिद्धि मिल सकती है।

..... लेकिन किस साधन से ? कि जिस साधन को वह कर सके। जिस साधन को वह नहीं कर सकता उससे सिद्धि नहीं मिल सकती।

आप कहेंगे कि क्या कोई ऐसा भी साधन है जिसके लिए सभी इन्कार कर दें ?—कोई ऐसा साधन नहीं है। प्रत्येक भाई के जीवन में, प्रत्येक बहिन के जीवन में साधन-सामग्री है, साधन करने की सामर्थ्य है। लेकिन किस साधन को करने की सामर्थ्य है ? उस साधन को करने की सामर्थ्य है जिसे कि वह कर सकता है। इसलिए भाई, यहाँ के सत्संग की विधि क्या होनी चाहिए ? यहाँ के सत्संग की विधि यह नहीं होनी चाहिये कि हम तो जानते हैं और आप नहीं जानते। यहाँ के सत्संग की विधि होनी चाहिये—जो आप जानते हैं, जो आप मानते हैं, जो आप कर सकते हैं, उसमें आपकी सद्भावना हो। उसमें आपकी निष्ठा हो। और दूसरी बात कि जो आप जानते हैं, कहीं उसका आप विरोध तो नहीं करते ? और जो आप मानते हैं, उसमें कहीं आपके ही विवेक का विरोध तो नहीं है ? और जो आप करते हैं उसमें कहीं आपके विवेक का विरोध तो नहीं है ? जानने और करने में तो विवेक का प्रकाश होना चाहिये। और मानने में, जो भी बात आप मानते हैं, उसमें अविचल श्रद्धा रखनी चाहिये, आस्था रखनी चाहिये। उसका प्रभाव होना चाहिये कि हम

सबको सिद्धि मिल सकती है। क्यों? मानव-जीवन सिद्धि के ही लिए है।

तो यह जो मानव जीवन है, इसमें इस बात की आवश्यकता नहीं है कि हम किसी और के गुरू बनें, हम किसी और के नेता बनें। इसमें सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि हम अपना गुरू बनना सीखें, अपना नेता बनना सीखें। अपने को समझा-बुझा सकें और अपने द्वारा अपने साधन का निर्माण कर सकें। यह बात सुनकर बहुत से भाई-बहन सन्देह नहीं करते हैं। न जाने, क्यों नहीं करते हैं। पर बहुत से भाई-बहनों के मन में तो यह बात खास तौर से बैठी हुई है कि भला, कोई अपना गुरू कैसे हो सकता है! बिना गुरू के, भला ज्ञान कैसे हो सकता है! मैं आपसे पूछता हूँ कि ईमानदारी से बताओ, तुमने अपना गुरू तो बना लिया, दीक्षा भी ले ली, साधन भी करने लगे, सिद्धि हो गई? अगर गुरू बनाने मात्र से सिद्धि होती तो आपको हुई क्यों नहीं? इस सत्य का तो हम अनादर करें, और जो वास्तव में यह सत्य है कि हम अपने गुरू आप बन जाते तो सिद्धि जरूर होजाती। तो अपने गुरू बनने के लिए क्या करना पड़ता है? अपने जाने हुए असत् का त्याग करना पड़ता है, अपने विश्वास में अविचल श्रद्धा करनी पड़ती है और मिले हुए का सदुपयोग करना पड़ता है।

तो भाई, आज का जो मौलिक प्रश्न जीवन में है, वह केवल इतना है कि हर भाई को, हर बहन को अपना गुरू बन कर अपने को सुन्दर बनाना है। संसार जो है, वह और किसी सिद्धान्त को नहीं मानता। संसार पर प्रभाव होता है आपकी सुन्दरता का। वह भी प्रभाव कब होता है? आप जानते हैं?

ईसा का व्यक्तित्व जब गल गया तब ईसा का प्रभाव हुआ। यह संसार ऐसी विचित्र चीज है कि जीवित रहने पर विरोध करे और मरने के बाद पूजा करे। अगर यह कीमत आपको चाहिये तो सुधारक में नाम लिखाइये। जीतेजी आपका विरोध होता रहे और मरने के बाद आपकी पूजा हो ही जायेगी। इसलिए भाई! संसार के सुधार का तरीका है—अपना सुधार। और अपने सुधार का तरीका है—कि जो आप जानते हैं, उसका विरोध आप कभी मत कीजिए, उसमें आप सन्देह कभी मत कीजिए, चाहे सारा संसार मिलकर आपसे कहे कि नहीं-नहीं, आप जो जानते हैं, वह गलत जानते हैं। भाई! ज्ञान कभी गलत नहीं होता। जरा ध्यान दीजिए, ज्ञान कभी गलत नहीं होता। जब ज्ञान गलत ही नहीं होता जब फिर आप कैसे अपने ज्ञान में सन्देह करेंगे? और जो अपने ज्ञान में सन्देह नहीं करेगा, वह किसी वस्तु को अपना कह ही नहीं सकता। यही तो पहचान है अपने ज्ञान की। वह विवेक-विरोधी कर्म कर ही नहीं सकता। वह विवेक-विरोधी विश्वास जीवन में रख ही नहीं सकता। जिसके जीवन में विवेक-विरोधी विश्वास नहीं रहता उसके जीवन में प्रभु विश्वास की अभिव्यक्ति होती है। जिसके जीवन में विवेक विरोधी सम्बन्ध नहीं रहता, वह निर्विकार हो जाता है। और जो विवेक विरोधी कर्म नहीं करता, उसके द्वारा सुन्दर समाज का निर्माण होजाता है।

अब आप विचार तो कीजिये, सिद्धि में क्या प्रतिबन्ध है? अगर आप यह चाहते हैं कि सुन्दर समाज का निर्माण हो, तो इसी क्षण से विवेक-विरोधी कर्म का त्याग कर दीजिये। आप विवेक-विरोधी कर्म का त्याग कर दीजिए, यदि आपके जीवन

के द्वारा सुन्दर समाज का निर्माण न हो तो जो चाहो सो कीजिये। अवश्य हो जायेगा। अगर आप यह चाहते हैं कि आपके जीवन में निर्विकारता अभी आजाय, तो विवेक-विरोधी सम्बन्ध तोड़ दीजिए। अगर निर्विकारता न आजाय तो आप मुझको फाँसी लगा दीजिये। अगर आप चाहते हैं कि आपके जीवन में प्रभु विश्वास दृढ़ हो जाय, कभी न हटे, तो विवेक विरोधी विश्वास छोड़ दीजिये। अब आप सोचिये कि इन तीन बातों के स्वीकार करने के बाद भी अगर आपको सिद्धि न मिले, तब आप प्रश्न कीजिए कि सिद्धि वर्तमान की वस्तु नहीं है। लेकिन विवेक-विरोधी विश्वास धीरे-धीरे छोड़ेंगे, विवेक विरोधी सम्बन्ध धीरे-धीरे तोड़ेंगे, विवेक विरोधी कर्म का त्याग धीरे-धीरे करेंगे। फिर कहें कि यह तो बात गलत मालूम होती है कि वर्तमान में सिद्धि हो सकती है। अरे बाबा, जो वर्तमान में करने की बात है उसे आप धीरे-धीरे पर टालते हैं। वर्तमान में जो करने की बात है, उसे आप वर्तमान में कर दीजिये। और फिर अगर वर्तमान में सिद्धि न हो, तब आप प्रश्न कीजिये। मेरा तो ऐसा विश्वास है कि आप प्रश्नकर्त्ता नहीं रह जायेंगे, आप उसी समय उत्तरदाता हो जायेंगे।

गुरू के मिलने का मालूम है, फल क्या है ? गुरू होजाना। तो उसी समय आप स्वयं उत्तर देने लगेंगे, कहेंगे कि बात ठीक है, सिद्धि वर्तमान में ही होती है। परन्तु भाई मेरे, यह बात किसी और को सिखाने की नहीं, किसी और को समझाने की नहीं। यह बात स्वयं अपने द्वारा अपने को समझाने की है। अगर हमारे हृदय में सुन्दर समाज निर्माण न होने की व्यथा है, तो हम कभी विवेक-विरोधी कर्म नहीं कर सकते। अगर

हमारे हृदय में निर्विकार न होने की व्यथा है, तो हम कभी विवेक विरोधी सम्बन्ध नहीं रख सकते। अगर हमारे हृदय में प्रभु-प्राप्ति न होने की व्यथा है, तो हम कभी विवेक विरोधी विश्वास नहीं रख सकते। देखिये, आस्तिक दर्शन का अर्थ है—प्रभु विश्वास। अध्यात्म दर्शन का अर्थ है— विवेक विरोधी सम्बन्ध का त्याग। और भौतिक दर्शन का अर्थ है—विवेक विरोधी कर्म का त्याग। जो कर्म का क्षेत्र है वही भौतिक दर्शन है और भौतिक दर्शन कुछ नहीं है। उस भौतिक दर्शन का भी जीवन में वही स्थान है जो अध्यात्म दर्शन और आस्तिक दर्शन का है। और अध्यात्म दर्शन का भी जीवन में उतना ही आवश्यक स्थान है जितना कि भौतिक दर्शन का है। उसी प्रकार आस्तिक दर्शन का भी जीवन में उतना ही स्थान है।

आज हमसे भूल क्या होती है कि हम यह सोचने लगते हैं कि जो हमारी वर्तमान वस्तुस्थिति है, बस यही सत्य है। यह सत्य नहीं है। जब तक आप जगत की सत्ता स्वीकार करते हैं तब तक आप साधन का आरम्भ कर सकते हैं—भौतिक दशन के दृष्टि कोण से। और जब आप जगत की सत्ता अस्वीकार करते हैं तब आप साधन कर सकते हैं—अध्यात्म दर्शन के दृष्टि कोण से। जब आप प्रभु की सत्ता स्वीकार करते हैं तब आप साधन कर सकते हैं—आस्तिक दर्शन के दृष्टि कोण से। आज दशा क्या है ? कि सत्ता स्वीकार करते हैं जगत की, और प्राप्त करना चाहते हैं भगवान् को। जरा ध्यान दीजिये, जगत की सत्ता स्वीकार करके भगवान् को प्राप्त करना चाहते हैं ? नहीं कर सकते। होगा क्या ? भगवान् आयेंगे, लेकिन आप कहेंगे कि मेरी स्त्री बीमार है,अच्छी होजाय–आप यह कहोगे।

भगवान् को प्राप्त करना चाहते थे कि स्वस्थ स्त्री को देखना चाहते थे ? जरा सोचिये। इसलिये भाई, अपने दर्शन को आप देखो। लोग अभी से यह कहने लगे कि शरणानन्द का एक दर्शन है। शरणानन्द का वही दर्शन है जो सबका दर्शन है। क्यों, शरणानन्द का दर्शन क्या है ? अपने दर्शन में श्रद्धा कर लो, शरणानन्द का दर्शन आपने जान लिया। और आप शरणानन्द के दर्शन पर श्रद्धा करना चाहें और अपने दर्शन में अश्रद्धा करें तो आपने शरणानन्द के दर्शन को नहीं समझा। शरणानन्द का केवल दर्शन इतना ही है कि हर भाई, हर बहन अपने दर्शन पर अविचल श्रद्धा क ।

दर्शन कहते हैं ज्ञान को। और ज्ञान जो होता है वह विकल्प-रहित स्वीकृति का दाता होता है। अगर आपका दर्शन जगत की सत्ता स्वीकार करता है तो आप घबरायें नहीं, आपके मिथ्या कहने से जगत मिथ्या नहीं होजायेगा। आपके अनित्य कहने से जगत अनित्य नहीं होजायेगा। आप घबरायें नहीं। और इस बात का विरोध भी न करें कि कोई मिथ्या क्यों कहता है। भाई ! जिसके दर्शन में जगत मिथ्या है वह मिथ्या कहता है। जिसके दर्शन में जगत मिथ्या नहीं है वह क्यों उसे मिथ्या कहे ? कहे जगत मिथ्या और लड़े रोटी के लिये। हाय ! हाय !! हम तो ऋषीकेश में बैठ कर तप करते हैं, और रोते किस लिये हैं कि हमें रोटी कौन देगा ? ऋषीकेश में तो दिन-रात "ब्रह्म सत्य, जगत मिथ्या" की बात सुनाई जाती है। गंगा के किनारे क्या है ? ब्रह्म विद्या के सिवाय क्या है ? जरा ध्यान दीजिये।

कहने का मेरा तात्पर्य है कि आप अपने दर्शन पर अविचल श्रद्धा कीजिये। अगर आपको जगत मालूम होता है और जगत

की आपने सत्ता स्वीकार की है, तो इसका साधन क्या है ? विवेक विरोधी कर्म का त्याग। अगर आपने जगत की सत्ता स्वीकार की है तो विवेक विरोधी कर्म का त्याग कर दीजिये। विवेक विरोधी कर्म का त्याग करते ही जितने दोष जीवन में हैं—कर्म सम्बन्धी, वे सब नाश होजायेंगे। क्यों ? जब विवेक विरोधी कर्म का आप त्याग करेंगे तो किसी का बुरा नहीं चाहेंगे। जब किसी का बुरा नहीं चाहेंगे तो दुःखियों को देख कर करुणित होंगे, सुखियों को देख कर प्रसन्न होंगे। करुणित होने से सुख-भोग की रुचि नाश होगी और प्रसन्न रहने से काम का नाश होगा। जब काम का नाश होजायेगा तब आप अपने आध्यात्म दर्शन में प्रवेश पा जायेंगे। तब जगत की सत्ता स्वतः अस्वीकार होजायेगी। जब जगत की सत्ता अस्वीकार होजायेगी तब आपको अपने में ही अपने प्रेमास्पद की प्राप्ति होगी। यह क्या है ? भौतिक दर्शन से आध्यात्म दर्शन में प्रवेश। जब आपको अपने में ही अपने प्रेमास्पद की प्राप्ति होगी, तब आपका अस्तित्व क्या होगा ? केवल प्रेम। जब आपका अस्तित्व केवल प्रेम होगा तब आस्तिक दर्शन में प्रवेश हो जायेगा।

साधन का आरम्भ चाहे भौतिक दर्शन के आधार पर हो, चाहे आध्यात्म दर्शन के आधार पर हो, चाहे आस्तिक दर्शन के आधार पर हो। अन्त में समस्त दर्शनों का जो फल है, वह आपको प्राप्त हो जायेगा। अथवा यों कहो कि समस्त साधनों से जो सिद्धि प्राप्त होती है वह सिद्धि आपको प्राप्त होजायेगी। कब ? जब आप अपने दर्शन के अनुसार अपने साधन का निर्माण करेंगे। साधन के निर्माण करने में हेतु क्या है ? "सत्संग"। और कोई साधन में हेतु नहीं है। साधन के

निर्माण करने का साधन है—सत्संग। और सत्संग का स्वरूप क्या है ? अपने जाने हुए असत् का त्याग। यह हुआ सत् का का संग। सत् के संग से हुई साधन की अभिव्यक्ति और साधन की अभिव्यक्ति से हुई सिद्धि। इस दृष्टि से प्रत्येक भाई को, प्रत्येक बहिन को वर्तमान में ही सिद्धि मिल सकती है—ऐसा मेरा अनुभव है।

२०

जो परिस्थिति हमें प्राप्त है वह साधन-सामग्री है, जीवन नहीं है।

जिस दुःख का आना हम रोक नहीं सकते उसका भय और जिस सुख का जाना हम नहीं रोक सकते उसका प्रलोभन कोई अर्थ नहीं रखता। सुख-दुःख से अतीत जो है" उसमें हमारा प्रेम हो जाय, तो सुख-दुःख से सम्बन्ध टूट जायेगा। पराश्रय के त्याग से जीवन राग-रहित होता है।

जो महानता मानवता में है वह पद में नहीं है।

मानवता पद नहीं है, जीवन है।

मानव-जीवन निर्लोभता, निर्मोहता, और निरभिमानता में है।

जो आपको अप्राप्त है वही असत् है।

जिसकी आपको आवश्यकता है वही सत् है।

जो सभी को प्राप्त है उसी में प्रेम हो, उसी से योग हो, उसी का बोध हो—यह है मानव-जीवन।

सेवा का अर्थ है—अपना सुख बांटना, उसका फल है—निर्विकार जीवन।

काम-रहित, राग-रहित होने में ही समस्त विकास निहित है।



२०

(अ)

हमसे बड़ी भूल यह होती है कि हम परिस्थिति को ही जीवन मान लेते हैं। आप विचार करें, कोई भी परिस्थिति सर्वांश में दुःख से रहित नहीं है, अभाव से रहित नहीं है। तो फिर क्या अभाव जीवन है ? क्या दुःख जीवन है ? मानना पड़ेगा—नहीं। इसलिये प्रत्येक भाई और बहन को इस मंगल-मय विधान पर अविचल श्रद्धा रखनी चाहिये कि जो परिस्थिति हमें प्राप्त है वह साधन-सामग्री है, जीवन नहीं है। आप कहेंगे कि भला, यह बात कोई दुःखी प्राणी मान सकेगा ? बात ठीक है, ऊपर से देखने में ऐसा ही मालूम होता है कि प्रतिकूलता किसी को भी अभीष्ट नहीं है, रुचिकर नहीं है; उसकी माँग नहीं है, उसमें प्रियता नहीं है। परन्तु क्या आप यह बता सकेंगे कि कोई भी परिस्थिति ऐसी है जो दुःख से रहित हो ? नहीं है। जब प्रत्येक परिस्थिति में दुःख है, अन्तर केवल इतना हुआ कि कहीं आप अधिक दुःख पाते हैं और कहीं कम दुःख पाते हैं। अथवा यों कहो कि कुछ लोग अधिक सुखी हैं तो कुछ लोग कम सुखी हैं। अथवा यों कहो कि परिस्थिति जीवन दुःखी के लिये नहीं है तो किसी के लिए भी नहीं है। यदि दुःखी इस बात को स्वीकार करले कि परिस्थिति जीवन नहीं है तो उसके जीवन में से दुःख का भय निकल सकता है। और यदि सुखी इस बात को स्वीकार करले कि परिस्थिति जीवन नहीं है तो उसके जीवन में से सुख की दासता निकल सकती है।

दुःख का भय और सुख का प्रलोभन किसके जीवन में नहीं है ? उसी के जीवन में नहीं है जिसने परिस्थिति में से जीवन-बुद्धि हटा ली है। आप विचार करें कि जिस परिस्थिति का आप आह्वान करते हैं और यह सोचते हैं कि यदि अमुक वस्तु हमको मिल जाती अथवा अमुक अवस्था हमको मिल जाती अथवा अमुक पद हमको मिल जाता अथवा अमुक व्यक्ति हमको मिल जाता तो बड़ा ही आनन्द होता। लेकिन, सोचिये तो सही, वही वस्तु, वही अवस्था वही पद जिसे प्राप्त है, क्या उसके जीवन में दुःख नहीं है ? यदि उसके जीवन में दुःख है तो भला बताइये, आपका दुःख कैसे मिट सकता था ? नहीं मिट सकता था। परन्तु सुख न रहने पर भी सुख का जो प्रलोभन इतना बढ़ जाता है जीवन में कि यह जानते हैं, स्वयं जानते हैं, सन्देह नहीं है इस बात में कि सुख चला गया। नहीं चाहते थे कि जाय, किन्तु चला गया। फिर भी उसका प्रलोभन। नहीं चाहते हैं कि दुःख आये, फिर भी आगया। फिर उसका भय। जिसे हम रोक नहीं सकते उसका भय और जिसका हम जाना भी नहीं रोक सकते उसका प्रलोभन, बताइये, क्या अर्थ रखता है ? कुछ अर्थ नहीं रखता। ऐसी दशा में प्रत्येक भाई अथवा बहन आये हुए सुख और दुःख का सदुपयोग करने लगे तो सच मानिये, हम सुख और दुःख से ऊपर जो जीवन है अर्थात् सुख-दुःख से अतीत जो जीवन है उसमें हमारा और आपका प्रवेश हो सकता है।

एक बात बड़ी ही गम्भीरता से ध्यान देने की है। सुख-दुःख आता-जाता है, किन्तु जो सुख-दुःख से अतीत जीवन है वह आता-जाता नहीं है। वह है। आज कितने आश्चर्य की बात

है कि जो है उसी में प्रेम नहीं। और जो आता-जाता है उसी की दासता और उसी का भय। कितने आश्चर्य की बात है! जरा सोचिये, सुख-दुःख से अतीत जो जीवन है यदि हमारा-आपका उसमें प्रेम हो जाय तो यह नियम है कि जब किसी में प्रेम हो जाता है तब उससे भिन्न जो कुछ होता है उससे सम्बन्ध नहीं रहता। यह प्रेम की पहचान है। जब आपका किसी से प्रेम हो जायेगा तो उस प्रेमास्पद से भिन्न जो कुछ भी होगा उससे आपका सम्बन्ध नहीं रहेगा। अर्थात् सुख-दुःख से अतीत जो है उसमें यदि हमारा प्रेम हो जाय तो फिर सुख और दुःख से सम्बन्ध नहीं रहेगा। जब सुख-दुःख से सम्बन्ध नहीं रहेगा तो एक नियम है और वह नियम यह है कि जिससे हमारा सम्बन्ध नहीं रहता उसका हम पर शासन नहीं रहता और उसकी हमारे जीवन में कामना नहीं रहती।

सम्बन्ध विच्छेद से दो बड़े लाभ होते हैं। एक तो लाभ होता है कि जिससे हम सम्बन्ध विच्छेद करते हैं उसके शासन से मुक्त हो जाते हैं और उसकी कामना नाश हो जाती है। कामना नाश होने से क्या होता है? और शासन से मुक्त होने से क्या होता है? कि शासन से मुक्त होने पर तो स्वाधीनता आती है और कामना नाश होने से सामर्थ्य आती है। वह सामर्थ्य आती है जो हम सबको निःसन्देहता देने में समर्थ है, जो हम सबको अमरत्व प्रदान करने में समर्थ है। वह सामर्थ्य आती है, कामना के नाश होने से। और स्वाधीनता से क्या होता है? आप विचार कीजिये, स्वाधीनता क्या है? 'स्व' माने 'अपना', अपने की आधीनता, अथवा पराधीनता का अभाव। पराधीनता का अभाव होने से क्या होगा? कि जिससे लेशमात्र भी भिन्नता नहीं है, भेद, नहीं है, दूरी नहीं है, उसके हम आधीन हो जाते हैं। उसका हमें आश्रय मिल जाता है। उसी आश्रय का नाम

किसी दर्शनकार ने अन्तरात्मा कहा। उसी आश्रय का नाम किसी-किसी ने नित्य योग कहा और किसी-किसी ने प्रभु का आश्रय कहा। किसी-किसी ने निराश्रय जीवन कहा। ये जो निराश्रयता है न! बड़ी विचित्र चीज है। ऐसी विचित्र चीज है कि जो प्राणी बाह्य वस्तुओं से निराश्रय हो जाता है यानी वस्तुओं का आश्रय जिसके जीवन में नहीं रहता, व्यक्तियों का आश्रय जिसके जीवन में नहीं रहता, अवस्था का आश्रय जिसके जीवन में नहीं रहता, उसके जीवन में किसी प्रकार के विकार की उत्पत्ति नहीं होती। उसी का नाम है राग-रहित होना।

राग-रहित होना कोई अभ्यास नहीं है। जरा ध्यान दीजिये, राग-रहित होना है—पराश्रय का त्याग। "पर" माने जो अपने से भिन्न हो, जिसमें आप किसी-न-किसी प्रकार से भेद कर सकते हों, जिसकी आपसे दूरी रह सकती हो, उसके आश्रय का जो त्याग है उसी का नाम है—राग-रहित होना। इस राग-रहित होने से किसी वस्तु का विनाश नहीं होता। तो होता क्या है कि वस्तु की दासता नहीं रहती। जब वस्तु की दासता नहीं रहती तो वस्तु के सदुपयोग में किसी प्रकार की असुविधा नहीं होती, कठिनाई नहीं होती।

आज की दशा क्या है? आज यह दशा है कि जो वस्तु प्राप्त है, क्या हम ईमानदारी से उसका सदुपयोग कर पाते हैं? जो सामर्थ्य प्राप्त है, जो योग्यता प्राप्त है, जो पद प्राप्त है, हम उसका ठीक-ठीक उपयोग नहीं कर पाते। उसका परिणाम क्या होता है कि प्राप्त का सदुपयोग न करने से समाज में तो आदर नहीं रहता। यह बड़ा भारी सत्य है। आज बहुत से लोग

सोचते हैं कि हाय-हाय रे ! हमें प्यार नहीं मिलता,आदर नहीं मिलता। भाई, क्यों नहीं मिलता ? बहुत से भाई-बहन तो सोचते हैं कि हमारा भाग्य ही ऐसा है कि हमको कभी आदर मिलता नहीं, हमको कभी प्यार मिलता नहीं। पर, बात वास्तव में ऐसी नहीं है। आदर और प्यार तो हमको इसलिये नहीं मिलता कि हम मिले हुए का सदुपयोग नहीं करते। आप कहें कि हमें तो कुछ प्राप्त नहीं है, प्राप्ति के नाम पर तो केवल शरीर ही प्राप्त है। तब भी कोई चिन्ता की बात नहीं। क्या हमने बोलने की शक्ति का ईमानदारी से सदुपयोग किया? यदि ईमानदारी से सदुपयोग किया होता तो दो बातें हो जातीं— सुनने वाले के अधिकार की रक्षा हो जाती और बोलने का राग मिट जाता—राग। अच्छा, आप सोचिये कि सुनने वाले के अधिकार की रक्षा से क्या होता कि श्रोता और वक्ता के बीच में एकता हो जाती।

ऐसे ही यदि हमने धन का सदुपयोग किया होता तो धनी और निर्धन के बीच में एकता हो जाती। ऐसे ही यदि हमने योग्यता का सदुपयोग किया होता तो योग्य और अयोग्य के बीच में एकता होजाती। ऐसे ही यदि हमने बल का सदुपयोग किया होता तो सबल और निर्बल के बीच में एकता होजाती। और दूसरी बात क्या होती ? दूसरी बात यह होती कि हम बल के राग से, धन के राग से, बोलने के राग से, सुनने के राग से, समझने के राग से, सोचने के राग से रहित हो जाते। आप जानते हैं,राग-रहित होते ही क्या मिलता है? राग-रहित होते ही विश्राम मिलता है। और जब व्यक्ति और समाज के बीच एकता हो जाती है तब क्या मिलता है ? तब सुन्दर

समाज का निर्माण होता है। क्या यह आज मानव समाज की आवश्यकता नहीं है ? क्या आज मानव समाज को सुन्दर समाज की आवश्यकता नहीं है ? आप कहेंगे—है। यदि न होती तो आप जानते हैं, सुन्दर समाज के निर्माण के लिए ही राष्ट्र की कल्पना हुई। चाहे वह राष्ट्र रानी के पेट से राजा निकाले और चाहे वह राष्ट्र जनता के पेट से प्राइम मिनिस्टर निकाले। बात एक ही है। राष्ट्र की आवश्यकता हुई। राजा भी एक ही होता है। प्राइम मिनिस्टर भी एक ही होता है। राजा को भी कुछ लोगों का सहयोग प्राप्त करना पड़ता है और प्राइम मिनिस्टिर को भी कुछ लोगों का सहयोग प्राप्त करना होता है। पर होता एक ही है। दो नहीं होते।

यह बड़ी सुन्दर बात है कि एक देश में दो राजा नहीं रह सकते। और एक कम्बल पर दस सन्त रह सकते हैं। तात्पर्य क्या ? एक कमरे में अनेक मानव रह सकते हैं और एक देश में दो राजा नहीं रह सकते, महाराज ! इससे क्या सिद्ध हुआ ? इससे यह सिद्ध हुआ कि जो महानता मानव में है वह पद में नहीं है। जरा ध्यान दीजिये, राज्य एक पद है, मानवता पद नहीं है, जीवन है। तो इस बात पर विचार करते हुए हमें और आपको इस बात को सोचना चाहिए कि अगर परस्पर में एकता हो जाय—चाहे धनी और निर्धन के बीच की बात हो, चाहे सबल और निर्बल के बीच की बात हो, चाहे दो देशों के बीच की बात हो, चाहे दो वर्गों के बीच की बात हो और चाहे दो सम्बन्धियों के बीच की बात हो, दो व्यक्तियों के बीच की बात हो, भाई-बहनों के बीच की बात हो; लेकिन वह जो एकता होगी, उस एकता में जो विकास है, वह बिना एकता के हो ही नहीं सकता। लोग सोचते हैं कि हम एकता प्राप्त कर लेंगे

तो लड़ाई का सामान इकट्ठा कर लेंगे। कुछ लोग सोचते हैं कि हम एकता प्राप्त कर लेंगे तो बहु संख्या के आधार पर अपनी पार्टी सबल बना लेंगे। नहीं हो सकती, कभी नहीं हो सकती। क्यों नहीं हो सकती ? एकता में बाधक क्या है ? मिले हुए का दुरुपयोग, जो हमें और आपको मिला है।

मैं आपसे पूछता हूँ, कल्पना करो—हम और आप दो साथी हैं, क्या आप मुझसे वह चीज मांगेंगे जो मेरे पास नहीं है ? कभी आप मांग सकते हैं ? कदापि नहीं मांग सकते। आप वही मांग सकते हैं जो हमारे पास है। जो हमारे पास है वह किसके काम आती है ? कि जिसके पास नहीं है। जरा ध्यान दीजिये, चाहे, पति-पत्नी के बीच की बात हो, चाहे दो सहोदर बन्धुओं के बीच की बात हो, चाहे दो पड़ोसियों की बात हो, चाहे दो वर्गों के बीच की बात हो—जिसके पास जो वस्तु नहीं है, नहीं वाले के काम आती है वह वस्तु, जो किसी के पास है। इससे क्या सिद्ध हुआ ? कि आपके पास जो नहीं है वह दूसरों से मिलेगा। लेकिन जो आपके पास है, उसे आप दूसरों को देना चाहते हैं ? अगर देना चाहते हैं तो सच मानिये कि जो आपके पास नहीं है वह दूसरों के द्वारा आपको सचमुच मिल जाता। किन्तु आपकी दशा क्या है ? मजदूर चाहता है कि काम कम करना पड़े और मिल अधिक जाय। मिल-ओनर भी यही चाहता है कि कम देना पड़े और काम अधिक हो जाय। ध्यान दीजिए—जो चीज आपके पास नहीं है वह तो आपको दूसरों से ही लेनी पड़ेगी। और जो चीज आपके पास है वह दूसरों को ही देनी पड़ेगी। तो आप स्वाधीन किसमें हैं ? स्वाधीन इस बात में नहीं हैं कि जो दूसरों के पास है वह आपको

मिल जाय। स्वाधीन आप इसमें हैं कि जो आपके पास है वह दूसरों को दे सकें और प्रसन्नता पूर्वक दे सकें, बिना किसी बदले की आशा के दे सकें। इसका नाम क्या है ? इसी का नाम है—कर्त्तव्य विज्ञान। यह विज्ञान है।

इस विज्ञान का फल मालूम है, क्या है ? कि जिसके जीवन में कर्त्तव्य परायणता होती है वह अधिकार लालसा से रहित भी हो जाता है और उसका अधिकार पूरा भी हो जाता है, दोनों बातें हो जाती हैं। किन्तु आज हमारी दशा क्या है? जो मिला हुआ है उसका सदुपयोग नहीं करेंगे। और जो प्राप्त नहीं है, बोले—उसकी कामना रखेंगे। सदुपयोग नहीं करेंगे तब क्या होगा ? उसका संग्रह हो जायेगा। जब संग्रह हो जायेगा तब क्या होगा ? उसमें ममता हो जायेगी। जब ममता हो जायेगी तब क्या होगा ? हमारे जीवन में जड़ता आ जायेगी। जड़ता की सबसे बड़ी पहचान मालूम है, क्या है ? जड़ता की सबसे बड़ी पहचान है–जो व्यक्ति शरीर के आधार पर अपना महत्त्व आंकता है,योग्यता के आधार पर अपना महत्त्व आंकता है, वस्तुओं के आधार पर अपना महत्व आंकता है,उसके समान दूसरा जड़ हो ही नहीं सकता।

आप सोचिये, उस शरीर के आधार पर हमारा महत्त्व होगा, जो मलमूत्र की थैली है और जो क्षण-भंगुर है ? उस योग्यता पर हमारा महत्त्व अंकित होगा, जिसका गहरी नींद में पता ही नहीं चलता है कि कहाँ गई ? जरा सोचिये, यह जड़ता आज हमारे जीवन में है कि नहीं,कि हमारा महत्त्व कब होता है ? कि जब हमारे पास कोई सामान होता है। इस महत्त्व के आधार पर ही, महाराज ! चाहे दो देशों का संघर्ष हो, चाहे

दो व्यक्तियों का संघर्ष हो। समस्त संघर्षों के मूल में यही जड़ता है। क्या ? कि आप अपना मूल्यांकन करते हैं, आप अपना महत्व मानते हैं सामान के आधार पर और जो सामान स्वभाव से ही नाश हो रहा है, मिट रहा है, बदल रहा है। इसका अर्थ कोई यह न समझ बैठे कि मैं आपसे यह कह रहा हूँ कि मिले हुए का सदुपयोग मत करें। मिले हुए का सदुपयोग कीजिये, पर जड़ता से रहित होकर कीजिये, चेतना को अपना कर कीजिये। जब आप चेतना को अपनाकर मिले हुए का सदुपयोग करेंगे, तब निर्लोभ होकर वस्तु का उपयोग करेंगे, निर्मोह होकर व्यक्ति की सेवा करेंगे, और निरभिमान होकर परिस्थिति का उपयोग करेंगे।

आज अगर हमारे जीवन में निरभिमानता आ जाय तो दुःखमय परिस्थिति कोई हानि नहीं पहुँचा सकती, हमें दीन नहीं बना सकती। और सुखमय परिस्थिति कोई हानि नहीं पहुँचा सकती, हमें अभिमान की अग्नि में नहीं जला सकती। किन्तु दुःख की बात तो यह है कि हम परिस्थिति का उपयोग करते हैं अभिमान पूर्वक। हाय ! हाय !! क्या बतायें, हम तो अन्धे हो गये, बड़े अभागे हैं—यह अभिमान। हमारे पास क्या नहीं है ? सब कुछ है—यह अभिमान। इस अभिमान के रहते हुए आप परिस्थिति का सदुपयोग नहीं कर सकते। मोह के रहते हुए आप अपने साथियों की सेवा नहीं कर सकते। लोभ के रहते हुए आप मिली हुई वस्तु का सदुपयोग नहीं कर सकते। मानव जीवन क्या है ? मानव जीवन निर्मोहता, निर्लोभता, निरभिमानता में है कि वस्तुओं के संग्रह में है ? आपको मानना ही पड़ेगा कि मानव में जो मानवता है वह निर्विकार जीवन के कारण है। अगर निर्विकारता हमारे और आपके पास नहीं है तो मानव में मानवता कुछ नहीं रह जाती।

इसलिए भाई ! बड़े ही धीरज के साथ हमें और आपको इस मौलिक प्रश्न पर विचार करना होगा कि क्या हम मिले हुए का सदुपयोग करते हैं ? सच मानिये, यदि आज हम और आप मिले हुए का सदुपयोग करने लगें, किसके साथ ? कि जिसके साथ रहते हैं, तो राष्ट्र की बिल्कुल आवश्यकता न रह जाय । और भाई ! इतना ही नहीं, अगर हम और आप जरा गम्भीरता से सोचें कि अपने अन्तर की जो चीजें हैं उनका यदि ठीक उपयोग करने लगें तो सच पूछिये, गुरू की भी कोई आवश्यकता न रह जाय । आज जो हमें-आपको अपने जीवन में गुरू की आवश्यकता मालूम होती है अथवा यों कहो कि मजहब की आवश्यकता जो मालूम होती है और राष्ट्र की आवश्यकता मालूम होती है उसका एक-मात्र कारण यह है कि जो गुरू आपको प्राप्त है उस गुरू का तो आप अनादर करते हैं और जो अप्राप्त है, उसकी खोज करते हैं । जो वस्तु प्राप्त है, उसका तो आप दुरुपयोग करते हैं और जो अप्राप्त है उसकी कामना करते हैं । जब तक हम यह करते रहेंगे तब तक चाहे कितना हो तो सामान हमारे पास आजाय और चाहे कितनी बड़ी-बड़ी डिग्रियाँ हम प्राप्त करलें और चाहे कोई हमें पद मिल जाय, हम मानव जीवन के महत्व को नहीं जान सकते । और जब तक मानव जीवन के महत्व को ही नहीं जान सकते तब तक मानवता प्राप्त ही कैसे कर सकते हैं !

इसलिये भाई ! आज की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि जो मिला है उसका हम दुरुपयोग नहीं करेंगे और जो प्राप्त नहीं है उसकी कामना नहीं करेंगे । आप कहेंगे कि हमको तो आज सत्य भी प्राप्त नहीं है । ऐसी बात नहीं है । सत्य तो सभी को प्राप्त है;

किन्तु असत्य की कामना सत्य से अभिन्न नहीं होने देती, सत्य का योग नहीं होने देती, सत्य में प्रेम नहीं होने देती—असत्य की कामना। असत्य क्या है ? जो आज अप्राप्त है वही असत्य है। अथवा जिसकी कामना आप कर सकते हैं, जिसकी आप में *desire* हो सकती है। जिसकी आवश्यकता है वह असत् नहीं है। वह सत् है। जिसकी कामना है वह असत् है। कामना किसकी होती है ? वस्तु की, व्यक्ति की, अवस्था की, परिस्थिति की कामना होती है। आवश्यकता किसकी होती है ? जो वस्तु, अवस्था, परिस्थिति से अतीत दिव्य, चिन्मय जीवन है, नित्य जीवन है उसकी आवश्यकता होती है। तो जिसकी आवश्यकता होती है वह सदैव अविनाशी होता है। उसके देश-काल की दूरी नहीं रहती। और जिससे देश-काल की दूरी नहीं रहती वह सर्वत्र, सर्वदा, सभी को प्राप्त है। जो सभी को प्राप्त है उसी में प्रेम हो, उसी से योग हो, उसी का बोध हो। यह है मानव जीवन।

तो भाई ! जो "है" उसका प्रेम "है" को रस देता है। जो "है" उसका योग शान्ति और सामर्थ्य प्रदान करता है। और जो "है" उसका बोध अमरत्व देता है। इस दृष्टि से मानव-जीवन का महत्व किसी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति पर निर्भर नहीं है। किस पर निर्भर है ? साधन-युक्त जीवन पर। और साधन-युक्त जीवन का पहला सिद्धान्त क्या है ? मिले हुए का सदुपयोग। आज से हम और आप इस बात पर विचार करें कि जो कुछ मिला है उसका हम दुरुपयोग नहीं करेंगे। अगर आपको सदुपयोग करने का ज्ञान नहीं है अथवा आप सदुपयोग नहीं कर सकते हैं तो कम-से-कम दुरुपयोग नहीं करेंगे। यहाँ से साधन आरम्भ कर दीजिये। उदाहरण लीजिये,

यदि कोई भाई कहे कि हमारे लिए प्रिय बोलना बड़ा कठिन होगया, सत्य बोलना बड़ा कठिन हो गया, दूसरे के साथ सहायता करना बड़ा कठिन हो गया। यदि कोई ऐसा कहे तो हम उससे कहेंगे कि कोई बात नहीं, लेकिन कृपा करके आप असत्य मत बोलिये, कठोर मत बोलिये और दूसरे को हानि मत पहुँचाइये। कोई कहे कि क्या बतायें, हमारे मन में शुद्ध संकल्प नहीं होते। तो कृपा करके अशुद्ध संकल्प मत कीजिये।

तो जब आप मिले हुए का दुरुपयोग नहीं करेंगे तब कुछ काल के बाद अपने आप मिले हुए का सदुपयोग होने लगेगा। यह बड़े ही महत्व की बात है कि असाधन के त्याग से साधन होने लगता है। और जब साधन होने लगता है तब हम यह साधन नहीं कर सकते—यह प्रश्न ही नहीं रहता। क्यों?साधन सच पूछिये तो कहते ही उसको हैं जो स्वतः होने लगे। और उसके होने का उपाय क्या है ? कि अपने जाने हुए असाधन का त्याग। तो जीवन का पहला पुरुषार्थ हुआ—अपने जाने हुए असाधन का त्याग। आप कहेंगे कि हमारे जीवन का तो बहुत बड़ा भाग असाधन में चला गया, अब हम उसका त्याग क्या करें ! त्याग का अर्थ है कि जो असाधन हम कर चुके हैं, उसको न करने की रुचि केवल। आप कहें कि अगर कहीं अकस्मात हम कर डालें तो ? कोई चिन्ता की बात नहीं है। न करने की रुचि होने पर जो कुछ कर डालता है, प्राणी उसके करने से दुःखी होता है, व्यथित होता है, वेदना होती है। यह बड़ा भारी सत्य है।

२०

(ब)

हमारे आपके जीवन में सभी को ही इस बात की अनुभूति हुई होगी कि जिसके करने की रुचि न हो और अकस्मात किसी प्रकार हम उसे कर डालें-चाहे अपनी निर्बलता से अथवा किसी प्रलोभन से अथवा किसी भय से, जिसकी करने की रुचि नहीं है उसको अगर कर भी डालें—तो न तो करने से सुख मिलता है; और करने के पश्चात् बहुत बड़ी व्यथा होती है, बहुत बड़ी पीड़ा होती है। यह नियम है कि जिसके होने से हम व्यथित होते हैं, दुःखी होते हैं, पीड़ित होते हैं, उसका होना बन्द होजाता है; और जिसके न होने से दुःखी होते हैं, वह होने लगता है। इससे क्या सिद्ध हुआ कि विकास में हेतु एक-मात्र दुःख है। दुःख क्या कम है आज! लोग कहते हैं, क्या बतायें, संसार में बड़ा दुःख है। हम कहते हैं, भैया! अगर सचमुच दुःख होता हमारे जीवन में, तो हमारा विकास अवश्य होजाता। जब-जब दुःख हुआ, तब-तब विकास हुआ।

इसलिये भाई! जरा विचार तो करो। यदि हम अपने जाने हुए असाधन का त्याग कर सकते हैं अर्थात् उसे नहीं दोहराते हैं. तो क्या होता है कि अपने आप साधन होने लगता है। और जब अपने आप साधन होने लगता है, तब करने का अभिमान नहीं होता। जब करने का अभिमान नहीं होता, तब

फल की आशा नहीं होती। और जब फल की आशा नहीं होती, तब अपने आप होने वाले साधन में निष्कामता आजाती है। चाहे वह साधन कर्मयोग के आधार पर हो यानी सेवा के रूप में हो, अथवा त्याग के रूप में हो, अथवा प्रेम के रूप में हो। जितने साधन हैं, आप गम्भीरता से विचार करें, तीन भागों में बंट जाते हैं। जब हम मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के द्वारा किसी की सेवा करते हैं, तब उसी का नाम सेवा हो जाता है, अथवा जब हम किसी वस्तु की वास्तविकता जानकर उससे ममता तोड़ते हैं, तब उसका नाम त्याग होजाता है, अथवा जब हम किसी में अविचल श्रद्धा करके उससे नित्य सम्बन्ध अथवा उसकी प्रियता स्वीकार करते हैं, तब उसका नाम प्रेम हो जाता है।

तो क्या कोई भी भाई, कोई भी बहन मिली हुई वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता द्वारा सेवा करने में पराधीन है? कदापि नहीं। क्या कोई भी भाई, कोई भी बहन अपने से दुःखियों को देखकर करुणित होने में पराधीन है? क्या कोई भी भाई, कोई भी बहन अपने से सुखियों को देखकर प्रसन्न होनेमें पराधीन है? कदापि नहीं। सेवा करने में कोई भी भाई कभी भी पराधीन नहीं है। सेवा का अर्थ यह नहीं है, सरकार! कि आप दुःखी का दुःख मिटा सकें। सेवा का अर्थ है—अपना सुख बांट सकें और पराये दुःख से दुःखी और पराये सुख से प्रसन्न हो सकें। इतनी-सी बात है जिसे हम और आप सेवा के नाम से कहते हैं। लेकिन आप जानते हैं, इसका फल क्या है? इसका फल बहुत बड़ा है। सेवा का फल क्या है? सेवा का फल है—निर्विकार जीवन, निष्काम जीवन अपने आप। निर्विकार जीवन में क्या नहीं होता है! सब कुछ होने लगता है।

निर्विकारता की भूमि में ही तो योग का वृक्ष लगता है। निर्विकारता की भूमि में ही तो तत्व ज्ञान होता है। निर्विकारता की भूमि में ही तो परम प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। तो भाई, वह जो निर्विकार जीवन है वह प्रत्येक भाई को, प्रत्येक बहन को प्राप्त हो सकता है। क्यों ? निर्विकार जीवन की प्राप्ति वर्तमान की वस्तु है।

भाई ! मानव सेवा संघ के सिद्धान्त के अनुसार तो मानव-मात्र निर्दोष है। लेकिन उस निर्दोषता का भास क्यों नहीं होता ? उस निर्दोषता की अभिव्यक्ति शरीर में, इन्द्रियों में, प्राणों में, मन में, बुद्धि में क्यों नहीं प्रतीत होती ? केवल इसलिये नहीं प्रतीत होती कि हम निर्दोषता की स्थापना करके निश्चिन्त नहीं होते, निर्भय नहीं होते। जब तक आप निश्चिन्त नहीं हो सकते, जब तक आप निर्भय नहीं हो सकते, तब तक जिसकी आप स्थापना करेंगे उसकी अभिव्यक्ति हो ही नहीं सकती। कहने का मेरा तात्पर्य था कि प्रत्येक भाई, प्रत्येक बहन का वर्तमान सर्वदा सर्वांश में निर्दोष है। और भाई ! सर्वांश में दोषी तो कभी कोई हुआ ही नहीं, हो सकता नहीं। तो जो बात हुई नहीं, हो सकती नहीं, और हम मान लेते हैं कि हाय ! हाय !! रे, हम तो बड़े रागी हैं। अरे भाई ! ऐसा कहो कि हमारे जीवन में भी राग रहा था और उसका परिणाम हमने दुःख भोगा था, अशान्ति भोगी थी। अब हमको जब मालूम होगया कि राग उत्पन्न हुआ था और उसके न दोहराने से वह नाश होसकता है। तो मैं सच कहता हूँ कि यदि आज प्रत्येक भाई, प्रत्येक बहन दृढ़तापूर्वक इस बात को स्वीकार करे कि 'मैं वीतराग हूँ', तो आप वीतराग होसकते हैं। इसमें लेश-मात्र भी सन्देह नहीं है।

लेकिन निर्धन होने पर धन का चिन्तन कर सकते हैं, निर्बल होने पर बल का चिन्तन कर सकते हैं, रोगी होने पर स्वस्थ शरीर का चिन्तन कर सकते हैं। यानी जो नहीं होसकता है उसका चिन्तन करने में आप समर्थ हैं ! और जो हो सकता है उसके करने में आज असमर्थ पाते हैं ! क्या यही मानव जीवन है ? क्या यही आप अपने विवेक का आदर करते हैं ? जरा सोचिये, गम्भीरता पूर्वक विचार कीजिये कि हर एक भाई, हर एक बहन वीतराग वर्तमान में है। वीतराग होते ही योग, ज्ञान तथा प्रेम की अभिव्यक्ति स्वत: होती है। अब आप बताइये कि साधन में कहाँ असमर्थता है ? साधन में कहाँ कठिनाई है? कठिनाई वहीं है जहाँ हम साधन-जनित सुख का भोग तो करना चाहते हैं और साधन नहीं करना चाहते। वीतराग होने से क्या होता है महाराज ? किसी ने कह दिया—यह होता है, यह होता है। तो इसे तो हम चाहते हैं, लेकिन वीत-राग होने के लिये जो अपने में राग-रहित होने की स्थापना करना है उससे बचाते हैं। प्रेम-जनित रस तो चाहते हैं, लेकिन प्रेम प्राप्ति के लिये जो प्रभु में आत्मीयता करना है उसमें विकल्प करते हैं।

जरा ध्यान दीजिये, कहने का मेरा तात्पर्य यह है कि यह मानव जीवन का महत्व है कि प्रत्येक भाई, प्रत्येक बहन वर्तमान में ही राग-रहित होकर योगवित् हो सकते हैं। योगवित् होकर तत्ववित् हो सकते हैं। तत्ववित् होकर परम प्रेम को प्राप्त कर सकते हैं। इसमें लेश-मात्र भी सन्देह की बात नहीं है। तो मिले हुये के सदुपयोग के द्वारा हम सबको करने के राग से रहित होना है और सुन्दर समाज का निर्माण हो जाना है। आपको करना नहीं है। राग-रहित भी होना है और सुन्दर समाज का निर्माण भी हो जाना है। करना क्या है ? कि मिले

हुये का सदुपयोग। आप कहेंगे कि मिले हुए का सदुपयोग क्या होता है ? कि आपके पास जो है वह उसकी सेवा में लगादो, जिसके पास नहीं है। यह बात कौन भाई नहीं जानता ? कौन बहन नहीं जानती ? इसमें क्या कठिनाई है ? कठिनाई केवल यह है कि आप उसको अपना नहीं मानते। यही कठिनाई है। आप अपना नहीं मानते—यह भी आपका ज्ञान नहीं है, यह आपका विवेक विरोधी विश्वास है।

मैं आपसे पूछता हूँ—जिस शरीर को अपना शरीर कहते हैं, आप ध्यान दीजिये, वह शरीर जन्म से पहले क्या था ? आपको मानना पड़ेगा—माता का रज और पिता का वीर्य। वह रज-वीर्य कहाँ से उत्पन्न हुआ ? पृथ्वी से, जल से, वायु से, आकाश से इत्यादि। अच्छा, अब आप सोचिये कि आपका शरीर किसका हुआ ? क्या उसी माँ का हुआ, जिसका आपने दूध पिया था ? इस बात से कोई भाई यह न समझ बैठे कि उस माँ का नहीं हुआ। अगर आप असली माँ को तलाश करेंगे तो यह जो सारी सृष्टि जिसे आप कह सकते हैं, उस माँ का आपका शरीर हुआ। जब उस माँ का आपका शरीर हुआ, तो आप जानते हैं? सहोदर जो होते हैं, वे भाई-बहन होते हैं या भाई-भाई होते हैं। जब सब भाई-बहन हुये, भाई-भाई हुये, तब आप कैसे कह सकते हैं कि कोई ऐसा भी होसकता है जो आपका नहीं है ? आप नहीं कह सकते कि कोई ऐसा भी है जो आपका नहीं है। इतना ही नहीं, जरा और ध्यान दीजिये, कि जिसे आप अपने से सुखी पाते हैं, उससे सम्बन्ध जोड़ने के लिये बड़े लालाइत रहते हैं, महाराज !

हमने देखा है कि जब हम बड़े आफीसर के यहाँ ठहरते हैं तो हमारे यहाँ फौन आते हैं, फौन ! सेठ लोगों के। इसलिये

नहीं कि वे बड़े भारी हमारे भक्त हैं। इसलिये कि महाराज जी! आपके पास जस्टिस साहब कब बैठते हैं? वे यह सोचते हैं कि हम उसी समय पहुँचें जब स्वामीजी के पास जस्टिस साहब बैठे हों ताकि उनके सहारे से हमारी पहचान होजाय। जरा सोचो! जिस उदारता से, जिस हृदयशीलता से, जिस तत्परता से आप अपने से सुखियों के साथ मिलना चाहते हैं, क्या उसी उदारता से, क्या उसी तत्परता से, क्या उसी हृदयशीलता से आप अपने से दुःखियों से भी मिलना चाहते हैं? जब यह प्रश्न सामने आता है तब जनाब! अपने में कुछ का कुछ दिखता है। तो भाई मेरे! जब हम और आप यह जानते ही हैं कि जो कोई हमसे सुखी हो, वह हमारा होजाय। मैं आपसे पूछता हूँ कि जो आपसे दुःखी है, क्या वह नहीं चाहता कि आप उसके हो जायँ? तो अपने लिये और कानून और दूसरों के लिये और कानून? अपने को दूसरे पैमाने से नापना और दूसरों को दूसरे पैमाने से नापना? यह मानवता नहीं है। यह प्रमाद है। यह भूल है। इसलिये भाई! सभी आपके हो सकते हैं। अगर आप ऐसा नहीं मानते हैं तो एक और सत्य है। वह सत्य यह है कि यदि सभी आपके नहीं होसकते तो कोई आपका नहीं हो सकता।

जब कोई भी आपका नहीं होसकता, तब कोई वस्तु भी आपकी नहीं होसकती। जब कोई वस्तु भी आपकी नहीं हो सकती, तब आपका क्या अधिकार रह जाता है उससे ममता करने का? उस पर अधिकार करने का? उसका दुरुपयोग करने का? कोई अधिकार नहीं रह सकता। अगर आप बहुत बड़े विवेकी बनते हैं तो सच मानिये, कि आप अपने शरीर को भी अपना नहीं कह सकते। जब शरीर को भी अपना नहीं

कह सकते, मन को भी नहीं कह सकते, बुद्धि को भी नहीं कह सकते, तब भी काम बन सकता है। जब सभी को अपना कह सकते हैं, तब भी काम बन सकता है।

इसीलिये साधन-निर्माण के लिये दो बातों की बड़ी आवश्यकता है—या तो मिले हुये का सदुपयोग करो, या जाने हुए का आदर करो। मिले हुये के सदुपयोग से भी सुख दुःखियों का हो जाता है और फिर सुखी सुख की दासता से मुक्त हो जाता है। और जाने हुये का आदर करने से भी हम सुख-दुःख से असंग हो जाते हैं। कितनी सुन्दर बात है! कितनी महत्त्वपूर्ण बात है! कि चाहे हमारी परिस्थिति सुखमय हो अथवा दुःखमय हो, सुख के सदुपयोग का जो फल है, दुःख के सदुपयोग का भी वही फल है। तो फिर बताइये, हम और आप कैसे कह सकते हैं कि हम और आप वीतराग नहीं हो सकते, हम और आप योगवित् नहीं हो सकते, तत्त्ववित् नहीं हो सकते, हम और आप प्रेम को नहीं प्राप्त कर सकते? यह कहना ही मानव जीवन की घोर निन्दा है, घोर निन्दा है। जो मानव होकर यह विश्वास करता है कि हम कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं हो सकते, वह मानव जीवन की सबसे बड़ी निन्दा करता है। और जो मानव होकर यह कहता है कि हम अपने को इतना सुन्दर नहीं बना सकते कि हमें राष्ट्र की आवश्यकता न हो, हमें मजहब की आवश्यकता न हो, तो वह मानव की सबसे बड़ी निन्दा है। इसलिये भाई मेरे! आज हमारे और आपके सामने जो मौलिक प्रश्न है वह है मानव जीवन के महत्त्व का। वस्तुओं के महत्त्व ने हमें लोभी बनाया। व्यक्तियों के महत्त्व ने हमें मोही बनाया। अवस्थाओं के महत्त्व ने हमें परिच्छिन्न बनाया। इसलिये भाई, अब हम थक गये, विकारयुक्त जीवन रख नहीं सकते, रख नहीं सकते।

उसी के लिये आपके नगर में निर्माण निकेतन आश्रम बना। वह इसलिये नहीं बना कि शरणानन्द कहीं से आकर यहाँ बैठेगा या राधानाथ सहाय जी कहीं से आकर रहेंगे। वह बना तो केवल इसलिये कि आप लोग मानव हैं। और आश्रम शरणानन्द का नहीं है, बुधिया जी का नहीं है, किसी व्यक्ति विशेष का नहीं है। वह आश्रम है मानव-मात्र का। वह मानव-मात्र का जो आश्रम है, उसमें जाकर, बैठकर प्रत्येक भाई को अपने विवेक के प्रकाश में अपने जाने हुये असाधन का त्याग करना है। जब हम अपने जाने हुये असाधन का त्याग करेंगे, तब सच मानिये, अपने आप साधन की अभिव्यक्ति होगी। जब साधन की अभिव्यक्ति होगी तब हम सब साधन-निष्ठ हो जायेंगे। साधननिष्ठ होते ही अपना कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण होगा, यह निर्विवाद सत्य है।

इसलिये भाई ! आज का जो प्रश्न है जीवन में, वह बिल्कुल यह नहीं है कि आपको किसी और से कुछ लेना है अथवा कोई और आपको कुछ दे सकता है। आज का मौलिक प्रश्न तो यह है कि जो आपको प्राप्त है उसका सदुपयोग कीजिये। प्राप्त क्या है? विवेक शक्ति प्राप्त है, भाव शक्ति प्राप्त है और वस्तु, अवस्था, परिस्थिति प्राप्त है। जो प्राप्त है उसका जब आप सदुपयोग करने लगते हैं, तब आप सच्चे साधक हो जाते हैं। और सदुपयोग करने में जो कठिनाई मालूम हो आपको, उसको सहन कीजिये। सच्चाई की खोज करने में जो कठिनाई है वही न ! तप है। उस तप से आपमें सामर्थ्य आयेगी। आप सच मानिये, उस अनन्त की अहैतुकी कृपा निरन्तर योग की, ज्ञान की, प्रेम की वर्षा कर रही है। परन्तु दुःख की बात तो यह है कि हम उस कृपा के द्वारा जो वर्षा हो रही है उसका उपयोग नहीं कर

पाते। आप कहें, कैसे उपयोग नहीं कर पाते? क्या हम थोड़ी-थोड़ी देर के लिये शान्त होते हैं? यदि शान्त हुए होते तो आपको स्वयं अनुभव होता कि प्रभु की कृपा शक्ति योग दे रही है, प्रेम दे रही है, ज्ञान दे रही है और हम उससे तद्रूप होकर कृतकृत्य हो रहे हैं।

परन्तु दुःख की बात तो यह है कि हम बड़े-बड़े कार्य कर सकते हैं, बड़े-बड़े अभ्यासी हो सकते हैं, बड़े-बड़े पुरुषार्थी हो सकते हैं। लेकिन दो-तीन मिनट भी शान्त नहीं हो सकते। क्या यह भी वीरता है? क्या यह भी बल है? क्या यह भी पुरुषार्थ है? जो आज हमारे लिए शान्त रहना भी दुर्लभ हो गया! आप सोचें और विचार करें कि यदि हमने और आपने शान्ति का सम्पादन नहीं किया तो सच मानिये, विकास नहीं हो सकता। और जब विकास नहीं होगा तब ह्रास होगा। क्योंकि परिवर्तनशील जीवन में स्थिति नहीं है। या तो हमें विकास की ओर जाना है या ह्रास होना है। इसलिए भाई! मानव सेवा संघ की नीति के अनुसार हम सबको शान्ति का सम्पादन करना है। शान्ति के सम्पादन में कोई भी भाई, कोई भी बहन न असमर्थ है, न पराधीन है। क्यों? शान्ति मिलती है विश्राम से। और विश्राम मिलता है तीन प्रकार से—या तो जाने हुए के आदर से, या तो मिले हुए के सदुपयोग से, या अनन्त की शरणागति से। इन तीन प्रकार से पतित प्राणी को भी विश्राम मिल सकता है।

मैं आपसे यह नहीं कहता कि आप मेरे मत का अनुसरण करें। आप अपने ही मत का अनुसरण करें। लेकिन किसी भी मत का अनुसरण करें आप, आपको मिले हुये का सदुपयोग

करना ही पड़ेगा। जाने हुये का आदर करना ही पड़ेगा। और जिसकी आप सत्ता स्वीकार करेंगे, जो आपका लक्ष्य होगा उसकी शरणागति स्वीकार करनी ही पड़ेगी। यही तीन साधन के मूल तत्व हैं। इन तीनों मूल तत्वों में से आप जिसे अपना सकें अपनी रुचि, योग्यता, सामर्थ्य एवं परिस्थिति के अनुसार, उसको अपनाकर साधन आरम्भ करदें। सिद्धि अनिवार्य है और इसी जीवन में है। जब मैं यह कहता हूँ कि अभी है, तो मेरे बहुत से साथी चौंकते हैं और इस बात को भूल जाते हैं कि जिस कारण से मैं अभी की बात कहता हूँ, आप उस हेतु को अपनाइये, फिर देखिये कि अभी है कि नहीं है। शरणागति अभी हो सकती है। विवेक का आदर अभी हो सकता है। मिले हुए का सदुपयोग अभी हो सकता है।

जिस क्षण से आप मिले हुए का सदुपयोग आरम्भ करेंगे, आप सच मानिये, आवश्यक वस्तुयें आपके पास आने के लिए लालायित हो जायेंगी। आज क्या है कि वस्तु का चिन्तन करते हैं, वस्तु नहीं मिलती है। तब क्या होगा कि वस्तु आपका चिन्तन करेगी और आवश्यकता से पहले आती जायेगी। लेकिन इस बात पर भरोसा नहीं है। भरोसा किस बात पर है कि चतुराई से, छल से, चालाकी से किसी-न-किसी प्रकार से जहाँ कहीं वस्तु मिल सके, छीन लो। इस बात से कभी आपको वस्तुयें प्राप्त नहीं हो सकतीं। आप कहें कि हम तो प्राप्त कर लेते हैं। आप प्राप्त कर लेते हैं—यह आपकी बुद्धि का धोखा है, भ्रम है। प्राप्त नहीं कर लेते हैं, अपने को खो बैठते हैं। अपने को खो दिया और आपने यह मान लिया कि वस्तु प्राप्त हो गई, तो क्या आपको वस्तु प्राप्त हो गई? जो कुछ था वह और नाश हो गया।

इसलिए भाई ! हर एक भाई को, हर एक बहन को निश्चित होकर, निर्भय होकर, शान्त होकर—अगर उसके सामने दुःख है तो कोई भय नहीं, सुख है तो कोई उसके द्वारा अपना महत्त्व नहीं—महत्त्व केवल इस बात में मानें कि जो है उसका दुरुपयोग नहीं करेंगे, और जो नहीं है उसकी कामना नहीं करेंगे। भला बताइये, इस बात के मानने में क्या कठिनाई है ? जो है उसका सदुपयोग करें, जो नहीं है उसकी कामना से रहित हो जाय। तब क्या होगा ? निश्चिन्तता रहेगी कि नहीं ? निर्भयता-रहेगी कि नहीं ? निश्चिन्तता भी रहेगी, निर्भयता भी रहेगी। यह निश्चिन्तता जो है,—चाहे आपको मालूम हो, चाहे न मालूम हो। यह बड़ा भारी वैज्ञानिक प्रयोग है। यह ऐसा प्रयोग है कि जितनी आपके जीवन में निश्चिन्तता रहेगी उतनी आपमें सामर्थ्य का विकास होगा। आज का रोगी रोग के भय से मर जाता है। मैं आपसे सच कहता हूँ कि रोग मारेगा तीन साल में तो उसका भय मार दे एक साल में।

क्यों मरने से डरते हो ? जरा सोचो, जब से जन्म हुआ था, क्या तभी से मृत्यु आरम्भ नहीं हो गई ? क्यों मरने से डरते हैं ? मरने के डरने से, क्या मरना बच जायेगा ? बच नहीं जायेगा। प्राण शक्ति बड़ी तीव्रता के साथ क्षीण होती जायेगी और समय घट जायेगा और प्राण-पखेरू उड़ जायेंगे। अगर आपके जीवन में मरने का डर नहीं है, तो सच मानिये, प्रकृति का यह नियम है कि यह जो मानव जीवन आपको मिला है यह किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए मिला है। अगर आपका जीवन अभी से उस उद्देश्य की पूर्ति में लग गया है, कल्पना करो कि प्रारब्ध कर्म के अनुसार आपकी प्राण शक्ति समाप्त हो

गई हो, तब भी बढ़ सकती है। यह भी एक विधान है। पर इस विधान को कोई विरले ही जान पाते हैं।

इसलिए भाई। निश्चिन्तता पूर्वक, निर्भयता पूर्वक आप मिले हुये का सदुपयोग कीजिये, अथवा दुरुपयोग मत कीजिये। और जो नहीं प्राप्त है उसकी कामना से रहित होजाइये। कामना से रहित होते ही क्या होगा कि जो आपकी आवश्यक वस्तु है, जो आपके लिये आवश्यक सामर्थ्य है, जो आपके लिये आवश्यक योग्यता है, वह अपने आप आयेगी। पर जब वह आजाय, उसका भोग मत कीजिये। उसका उपयोग कीजिये। और उसमें ममता मत कीजिये। ये दो बातें करते हुए हर भाई, हर बहन अपनी ही परिस्थिति में साधन का निर्माण कर सकते हैं, अथवा यों कहो कि साधननिष्ठ हो सकते हैं। तो जैसा-जैसा आप मिले हुए का सदुपयोग करते जायेंगे, वैसा-ही-वैसा जाने हुए का आदर होता जायेगा। पहले कर्त्तव्य का ज्ञान होता है, फिर वस्तु के स्वरूप का ज्ञान होता है, फिर वस्तु से असंगता होती है। जिस समय वस्तु से असंगता होती है उसी समय हर एक भाई को, हर एक बहन को तत्त्व का ज्ञान हो जाता है। और तत्त्व के ज्ञान के होते ही अपने आप प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। और प्रेम की अभिव्यक्ति होने से हम सबका जीवन रसमय हो जाता है। रस से परिपूर्ण हो जाता है।

जब जीवन रस से परिपूर्ण हो जाता है तो किसी विज्ञान-वेत्ता से पूछिये, अथवा किसी मनोविज्ञानी से पूछिये कि नीरसता ही काम की भूमि है। जहाँ नीरसता रहती है वहीं कामनायें रहती हैं। और जहाँ रस की अभिव्यक्ति है वहाँ काम नहीं रहता। और जहाँ काम नहीं रहता वहाँ आस्तिक दर्शन की

दृष्टि से राम रहता है। जहाँ काम नहीं रहता, वहाँ अध्यात्म दर्शन की दृष्टि से स्वाधीनता रहती है, अमरत्व रहता है, चिन्मय जीवन रहता है। जहाँ काम नहीं रहता, भौतिक दर्शन की दृष्टि से वहाँ दुःख की निवृत्ति और चिर शान्ति निवास करती है। कहने का मेरा तात्पर्य यह है कि भाई ! काम-रहित होने में ही, राग-रहित होने में ही समस्त विकास निहित है। राग-रहित होने में प्रत्येक भाई सर्वदा स्वाधीन है। इसमें लेश-मात्र भी सन्देह नहीं है।

अतः हम सबको जो कुछ मिला है उसका सदुपयोग करें। किसके नाते ? विश्व के नाते, अथवा कर्त्तव्य-बुद्धि से अथवा प्रभु के नाते। विश्व के नाते मिले हुए का सदुपयोग जीवन को विश्व प्रेम से परिपूर्ण कर देता है। कर्त्तव्य-बुद्धि से मिले हुए का सदुपयोग राग-रहित कर देता है। और प्रभु के नाते मिले हुए का सदुपयोग प्रभु प्रेम प्रदान करने में समर्थ होता है। इस दृष्टि से प्रत्येक भाई, प्रत्येक बहन अपनी प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग से ही दिव्य चिन्मय जीवन को भी प्राप्त कर सकते हैं, प्रभु प्रेम को भी प्राप्त कर सकते हैं। यही मानव जीवन का उद्देश्य है और इसी में मानव जीवन का महत्व है।

ॐ शान्तिः



२१

विवेक के प्रकाश का ही दूसरा नाम शास्त्र है। वह विवेक प्रत्येक भाई-बहिन को नित्य प्राप्त है। विवेक का आदर करने वाला ममता और कामना का त्याग कर देता है। ममता और कामना के नाश के बाद गृहस्थ जीवन-मुक्त होजाता है। जीवन-मुक्त होने के बाद भक्त बनता है। भक्त वह बनता है जो जीवन-मुक्ति को ठुकरा देता है।

साधन में लेश-मात्र भी असमर्थता नहीं है, असिद्धि नहीं है। अप्राप्त वस्तु, व्यक्ति और सामर्थ्य की अपेक्षा साधन में नहीं है। यह बात कभी मत सोचिये कि हमारा रचयिता इतना अन्जान है कि हमसे साधन करावे और शक्ति न दे। यह साध्य के स्वभाव में नहीं है। उन्होंने जो शक्ति आपको दी है, उसी से साधन करायेंगे। अपने जीवन की अन्तिम अनुभूति है कि श्रम के बिना, वस्तु के बिना और साथी के बिना हम सबको सिद्धि मिल सकती है।

अतः साधन में स्वाधीनता है और साधन-परायणता में सिद्धि है। भोग और पूजा में बड़ा अन्तर है। भोग का अन्त भोग की वासना को जन्म देता है। और पूजा का अन्त प्रेमास्पद की स्मृति को जगाता है। नित्य जीवन के लिये साथी की अपेक्षा नहीं है। बिना साथी के न रहा जाय तो नित्य साथी की तलाश करो।

एक साथी ऐसा है जो तुम्हारे पीछे खड़ा रहता है, पर तुम्हें दिखायी नहीं देता। उसकी याद करो। जब तुम उसको याद करोगे तो उसे बड़ा मजा आयेगा। स्मृति ही बोध और प्रेम का रूप धारण करती है। यही सिद्धि है।

२१

(अ)

आप कोई शास्त्र ऐसा सिद्ध नहीं कर सकते जिसमें निज विवेक के विरोध की बात हो। और वह विवेक प्रत्येक भाई को, बहन को नित्य प्राप्त है। किसने दिया है, इसका भले ही आपको और मुझे पता न हो, पर दिया है किसी ने। जो मौजूद है। अब आप विचार करें कि जब यह बात हम जानते हैं कि ममता अभी तोड़ना है अभी, और कामना अभी छोड़ना है। ममता टूटने के बाद निर्विकार जीवन। फिर चाहे आपको राज्य करने को मिले। ममता और कामना के नाश करने के बाद जो गृहस्थ बनता है, वह गृहस्थ जीवन-मुक्त होता है। और जीवन-मुक्त होने के बाद कोई भक्त बनता है। मेरा जो अपना विश्वास है वह निवेदन कर दूँ—भक्त वह बनता है जो जीवन-मुक्ति को ठुकरा देता है और जीवन-मुक्त वह होता है जो निज विवेक का आदर करता है।

अब आप ही सोचिये, कि इस कार्य को आप अभी करना चाहते हैं, अथवा कभी करना चाहते हैं? जब अभी कर सकते हैं और नहीं करते हैं, तो फिर कर लेंगे, क्या पता है आपको? है कोई सबूत? जो बात अभी कर सकते हैं और न करें और सोचें, कि फिर कभी कर लेंगे तो यह बात सम्भव नहीं है। इसलिए विश्राम में साधन, और बिना सामान में साधन, और बिना साथी में

साधन। इसका अर्थ यह नहीं है कि कोई अपने साथियों को गोली मार दे। इसका कोई यह अर्थ न लगालें। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि कोई अपने सामान को गंगा में फेंक दे। इसका अथ यह भी नहीं है कि कोई अकर्मण्य होकर सो जाय। इसका सीधा-सादा अर्थ है, कि जो परिस्थिति के अनुसार आप कर सकते हैं, बड़े ही उत्साह पूर्वक कीजिये। बहुत उत्साह, नित नया उत्साह। और जो नहीं कर सकते हैं, उसकी ओर से निश्चिन्त हो जाइये, मानो, हम पर कोई जिम्मेदारी ही नहीं है। क्या यह बात जीवन में सम्भव नहीं है? जो कर सकते हैं उसे उत्साह पूर्वक करें, जो न कर सकते हों उसकी लेश-मात्र भी चिन्ता न करें। जो कर सकते हैं उसे पवित्रता से करें; और जो नहीं कर सकते उसकी लेश-मात्र भी चिन्ता न करें—क्या यह सम्भव नहीं है? सम्भव है।

लेकिन आज हमारी दशा क्या है? भगवान् का नाम लेने की बात तो जहाँ-तहाँ रही, रोटी भी उत्साह पूर्वक नहीं खाते हैं। खाते जाते हैं, खीजते जाते हैं। किसी से दिल खोल कर उत्साह पूर्वक मिल नहीं सकते। उत्साह पूर्वक मुँह नहीं धोया, उत्साह पूर्वक हाथ नहीं धोया, उत्साह पूर्वक सोये नहीं, जगे नहीं। सारी जिन्दगी खोजते-खीजते बिता देते हैं। और फिर हमसे उपाय पूछते हैं। ऐसी कोई बात हम नहीं जानते जो आप नहीं जानते। जो बात आप जानते हैं, हम तो आपकी जानी हुई बात की स्मृति दिलाते हैं। वह हमें राग था बोलने का इसलिए, और आप कृपा करते हैं कि सुन लेते हैं। सच, ईमानदारी की बात यही है कि कोई गुरू, कोई ग्रन्थ किसी को ऐसी बात बता ही नहीं सकता जो वह स्वयं नहीं जानता। यही कारण है, हमसे लोग पूछते हैं कि महाराज! आज्ञा करो।

जब हम कहते हैं कि ऐसा करो तो—ऐसा नहीं ऐसा—वह आज्ञा मानने वाली बात खतम। अच्छा,जो तुम चाहो सो करो तो–ऐसा कैसे होसकता है! यही न ! आज आपका संकट है। न आप आज्ञा ही मान पाते हैं,न अपने मन की ही बात पूरी करते हैं। सीधे-सादे जो बात आप चाहते हैं दूसरों से, उनसे कहिये–देखिये, हम चाहते हैं कि आप ऐसा कर दीजिये। बस इतना ही त्याग रखिये कि यदि इन्कार कर दें, तो बुरा मत मानिये। सोचिये–प्यारे की मौज। दिल खोल कर कह दीजिये कि साहब ! हम यह चाहते हैं। तो एक तो आपकी अपनी चाह का पता लगे। और सभी चाह तो आपकी पूरी होंगी नहीं। आज तक किसी की पूरी हुई नहीं, तुम्हारी भी पूरी होंगी नहीं। सभी चाह मिटाई जाती हैं, पूरी नहीं की जातीं। सभी कामनायें पूरी नहीं की जातीं, मिटाई जाती हैं। इसलिए वे तो पूरी होंगी नहीं।

लेकिन जो बात आप चाहते हैं, अपने साथियों से कह दीजिये कि हम आपसे यह आशा करते हैं। वे कह दें कि साहब ! आप माफ कीजिये, हमारे वश की बात नहीं है, हमारे विवेक के विरुद्ध है, हमारी सामर्थ्य के बाहर है। तो आप बुरा मत मानिये। बस इतना त्याग बहुत पर्याप्त है। उसके बाद जब आप बुरा मानते हैं कि हाय ! हाय !! रे, मैंने इनसे यह कहा तो इन्होंने इन्कार कर दिया या प्रीति पूर्वक नहीं किया। तो उसकी कीमत मत लगाइये। उस कार्य के साथ मान मत लगाइये। हम ने जब पहले-पहल सोसाइटी आरम्भ की, तो लोगों से यह नहीं कहा कि साहब ! हम बहुत अच्छी बात करने जा रहे हैं, बहुत अच्छी संस्था बनाने जा रहे हैं। हमने कहा कि भैया ! देखो, हमारे में राग है, आप सदस्य बन जाइये, हमारी वासना पूरी हो

जायेगी। कोई हमारा साथी बताये कि न कहा हो। सिवाय इसके कि हम आपके साथ बड़ा उपकार कर रहे हैं। अरे भाई! जो बात हम चाहते हैं, क्यों न ! मित्रता के नाते आपसे कह दें कि भैया ! आप अगर हमारे मित्र हैं, तो ऐसा कर दीजिये। बिल्कुल ठीक साल भर के बाद हमने अपने मित्रों को लिख कर दे दिया कि अगर आप इस बात को पसन्द नहीं करते हैं तो हम आपको बुरा नहीं मानते, अगल हो जाइये। अब वे अलग होना ही नहीं चाहते। यह तो उनके वश की बात है।

तो मेरे कहने का तात्पर्य यह था कि जो हम साधन करने चले हैं और अपने साथियों से यह नहीं कह सकते कि आप हमारे साथ यह कर दीजिये। और इतना त्याग नहीं रखते कि यदि वे न करें, तो बुरा नहीं मानें। यह न सोचें कि हमारे-इनके बीच का प्रेम मिट जायेगा, विश्वास जाता रहेगा, स्नेह नहीं रहेगा। यह न मानें। अगर आपके मन में यह बात ठीक नहीं मालूम होती है, तो मत कीजिये और अपने प्रेम को, अपनी योग्यता को सुरक्षित रखिये। आप देखेंगे कि आपके चित्त में कितनी शान्ति आती है, कितना बल आता है, कितनी एकता आती है ! सम्भव है कि वही बात उसके मन में पैदा हो जाय और आपसे प्रार्थना करे कि अब हम नहीं रह सकते आपका यह किये बिना।

आप कहेंगे—हाय ! हाय !! क्या बतायें, साधन बड़ा कठिन है। भैया ! साधन कठिन का अर्थ यही है कि एक ऐसी सृष्टि रची जाय जो इस बात की प्रतीक्षा करे कि जो आपका संकल्प उठे वही पूरा हो जाय। आप जैसा व्यक्ति देखना चाहें, जैसी वस्तु देखना चाहें, वही हो जाय। भगवान् न करे कि विधान

में यह बात आ जाय। क्यों ? आज की माँ खीजकर कहती है कि कम्बख्त ! मर जाय। और लड़का उसी समय मर जाय तो, क्या दशा हो ! आप सोचिये, जो बात आप अपने मन की पूरी करना चाहते हैं, क्या आपने कभी यह भी सोचा कि आपका आपके मन पर इतना अधिकार है कि आपके मन में गलत बात नहीं आये ? हमारे में तो है नहीं, इसलिये हम हमेशा कहते हैं कि हे प्रभू ! तुम्हारे मन की बात पूरी हो। क्यों कहते हैं ? यह इसलिये कहते हैं कि हमें नहीं भरोसा है कि कब मन में बुरी बात आजाय।

भाई ! साधन में लेश-मात्र भी असमर्थता नहीं है, असिद्धि नहीं है। लेकिन कब ? जब आप यह बात स्वीकार करें कि बिना साथी के, बिना सामान के, बिना परिश्रम के भक्त को भगवान् मिल सकता है; जिज्ञासु को तत्वज्ञान हो सकता है, योग के अभिलाषी को योग मिल सकता है। अगर यह बात आप स्वीकार कर लें कि दुःखी के दुःख की निवृत्ति हो सकती है, अशान्त को शान्ति मिल सकती है,तो प्रत्येक भाई को,प्रत्येक बहन को सिद्धि मिल सकती है। अगर आप स्वीकार नहीं करते, तो जो चीज परिश्रम से मिलती है, वह सबके लिये नहीं है। जो चीज वस्तु से मिलती है वह सबके लिये नहीं है। जो चीज व्यक्ति से मिलती है. वह सबके लिए नहीं है। पापा ! आप ही बताओ कि जबसे आपका वह दही जमाने वाला मर गया है, वैसा दही आज तक आपको मिला ? नहीं मिला। यह आपके वश की बात है ? आप हमें बतायें, दुनियाँ में बड़े-से-बड़े आदमी का उदाहरण देदें कि वस्तुके द्वारा,व्यक्ति के द्वारा, परिश्रम के द्वारा जो चीज प्राप्त होती है, क्या वह सभी को मिल सकती है ? सदैव मिल सकती है ? तब तो हम मानलें। पर

ऐसा तो नहीं है। इसलिए भाई! वस्तु के द्वारा, व्यक्ति के द्वारा, परिश्रम के द्वारा जो कुछ मिलता है, वह व्यक्तिगत है। सबके लिये नहीं है।

जो चीज सबके लिये नहीं है, क्या ईश्वरवादी का वह ईश्वर है? कोई आज तक हमें यह बताये, कि क्या उसका नाम भी ईश्वर होगा जो सबके लिए न हो? क्या उसका नाम भी तत्वज्ञान होगा जो सबके लिये न हो? क्या उसका नाम भी दुःख-निवृत्ति होगा जो सबके लिये न हो? क्या उसका नाम भी चिरशान्ति होगा जो सबके लिए न हो? आप विचार करें, बतायें। आपको मानना पड़ेगा कि दुःख-निवृत्ति का प्रश्न सबके सामने है, चिरशान्ति का प्रश्न सबके सामने है, तत्व-ज्ञान का प्रश्न सबके सामने है और प्रभु प्राप्ति का प्रश्न सबके सामने है। जिसकी प्राप्ति सबके सामने है, उसके लिये ऐसा साधन होना चाहिये जिसे सभी कर सकें।

तो यह वही साधन हो सकता है कि जो वस्तु मिली है उसका ठीक उपयोग कीजिये। जो शक्ति मिली है उसका ठीक उपयोग कीजिये। जो साथी मिले हैं उन्हें आदर और प्यार दीजिये।—सो नहीं—कठोर बोलेंगे, उनकी पहले गलती देखेंगे कि तुमने तो यह कहा था, कहाँ किया? अरे भाई! उन्होंने नहीं किया तो तुम्हें नुकसान क्या पहुँचाया? आज का साधक यह सोचता है, कि जब मैं साधन करने चलूँ तो मुझे ऐसे साथी मिलें, कि मेरा रुख देखकर मेरी मन की बात पूरी करते रहें। तो भाई! न तो आज तक किसी को मिला, न अब किसी को मिला हुआ है, न आगे किसी को मिलेगा। यह बात त्रिकाल में होने वाली नहीं है। जो बात होने वाली नहीं है,

उसका त्याग ही त्याग है। अब देखिये, संन्यास कितना सरल हो गया ! संन्यास किसे कहते हैं आप जानते हैं ? कि जो न होने वाली बात को अपने जीवन में से सदा के लिये निकाल देता है। सभी कामनाओं की पूर्ति न होने वाली बात है। जिसने कामना-पूर्ति जीवन में से निकाल दी, संन्यास हो गया। मिली हुई वस्तु सदैव बनी रहे—यह न रहने वाली बात है, अतः जिसने ममता निकाल दी, संन्यास हो गया।

तात्पर्य यह था कि आप इस सत्य को सामने रखकर, जो आपका अपना सत्य है,आपकी रुचि के अनुसार अपना कार्यक्रम बना लीजिये। लेकिन ये दो बातें सामने रखिये कि यह सत्य से अलग न होने पाये, इस सत्य का विरोध न होने पाये। फिर आप अपनी रुचि के अनुसार कार्यक्रम बना लीजिये। बिल्कुल पूरा होगा, आपको शान्ति मिलेगी, दूसरों को भी प्रसन्नता होगी। आज दशा क्या है ? आज की माँ ईमानदारी से बच्चों को प्रसन्न नहीं रहने देती। आप कहेंगीं—हम तो दिन-रात बच्चों का हित चाहते हैं। बिल्कुल झूठी बात। जिसे बच्चों की प्रसन्नता अभीष्ट होती है, वह बच्चों से मोह नहीं करता, बच्चे पर अपना अधिकार नहीं मानता और वह चित्र सामने रखता है कि बच्चे के बच्चे भी तरस जायँ, हमेशा सेवा करने के लिये। सो नहीं। हम चाहती हैं कि तुम्हारी लुगाई रामायण का पाठ सुने। क्यों सुने भाई ? हम न ! सुनती रही हैं ! अरे ! तुमने सुनी सो कौनसी निर्मोहता प्राप्त करली? कौनसा वैराग्य प्राप्त कर लिया ? अपने को और दूसरों को धोखा दिया। जैसी तुम सुनती रही हो, हम तो कहते हैं, कि कोई न सुने।

कहने का मेरा तात्पर्य यह था कि आज का साधक खीजता है, रोता है, घबराता है, कि क्या बतायें, हाय ! शरीर काम नहीं देता। अरे ! शरीर काम नहीं देता, तो साधन में क्या बाधा है ? क्यों जिन्दा रहने की सोचती हो ? क्यों काम करने की सोचती हो ? पड़ी रहो, जहाँ पड़ी हो वहाँ। क्या परवाह है ? अरे ! शरीर अमर हो जायेगा ? अमर तो आज तक किसी का हुआ नहीं, तुम्हारा होगा नहीं। तो मेरे कहने का तात्पर्य यह था कि कल सायंकाल की चर्चा की ये जो तीन बातें हैं, कि साधन में सिद्धि पाने के लिये उस श्रम की अपेक्षा ही नहीं है जिसे आप नहीं कर सकते, उस वस्तु की अपेक्षा ही नहीं है जो आपको प्राप्त नहीं है, उस व्यक्ति की अपेक्षा ही नहीं है जो आपके पास नहीं है। अप्राप्त वस्तु की, अप्राप्त व्यक्ति की, अप्राप्त सामर्थ्य की साधन में अपेक्षा नहीं है। यह तो है मूल साधन। और इसका बाह्य स्वरूप क्या है ? कि मिली हुई वस्तु का, मिली हुई सामर्थ्य का, मिले हुये साथियों का दुरुपयोग न करें। चाहे हमें कैसा ही व्यक्ति मिला है उसको आदर देंगे, प्यार देंगे। अगर आदर और प्यार नहीं दे सकेंगे तो उसका भला चाहेंगे, उसे भला समझेंगे। और अगर यह भी नहीं कर सकेंगे तो उससे क्षमा माँग कर सम्बन्ध तोड़ देंगे।

आप हमें बतायें, कि साधन में कहाँ कठिनाई है ? अगर आपका साथी अच्छा नहीं है आपकी दृष्टि से, तो उससे क्षमा माँग लो, और सम्बन्ध तोड़ दो। अगर आप अपने साथी को आदर दे सकते हैं, तो दे दो, प्यार दे सकते हैं तो दे दो, कोई उसकी प्राप्त वस्तु है उसे दे सकते हो तो दे दो। नहीं दे सकते, तो लेने की आशा छोड़ दो। साधन निर्माण हो गया। देंगे भी

नहीं लेने की आशा भी नहीं छोड़ेंगे। दिन-रात खोजेंगे कि कोई ऐसी युक्ति होती कि जो हम चाहते हैं सो हो जाता। मेरा अपना अब तक का अनुभव है, कि जो हम चाहते हैं वह न हो, इसी में हमारा हित है। और भाई! हमने तो जब तक अपने मन की मानी है, अपने मन की बात की है, तो सिवाय पतन के, सिवाय अवनति के, हमें तो कुछ परिणाम में मिला नहीं। इसलिये अगर आप यह सोचते हैं, मैं आपके सामने अपनी अनुभूति निवेदन कर रहा हूँ और इससे लाभ उठाना चाहते हैं तो अपनी चाही मत करो। प्रभु की चाही होने दो। प्रभु वही चाहते हैं, जो अपने आप हो रहा है। इसलिये भाई! साधन में स्वाधीनता है और साधनपरायण होने में सिद्धि है। अब आप सोचिये, यदि आप मिली हुई वस्तु के द्वारा प्रभु की पूजा करते हैं और पूजा का जब अन्त होता है, तब क्या प्रभु की मधुर स्मृति उदय नहीं होगी? देखिये, पूजा में और भोग में एक बड़ा अन्तर है। भोग का अन्त भोग की वासना को जन्म देता है, और पूजा का अन्त प्रेमास्पद की स्मृति को जगाता है। यह नियम है। यह अटूट नियम है,कि अगर आपने अपने वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म द्वारा प्रभु की पूजा की है, तो पूजा का अन्त प्रिय की मधुर स्मृति में होगा। अगर आपने वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म को अपने सुख की आशा से किया है, तो उसके अन्त में एक नवीन राग उत्पन्न हो जायेगा। और यदि आपने वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म राग-रहित होने की दृष्टि से किया है, तो कार्य के अन्त में शान्ति का सम्पादन होगा। इन तीन चीजों पर आप विचार कर लें। आप जो कार्य करते हैं उसका अन्त शान्ति में होता है या नहीं, उसका अन्त प्रिय की मधुर स्मृति में होता है कि नहीं। अथवा उसका अन्त किसी नवीन कामना

को जन्म देता है। यदि किसी नवीन कामना को जन्म देता है, तो हमने भोग किया, पूजा नहीं की। कर्त्तव्य पालन नहीं किया, भोग किया। कर्त्तव्य पालन में कर्त्तव्य का अन्त चिरशान्ति में, पूजा में कर्त्तव्य का अन्त प्रिय की मधुर स्मृति में स्वतः होता है। परन्तु ये बात आज बड़ी ही दुर्लभ मालूम होती है। क्यों दुर्लभ मालूम होती है ? कि हम चौबीस घण्टे में कुछ समय यानी समय का कुछ भाग पूजा में बिताना चाहते हैं और शेष भोग में। और वह कुछ समय पूजा में बिताना चाहते हैं, वह भी अपने सुख के लिए। भगवान् के ध्यान में सुना है बड़ा आनन्द आता है। अतः ध्यान करना चाहते हैं। भगवान्-दर्शन में बड़ा आनन्द आता है, इसलिये दर्शन करना चाहते हैं। तो सारा जीवन तो लगा दिया अपने सुख में। ध्यान काल भी अपने सुख में और भाई ! प्रवृत्ति काल भी अपने सुख में, तो बताइये, सुख के भोगी के मन में क्या नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होगी ? जो सुख भोगेगा उसके मन में नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होगी ? मानना पड़ेगा—अवश्य होगी।

एक बार हमारे मन में एक प्रश्न पैदा हुआ। वह प्रश्न यह पैदा हुआ कि जैसे समय पाकर शरीर बदल जाता है, परिस्थिति बदल जाती है, तो भाई ! समय पाकर चित्त अपने आप सूक्ष्म, विभु और शुद्ध क्यों नहीं होता ? जैसे आप देखिये, काल की अपेक्षा से हर चीज बदल जाती है, तो काल की अपेक्षा से चित्त में परिवर्तन क्यों नहीं आता ? तो इस प्रश्न का उत्तर हमें जो मिला वह तो यह मिला कि इसलिये नहीं आता, कि हमारे चित्त की जो वर्तमान वस्तुस्थिति है, वह एकसी हम नहीं रखना चाहते। अपने चित्त के व्यापार में जैसी आस्था रखनी चाहिये, जैसी दृढ़ता रखनी चाहिये, वह

नहीं रख पाते, जैसी निर्मलता रखनी चाहिए वह निर्मलता नहीं रख पाते। इसका परिणाम यह होता है, कि चित्त की जो शिकायत बीस वर्ष पहले, तीस वर्ष पहले, चालीस वर्ष पहले थी—कि हमारा मन उसमें नहीं लगता जिसमें लगना चाहिये, कि हमारा मन उससे नहीं हटता जिससे हटना चाहिए—आज भी वही शिकायत है। भाई! क्या बात हो गई? यह समस्या हल क्यों नहीं हुई? वह इसलिए हल नहीं हुई, कि हमने अपनी आस्था को सुरक्षित नहीं रखा, अपने सद्भाव को सुरक्षित नहीं रखा, अपने विचार को सुरक्षित नहीं रखा, उसमें विकल्प कर दिया, उसको रहने नहीं दिया एक रस। उसका यह परिणाम हुआ, कि चित्त नहीं बदला। नहीं तो भाई! हम सबका चित्त अपने आप या तो प्रेम में विलीन हो जाता, या बोध में विलीन हो जाता, या योग में विलीन हो जाता अपने आप, पर ऐसा नहीं हुआ। क्यों नहीं हुआ? कि हमने अपनी आस्था को स्थायी नहीं रखा।

कल्पना करो, मैं अपने मित्रों से पूछता हूँ, कभी डर के मारे नहीं पूछता, कि उन्हें तकलीफ होगी, सच्ची बात बतायेंगे नहीं। मैं पूछता हूँ, कि ईमानदारी से बताओ, कि तुम मेरे पास क्यों आते हो? मिलने आते हो, परामर्श लेने आते हो, तो तुम लेते नहीं, और सेवा करने आते हो तो तुम सेवा करते नहीं। अब बताओ, क्यों आते हो? दो ही तो बात हो सकती हैं। यदि आप समझते हैं, कि मैं आपको ठीक राय दूँगा, मुझसे परामर्श कर लीजिये। अगर आप समझते हैं कि बेचारा दुःखी है, अन्धा है, असमर्थ है, तो आप सेवा कीजिये। तो आप सेवा भी नहीं करते, परामर्श भी नहीं लेते, तो क्यों आते हैं? सिर्फ इसलिये कि भाई देखो! मौज रहेगी, मजा रहेगा।

बहुत कम लोग हैं, जिनको ईमानदारी से मिलने में प्रसन्नता होती है। बहुत कम लोग हैं। बल्कि—हाँ साहब! वहाँ गये थे। और तो सब बात ठीक थी, पर यह नहीं था। इस प्रकार के संस्कार लेकर के हम सत्संग के समारोह से अलग होते हैं। तो भाई! इससे काम चलेगा नहीं। हमने लोगों को बहुत अवसर दिया। महीनों साथ रखा, महीनों। बल्कि किसी-किसी को तो बरसों साथ रखा। लेकिन वही दशा जो पहले थी वह आज भी है। अन्तर किस बात में हुआ? कि जब अलग होवेंगे तब रोयेंगे। और किस बात में अन्तर हुआ? इस बात में अन्तर हुआ, कि हमको खाना अच्छा लगता है। तुम्हारा पेट भले ही खराब हो जाय, खाओ जरूर। इसमें अन्तर हुआ। भाई! इसको तो हम सत्संग नहीं मानते।

हम तो सीधी-सादी बात आपसे निवेदन करते हैं, कि आपका जीवन बड़े ही महत्व का जीवन है। और आपको भगवान् मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं। आप जितना चाहिये, आदर लीजिये, जितना चाहिये प्यार लीजिये। आपको हर्ष होता है, कि हमें आदर से लाभ होता है। और हमसे दिल खोल कर कहदें कि आप हमको आदर दीजिए, तो हम नित्य जितनी बार चाहें, चरण स्पर्श कराइए, हम राजी हैं। जितनी बार चाहें, प्यार देने को राजी हैं। वस्तु तो हमारे पास है नहीं। अगर आपको और कोई प्यार नहीं देता है, तो प्यार देने को राजी हैं, और कोई आदर नहीं देता है,तो आदर देने को राजी हैं। विचार करना चाहें, तो विचार करने को राजी हैं। लेकिन आपकी कामना-पूर्ति हमारे प्रभु नहीं कर पाते हैं, तुम खुद नहीं कर पाते हो, तो हम कैसे कर पायेंगे!

हम तो कहते हैं, कोई आदमी, किसी को आदर की भूख हो, किसी को प्यार की भूख हो, हम ईमानदारी से, बनावट के साथ नहीं, और आपके पास कोई भी उसका क्रियात्मक रूप हो, क्योंकि हृदय की बात जानलें, तो बहुत सुन्दर बात है, कोई भी क्रियात्मक रूप हो, आप कहो, आपका चरण धोकर पी लें, आपको चन्दन लगादें, माला हो तो माला पहना दें। संकल्प से सब पूजा करदें आपकी विधिवत्, जितनी आप चाहो। आप आकर बैठ जाया करो, अगर हम रोज न करदें, तो तुम जो चाहो, सो करो। लेकिन भाई! कहो तो सही कि आप आदर चाहते हो। लेकिन तुम यह कहो, कि हमारे मन की यह बात पूरी कर दो, सो हम नहीं कर सकते। वह तो हमारे हाथ की बात नहीं है। न हम कर सकते हैं, न कोई कर सकता है और न इसमें तुम्हारा हित है। हित भी नहीं है।



२१

(ब)

इसलिये भाई, साधन में श्रम की कोई अपेक्षा नहीं है। साधन में सामान की कोई अपेक्षा नहीं है। साधन में किसी साथी की कोई अपेक्षा नहीं है। हाँ, जब कभी तुम्हें अकेला रहना बुरा लगे, तो नित्य साथी की याद करो, जो कभी अलग न हो सके। अकेले रहने में बुरा लगता है, तो नित्य साथी की याद करो। अथवा आपसे सेवा बिना करे न रहा जाय, तब किसी साथी की तलाश करो। अगर आप सेवा करना चाहें तो आपको साथी न मिलें, ऐसा तो कभी हो नहीं सकता। एक समय तो था, जब सेवा करने वाले तरसते थे, पर कराने वाला नहीं मिलता था। आज तो आप जितनी चाहो सेवा करो। शरीर से करो, धन से करो, लेकिन जिसकी सेवा करो उससे मत कहो कि तुम क्या करते हो। बस इतनी ही शर्त है। अगर तुमने यह कह दिया कि तुम भी यह करो, तब तो आपको साथी नहीं मिलेगा। तो भाई, सेवा करने के लिये साथी की आवश्यकता नहीं है और याद करने के लिये साथी की आवश्यकता नहीं है। अगर कोई कहे कि साथी की याद में बड़ा मजा आता है–"इन्तजारी, बेकरारी, बेसबर! आह सर्दो, रंग जर्दो, चश्मतर!!" वह भी हो सकता है।

एक ऐसा भी साथी है, जो तुम्हारे ही पीछे खड़ा रहता है और तुम्हें दिखाई नहीं देता। उसकी याद करो। जब तुम

उसकी याद करोगे, जब वह तुमको देखेगा, तो उसे बड़ा मजा आयेगा। एक ऐसा भी साथी है। ऐसे साथी की याद करने का मजा लेना चाहो तो ले लो। सेवा करने का मजा लेना चाहो तो ले लो। आप बताइये, साधन में कठिनाई है कहाँ? कठिनाई जहाँ आपको मालूम हो, तो समझ लें, कि हम अपने मन की कोई बात पूरी करना चाहते हैं, कामना पूरी करना चाहते हैं, इसलिये कठिनाई है। अतः भाई, कामना-पूर्ति में तुम्हीं को कठिनाई नहीं, सभी को कठिनाई है। इसलिये यह बात हृदय में सदा के लिये अंकित करनी पड़ेगी, कि साधन में स्वाधीनता है, साधन में सिद्धि है और मानव-जीवन साधन-युक्त जीवन है। इस बात को प्रत्येक भाई को, प्रत्येक बहन को स्वीकार करना ही पड़ेगा, कि साधन में सिद्धि है, स्वाधीनता है और मानव-जीवन साधनयुक्त जीवन है। आप विचार कीजिये। साधक की वास्तविक आवश्यकता को, हमारा ऐसा विश्वास है कि साध्य स्वतः पूरी करता है।

देखिये, एक बड़े रहस्य की बात है, कि साध्य ने साधन करने की शक्ति देकर साधन कराने की आशा की है। यह बात मत सोचिये कभी, कि हमारा साध्य इतना बेसमझ है, इतना अन-जान है कि हमसे साधन कराये और शक्ति न दे! यह साध्य के स्वभाव में नहीं है। साध्य ने जो शक्ति आपको दी है, उसी के द्वारा वह साधन की आशा रखता है। इससे अधिक की आशा नहीं रखता। जब यह बात हमको सत्य मालूम हुई, तब से हमको तो कोई डर नहीं लगता। अब हमारे साथी कहेंगे कि तुम्हें डर नहीं लगता, तो हमें क्यों हटाते हो? तो भाई, अलग तो हम इसलिये हटाते हैं, कि आप साधन नहीं करना चाहते हो। आप साधन के भेष में सुख भोगना चाहते हो। आप ही

सोचो, कोई कहता था कि हम छः घण्टे काम करेंगे, कोई कहता था कि हम आठ घण्टे काम करेंगे। हमने एक दिन कहा कि यहाँ बाथरूप में बदबू आती है। तुम्हें कर्त्तव्य नहीं सूझा? आप जाइये नीचे के चौक में। जिस दिन हम इसमें घुसे थे, क्या इतना गंदा था? इतना गंदा नहीं था। अगर मालिक मकान ठीक नजर से देखे, तो यहाँ की हर चीज को हमने गंदा किया है। यहाँ रहे कौन थे? कि साहब, साधक रहे थे, साधक। साफ मकान मिला, और गंदा करके दिया। यह हम साधकों की आज पहचान है!

तो मेरे भाई, यूरोप में तो हमने यह सुना है, कि लैट्रिन को भी लोग गंदा करके नहीं छोड़ते और साधन का दम नहीं भरते। वे यह नहीं कहते कि हम बड़े साधक हैं। और आज हमारा साधक गन्दा मकान छोड़ जाय। खा कर पेट खराब करले। आपस में राग-द्वेष करके अलग होता है साधन समारोह के सत्संग से। तो यह जो हमारी दशा है, बड़ी शोचनीय है। इसलिये अतः प्रेरणा हुई, कि आपनी स्वाधीनता को न्यौछावर करो और पराधीनता जो हो, उसके अनुसार कुछ दिन अवेले रहो। मैं सच कहता हूँ आपसे आपने कभी देखा है? मुझे एकान्त कभी सोने को मिलता है? कोई बता दे। ऋषीकेश में बता दे, वृन्दावन में बता दे, यहाँ बता दे। यानी कभी नहीं मिला आज तक। वर्षों बीत गये, एकान्त सोने को नहीं मिला। और उस पर भी आपने कभी ध्यान नहीं दिया, कि हमारे ऊपर भी कुछ जिम्मेदारी है। मेरे जीवन की अन्तिम अनुभूति है, कि श्रम के बिना, वस्तु के बिना, साथी के बिना हम सबको सिद्धि मिल सकती है। आज का साधक सम्मान चाहता है, मन की बात

पूरी करना चाहता है और दूसरों को बुरा समझने में बहुत दक्ष होगया। इन तीन कारणों से भाई ! साधन का निर्माण नहीं हुआ, सिद्धि नहीं मिली।

अब विचार यह कीजिये, कि विश्राम मिले कैसे ? बेसाथी के होवें कैसे ? बेसामान के हम होवें कैसे ? बहुत सीधा उपाय है, कि जिनके साथ आप रहें, आदर और प्यार सभी को दें। हो सके तो शरीर से, समझ से, जरूरत अनुभव करें तो सेवा करें। उपदेश करने की जो सेवा है वह सबसे नीचे दर्जे की है। जो साधक उपदेश करने की सेवा करेगा, तो सेवा से हित तो होता ही है, पर लम्बा रास्ता बन जायेगा। अब कोई कहे कि आपने हमें फिर व्याख्यान करने की सेवा क्यों बताई ? तो कहना होगा कि हमने इसलिये नहीं बताई कि आप उपदेष्टा बन जायें। इसलिए बताई कि आप जन-समाज के सामने यह कहें कि अमुक बुराई से मुझे बड़ा कष्ट हुआ है, आप लोगों के सामने यह बात इसलिये दोहराता हूँ बार-बार कि वह बुराई मेरे जीवन में न घट जाय। अपने को समझाने के लिये दूसरों को समझाने का प्रयास है। इस तरह से आप भले ही किसी से बात करें। लेकिन यह मानकर—कि हम बड़ी चीज हैं और श्रोता छोटी चीज हैं—यह मानकर कभी उपदेश की भावना साधक के मन में नहीं आनी चाहिये। क्यों नहीं आनी चाहिये ? आप किसी को वह उपदेश नहीं बता सकते, जो वह नहीं जानता है। जब वह अपना ही जाना हुआ नहीं मानता है, तो आपका बताया हुआ नहीं मान लेगा। तो करें क्या ? उसके द्वारा अपने को समझाने का प्रयास करते रहें। इस तरह से दूसरों को समझाते-समझाते स्वयं समझ जायेंगे। इसका नाम है-विचार विनिमय। इसका नाम उपदेश नहीं है।

हम लोग आपस में मिल-बैठकर जिनके साथ रहते हैं, बड़ी सच्चाई के साथ–यह नहीं, कि जिनके साथ रहते हैं उन्हीं के दोष देखकर के यह सोचें कि भाई ! यह तो विचार विनिमय का सत्संग हो रहा है, देखो ! तुमने यह गलती की, तुमने यह गलती की–यह नहीं; बल्कि यह कि देखो,आज हमसे यह गलती हुई। दूसरे कहें, कि आज हमसे यह गलती हुई – विचार विनिमय करें। अपनी-अपनी भूल को सामने रखकर दो व्यक्ति यदि बातचीत करें, तो दोनों ही भूल-रहित होसकते हैं। लेकिन अगर एक व्यक्ति अपनी भूल को सामने रखता है, तो दूसरा उत्तरा देने की सोचता है, समझाने की सोचता है और यह समझता है कि मानो यह नहीं जानता, मैं जानता हूँ। यह बात बिल्कुल गलत है। अगर आप यह कह सकें—कि हमसे यह भूल हुई, तब हमने यह किया था, सम्भव है, कि इससे आपको लाभ हो—इससे ज्यादा परामर्श देने का आप प्रयास न करें।

जहाँ सुनने वालों ने थोड़ी-सी महिमा गाई, वहाँ आपने सोच लिया, कि अब हमें सिद्धि प्राप्त हो गई और आपने यह मान लिया, कि अब हम मानव सेवा संघ के सबसे अच्छे कार्य-कर्ता बन गये, लोग हमारी तारीफ करते हैं, वे हमें सुनना चाहते हैं। उस समय आप विचारशील हैं, तो सोचना चाहिये कि हाय ! हाय !! अगर हमारे मन में सम्मान की वासना न होती, तो प्रभु अपने को दीन बनाकर हमें समर्थ बताते ! अपने को बेसमझ बनाकर हमारी समझदारी की महिमा गाते ! हृदय फटने लगता ! तब समझना चाहिये, कि आपने मानव सेवा संघ की नीति के अनुसार सत्संग आरम्भ कर दिया। यदि आपको रस मालूम होने लगा, कि हाँ, हम इतने सुन्दर होगये हैं

कि हमको तो सैकड़ों आदमी मिल सकते हैं, हमारे बिना लोग रह ही नहीं सकते हैं, हमारे पास तो बहुत से निमन्त्रण आते हैं, हमारी बात लोग ज्यादा सुनना चाहते हैं—यह बात जब तक मन में उठती है, समझ लो कि हम एक आदमी को भी सही नहीं बना सके। क्योंकि इसका फल यह नहीं था। सही बात बताने का फल यह नहीं था कि लोग हमारे पीछे ऐसे चिपक जायँ कि पीछा न छोड़ें। सही बात बताने का फल यह था कि इन्हें हमारी जरूरत न रहे और जो काम हमने उनके साथ किया, वे दूसरों के साथ करने लग जायँ। एक स्वाधीनता का साम्राज्य बन जाय। यह है भैया! मानव-सेवा-संघ की नीति के अनुसार सत्संग प्रणाली। आज सत्संग प्रणाली का महत्व यह मान लिया जाता है कि जो हमारे सत्संग में आकर फँस गया वह निकल न सके कभी। स्वाधीनता का अनुभव ही न कर सके। यह सत्संग नहीं है।

ये तो वे प्रभु हैं, मैं सच कहता हूँ, अगर आप ईश्वरवादी हैं, तो प्रभु हैं जो आपकी कामना पूर्ति के लिए आपके पीछे लगे हैं। आपको सन्मान देते हैं,आपको प्यार देते हैं। यह आपके सत्संग का महत्व नहीं है। तभी न! गुरू को चेले का चिन्तन होता है। क्यों भैया? चिन्तन तो उसे होना चाहिए था, तुम्हें क्यों हो गया? इसलिये भाई! यह जो उपदेश करने वाली जो सेवा है इसको कम-से-कम किया जाय। इस सेवा से मैंने बहुत कठिनाई सही है। आज भी सहनी पड़ती है। आप लोग अगर इस अनुभव का लाभ उठाना चाहें, तो अच्छा तो यह होता कि शायद हम लोग मूक-सत्संग के द्वारा सारे विश्व में सत्य का प्रकाश विभु कर देते। आज इसकी बड़ी भारी आवश्यकता है। मैं आपको सच कहता हूँ। आपको ऐसा रस

मिलेगा, जैसा रस किसी भी दुनिया के बड़े आदमी को मिला हो। छोटे-छोटे रस में उस बड़े रस का त्याग मत करो। आपके जीवन में ही वह रस है। आपसे दूर नहीं है। उस बड़े रस का त्याग मत करो छोटे-छोटे रस में फँस कर। यह बड़ा छोटा रस है कि जिस रस के लिए आज हम पराधीनता अनुभव करते हैं। वस्तु के अभाव में जो नीरसता है उसी का नाम पराधीनता है भाई। व्यक्ति के अभाव में जो नीरसता है, उसी का नाम न! पराधीनता है भाई। सामर्थ्य के अभाव में जो शक्ति हीनता है वही न ! पराधीनता है भाई।

इसलिए हमें तो वह रस चाहिए जो श्रम-साध्य नहीं है, जो वस्तु-साध्य नहीं है, जो व्यक्ति-साध्य नहीं है। वह हम सबको मिल सकता है। जो हम सबको मिल सकता है वही हमारा जीवन है। जो नहीं मिल सकता वह हमारा जीवन नहीं है। इसलिए आज उस मौलिक प्रश्न को हल करना है कि जो हमारा जीवन है, उससे हम विमुख न हों। उसकी हमें विस्मृति न हो। गम्भीरता से विचार कीजिये,जीवन का नाश नहीं होता। यह बड़े रहस्य की बात है। उसकी विस्मृति हुई है, उससे विमुखता हुई है, नाश नहीं हुआ है। जिसका नाश नहीं हुआ है उसे जब चाहे तब लेलो। देखिये, यह बात सिद्ध होती है कि नहीं ? यानी जिसका नाश हुआ ही नहीं या होसकता ही नहीं या कभी होगा ही नहीं,उसको जब चाहो तब प्राप्त करलो। तो जो आपका वास्तविक जीवन है, उसका नाश कभी नहीं हुआ है, न कभी होगा, न होसकता है। हाँ, उसकी विस्मृति हो गई है। उससे हम विमुख होगये हैं। वह विस्मृति क्यों हो गई है ? कि हमने श्रम के द्वारा, व्यक्ति के द्वारा रस सम्पादन में आस्था कर ली है। इतनी-सी बात है। यदि हम वस्तु के द्वारा, श्रम के द्वारा, व्यक्ति के द्वारा रस सम्पादन की आस्था नहीं

रखते हैं, तो आप सच मानिये, उस अविनाशी जीवन की स्मृति जागेगी। उस अविनाशी जीवन के साथ आपकी सम्मुखता हो जायेगी। विमुखता नाश हो जायेगी। जब विमुखता नाश हुई, तो योग प्राप्त हुआ। जब स्मृति जगी,तो बोध प्राप्त होगया और प्रेम प्राप्त होगया। स्मृति बोध और प्रेम की प्रतीक है; जिसको हम भूल जाते हैं, उसके बोध की प्रतीक है और जिसके बिना नीरसता है, उसके प्रेम की प्रतीक है। स्मृति ही बोध और प्रेम का रूप धारण करती है। यह बड़े रहस्य की बात है। स्मृति वह नहीं होती, जिसे करना पड़े। किसी भूखे व्यक्ति को भोजन की स्मृति करनी पड़ती है क्या? किसी तृषावन्त प्राणी को जल की स्मृति करनी पड़ती है क्या? जो नहीं करनी पड़ती, उसे स्मृति कहते हैं? या जो करनी पड़ती है, उसे स्मृति कहते हैं?

स्मृति आस्तिक दृष्टि से प्रेम की प्रतीक है और आध्यात्म दृष्टि से बोध की प्रतीक है। विमुखता के नाश में तीन बातें—स्मृति शान्ति की प्रतीक है, सामर्थ्य की प्रतीक है, दुःख निवृत्ति की प्रतीक है। जीवन से जो हम विमुख होगए हैं, उसी से दुःख है, अशान्ति है और उसी से असमर्थता आई है। असमर्थता,अशान्ति और दुःख वास्तविक जीवन की विमुखता से उत्पन्न हुए हैं। जब उसकी सन्मुखता हो जायेगी, तब शान्ति, सामर्थ्य और दुःख-निवृत्ति सन्मुखता में हैं। और वह सन्मुखता और वह स्मृति हम सबको प्राप्त होसकती है। कब? उसके लिए तीन बातें—अगर आप भलाई नहीं कर सकते हैं तो कोई चिन्ता की बात नहीं, अगर आप किसी को भला नहीं समझते हैं, तो कोई चिन्ता की बात नहीं। भलाई भी मत कीजिए,भला भी मत समझिये। लेकिन कृपानाथ! बुराई भी मत कीजिये, बुरा भी मत

समझिये। पहली बात—न हम किसी को बुरा समझेंगे, न किसी के साथ बुराई करेंगे। दूसरी बात—जो मिला हुआ है वह व्यक्तिगत नहीं है, उसकी ममता का त्याग। तीसरी बात—सुने हुए प्रभु में अविचल आस्था। प्रभु में—सुने हुए गुरू और ग्रन्थ में आस्था की बात नहीं कहता। प्रभु में जब आपकी अविचल आस्था होजायेगी, तब प्रभु-विश्वास की अभिव्यक्ति होगी।

मिली हुई वस्तु में जब आपकी ममता नहीं होगी, तब निर्विकारता प्राप्त हो जायेगी। और जब आप किसी को बुरा नहीं समझेंगे, बुरा नहीं चाहेंगे, तब जो वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता है, उसका दुरुपयोग नहीं करेंगे। अर्थात् कर्त्तव्य परायणता आ जायेगी। कर्त्तव्य परायणता, असंगता और तीसरी चीज आत्मीयता सफलता की कुंजी है। कर्त्तव्य परायणता कब प्राप्त होती है ? जब किसी को बुरा नहीं समझते हैं, बुरा नहीं चाहते हैं, बुराई नहीं करते हैं—किसी भी शर्त पर। मिली हुई वस्तु को जब अपना नहीं मानेंगे, तब असंगता अपने आप आ जायेगी। सुने हुए प्रभु में आस्था रखेंगे, तो प्रियता अपने आप आजायेगी। तीनों बातें अपने आप आजाती हैं प्रत्येक भाई में, प्रत्येक बहन में। जब ये तीनों बातें आजाती हैं, तब जीवन उपयोगी सिद्ध हो जाता है। इसी का नाम है सिद्धि, इसी का नाम है शक्ति।

२२

साधक-मात्र को सावधानी से अपनी वस्तुस्थिति का ठीक अध्ययन करना चाहिये। असाधन के ज्ञान से असाधन का नाश हो जाता है। साधन किया नहीं जाता, साधन होता है।

असाधन का जानना परम साधन है।

मानव-जीवन स्वभाव से ही बड़ा सुन्दर है, इसलिये कि बिना जाने परमात्मा को अपना मानता है और देखे हुए संसार को अपना नहीं मानता है। मानव अपने अधिकार का त्याग कर सकता है और दूसरों के अधिकार की रक्षा करता है। सत्य की जिज्ञासा जागृत होने मात्र से असत्य की वासना मिट जाती है। जहां प्रभु-विश्वास है वहां वस्तु-विश्वास नहीं है। आप सही करते हैं कि गलत करते हैं—इसमें जानने की महिमा है। सुनने की महिमा तो भगवत्-चरित्र सुनने में है।

करने वाली बात थी उसको किया नहीं, और जो होने वाली बात थी, उसको करने लगे। करने की श्रेणी में जितने कार्य आते हैं उन सबसे पहला कार्य है—"सत्संग"। सत्संग करने की बात है। ग्रन्थों से, प्रश्नोत्तरों से तथा व्याख्यानों से साधन निर्माण नहीं हुआ। विचार-विनिमय की पद्धति से साधन-निर्माण करो। निश्चिन्तता के बिना सामर्थ्य की अभिव्यक्ति नहीं होती और निर्भयता के बिना प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग नहीं होगा।

जो प्राप्त सामर्थ्य का दुरुपयोग नहीं करता वही सच्चा साधक है।

सत्य की जिज्ञासा और लालसा सबल होनी चाहिये। इससे असत् की कामनाओं की जड़ कट जायेगी। लालसा और जिज्ञासा पूरी हो जायेगी।



२२

(अ)

अगर आप गम्भीरता से विचार करें, तो जो अपनी भूल होती है न ! वह सावधान होने मात्र से अपने आप नाश होजाती है। सावधानी का अर्थ क्या है ? कि जो हम कर रहे हैं, वह ठीक कर रहे हैं ?—जहाँ इतनी बात आई कि असावधानी मिटने लगती है। जैसे-जैसे असावधानी मिटती जाती है, वैसे-ही-वैसे साधन की स्मृति अपने आप उदित होती जाती है। जैसे-ही-जैसे साधन की स्मृति उदित होती जाती है, वैसे-ही-वैसे असाधन का नाश होता जाता है। असाधन के नाश में कोई कठिनाई नहीं है। कठिनाई केवल यह है कि हम जो कुछ कर रहे हैं, उस पर ध्यान कम देते हैं, और जो कुछ हो रहा है, उस पर दृष्टि रखते हैं। इस बात को भूल जाते हैं कि भाई ! जो कुछ हो रहा है, उसमें तो अपना हाथ है नहीं, और जो कुछ कर रहे हैं, उसमें अपना हाथ है। जिसमें अपना हाथ है, उस पर तो ध्यान दिया नहीं, और जिसमें अपना हाथ नहीं है, उसमें ध्यान दिया। अमुक व्यक्ति ने ऐसा क्यों किया ? प्राकृतिक विधान से ऐसा क्यों हुआ ? दूसरों ने ऐसा क्यों किया ? और ऐसा क्यों हुआ ?—इस पर हमारी दृष्टि रहती है।

उसका परिणाम यह होता है कि हम क्या कर रहे हैं—इस पर दृष्टि नहीं जाती। और जब तक हम क्या कर रहे हैं ?

—इस पर दृष्टि नहीं जायेगी। तब तक हम आपसे पूछते हैं कि हम सही कर रहे हैं, अथवा सही नहीं कर रहे हैं—इस बात का ज्ञान ही कैसे होगा ? तो साधक के जीवन का पहला प्रश्न यह है कि हम क्या कर रहे हैं ?—इसका निरीक्षण करे। और हमारी माँग क्या है ?—इसको जाने। अपने वर्तमान कर्म को जाने, और अपनी आवश्यकता को जाने। वर्तमान कर्म में यदि कोई दोष है तो वह जानने-मात्र से मिट जायेगा और उसके मिटते ही कर्त्तव्य का ज्ञान होगा, ज्ञान। कर्त्तव्य के ज्ञान में कर्त्तव्य पालन की सामर्थ्य है। और कर्त्तव्य पालन में अपनी जो आवश्यकता है, उसकी पूर्ति की सामर्थ्य निहित है। आप विचार करें, क्या किसी साधक का वह कर्त्तव्य हो सकता है, जिसे वह न कर सके ? जरा ध्यान दीजिये, क्या आप कभी किसी से ऐसी आशा करते हैं, कि वह, वह करे, जो नहीं कर सकता ? मैं समझता हूँ कि शायद संसार में कोई भी व्यक्ति किसी से यह आशा कर ही नहीं सकता, कि तुम वह करो, जो नहीं कर सकते।

तो क्या प्रकृति के विधान में हमारा कर्त्तव्य कोई ऐसा होगा, जिसे हम न कर सकें ? ऐसा तो हो नहीं सकता। जब ऐसा नहीं हो सकता, तब कर्त्तव्य पालन में कठिनाई क्या है ? क्या यह हमारा और आपका मौलिक प्रश्न नहीं है ? क्या यह हमारा और आपका वर्तमान का प्रश्न नहीं है ? यदि यह वर्तमान का प्रश्न है, तो फिर आप बताइये, कि आपका जो कर्त्तव्य आपने जाना है, उसके पालन में आपको क्या कठिनाई है।

बहुत से भाई-बहन यह कह दिया करते हैं, कि क्या

बतायें ! हमारा मन नहीं लगता। बहुत ठीक बात। अगर आपको इस बात का ज्ञान हुआ है कि आपका मन नहीं लगता, तो यह तो एक बड़ी भारी चेतना आई न ! अब मन क्यों नहीं लगता ? —इसकी और खोज कीजिये। किसी और से मत पूछिये कि हमारा मन क्यों नहीं लगता। आप स्वयं ही खोज कीजिये, कि हमारा मन क्यों नहीं लगता ? तो आपको पता चल जायेगा कि किन-किन कारणों से मन नहीं लगता। उन कारणों का आप नाश कर दीजिये, आपका मन लग जायेगा। परन्तु ऐसा हम नहीं करते न ! हम दूसरों से पूछते हैं, कि हमारा मन क्यों नहीं लगता ? या यह पूछते हैं, कि हमारा मन कैसे लगे ? इसमें पूछने वालों की जो बात है, सो तो है ही है, सबसे अधिक तो बताने वालों ने ऐसी भूल की है महाराज ! कि चैन नहीं लेने देते सुनाते-सुनाते—ऐसा करो, ऐसा करो। और उधर—हम क्या करें ? हम क्या करें ? दोनों परेशान हैं गुरू और चेला। मुँह से तो कहते हैं कि हम गुरू नहीं हैं। लेकिन गुरू नहीं हो तो गुरू का काम क्यों करते हो ? और आप शिष्य मानने को भी राजी नहीं हो ईमानदारी से। शिष्य नहीं बनते हो, तो पूछते क्यों हो ? जरा सोचिये, कि कोई रोगी किसी डाक्टर के पास जाय और कहे कि हमको यह बीमारी है, दवा दे दो। और फिर कहे कि देखो, तुम हमारे डाक्टर नहीं हो। और डाक्टर कहे, कि तुम हमारे रोगी नहीं हो। तो आप क्या कहेंगे ? कि दोनों पागल हैं। काम गुरू का करें और कहें, कि हम गुरू नहीं हैं। काम शिष्य का करें और कहें, कि हम शिष्य नहीं हैं। यह तो हमारी ईमानदारी है। —खैर ! जो कुछ भी हो, इससे मतलब नहीं।

हमारे कहने का तात्पर्य है, कि आप जो कुछ करते हैं, उसमें आपको यदि सन्तोष नहीं है, तो उसका करना बन्द क्यों नहीं होता ? जरा विचार कीजिये, कि हम जो कुछ कर रहे हैं, यदि वह हमारे लिये हमारी दृष्टि से सन्तोष-जनक नहीं है, उसका पहला साधन है कि उसको छोड़ दिया जाय, कि इसके करने से हमको कोई सन्तोष नहीं है। और जो कुछ आप करना चाहते हैं और वह नहीं कर पाते हैं, तो उसका पहला प्रभाव होता है कि न करने की एक व्यथा जाग्रत होती है। अब जब हम अपने जीवन को देखते हैं, तो क्या देखते हैं ? कि जो कर रहे हैं, उसे सही भी नहीं मानते हैं, लेकिन छोड़ते भी नहीं हैं। और जो करना चाहते हैं, उसे कर भी नहीं पाते, और उसकी व्यथा भी नहीं। मैं पूछता हूँ, कि यह रोग किसी व्याख्यान से मिटेगा ? या किसी दूसरे के द्वारा मिटेगा ? इस रोग की चिकित्सा तो आपको ही करनी पड़ेगी, कि भाई ! जिसके करने से आपको सन्तोष नहीं है, पहला साधन है कि उसे छोड़ दो। डरो मत, बिल्कुल छोड़ दो। क्यों ? न करने में कोई पाप नहीं लगता महाराज ! कल्पना करो, जब तक आपको और कोई साधन न पता चले, तब तक आप यदि कुछ नहीं करेंगे, तो कोई हानि नहीं होगी। हानि होती है गलत करने से।

अब एक बात और देखने की है, और वह यह देखने की है कि जो आप करते हैं, उससे सन्तोष नहीं मिलता, उसे छोड़ने के बाद कहीं कोई गलत बात करना आरम्भ तो नहीं कर देते ? अगर गलत बात करना आरम्भ कर देते हैं, तब तो यह बात ही नहीं बनती, कि आप साधन करना चाहते हैं।

साधन करने की माँग हमें अकर्त्तव्य से रोक देती है। यह पहला काम है उसका। और कर्त्तव्य जानने के लिए आकुल कर देती है। कर्त्तव्य का ज्ञान सच पूछिये, तो प्रत्येक कर्त्ता में ज्यों-का-त्यों मौजूद है। ऐसी बात नहीं है कि हम कर्त्तव्य पालन चाहें, और उसका ज्ञान हमें न हो। अगर कर्त्तव्य का ज्ञान हममें नहीं है, तो हम कर्त्तव्य पालन कर ही नहीं सकते। और न हमारे सामने कर्त्तव्य पालन का प्रश्न आता है। कर्त्तव्य पालन का ज्ञान होने पर ही कर्त्तव्य पालन का प्रश्न आता है। अच्छा, दूसरी बात यह कि यदि करने की सामर्थ्य नहीं है, तब भी कर्त्तव्य का प्रश्न नहीं आता। लालसा हो सकती है। जैसे कि निर्धन प्राणी के मन में दान देने की लालसा हो सकती है। लेकिन उसे दान देना चाहिए—यह उसके मन में कभी नहीं आती। यही आती है कि जब कभी मेरे पास सम्पत्ति होगी, तो मैं दान करूँगा। तो सही बात करने की लालसा होती है, या सही बात की जाती है। जरा ध्यान दीजिये, सही बात की लालसा भी गलत बात की वासना को खा लेती है। और सही लालसा अकर्त्तव्य का जन्म नहीं होने देती।

इससे क्या सिद्ध हुआ? इससे यह सिद्ध हुआ कि जिसे साधन करना है, वह तो साधन कर ही सकता है। साधन करने में किसी प्रकार की असुविधा नहीं है, कठिनाई नहीं है। किन्तु जिसे साधन नहीं करना है, उसे दिन-रात आप साधन की बात सुनाइये और वह दिन-रात सुने, लेकिन साधन उससे नहीं होगा। हाँ, एक बात अवश्य है कि अगर कोई सुनाना अपना साधन मानले, और सुनना अपना साधन मानले, तब तो साधन हो ही रहा है। यह बात सिद्ध हो गई कि भाई! हम साधन-निष्ठ हैं। क्यों? कोई कहदे कि हमारा सुनाना

साधन है। कोई कहदे कि हमारा सुनना साधन है। जब तक वह सुनाता रहेगा और जितने काल तक वह सुनता रहेगा—कम-से-कम इतने काल में असाधन तो नहीं आयेगा। इस बात को भी यदि आप साधन मानलें, तब तो बात ठीक। लेकिन आप जानते हैं ? आज का वक्ता अपने को मान लेता है कि मैं जानता हूँ और श्रोता को मान लेता है कि नहीं जानता है। यह साधन हुआ क्या ? यह तो मिथ्याभिमान हुआ। आज का श्रोता यह सोच लेता है कि चलो, थोड़ा सा समय कट गया। यह साधन हुआ क्या ?

कहने का मेरा तात्पर्य यह है कि भाई, साधन कोई ऐसी वस्तु नहीं है कि जिसका क्षण-मात्र के लिये भी, अल्पकाल के लिये भी, साधक से उसका विभाजन हो जाय। यानी साधन साधक से अलग हो जाय, उसका नाम साधन नहीं है। तो जब साधन साधक से अलग होता ही नहीं, जरा सोचिये, तो असाधन आयेगा कहाँ से ? असाधन तब न ! आयेगा, जब साधक के जीवन में-से साधन कुछ काल के लिए भी अलग हो जाय। मेरे कहने का तात्पर्य यह था कि भाई, साधन का तो जीवन से सम्बन्ध है। साधन कोई ऐसी वस्तु नहीं है कि आपने घण्टे-दो घण्टे साधन किया और फिर सोचा कि अच्छा, अब असाधन के लिये अवसर मिला। असाधन के लिये अवसर ढूंढ़ते रहना, या मिलता रहे, और हम साधन भी करते रहें, तब तो मेरा अपना यही विश्वास है कि साधन का आरम्भ ही नहीं हुआ। साधन का आरम्भ होने के बाद असाधन के लिए तो अवसर ही नहीं मिलता। जब असाधन के लिये अवसर ही नहीं मिलता, तब समस्त जीवन साधन हो जाता है। जब समस्त जीवन साधन हो जाता है, तब सिद्धि स्वाभाविक होने लगती है।

इसलिये भाई, हम सबको बड़ी ही सावधानी से अपने-अपने इस मूल प्रश्न पर विचार करना चाहिये कि हम जो कुछ कर रहे हैं, वह साधन है, या नहीं। यदि वह साधन है—बड़ी सुन्दर बात। यदि वह साधन नहीं है, तो उसका तो पहले त्याग कीजिये। गलत बात बिना छोड़े, सही बात होगी क्या? नहीं हो सकती। इसलिये भाई, आज हमें और आपको बड़ी ही सावधानी से अपनी वस्तुस्थिति का ठीक-ठीक अध्ययन करना है, अर्थात् जानना है। आप सच मानिये, जितना हम अपने सम्बन्ध में ठीक-ठीक जानते जायेंगे, उतना ही हमें अपने जीवन में जो असाधन आ गया है, उसका ज्ञान होता जायेगा। और जैसा-जैसा असाधन का ज्ञान होता जायेगा, वैसा-ही-वैसा असाधन नाश होता जायेगा। जैसे सूर्य के उदय-मात्र से अन्धकार मिट जाता है। जैसे बालक के रोने-मात्र से चोर भाग जाता है। वैसे ही असाधन के जानने-मात्र से असाधन का नाश हो जाता है। असाधन के नाश करने के लिये असाधन का ज्ञान ही सर्वोत्कृष्ट साधन है।

आज दशा हमारी क्या होती है? यदि कहीं असाधन का ज्ञान हो गया, तो एकदम भयभीत हो गये, और भयभीत होकर मान लिया कि हाय! हाय!! हम तो बड़े ही बुरे व्यक्ति हैं। सोचो तो सही, असाधन के ज्ञान काल में आप बुरे व्यक्ति थे? कि जब असाधन से तद्रूप थे, तब बुरे व्यक्ति थे? अगर आप ईमानदार हैं, तो आपको मानना पड़ेगा कि जिस समय असाधन का ज्ञान हुआ, उस समय हम और आप बुरे व्यक्ति नहीं हैं। हम और आप बुरे व्यक्ति तब थे, जब हमें और आपको अपनी बुराई का ज्ञान ही नहीं था। बुराई के ज्ञान काल में कोई बुरा नहीं है। जब यह बात हम और आप मान लेंगे, तब क्या होगा? कि बुराई के ज्ञान से बुराई नाश हो जायेगी। और बुराई का नाश होते ही,

भलाई तो अपने आप होती है। भलाई की नहीं जाती। मैं सच कहता हूँ आपसे, साधन किया नहीं जाता, साधन तो होता है। जो कुछ किया जाता है, उसमें कुछ-न-कुछ अंश असाधन का होता है। तो जब तक असाधन का अंश है जीवन में, तब तक साधन के द्वारा वर्तमान में सिद्धि हो जाय—यह बात सम्भव नहीं है। इसलिये प्रत्येक साधक का परम पुरुषार्थ इसी में है कि वह अपने जीवन में असाधन यदि है, तो उसे जाने। असाधन का जानना परम साधन है। इस परम साधन के द्वारा हम सब साधन-निष्ठ हो सकते हैं। किन्तु इसका अर्थ कोई यह न समझ लें कि हम दूसरों की ओर देखें, कि देखें! इनमें कितना असाधन है।

आज की दशा क्या है? गुरु मानेंगे, महापुरुष भी मानेंगे, पर जहाँ उनके मन की बात पूरी न हुई—क्या बतायें! हमने इतनी स्वामी जी से प्रार्थना की, उन्होंने गोविन्द भवन आना स्वीकार नहीं किया। अरे भाई! जरा सोचो तो सही, अरे, जिनका निर्णय तुमको प्रिय नहीं है, जरा सोचो, जिनके निर्णय में तुमको अविचल श्रद्धा नहीं है, उनके उपदेश से तुम्हारा क्या कल्याण होगा? मैं आपसे पूछता हूँ, जब तुम उनसे स्वयं ही ज्यादा जानते हो, तब तो आपको यह कहना चाहिये कि हमारा उपदेश स्वामीजी ने नहीं माना हमारा आदेश स्वामी जी ने नहीं माना। तो मैं आपसे पूछता हूँ कि जिसको तुम स्वयं आदेश दे सकते हो, उपदेश दे सकते हो, उसके आदेश और उपदेश की आपको लेश-मात्र भी आवश्यकता नहीं है। और सच पूछिये, तो यही मानव-सेवा-संघ की नीति है कि प्रत्येक भाई स्वाधीन है अपने साधन करने में, समर्थ है अपने साधन करने में। मुझे तो इस बात से बड़ा हर्ष होता है कि

लोगों को अपने में विश्वास होगया, अपना काम पूरा होगया। अपना काम तो केवल इतना रह गया है कि आप लोग अपने में विश्वास करलें कि हम साधक हैं, साधन-निष्ठ हो सकते हैं, हमें सिद्धि मिल सकती है। इससे अधिक अपना कोई काम ही नहीं है।

कहने का मेरा तात्पर्य यह था कि आप लोग साधन नहीं जानते हैं—ऐसी बात नहीं है। मेरा तो ऐसा विश्वास है कि यहाँ जितने लोग बैठे हैं इस समय, हर भाई, हर बहन इतना साधन जानते हैं, जितना इस जीवन में वे नहीं कर सकते। और इतना जानते हैं, जितने की करने की आवश्यकता नहीं है। फिर भी जो रुचि साधन सम्बन्धी चर्चा सुनने में है, वह रुचि साधन करने में नहीं है। क्यों नहीं है ? कि हमारी और आपकी जो शक्ति है, वह सीमित है। तो सीमित शक्ति को साधन की चर्चा में ही व्यय कर दिया, तो फिर साधन करने के लिए सामर्थ्य कहाँ से लायेंगे ? यदि साधन करने की सामर्थ्य आपमें शेष रहेगी, तभी न ! आप साधन कर सकेंगे। इसलिए मेरा नम्र निवेदन है कि प्रत्येक साधक साधन सुनने में ज्यादा समय न लगाये, साधन करने में ज्यादा समय लगाये। और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये यह आपका निर्माण-निकेतन है। यह साधन सुनने के लिए नहीं है। साधन तो आपने बहुत सुना। आज कृपा है भगवान् की, कि सस्ता छापाखाना है। घर बैठे, पलंग के ऊपर, बिजली की रोशनी में, अच्छी-से-अच्छी बातें पढ़लो, सुनलो, सीखलो, समझलो। एक बात तो यह है।

दूसरी बात यह है कि आज हम लोगों को एक ऐसा भयंकर रोग लगा है, दूसरों के समझाने का, कि चाहे जिससे, जितना चाहें, समझ लो। एक दिन की बात मैं सुनाऊँ। मैं

मधुकरी माँग कर लौट रहा था और सामने से एक गधेड़ा गधे लेकर आ रहा था। तो गधेड़े ने कहा—बाबा, बचो ! गधा आरहा है। मैंने कहा कि इस ओर से भी गधा आरहा है। उसने कहा—नहीं ! नहीं !! आप तो हमसे भी अच्छे हैं। गधेड़ा अपने को गधे से अच्छा मानता था। मैंने उससे पूछा कि तुम कैसे जानते हो कि मैं तुमसे भी अच्छा हूँ ? तो कहने लगा—मैं चिन्ता में रहता हूँ, तुम निश्चिन्त रहते हो। मैंने कहा—वाह गुरू महाराज ! वाह !! आप सच मानिये, उपदेष्टा सारा संसार है। समस्त संसार आपको निरन्तर उपदेश दे सकता है। आज उपदेष्टा गुरू की लेश-मात्र भी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि कोई ऐसा वीर पुरुष हो, या वीर महिला हो, जो, किसी उपदेश को स्वीकार कर सके। किन्तु हमारी बहुत-सी शक्ति सत्संग के नाम पर इसी में व्यय होती है कि हम उपदेश सुनें। बड़े-बड़े उत्सव होते हैं। मेरे पास बड़े पत्र आते हैं। होता क्या है ? उन उत्सवों में उपदेश सुनाने का कार्य होता है। करने वाला तो यह सोचता है कि हमने इतना बड़ा भारी उपदेश कराने का प्रयास किया, ज्ञान-यज्ञ हो गया। और सुनने वाले कहते हैं—देखिये, हमने कितना पैसा दिया ! कितना समय दिया ! और जब मन्त्री सभा में खड़े होकर कह देता है—आपको भी धन्यवाद ! और आपको भी धन्यवाद ! बस, समझ लेते हैं कि इस उत्सव का जितना फल होना चाहिये था, वह पूरा हो गया !

भाई, मानव-सेवा-संघ इस पद्धति का आदर नहीं करता। क्यों आदर नहीं करता ? इसलिए आदर नहीं करता कि प्रभु की अहैतुकी कृपा से आपका जीवन स्वभाव से ही इतना सुन्दर है कि सच मानिये, अगर मैं यह कह दूँ कि अनन्त ने आपको

अपने खेलने के लिये बनाया है,तो इसमें लेश-मात्र भी अत्युक्ति नहीं होगी। जरा सोचिये तो सही मानव-जीवन ही तो ऐसा जीवन है कि जो उस पर विश्वास करता है, जिसको इन्द्रियों के द्वारा, बुद्धि के द्वारा नहीं जाना। कितनी अलौकिक बात है ! किसी से कहो कि देखो, जिसे तुम नहीं जानते, उस पर विश्वास करो। कोई कर सकता है ? लेकिन मानव में यह सामर्थ्य है कि जिसको नहीं जाना है, उस पर विश्वास कर सकता है। और जरा सोचो, मानव में ही यह सामर्थ्य हैकि जो जानने में आता है, कहता है—यह ठीक नहीं है, मिथ्या है। जरा सोचिये तो सही, जो जानने में आता है वह मिथ्या है,यह सामर्थ्य दी प्रभु ने। और जिसको नहीं जाना, वह हमारा है, यह सामर्थ्य मानव को दी। और जरा सोचिये, कौन ऐसा व्यक्ति है, जिस पर दूसरे लोग अपना अधिकार नहीं मानते ? आपने कोई व्यक्ति ऐसा देखा है, जिस पर दूसरे लोग अधिकार नहीं मानते ? तो दूसरों के अधिकार की रक्षा करने की सामर्थ्य भी मानव ही में है। और अपने अधिकार के त्याग की सामर्थ्य भी मानव में ही है। इन्द्रियों द्वारा जाने हुए में मिथ्या-बुद्धि; जिसको नहीं जानते हैं,उसमें अविचल श्रद्धा; दूसरों के अधिकार की रक्षा,अपने अधिकार का त्याग, क्या आपके-हमारे जीवन में सम्भव नहीं है ? — सम्भव है। तो सोचिये, कि प्रभु ने कितना सुन्दर जीवन मानव-जीवन बनाया है ! कि जिस कार्य को मानव से भिन्न कोई कर ही नहीं सकता।

परन्तु आज जो आश्चर्य की बात है, वह यह है कि हम अपने महत्व को नहीं जानते। किसके महत्व को जायेंगे ? बोले वस्तुओं में बड़ा महत्व है। और किसको जानेंगे ? कि पद में बड़ा महत्व है। बोले, और किसको जानेंगे ? कि संग्रह में बड़ा

महत्व है। आप सोचिये, संग्रह के महत्व में आपकी रुचि है, वस्तु के महत्व में आपकी रुचि है,पद के महत्व में आपकी रुचि है। तो मैं आपसे पूछता हूँ कि प्रभु में रुचि आपमें कहाँ से आयेगी ? रुचि तो एक ही है न ! चाहे इधर लगाओ, चाहे उधर लगाओ। तो आज मौलिक प्रश्न यह है कि आपकी अपनी रुचि क्या है ? अगर आपकी रुचि सत्य की खोज करने की है, तो सत्य की खोज की रुचि-मात्र से असत्य का नाश होता है महाराज ! जहाँ सत्य की जिज्ञासा जाग्रत हुई कि असत् की कामना नाश हुई। अब आप सोचिये, कि क्या आज हम सत्य की जिज्ञासा भी नहीं कर सकते? यदि कर सकते हैं,तो क्या सत्य की जिज्ञासा और असत् की कामना एक साथ रह सकती हैं ? यदि एक साथ रह सकती हैं, तो आपको यह मानना पड़ेगा कि सूर्य का उदय भी है और अन्धकार भी है। लेकिन कोई विज्ञानवेत्ता इस बात को मानेगा ? आप इस बात को मानेंगे ? नहीं मानेंगे। जरा सोचो, फिर आप कैसे मानते हैं ? कि सत्य की जिज्ञासा भी है और असत् की कामना भी है।

अगर आप यह मानते हैं कि सत्य की जिज्ञासा के साथ-साथ असत् की कामना भी है,तो कहना पड़ेगा कि सत्य की जिज्ञासा के नाम पर किसी असत् का ही भोग करना चाहते हैं। नहीं तो भाई, जहाँ सत्य की जिज्ञासा है, वहाँ असत् की कामना नहीं है। जहाँ प्रभु में विश्वास है, वहाँ वस्तु में विश्वास नहीं है। जहाँ प्रभु से सम्बन्ध है, वहाँ देह से सम्बन्ध नहीं है। अब ये बातें क्या हमारे लिये भविष्य में पूरी होने वाली हैं या वर्तमान से सम्बन्ध रखती हैं ? जरा सोचिये,सत्य की जिज्ञासा वर्तमान की वस्तु,प्रभु-विश्वास वर्तमान की वस्तु, वस्तु-विश्वास का त्याग वर्तमान की वस्तु। अब इन बातों के पूरा करने में

हमें-आपको क्या कठिनाई मालूम होती है ? यदि उस पर आप चर्चा करते, तो सचमुच मैं यह मान लेता कि हमारे मन में सत्संग की रुचि है। लेकिन इस पर तो चर्चा करते नहीं। आप तो श्रवण का सुख लेते हैं। श्रवण का जो सुख है, वह मालूम है, किस सम्बन्ध में कहा गया है ? श्रवण की महिमा मालूम है, किस सम्बन्ध में कही गई है ? प्रभु के चरित्र के सम्बन्ध में, प्रभु की महिमा के सम्बन्ध में। श्रवण की महिमा इस बात के लिये नहीं कही गई, कि संसार सत्य है कि असत्य है, आप सही काम करते हैं कि गलत काम करते हैं। इस सम्बन्ध में तो जानने की बात कही गई है।

सुनने की बात की जो महिमा है, वह प्रभु की महिमा में है। तो प्रभु की महिमा को तब न ! सुनने में चित्त लगेगा, जब प्रभु की सत्ता को स्वीकार कर लो। यदि प्रभु की सत्ता स्वीकार कर ली है, तो उसमें विश्वास होगा कि नहीं ? जब उसमें विश्वास होगा, तब उससे सम्बन्ध होगा कि नहीं ? जब उससे सम्बन्ध होगा, तब उसकी स्मृति उदय होगी कि नहीं ? तो प्रभु की स्मृति उदय होती है। आप क्या कहते हैं कि हम भगवान् का भजन करते हैं। जो होने वाली बात थी, उसे तो आपने करना आरम्भ कर दिया। जो करने वाली बात थी, बोले, उसका त्याग कर दिया। जरा ध्यान दीजिए, करने वाली बात का हो जाय त्याग, और होने वाली बात को लगे करने, तो दोनों ओर से सर्वनाश होगा कि नहीं? वही आज की दशा है। भजन करते हैं, और भजन होता नहीं। क्यों ? भजन तो होने वाला था भाई ! करने वाली बात भजन नहीं था। जो होने वाला था, उसे हम करने का प्रयास करते हैं। करने वाली बात थी "सत्संग।" जो करने वाली बात थी, उसको होनहार पर छोड़ दिया। कैसे होनहार पर छोड़ दिया ? अगर होनहार पर

नहीं छोड़ दिया, तो आपने अपने जाने हुए जिस असत् को "असत्" जाना, क्या उस असत् को त्याग करके दूसरा कार्य आरम्भ किया ?

इस दृष्टि से आपने सत्संग किया ? जरा ध्यान दीजिये, कि जिस बात को आपने असत् जान लिया कि यह बात असत् है, तो उसका त्याग करने से पूर्व, आपने दूसरा कार्य आरम्भ कैसे कर दिया ? तात्पर्य कि पहला कर्त्तव्य है—सत्संग। दूसरा कर्त्तव्य नहीं है। किससे पहले ? कि रोटी खाने से पहले, पानी पीने से पहले, निद्रा लेने से पहले, व्यापार करने से पहले, यानी जितने कार्य आप करते हैं, करने की श्रेणी में जितने कार्य आते हैं. उन सब कार्यों से पहला कार्य है "सत्संग।"

२२

(ब)

सत्संग करो। अगर आपने सत्संग कर लिया,तो असत् का त्याग हो जायेगा, और अकर्त्तव्य का जन्म ही नहीं होगा। जब अकर्त्तव्य का जन्म ही नहीं होगा, तब आप कर्त्तव्यनिष्ठ हो जायेंगे। सत्संग का फल क्या हुआ ? कि प्रत्येक भाई, प्रत्येक बहन कर्त्तव्यनिष्ठ होजाय। तो क्या कर्त्तव्यनिष्ठा भविष्य की वस्तु है ? मैं आपसे पूछता हूँ, कर्त्तव्यनिष्ठता यदि भविष्य की वस्तु है, तो वर्तमान की क्या है भाई ? अकर्त्तव्य ? इससे तो यही सिद्ध हुआ कि अगर कोई भाई यह जानता है कि कर्त्तव्यपरायणता भविष्य की वस्तु है, तो वर्तमान में अकर्त्तव्य को स्वीकार करना पड़ेगा। अकर्त्तव्य जब वर्तमान में है, तो भविष्य वर्तमान से बनेगा कि किसी और से ? आपको मानना पड़ेगा कि भविष्य वर्तमान के आधार पर ही बनता है। यदि वर्तमान में अकर्त्तव्य है, तो भविष्य में कभी कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं बन सकते।

इसलिये भाई ! बड़ी ही सावधानी के साथ हमें और आपको सत्संग करना है। सत्संग करने की बात है, भजन होने की बात है। भजन करने की बात नहीं है। ध्यान करने की बात नहीं, स्मरण करने की बात नहीं, चिन्तन करने की बात नहीं, प्रीति करने की बात नहीं, योग करने की बात नहीं, बोध करने की बात नहीं। वह अपने आप होता है। करने की

बात है—सत्संग। क्यों ? कर्त्तव्य के साथ-साथ पुरुषार्थ आता है। होने के साथ-साथ पुरुषार्थ नहीं आता है। तो भाई ! समस्त पुरुषार्थ किसमें लगाना है ? कि भाई ! सत्संग में। किस सत्संग में ? इस सत्संग में नहीं कि आप एक सद्ग्रन्थ की कथा सुन रहे हैं बैठे-बैठे। यह तो स्वाध्याय है, सत्संग नहीं है। सत्संग का असली अर्थ है कि आपका अपना जाना हुआ असत् क्या है ? उसे प्रकट करना। प्रकट करके उस पर विचार करना। विचार करके उसका त्याग करना। तीन श्रेणी सत्संग की होती हैं—अपने असत् को जानलो और उसको प्रकट करदो, फिर उस पर विचार करलो, और फिर उसका त्याग करदो।

इस प्रकार हम और आप एक बार सत्संग करलें, तो मेरा अपना विश्वास है कि फिर दुबारा सत्संग करने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। क्यों ? असत् का जो त्याग है, वह फिर बार-बार नहीं करना पड़ता। एक बार किया हुआ सदा के लिये परिपक्व हो जाता है। किन्तु आज ऐसा नहीं कर पाते। क्यों नहीं कर पाते ? क्योंकि,हम पुरुषार्थ करते हैं भजन के करने में। लेकिन करते कब हैं ? सत्सग के बिना करते हैं। तो सत्संग के बिना किया हुआ भजन सार्थक सिद्ध नहीं होगा। सत्संग के बिना किया हुआ विचार सजीव नहीं होगा। इसलिये आज का जो मौलिक प्रश्न है, वह है "सत्संग" करने का। सत्संग करने का अर्थ जो मैंने समझा है, जिसे अनेक बार अनेक ढंग से सेवा में निवेदन किया है, वह केवल इतना है कि आप लोग कोई भी अपना जाना हुआ असत् अपने सामने रखें।

इसी बात को चरितार्थ करने के लिये विचार-विनिमय की पद्धति निकाली। इससे पूर्व हमारी पुरानी प्रथा में प्रश्न-

उत्तर की पद्धति थी। प्रश्न-उत्तर की पद्धति कब तक सफल रही ? जब तक श्रोता और वक्ता के बीच में स्नेह और श्रद्धा का सम्बन्ध रहा, आज्ञा पालन की सामर्थ्य रही। आज आप भाई मुँह से भले कहदो, आज्ञा पालन की सामर्थ्य नहीं है। श्रोता और वक्ता के बीच में स्नेह और श्रद्धा का सम्बन्ध नहीं है। आप यह न सोचिये कि मैं अपने सम्बन्ध में कहता हूँ। जिनमें आप अपनी श्रद्धा बताते हैं, उन्हीं की बात आप नहीं मानते हैं। यह आप अपने जीवन से देखिये। तो ऐसे समय में मानव सेवा संघ की नीति यह हुई कि भाई ! देखो, अब जैसी श्रद्धा होनी चाहिये श्रोता में, वैसी नहीं है, और जितनी उदारता होनी चाहिये वक्ता में, उतनी नहीं है। ऐसी परिस्थिति में परस्पर विचार-विनिमय द्वारा जो सत्संग है, वही हितकर सिद्ध हो सकता है। किन्तु भाई ! मैंने अभी उस पद्धति को सार्थक नहीं देखा, न यहाँ, न दूसरी जगह। उसका कारण क्या है ? उसका एक-मात्र कारण यह है कि अगर हम विचार-विनिमय के लिये बैठते हैं तो उपदेश करने लगते हैं। और श्रोता लोग यह सोचते हैं कि प्रश्न तो हमारा हो, करे कोई दूसरा, और उत्तर हम सुनलें। क्यों ? अगर यह मालूम होगई कि हमारे जीवन में भी असत् है तो उससे हमारी बड़ी निन्दा होजायेगी। असत् के बनाये रखने से हमारी निन्दा नहीं होती! लेकिन असत् के प्रकट करने में हमारी निन्दा होती है ! यह दुर्बलता जब तक रहेगी, हम सत्संग नहीं कर सकते।

इसलिये भाई ! विचार-विनिमय करो। विचार-विनिमय का अर्थ है कि अपने असत् के सम्बन्ध में, जिसका कि हम त्याग नहीं कर सके हैं, अपने साथियों से निरभिमानता पूर्वक

परामर्श लें। विचार-विनिमय का मतलब है, परामर्श। यह नहीं, कि आप उनकी आज्ञा मान ही लें। क्योंकि यह सामर्थ्य आपमें होती, तब तो प्रश्न-उत्तर वाली पद्धति से हम और आप साधन का निर्माण कर लेते। लेकिन आज प्रश्न-उत्तर वाली पद्धति साधन-निर्माण करने में समर्थ नहीं है। आप कहेंगे कि आप कैसे मानते हैं? मैं इसलिये मानता हूँ कि बीसियों वर्ष से वही प्रश्न और वही उत्तर। वक्ता उत्तर देता रहता है, श्रोता उसी उत्तर को सुनता रहता है। और समस्या ज्यों-की-त्यों रहती है। आज का समय प्रश्न-उत्तर द्वारा साधन-निर्माण का नहीं रहा। व्याख्यान द्वारा भी साधन-निर्माण नहीं हुआ। ग्रन्थों के द्वारा भी, सच पूछिये,तो साधन-निर्माण नहीं हुआ। नवीन ग्रन्थ बनते चले जाते हैं। मुझ जैसा बेपढ़ा-लिखा भी अनेक ग्रन्थ लिखा चुका है। तो भाई! ग्रन्थों के द्वारा भी साधन का निर्माण नहीं हुआ, प्रश्न-उत्तर द्वारा भी साधन-निर्माण नहीं हुआ, व्याख्यान द्वारा भी साधन-निर्माण नहीं हुआ।

इसलिये आज आवश्यकता है कि परस्पर विचार-विनिमय द्वारा साधन-निर्माण करें। तो साधन-निर्माण बिना किये, जो हम साधन करने लगते हैं, उसी साधन में अनेक विघ्न मालूम होते हैं, अनेक कठिनाइयाँ मालूम होती हैं। और जब साधन-निर्माण के द्वारा हम साधन करेंगे, तो आप सच मानिये, कोई कठिनाई नहीं होगी। तो साधन-निर्माण के लिए सबसे सुगम बात है—परस्पर विचार-विनिमय। अगर आप यह कहें कि हम अपने असत् को अपने प्रिय जनों के सामने रखेंगे,तो हमारा आदर नहीं रहेगा। बहुत ठीक बात। अगर आपको इतना ध्यान है कि हमारा आदर बना रहे, तो उस असत् को निकाल दो। प्रश्न ही नहीं आयेगा। लेकिन अपने जाने हुए असत् का

त्याग भी न कर सको, प्रकट भी न कर सको, और आदर भी चाहो। तो आप सच मानो, कि धीरे-धीरे जो आप अनादर से बचना चाहते हो, यह बहुत बड़े अनादर की तैयारी है। धीरे-धीरे जो आप दुःख से बचना चाहते हैं, यह एक बड़े दुःख की तैयारी है।

इसलिये भाई ! हर भाई, हर बहन को निश्चिन्त होकर, निर्भय होकर अपने जाने हुए असत् को प्रकट करने की सामर्थ्य उत्पन्न करनी चाहिये। जिस समय आप अपने जाने हुए असत् को प्रकट कर सकेंगे, सच मानिये, दूसरे लोगों के मन में भी साहस होगा। जब साहस होगा, तब दूसरे लोग भी प्रकट करेंगे। जहाँ सभी लोग एक पद्धति को मानने लगते हैं, तो फिर अनादर का भय जाता रहेगा। लेकिन होता क्या है ? हमारे दो-एक साथी ने इस बात की कोशिश की। उन्होंने अपने में उनकी जानी हुई जो निर्बलता थी, उसको प्रकट करने का साहस किया। और किसी ने तो दूसरे की निर्बलता को अपने में आरोप करके प्रकट किया। दोनों प्रकार के साथियों ने काम किये। लेकिन नतीजा क्या निकलता है उसका ? कि जो सुनता है और जिससे परामर्श लेते हैं, तो वह तो उपदेश करने लगता है। और इस ईमानदारी को नहीं कहता कि भाई ! देखो, तुममें जो निर्बलता है, वह है तो मुझमें भी—ऐसा नहीं कहता। वह एक प्रमाण सुनाता है, ऐसा बढ़िया समाधान, और उपदेष्टा बनता है। तो फिर उस साथी की दशा क्या होती है ? कि भाई ! जिस भावना से हमने यह कार्य आरम्भ किया था, न तो कोई मौलिक उत्तर देता है, और न यह कहता है कि हममें भी यह निर्बलता है। तो करता क्या है ? कि सीखे-सिखाये दिमागी रिकार्ड से एक बहुत बढ़िया लैक्चर सुना देता है। फिर उसका दुबारा साहस नहीं होता।

तो कहने का मेरा तात्पर्य यह था, कि आज क्या आप विचार-विनिमय करने को राजी हैं ? यदि विचार-विनिमय करने को राजी हैं, तो आप सच मानिये, हम सबका साधन-निर्माण हो सकता है। इसमें हम और आप असमर्थ नहीं हैं, समर्थ हैं। किन्तु दुःख की बात है कि हम अपने जाने हुए असत् को प्रकट ही नहीं कर पाते। और कहीं प्रकट कर भी दें एकान्त में, और वह उपाय बताये, तब पीछे से कहते हैं—यह हो नहीं सकता। इसका अर्थ क्या है ? कि असत् से उत्पन्न होने वाला जो सुख है, उसका प्रलोभन नाश नहीं होता,किन्तु असत् के परिणाम से जो होने वाला दुःख है, उसका भय हो जाता है। तो भय-युक्त प्रलोभन! जरा सोचिये। नियम क्या है? नियम यह है कि प्रलोभन से ही भय की उत्पत्ति होती है। तो हम प्रलोभन रखना चाहते हैं और भय को मिटाना चाहते हैं। वह मिटता नहीं है। होता यह है कि किसी-न-किसी प्रकार का प्रलोभन भी बना रहता है और भय भी बना रहता है। तो भयभीत होकर, जो शक्ति मिली है,उसका नाश करते रहते हैं। क्यों ? निर्भयता के बिना, मिली हुई शक्ति का सद्व्यय हो ही नहीं सकता। और प्रलोभन का त्याग करने से घबराते हैं।

अरे भाई ! देखिये, आपके पास सुख तो रहा नहीं, क्योंकि सुख रहता, तो प्रलोभन नहीं रहता। सुख के भोग-काल में सुख का प्रलोभन नहीं होता। सुख का प्रलोभन कब होता है ? जब सुख चला जाता है। जरा सोचिये,जिस सुख का हम और आप प्रलोभन रखते हैं, वह सुख तो चला गया, तो क्या प्रलोभन रखने से सुख मिल सकेगा ? कदापि नहीं मिलेगा। किन्तु यह बात स्पष्ट कब होती है? जब हम-सब सरलतापूर्वक, निर्भय होकर, अपने प्रलोभन को प्रकट करदें। जब हम अपने प्रलोभन को प्रकट कर देंगे,तब वह प्रलोभन निर्जीव हो जायेगा।

इसके सम्बन्ध में एक दूसरा उपाय सोचा गया एक बार, कि भाई ! कोई बात नहीं है। अगर तुम दूसरों के सामने अपने प्रलोभन को प्रकट नहीं कर सकते, तो उसका चिन्तन मत करो। उसको बैठ कर एकान्त में लिख डालो। तब क्या होता है ? एक दिन लिखेंगे बड़े उत्साह के साथ। और लिखने के बाद दुबारा फिर वही बात आयेगी, तब दूसरे दिन उस बात को नहीं लिखेंगे। और घबराकर उठकर बैठ जायेंगे—अरे भाई ! इससे भी कोई लाभ नहीं हुआ। चाहते क्या हैं ? कि साधन के नाम से जो कुछ आरम्भ करें, साधन आरम्भ करते ही,एकदम सिद्धि होजाय। सो भाई! सिद्धि नहीं होती। साधन की पूर्णता में सिद्धि होती है अथवा असाधन के त्याग में सिद्धि होती है। तो असाधन का त्याग कर नहीं पाते, और सिद्धि चाहते हैं।

इसलिए भाई ! आप चाहे जो करें,इसमें आप स्वाधीन हैं। किन्तु जब तक हम और आप अपने जाने हुए असत् को प्रकट नहीं करेंगे, उसका त्याग नहीं करेंगे, तब तक भाई ! सत् का संग नहीं होगा, तब तक साधन की अभिव्यक्ति नहीं होगी। जब तक साधन की अभिव्यक्ति नहीं होगी, तब तक न जीवन में निर्भयता आयेगी, न निश्चिन्तता आयेगी। और जब तक निश्चिन्तता व निर्भयता नहीं आयेगी, तब तक जरा सोचिये तो सही, आप कर्त्तव्यनिष्ठ हो ही कैसे सकते हैं ? क्यों ? निश्चिन्तता के बिना आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति नहीं होती और निर्भयता के बिना प्राप्त सामर्थ्य का सद्व्यय नहीं होता। यही न ! दो साधन हैं। साधक के ये दो मुख्य अंग हैं, कि जो सामर्थ्य प्राप्त है,उसका तो सद्व्यय हो जाय और जो प्राप्त नहीं है, वह प्राप्त हो जाय। आप विचार कीजिये, क्या प्रत्येक साधक की यही मांग नहीं है ? आज जो हम अपने जीवन में असमर्थता अनुभव करते हैं, वह नाश हो जाय,अथवा

यों कहो, सामर्थ्य आ जाय। और जो सामर्थ्य मौजूद है, उसका दुरुपयोग न हो। दो ही प्रधान अंग हैं साधक के। जो प्राप्त सामर्थ्य का दुरुपयोग नहीं करता, वही सच्चा साधक, और जिसमें अपने आप सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होने लगती है, वह साधक।

तो आप सच मानिये, सामर्थ्य-दाता थका नहीं है सामर्थ्य देने से। क्योंकि वह अनन्त है, और देना उसका स्वभाव है। किन्तु आज हमारे जीवन में फिर भी असमर्थता है। जरा सोचिये, सामर्थ्यदाता अनन्त हो, और देना उसका स्वभाव हो; फिर भी हमारे जीवन में असमर्थता है। उसका कारण क्या है? उसका कारण यह नहीं है कि आपको दण्ड दिया गया है है कि आपको सामर्थ्य नहीं मिलेगी। उसका कारण एक-मात्र यह है कि हम निश्चिन्त नहीं होते, निर्भय नहीं होते। और निर्भय न होने के कारण मिली हुई सामर्थ्य का सद्व्यय नहीं करते। इसलिये भाई, अगर सचमुच आपको साधन-निर्माण करना है, अथवा यों कहो कि साधननिष्ठ होना है, अथवा यों कहो, कि सिद्धि पाना है, तो भाई, जो सामर्थ्य आपको प्राप्त है, उसका सद्व्यय कीजिये निश्चिन्त होकर, निर्भय होकर। जैसी-जैसी निश्चिन्तता दृढ़ होती जायेगी, वैसे-ही-वैसे आवश्यक सामर्थ्य बिना ही माँगे मिलेगी। और इतनी उदारतापूर्वक मिलेगी कि वह दाता कभी आपको यह नहीं बतायेगा कि हमने आपको दी। जैसे हम लोग किसी की सहायता करते हैं, तो पहले तो अपने मन में सोचते हैं कि हमने सहायता की, फिर अपने मित्रों से कहते हैं कि हमने सहायता की। तब भी नहीं पेट भरता, तो पेपर्स निकालते हैं कि हमने सहायता की।

एक हमको दानवीर मिले महाराज! तो मालूम है, उन्होंने हमको क्या भेंट किया? एक अपनी वह किताब भेंट की जिसमें उन्होंने अपने दान की चर्चा लिखी थी। दान करोड़ों रुपयों का

था, इसमें सन्देह नहीं। मेरे मन में सचमुच उनके दान का बड़ा आदर है। लेकिन, भेंट क्या किया ? कि आप इस बात को जानलें कि हम बड़े दानवीर हैं। हम उनसे पूछते हैं कि जिस सूर्य ने प्रकाश दिया, उस सूर्य ने भी कभी किताबें लिख कर दीं कि हम दानवीर हैं ? जो वायु तुम्हें स्वांस लेने देती है, उसने भी कभी अपने दान की महिमा प्रकट की ? जरा ध्यान दीजिये, जिस आकाश ने तुम्हें अवकाश दिया, उसने भी कभी कहा कि हमने कुछ दिया ? उन्होंने कभी नहीं कहा।

कहने का तात्पर्य था कि आज इस बात की आवश्यकता नहीं है कि आपने जिस उदारता से दूसरों की सहायता की है, और अपना उन पर मालूम है क्या ?—अपना आतंक छा दिया है आतंक, प्रभुत्व-महिमा छा दिया है, कि हमने आपके साथ यह उपकार किया। तो आप न डरें। वह जो दाता है, वह इतना उदार है कि अपना प्रभुत्व आप पर नहीं जमायेगा, अपनी महिमा आप पर नहीं जमायेगा। कभी एक बार भी नहीं कहेगा कि हमने दिया। इतना ही नहीं, आपको यह मालूम होगा कि यह सामर्थ्य हमारी अपनी ही है, यह योग्यता हमारी अपनी ही है। आप सोचिये, ऐसे दाता के रहते हुये आज हमारा-आपका जीवन असमर्थता में पड़ा रहे ! कितने प्रमाद की बात है ! कितनी भूल की बात है !

इसलिये भाई, अगर आपको सचमुच साधन-निर्माण करना है, तो सत्संगी होना पड़ेगा। और अगर सत्संगी होना है, तो अपने जाने हुये असत् का त्याग करना पड़ेगा। और यदि आप स्वयं अपने जाने हुए असत् का त्याग नहीं कर सकते, तो परस्पर में उसको प्रकट करके उस पर विचार करना पड़ेगा। जब तक हम और आप इस नीति को नहीं अपनायेंगे, मेरा तो ऐसा विश्वास है कि जाने हुए असत् का त्याग नहीं हो सकेगा। जब तक जाने हुए असत् का ही त्याग नहीं होगा, तब तक सोचिये

तो सही, सत् का संग ही कैसे होगा ? जब तक सत् का संग नहीं होगा, तब तक साधन की अभिव्यक्ति नहीं होगी। इसके पश्चात् अगर आप यह कहें कि विचार-विनिमय की तो अभी हममें सामर्थ्य नहीं है। तो उसका एक और उपाय है, वह यह कि हमारे और आपके हृदय में थोड़ी-थोड़ी देर बाद सत्य की जिज्ञासा, अथवा लालसा जाग्रत होनी चाहिए थोड़ी-थोड़ी देर बाद। जैसे, प्यासे आदमी को किसी काम में लगा दिया जाय, तो उसे थोड़ी-थोड़ी देर बाद पानी की स्मृति आती है, उसी प्रकार थोड़ी-थोड़ी देर बाद सत्य की जिज्ञासा जाग्रत रहे—वह कौनसा क्षण होगा ! जब मैं सत्य को प्राप्त करूँगा, और मुझे सत्य अवश्य मिल सकता है। क्योंकि अगर आपको सन्देह है कि मुझे सत्य नहीं मिल सकता, यदि आपने अनाधिकारी स्वयं मान लिया है, तो सत्य भी आपको सत्य नहीं दे सकता। आप निश्चिन्त रहिये।

अगर आपने अपने को अनाधिकारी नहीं माना है और यह मान लिया है कि यह मानव-जीवन सत्य की खोज के लिये मिला है, सत्य की प्राप्ति के लिए मिला है। अगर आपने यह बात स्वीकार कर ली है, तो सच मानिये, सत्य की जिज्ञासा, सत्य की लालसा स्वतः जाग्रत होगी। आप कहेंगे कि ये दोनों बातें क्यों कहते हैं ? तो भाई सत्य की जिज्ञासा तो कहते हैं उन साधकों के लिए, जो असत्य को जानकर सत्य को जानना चाहते हैं, और सत्य की लालसा कहते हैं उन साधकों के लिए, जो सत्य को मानकर सत्य को प्राप्त करना चाहते हैं। तो भाई, चाहे आप सत्य की जिज्ञासा वाले साधक हों, चाहे सत्य की लालसा वाले साधक हों, लेकिन जिज्ञासा और लालसा सबल होनी चाहिए, स्ट्रोंग होनी चाहिए। और बार-बार उसकी अभिव्यक्ति होनी चाहिए। बार-बार उठे—वह कौनसा क्षण होगा ! वह कौनसा काल होगा ! जब मैं अपने सत्य को

जाऊँगा अथवा अपने सत्य में निवास करूँगा। इस प्रकार की जो लालसा है, वह धीरे-धीरे असत् की कामनाओं की जड़ काट देगी। और जैसे-जैसे असत् की कामना नाश होती जायेगी, वैसे-वैसे सत्य की जिज्ञासा अथवा लालसा पूरी होती जायेगी। जिस क्षण में सर्वांश में असत् की कामना नाश हो जायेगी, उसी क्षण में सत्य की लालसा, अथवा सत्य की जिज्ञासा पूरी हो जायेगी। यह भी विधि है सत्संग करने की।

गम्भीरता से सोचिये, क्या आज हम उसकी लालसा भी नहीं कर सकते जिसको चाहते हैं?–कर सकते हैं। किन्तु असत् की कामनाओं से भयभीत होगये हैं। आप ध्यान दीजिये, बहुत गम्भीरता से विचार कीजिये, कोई कामना इतनी सबल नहीं हो सकती, जो आपसे सबल हो। क्योंकि आपकी कामना है। कामना को जन्म आपने दिया है। आपने उसको स्वीकार किया है कि यह मेरी कामना है। तो कामना उस पर कभी शासन नहीं कर सकती जिसकी वह कामना है। क्यों? कामनायें अनेक होती हैं। अनेक होने पर भी जिसमें कामना होती हैं, उसके किसी एक अंश में रहती हैं। यह वैज्ञानिक सत्य है कि कामनायें कितनी ही हों, किन्तु जिसमें वे रहती हैं, उसके किसी एक अंश में रहती हैं। यदि ऐसा न होता, तो कामना का ज्ञान ही न होता। तो कामना का ज्ञान इस बात को सिद्ध करता है कि जिसमें वे निवास करती हैं, उसके किसी एक अंश में होती हैं। जो चीज किसी एक अंश में है, वह उसको ढक नहीं सकती। वह उस पर सदा के लिये विजयी नहीं हो सकती। करती क्या है? कि कामना आपकी सत्ता से ही आप पर शासन करती है।

जिस समय आपने यह संकल्प किया कि भाई, यह तो कामना त्याग करने योग्य है, इसका तो त्याग करना है। लेकिन कामना-पूर्ति-जनित जो सुख है, वह त्याग करने में हमें समर्थ नहीं होने देता, तो कोई चिन्ता नहीं। जिस समय आप त्याग करने की

सोचेंगे, उसी समय वह कामना निर्जीव होगी। और जैसे-जैसे यह लालसा आपकी बढ़ती जायेगी कि मुझे कामना रहित होना है, मैं बिना कामना-रहित हुए रह ही नहीं सकता। आप सच मानिये, सभी कामनायें अपने आप नाश हो जायेंगी। कामना-रहित होने की लालसा, जरा ध्यान दीजिये क्या हम नहीं कर सकते? क्या उसे हम सुरक्षित नहीं रख सकते?—रख सकते हैं, इसमें कोई आपत्ति नहीं है। लेकिन कामना-रहित होने की लालसा के स्थान पर कामना-पूर्ति का प्रलोभन! कामना-पूर्ति का प्रलोभन कामना-रहित लालसा को शिथिल बनाता है। कामना-रहित होने की लालसा कामना-पूर्ति के प्रलोभन को खा लेती है। अन्तर क्या हुआ? एक ने तो शिथिल बनाया, खा नहीं पाया, शिथिल बनाया। और दूसरी ने खा लिया।

तो विजय किसकी होगी? जिसने खा लिया उसकी? या जिसने शिथिल बनाया? कामना-पूर्ति का प्रलोभन कामना-निवृत्ति की लालसा को खा नहीं सकता, कभी नहीं खा सकता। लेकिन कामना-निवृत्ति की लालसा कामना-पूर्ति के प्रलोभन को खा सकती है। इस दृष्टि से भी यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि भाई, सत्य की लालसा, सत्य की जिज्ञासा के द्वारा भी असत् की कामनायें मिट सकती हैं। असत् की कामना का न रहना ही, सच पूछिये तो, सत् का संग है। सत् के संग में कोई असत् बाधक नहीं है। क्यों? सत् असत् का प्रकाशक है, सत् असत् का ज्ञाता है सत् असत् का आधार है। इसलिये सत् असत् का नाश नहीं कर सकता। नाश कौन करता है? कि सत् की लालसा, सत् की जिज्ञासा। और एक गम्भीर बात सोचिये, कि सत् भी असत् का नाश नहीं कर सकता। न तो असत् सत् का नाश कर सकता है, और न सत् ही असत् का नाश कर सकता है। क्योंकि, सत् जो है वह असत् का प्रकाशक है। जो जिसका प्रकाशक होता है, वह उसका नाश नहीं कर सकता।

तो असत् के नाश करने में हेतु क्या हुआ ? सत् की जिज्ञासा, सत् की लालसा। अब आप ध्यान दें, सत् की जिज्ञासा, सत्य की लालसा-मात्र से असत् की कामना नाश होती है। और असत् की कामना नाश होते ही असत् का दर्शन नहीं होता महाराज ! जिस काल में असत् की सर्वांश में कामना नाश हो जाती है, उस काल में असत् का दर्शन नहीं होता। जब असत् का दर्शन नहीं होता, तब सत् स्वयं अपने आपको प्रकाशित करता है। जब सत्य स्वयं अपने आपको प्रकाशित करता है तब सत्य से योग, सत्य का बोध, और सत्य में प्रेम स्वतः हो जाता है। और यह क्या है ?—यह है आपका मानव-जीवन।

साधक के द्वारा जो सेवा होती है, उस सेवा से जिसकी सेवा की जाती है, वह तो होजाता है सेवक,और साधक हो जाता है सिद्ध। और एक ऐसी परम्परा फिर चलती है कि वह बराबर सिद्धों को जन्म देती रहती है। सिद्धों की अभिव्यक्ति करती रहती है। इस भावना से मानव-सेवा-संघ का प्रादुर्भाव हुआ है। इसलिये भाई, पहले सेवा करने के लिये ईमानदार सेवक बनने की जरूरत है। और ईमानदार सेवक बिना सत्संग बन नहीं सकता।

इसलिये आज हमें और आपको सत्संगी होना है, और सत्संगी होने के लिये, चाहे तो आप अपने विवेक के प्रकाश में अपने जाने हुये असत् का त्याग करके स्वयं सत्य के संगी बन जायँ। चाहे परस्पर विचार-विनिमय के द्वारा सत्संगी बन जायँ। चाहे सत्य की तीव्र लालसाके द्वारा असत् की कामनाओं का नाश करके सत् के संगी बन जायँ। जिस क्षण हम और आप सत् के संगी बन जायेंगे, उसी क्षण साधन की अभिव्यक्ति होगी। और साधन की अभिव्यक्ति में ही सिद्धि निहित है। यह निर्विवाद सत्य है।

चेला-चेली बनाना हो तो कुछ न कुछ करना सिखाओ, नहीं तो फँसेगा कैसे ?

(ठहाकेदार हँसी)

https://www.youtube.com/watch?v=lUCkrN-C2dc



ध्यान सिखानेवाले पाखंडियों से सावधान !



आप का चेला कौन है ?
शरणानन्दजी :
जो मुझसे कम जानता है ।
आप का गुरु कौन है ?
शरणानन्दजी :
जो मुझसे ज्यादा जानता है ।

शरणानन्दजी के समान मैं मानता नहीं हूँ किसी सन्त को। उन्हों ने जो लिखा है उसके आगे कुछ नहीं हैं ।
- रामसुखदासजी महाराज

अगर परमात्माके माननेवालों को परमात्माकी याद नहीं आती, और करनी पड़ती है – यह कोई कम दुःखकी बात है? यह कम आश्चर्यकी बात है ? अरे, मरे हुए बुजुर्गोंकी याद आती है आपको, गये हुए धनकी याद आती है आपको ! तो परमात्मा इतना घटिया हो गया कि उसकी याद आपको करनी पड़े ? .....याद नहीं आती है इसलिये कि आप उसे अपना नहीं मानते । - संतवाणी 5



परमात्माको 'अभी' न मानना बड़ी भारी भूल होगी, 'अपना' न मानना उससे बड़ी भूल होगी, और 'अपनेमें' न मानना सबसे बड़ी भूल होगी। - साधन त्रिवेणी 42





जिसने अपना निर्माण किया है, वह अपने ही में है और अपना है। इतना ही नहीं, निर्माताने अपनेमेंसे ही निर्माण किया है। उसे स्वीकार न कर दुःख-निवृत्तिमात्रसे सन्तुष्ट हो जाना अपनेको अनन्तरससे वंचित रखना है। अपनेमें सन्तुष्ट होना साधन है, साध्य नहीं।

- सफलताकी कुंजी 43

pagebordersorg

परमात्माकी प्राप्ति क्रिया-पदार्थ तथा पराश्रय-परिश्रम रहित तत्काल हो सकती है ।

(प्रेरणास्रोत-गीताभवन ई.2001 पेम्पलेट)

ज्ञानयोग (विवेक-मार्ग) जानना

अपने जाने हुए असत का त्याग करना विवेक मार्ग है ।

1) मेरा कुछ नहीं है —
2) मुझे कुछ नहीं चाहिये —
3) 'मैं' कुछ नहीं हूँ —

कर्मयोग (योग-मार्ग) करना

बुराई का सर्वथा त्याग करना योग मार्ग है ।

1) किसीको बुरा न समझना, किसीका बुरा न चाहना और किसीका बुरा न करना —
2) दुःखी व्यक्तियों को देखकर करुणित होना और सुखी व्यक्तियों को देखकर प्रसन्न होना —
3) अपने लिए कुछ न करना अर्थात कुछ न चाहो काम आ जाओ —

भक्तियोग (विश्वास-मार्ग) मानना

सर्वथा भगवान के शरणागत हो जाना विश्वास मार्ग है ।

1) मैं केवल भगवान का ही हूँ और केवल भगवान ही मेरे अपने हैं —
2) (क) सब कुछ उनका ही हैं—
   (ख) सब कुछ वे ही हैं —
   (ग) उनके सिवाय अन्य कुछ हुआ ही नहीं, कभी होगा ही नहीं, कभी होना संभव ही नहीं —

****

तीनों योग मार्गों की तुलनात्मक तालिका

ज्ञानयोग	कर्मयोग	भक्तियोग
आत्मनिष्ठा प्रधान	भक्ति प्रधान	आत्मनिष्ठा प्रधान
ब्रह्मलक्ष्य प्राप्ति	ब्रह्मप्राप्ति लक्ष्य	ब्रह्मप्राप्ति लक्ष्य
विवेकपूर्ण दृष्टिकोण	विवेकपूर्ण दृष्टिकोण	भाव (श्रद्धा-विश्वास) की प्रधानता
त्यागपूर्ण जीवन	सेवा भाव	समर्पण की प्रधानता
त्याग-वैराग्यमय	कर्मयोग-प्रधान	समर्पण-प्रधानता
ज्ञानयोग	कर्म (सेवा) का महत्व	भक्तियोग
अहंकार त्याग	फलकामना त्याग	स्वकामना त्याग
अहंकारी विचार	अहंकारी भाव कम करना	अहंकारी भाव
अन्तर्दृष्टि प्रधानता	संसार-देह-प्रधानता	भावनात्मक दृष्टि प्रधानता
अहं की प्रधानता	अहं की प्रधानता	परमात्मा की प्रधानता
आत्मनिष्ठता	मुक्तिपरक	भावनात्मकता
एकाग्रता	मोक्षपरक	विश्वास
मानसिक शान्ति	चित्त शुद्धि	मानसिक शान्ति
परमात्मा प्राप्ति	परमात्मा सहयोगता	परमात्मा से सहयोगता
दीर्घकाल साधना	लंबी साधना	थोड़ी साधना
स्वाधीनता	स्वतन्त्र	पराधीनता
स्वतन्त्र निष्ठा होती है	ब्रह्मज्ञ अवश्यक सिद्ध है	भगवान आवश्यक होता है
कर्मफल त्याग	फलेच्छा त्याग	स्वकामना त्याग
आत्मशक्ति दृढ़ होना	संसार दृष्टि कमी होना	भावनात्मक शक्ति बढ़ी होना
कर्तृत्व का त्याग	संसार-देह-त्याग	भावनात्मक भेदभाव
सद्गुरु प्राप्त करना	सत्संग आवश्यक	भगवान्‌ प्राप्ति करना
विवेक	फलाकांक्षा	भक्तिभाव
देहाभिमान त्यागता है	सेवा साधक है	समर्पणभाव बढ़ता है
विचारों में दृढ़ता	कर्तव्यों में दृढ़ता	विश्वास में दृढ़ता
सब अच्छा हो जाये है	सब अच्छा हो जाते है	सब ठीक हो जाते है
कर्तृत्व का त्याग	इच्छाओं का कम होना	भावनात्मक भाव कम होना
विचारों की अच्छाई बढ़ना	संसार (देह-विषय) भाव घटना	सब परमात्मा की ही अच्छा भाव

(आत्मा स्वतन्त्रता का प्रतीक है)

हे नाथ ! मैं आपको भूलूं नहीं

तीनों योग मार्गों की तुलनात्मक तालिका को आकर्षित तथा कलरफुल देखने के लिए link को **click** करें, **QR Code scan** करें ।

https://swamisharnanandji.org/pdf/Marg_Comparision.pdf

'प्रार्थना' आस्तिक प्राणी का जीवन है तथा साधक के विकास का अचूक उपाय है ।

प्रार्थना 1

मेरे नाथ !
आप अपनी
सुधामयी,
सर्व समर्थ,
पतितपावनी,
अहैतुकी कृपा से,
दु:खी प्राणियों के हृदय में,
त्याग का बल
एवं
सुखी प्राणियोंके हृदय में,
सेवा का बल
प्रदान करें,
जिससे वे
सुख-दु:ख के
बन्धन से
मुक्त हो,
आपके पवित्र प्रेम का
आस्वादन कर
कृत्कृत्य हो जाएँ।

प्रार्थना 2

मेरे नाथ !
आप अपनी
सुधामयी,
सर्व समर्थ,
पतितपावनी,
अहैतुकी कृपा से
मानवमात्र को
विवेक का आदर
तथा
बल का सदुपयोग
करने की सामर्थ्य
प्रदान करें,
एवं हे करुणा सागर !
अपनी अपार करुणा से शीघ्र ही
राग-द्वेश का
नाश करें।
सभी का जीवन
सेवा-त्याग-प्रेम से
परिपूर्ण हो जाए।

(प्रार्थना की विस्तृत व्याख्या के लिए 'मानवता के मूल सिद्धान्त' पुस्तक देखें ।)

सर्वहितकारी पुकार

सबका भला करो भगवान । सबका सब विधि हो कल्याण ।।
सब पर दया करो भगवान । सबका सब विधि हो कल्याण ।।
सब पर कृपा करो भगवान । सबका सब विधि हो कल्याण ।।
सबके हृदय बसो भगवान । सबका सब विधि हो कल्याण ।।
सबको सन्मति दो भगवान । सबका सब विधि हो कल्याण ।।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!!

शरणागति

https://www.youtube.com/watch?v=-MMD5c5TyCc

हरिः शरणम्, हरिः शरणम्, हरिः शरणम्, हरिः शरणम् ।
हरिः शरणम्, हरिः शरणम्, हरिः शरणम्, हरिः शरणम् ।
हरिः शरणम्, हरिः शरणम्, हरिः शरणम्, हरिः शरणम् ।
हरिः शरणम्, हरिः शरणम्, हरिः शरणम्, हरिः शरणम् ।

सर्वहितकारी कीर्तन

https://www.youtube.com/watch?v=S3PA8-a5AeU

हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे समर्थ, हे करुणा सागर, विनती यह स्वीकार करो ।
हे समर्थ, हे करुणा सागर, विनती यह स्वीकार करो ।
भूल दिखाकर उसे मिटाकर, अपना प्रेम प्रदान करो ।
भूल दिखाकर उसे मिटाकर, अपना प्रेम प्रदान करो ।
पीर हरो हरिः, पीर हरो हरिः, पीर हरो, प्रभु पीर हरो ।
पीर हरो हरिः, पीर हरो हरिः, पीर हरो, प्रभु पीर हरो ।

Link click या QR scan नहीं करोगे तो दुर्लभ विडियो से वंचित रहोगे ।



स्वीकृति एक-बार, पुकार बार-बार

"हे नाथ! मैं जैसा भी हूँ, आपका हूँ ।"
- यह स्वीकृति हैं ।
"हे नाथ! तुम प्यारे लगो, तुम प्यारे लगो ।"
- यह पुकार हैं ।

स्वामी श्री शरणानन्द जी महाराज

जो मज़हब, सम्प्रदाय से भी ज्यादा हमारा अपना है !

मैं नहीं, मेरा नहीं

-प्रार्थना तथा पद पुस्तक से

मैं नहीं, मेरा नहीं, यह तन किसी का है दिया।
जो भी अपने पास है, वह धन किसी का है दिया।
मैं नहीं....

देने वाले ने दिया, वह भी दिया किस शान से।
"मेरा है" यह लेने वाला, कह उठा अभिमान से।
"मैं", 'मेरा' यह कहने वाला, मन किसी का है दिया।
मैं नहीं....

जो मिला है वह हमेशा, पास रह सकता नहीं।
कब बिछुड़ जाये यह कोई, राज कह सकता नहीं।
जिन्दगानी का खिला, मधुवन किसी का है दिया।
मैं नहीं....

जग की सेवा, खोज अपनी, प्रीति उनसे कीजिये।
जिन्दगी का राज है, यह जानकर जी लीजिये।
साधना की राह पर, यह साधन किसी का है दिया।
जो भी अपने पास है, वह सब किसी का है दिया।
मैं नहीं....

इस पद का रामदेवजी का विडियो देखने के लिए
link click करें, QR scan करें।

https://youtu.be/BzWiXnx6kbo



इस पद की गहरी व्याख्या संतवाणी - 2 /45-46 कैसेट 2A में है।

इस पद को ठीक से समझने से मानव-मात्र का करना, जानना, पाना समाप्त हो सकता है !

महामंत्रम्

-प्रार्थना तथा पद पुस्तक से

हरि शरणम् , हरि शरणम् ।
हरि शरणम् , हरि शरणम् ।
महामानव ने कृपा कर, दिया हमको महामंत्रम् ।
न भूलें हम, न भूलें हम ।। हरि शरणम्, हरि शरणम् ।
चाहे सुख की छटा छाये,
चाहे दुःख की घटा आये ।
ख़ुशी हो या हजारों गम ।। हरि शरणम्, हरि शरणम् ।
नहीं दुनियाँ मे कुछ अपना,
यह सब एक रात का सपना ।
सत्य है वह अमर प्रीतम ।। हरि शरणम्, हरि शरणम् ।
प्रीत की जोत जग जाये,
विरह की आग लग जाये,
फिर बरसे प्रेम की रिमझिम ।। हरि शरणम्, हरि शरणम् ।
यही है जुस्तजू अपनी,
यही है आरजू अपनी,
हरि का हो के निकले दम ।। हरि शरणम्, हरि शरणम् ।

इस पद का ज्ञानजीवनदासजी का विडियो देखने के लिए
link click करें, QR scan करें ।

https://www.youtube.com/watch?v=VFV61KSQeQk



इस पद को ठीक से समझने से मानव-मात्र का
'करना' होने में, 'होना' "है" में बदल सकता है !

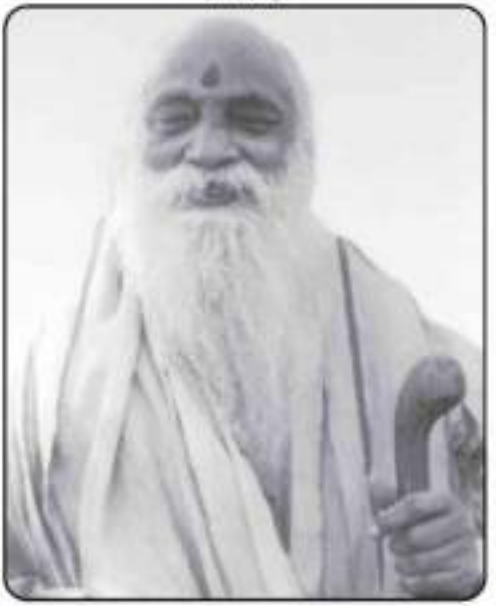
ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामीजी
श्री शरणानन्दजी महाराज का अनमोल साहित्य

1. सन्त समागम भाग-1 से 3
2. सन्त वाणी भाग-1 से 8
3. प्रश्नोत्तरी (सन्त वाणी) भाग-1 व 2
4. सन्त सौरभ (सन्त वाणी)
5. सन्त उद्बोधन
6. प्रेरणा पथ
7. सन्त पत्रावली भाग-1 से 3
8. जीवन दर्शन भाग-1 व 2
9. चित शुद्धि भाग-1 व 2
10. जीवन पथ
11. मानव की माँग
12. मानव दर्शन
13. मूक सत्संग और नित्य योग
14. मानवता के मूल सिद्धान्त
15. सत्संग और साधन
16. साधन तत्व
17. साधन त्रिवेणी
18. दर्शन और नीति
19. दुःख का प्रभाव
20. मंगलमय विधान
21. जीवन विवेचन भाग-1 से 7
22. सन्त जीवन दर्पण
23. मानव सेवा संघ का परिचय
24. साधन निधि
25. पाथेय भाग-1 व 2
26. पथ प्रदीप
27. प्रार्थना तथा पद
28. मैं की खोज
29. क्रान्तिकारी सन्तवाणी
30. सन्त हृदयोद्गार
31. रजत स्मारिका
32. Ascent Triconfluent
33. A Saint's call to Mankind
34. Sadhna Spot light by a Saint
35. Revelation of the Spiritual Path
36. Pathway to Life

Published and Potential other books

1. मानवमात्र के शरणानन्दजी
2. यह नियम है कि- (हिन्दी-English)
3. Sant Hridayōdgār (हिन्दी-English)
4. Krāntikārī Santvānī
5. Prashnōttarī
6. Sant Jivan Darpan
7. Humanity's own Sharnānandji
8. માનવમાત્રના શરણાનંદજી
9. સાધન નિધિ
10. मूक सत्संग तथा नित्ययोग
11. सत्संग अने साधन
12. दर्शन अने नीति
13. चित्त-शुद्धि - भाग 1
14. चित्त-शुद्धि - भाग 2
15. क्रांतिकारी संतवाणी
16. संत हृदयोद्गार
17. तरुतले भाग-1 से 3 (जयपुर)
18. साधन-सूत्र (लखनऊ)

किसी से हो ना सका उसके क़द का अंदाज़ा,
वो आसमाँ था, मगर सर झुकाए बैठा था ।।
वो जिनके पाँव छूने को झुकता था आसमाँ,
अजीब लोग थे के ज़ेर-ए-ज़मीं जा के बस गये ।



अनन्त के सखा, मानवता के मसीहा, ब्रह्मनिष्ठ, क्रान्तदर्शी, प्रज्ञा-चक्षु संत शिरोमणि

स्वामी शरणानन्दजी महाराज

स्वामीजी पुस्तकों में अपना नाम तथा चित्र प्रकाशित करने के लिए कभी अनुमति नहीं देते थे। परंतु देश, काल, परिस्थिति परिवर्तन तथा कुछ व्यावहारिक कारणों से उनका नाम तथा चित्र दिया गया है।

परमात्मा की प्राप्ति

भाव में पवित्रता हो, कार्य में कुशलता हो और लक्ष्य पर दृष्टि हो, तो प्रत्येक प्रवृत्ति से परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है।

प्रभु कृपा का सहारा ही महान सहारा है।
चरित्र बल ही महान बल है।

पूर्ण जीवन

* शरीर विश्व के काम आ जाए
* हृदय प्रीति से छका रहे
* अहम् अभिमान शून्य हो जाए

मोहयुक्त क्षमा, क्रोधयुक्त त्याग, लोभयुक्त उदारता निरर्थक है।

ये पुस्तकें आपके जीवनमें क्रान्ति ला सकती हैं !!

• यदि आप शास्त्रोंकी भिन्न-भिन्न बातोंको पढ़नेसे तथा अनेक सन्तोंकी भिन्न-भिन्न बातोंको सुननेसे अपने लिये सही साधनका निर्णय अबतक नहीं कर सके हों तो इन पुस्तकोंको जरूर पढ़ें ।

• यदि आप संसारमें रहनेकी विद्या जानना चाहते हैं अर्थात् घर-गृहस्थमें रहते हुए, काम-धंधा करते हुए, संसारका काम करते हुए ही अपना कल्याण करना चाहते हैं तो इन पुस्तकोंको जरूर पढ़ें ।

• यदि आपको अपने जीवनमें दुःख, जलन, भय, चिन्ता, अशान्ति, हलचल, निराशा, संशय, भ्रम, अनजानपना तथा किसी भी प्रकारके अभावका अनुभव होता हो तो इन पुस्तकोंको जरूर पढ़ें ।

• यदि आप किसी भी धर्म, सम्प्रदाय, मत, वर्ण, आश्रम आदिका पक्षपात या दुराग्रह न रखकर सजग मस्तिष्क होकर अपने कल्याणका सही मार्ग जानना चाहते हैं तो इन पुस्तकोंको जरूर पढ़ें ।

• यदि आपके घरमें, कुटुम्बियोंमें मतभेद, लड़ाई-झगड़ा, ईर्ष्या, द्वेष, मनमुटाव तथा अशान्तिका वातावरण हो तो इन पुस्तकोंको जरूर पढ़ें ।

• यदि आप कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि साधनोंका मर्म जानना चाहते हैं और अपने लिये कौन-सा साधन सुगम तथा श्रेष्ठ है, - यह जानना चाहते हैं तो इन पुस्तकोंको जरूर पढ़ें ।

• यदि आप 'एक परमात्माके सिवाय कुछ नहीं है' - इसका तत्त्व जानना चाहते हैं तो इन पुस्तकोंको जरूर पढ़ें ।

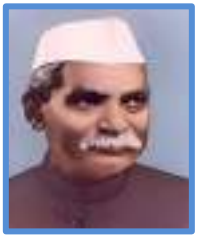
• यदि आप सम्पूर्ण दुःखोंसे छुटकारा पाकर सदाके लिये सुखी होना चाहते हैं तो इन पुस्तकोंको जरूर पढ़ें ।

• यदि आप क्रिया तथा पदार्थकी सहायता (अभ्यास) के बिना शीघ्र परमात्मप्राप्ति करना चाहते हैं तो इन पुस्तकोंको जरूर पढ़ें ।

(प्रेरणास्रोत-गीताभवन ई.2001 पेम्पलेट)

श्री शरणानन्दजी महाराज के प्रवचन सुनें - साहित्य पढ़ें ..

https://swamisharnanandji.org



राष्ट्रपति भवन में शरणानन्दजी का प्रवेश बे-रोकटोक था ।



Click Link, Scan QR

https://youtu.be/gBKq6yPnWO0?si=InQb5C4BsGvdtX2u

राष्ट्रपति भवन में हुई प्रज्ञाचक्षु शरणानन्दजी और राजेन्द्र बाबू के बीच की चमत्कारी घटना के बहुत Divine अर्थ निकलते है ।



"I have had the priviledge of meeting Swamiji on one or two occasions, and I was very deeply impressed by the way in which he dealt with most complicated problems in a simple, intelligible way. - Dr. Rajendra Prasad

-Foreword from "A Saint's call to Mankind"

The world cannot be better than the individuals who compose it. Changes of government or economic systems do not help us to raise the quality of human beings....We must get rid of our self-centredness and develop world loyalty. We have to turn to the discipline of religion for effecting changes in human nature, for saving us from the egotism, individual and collective, of which we are the victims. - Dr. S. Radhakrishnan

शरणानन्दजी की वाणी के प्रति 10 सन्तों के विचार

8. स्वामी रामसुखदासजी महाराज– (नये रास्ते नयी दिशाएँ, MSS Q- A, 15.8.98, 27.5.2000, 5.5.2000, 12.11.97)

आचार्यों के मुख्य छः मत हैं–शंकराचार्य का अद्वैतवाद, रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैतवाद, मध्वाचार्य का द्वैतवाद, निम्बार्काचार्य का द्वैताद्वैतवाद, वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैतवाद और चैतन्यमहाप्रभु का अचिन्त्यभेदाभेदवाद। एक शरणानन्दजी का मत है, जो सब आचार्यों से निराला है और बहुत जल्दी कल्याण करने वाला है! शरणानन्दजी की सूझ विलक्षण है! सबका जो परिणाम है, वह परिणाम उन्होंने पकड़ा है! वे सबसे आगे हैं! भगवान के शरणागत होने से शरणानन्दजी में ज्ञान का प्रवाह आ गया। उनकी वाणी में स्वतः गीता का तत्व उतर आया। उनकी बातें सम्पूर्ण शास्त्रों का अंतिम तात्पर्य है। उन्होंने जो लिखा है, उससे आगे कुछ नहीं है। शरणानन्दजी के समान मैं मानता नहीं हूँ किसी संत को। शरणानन्दजी में बहुत सरलता है, परन्तु लोग समझते नहीं। उनकी क्रान्तिकारी बातों से हलचल मच जायेगी सब शास्त्रों में, सब दर्शनोंमें।' मेरी दृष्टि में बहुत अच्छे महात्मा हैं वो, मेरी दृष्टि में तो ऐसे हैं कि सबसे श्रेष्ठ महात्मा हैं। तत्वज्ञ, जीवनमुक्त महापुरुष जो पहले हो गये, उनमें भी कोई ऐसा दीखता नहीं, ऐसे विशेष हैं। ऐसी विचित्र बातें बतायी हैं जो आदमी के कान खुल जायँ, आँख खुल जाय, होश आ जाय। शरणानन्दजी की जो बातें हैं ऐसी बातें मिलती नहीं हैं। शास्त्रों में मिलती है, तो पीछे मिलती है। उनकी बातें सुनने के बाद मिलेगी। किन्तु (पहले) मिलती ही नहीं है। और इतनी गहरी बातें हैं महाराज। बहुत विचित्र बातें है, बहुत विचित्र !! बहुत अकाट्य युक्ति दी उन्होंने, छहों दर्शन है ना उससे तेज है।

9. स्वामीनारायण सन्त रामकृष्णदासजी स्वामी, धांगधरा– (आत्मीय सभा 03-09-2017)

जिसको अपने इष्ट में असाधारण प्रीति करनी हो उसे ऋषि–परमहंस शरणानन्दजी जैसे भागवत पुरुष में प्रेम करना चाहिये। ऐसे अद्भुत अनुभवी महापुरुष भारत देश को मिले हैं लेकिन दिल में भक्ति न होने के कारण मानव उसका लाभ नहीं उठा पाता है।

10. स्वामी शरणानन्दजी महाराज– (कैसेट्स 35A, 05A)

संतवाणी (मेरी बातों) के खिलाफ बड़े–बड़े लोगों का प्रमाण मिल जाये तो भी, डर मत जाना घबराकर, अपितु बात पर विचार करना। अगर यह बात आपको मेरी बात मालूम हो तो मत मानियेगा, अपनी बात मालूम हो, वेद–वाणी मालूम हो, गुरु–वाणी मालूम हो, साधू–वाणी मालूम हो तो मान लो और ये तीनों बातें उसमें न हो तो मत मानो। यह वाणी आपको जँचे, रुचे तो अनुभव करके देख लें भाई न जँचे तो तुम्हारी मर्जी।

शरणानन्दजी का निर्वाण दिवस 25.12.1974 ऐसा चमत्कारी था कि उस दिन क्रिसमस, ईद और गीता जयंती (मोक्षदा एकादशी) एक साथ थी।

वैश्विक मतभेदों का अकाट्य समाधान

शरणानन्दजी Volume - 1

समग्र सन्तवाणी का नया अवतरण







शरणानन्दजी की क्रांतिकारी विचारधारा में साधक को किसी के पदचिन्हों पर नहीं चलना है, अपितु निज विवेक के प्रकाश में रहना है अर्थात स्वाधीनता से अपनी आँखों देखना हैं, अपने पैरों चलना हैं ।

मैं तो मानव सेवा संघ के मंच को ऐसा मानता हूँ कि जहाँ पर एक अंग्रेज, एक अमेरिकन, एक रशियन, एक हिन्दू, एक बौद्ध, विभिन्न देशों, विभिन्न मतों के लोग एक साथ बैठे और जीवन के शुद्ध सत्य पर विचार कर सके - इस मंच को ऐसा सुरक्षित रखना है । **इस मंच के माध्यम से किसी एक-देशीय साधना की चर्चा कभी नहीं की जाएगी । "सर्वमान्य सत्य" को देश, काल, मत, वर्ग, सम्प्रदाय, मज़हब का भेद छू नहीं सकता है** ....बात वह होनी चाहिए जो व्यक्तिवाद और सम्प्रदायवाद से रहित हो, जिससे हिन्दू, मुसलमान, इसाई आदि सभी लाभ उठा सकें !

– शरणानन्दजी व देवकीजी





हलचल मचाने वाली इस विचित्र वाणी के खिलाफ बड़े-बड़े दार्शनिक पंडितों के प्रमाण मिल जाए तो भी डर मत जाना घबराकर, अपितु बात पर विचार करना । -Ref. 3rd Cover Pg.

मानव-मात्र को "एक-मत" करनेवाली "एक-मात्र" सन्तवाणी

शरणानन्दजी

भाग-1